अथ पञ्चमं मण्डलम्

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीवन-यात्रा का सुन्दर अन्त

अबो॑ध्य॒ग्निः स॒मिधा॒ जना॑नां॒ प्रति॑ धे॒नुमि॑वाय॒तीमु॒षास॑म्।
य॒ह्वाइ॑व॒ प्र व॒यामु॒ज्जिहा॑नाः॒ प्र भा॒नवः॑ सिस्रते॒ नाक॒मच्छ॑ ॥ १ ॥

(१) प्रथमाश्रम में **अग्निः**=यह ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़नेवाला विद्यार्थी **समिधा**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक के पदार्थों के ज्ञानरूप समिधाओं से **अबोधि**=उद्‌बुद्ध होता है। ज्ञान को प्राप्त करके चमक उठता है। 'अग्निनाग्निः समिध्यते' आचार्य की ज्ञानाग्नि से विद्यार्थी की ज्ञानाग्नि समिद्ध की जाती है। (२) गृहस्थ में आने पर यह ज्ञानदीप्त युवक **प्रति आयतीं उषासम्**=प्रत्येक आनेवाली उषा में **जनानाम्**=लोगों के लिए **धेनुं इव**=धेनु की तरह होता है। जैसे धेनु प्रतिदिन दूध को देकर हमारा प्रीणन करती है, इसीप्रकार यह सद्‌गृहस्थ अतिथि-यज्ञ आदि यज्ञों को करता हुआ सबका प्रीणन करता है। (३) अब गृहस्थ की समाप्ति पर **यह्वाः इव**=जैसे बड़े हुए-हुए पक्षि शावक **वयाम्**=शाखा को **प्र उज्जिहानाः**=प्रकर्षेण छोड़नेवाले होते हैं, इसीप्रकार ये घर को छोड़कर आगे बढ़ते हैं। इसी को इस प्रकार कहते हैं कि ये वनस्थ बनते हैं। ये यह्व=महान् बनते हैं। परिवार के संकुचित क्षेत्र से विशाल-क्षेत्र की ओर चलते हैं अथवा 'यातश्च हूतश्च' प्रभु की ओर गतिवाले व प्रभु को पुकारनेवाले होते हैं। (४) इस प्रकार वानप्रस्थ में साधना करके, प्रभु सम्पर्क के कारण **भानवः**=खूब ज्ञानदीप्तिवाले होते हुए, सूर्य की तरह ही सर्वत्र ज्ञान के प्रकाश को फैलाते हुए, **नाकं अच्छ**=मोक्षलोक की ओर **प्रसिस्रते**=निरन्तर आगे बढ़ते हैं। मोक्षलोक ही जीवन-यात्रा का लक्ष्य स्थान है। यहाँ इनकी जीवन-यात्रा पूर्ण होती है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य में ज्ञान प्राप्त करके, गृहस्थ में यज्ञशील होकर, वानप्रस्थ में घर से ऊपर उठकर प्रभुस्मरण करते हुए ये ज्ञानी पुरुष संन्यस्त होकर मोक्ष की ओर बढ़ते हैं।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अनुक्रम से आगे और आगे

अबो॑धि॒ होता॑ यज॒था॑य दे॒वानू॒र्ध्वो अ॒ग्निः सु॒मनाः॑ प्रा॒तर॑स्थात्।
समि॑द्धस्य॒ रुश॑ददर्शि॒ पाजो॑ म॒हान्दे॒वस्तम॑सो॒ निर॑मोचि ॥ २ ॥

(१) जीवन के प्रथमाश्रम में **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला, निर्लोभ बनकर **देवान्**=ज्ञानी आचार्यों के **यजथाय**=पूजन व संगतिकरण के लिये होता है। उन आचार्यों का पूजन करता है, उनके सदा साथ रहता है (अन्तेवासी)। इस प्रकार होने से **अबोधि**=यह ज्ञान से उद्‌बुद्ध हो उठता

है। (२) गृहस्थ में यह सदा अग्निहोत्र आदि यज्ञों के महत्त्व को समझता हुआ **अग्निः**=प्रगतिशील होता हुआ **सुमनाः**=प्रशस्त मनवाला बनकर **प्रातः ऊर्ध्वः अस्थात्**=प्रातः उठ खड़ा होता है। यह 'प्रातः प्रबोध' ही इसे सब यज्ञों के करने में समर्थ करता है। इन यज्ञों से ही इसे यह सौमनस्य प्राप्त होता है। (३) अब वानप्रस्थ में निरन्तर स्वाध्याय से (स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्) **समिद्धस्य**=ज्ञानदीप्त इस पुरुष का **पाजः**=तेज **रुशत्**=चमकता हुआ **अदर्शि**=दिखता है। (४) इस चमकते हुए ज्ञान के प्रकाश से **महान् देवः**=बड़े प्रकाशमय जीवनवाला होता हुआ यह **तमसः निरमोचि**=अन्धकार से मुक्त हो जाता है। यह सूर्य द्वार से ऊपर उठता हुआ उस प्रकाशमय प्रभु को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में देवों के सम्पर्क में द्वितीय में यज्ञों के सम्पर्क में, तृतीय में ब्राह्म-तेज के सम्पर्क में रहकर हम तुरीय स्थिति में प्रकाशमय लोक में पहुँच जाएँ।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संयम-दान-स्वाध्याय

यदीं गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभिरग्निः।
आद्दक्षिणा युज्यते वाजयन्त्युत्तानामूर्ध्वो अधयज्जुहूभिः॥ ३॥

(१) **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **गणस्य**=इन्द्रियगण की **रशनाम्**=बन्धन-रज्जु को **अजीगः**=ग्रहण करता है (गृह्णाति सा०), अर्थात् जब इन्द्रियों को व्रत-बन्धन-रज्जु से बाँध देता है, इन्द्रियों को वश में कर लेता है तथा व्रत-बन्धन से **शुचिः**=पवित्र हुआ-हुआ यह **अग्निः**=प्रगतिशील ब्रह्मचारी **शुचिभिः**=पवित्र **गोभिः**=ज्ञान-वाणियों से व इन्द्रियों से **अङ्क्ते**=अपने को अलंकृत करता है। (२) **आत्**=अब, इस ब्रह्मचर्याश्रम के बाद **दक्षिणा**=दान की वृत्ति **युज्यते**=इसके साथ जुड़ती है। गृहस्थ में यह खूब दानशील बनता है। यह दक्षिणा ही इसे **वाजयन्ती**=(वाज=strength, wealth) शक्तिशाली व धन-सम्पन्न बनाती है। (३) **ऊर्ध्वः**=गृहस्थ से भी ऊपर उठा हुआ यह **उत्तानाम्**=(उत्तन्=try to rise) हमें उन्नत करने के लिये यत्नशील इस वेदवाणी को **जुहूभिः**=अपनी ज्ञानेन्द्रियरूप जिह्वाओं से **अधयत्**=पीने के लिये यत्नशील होता है। सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहता है। आगे चलकर इसी ज्ञान को फैलाने में यह तत्पर होगा।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में संयम, गृहस्थ में दान, वानप्रस्थ में स्वाध्याय ही प्रमुख धर्म है।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सतत प्रभुस्मरण

अग्निमच्छा देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये सं चरन्ति।
यदीं सुवाते उषसा विरूपे श्वेतो वाजी जायते अग्रे अह्नाम्॥ ४॥

(१) **देवयताम्**=सब दिव्यगुणों को प्राप्त करने की कामनावाले व महान् देव को प्राप्त करने की कामनावाले संन्यस्त पुरुषों के **मनांसि**=मन **अग्निं अच्छा**=उस आगे ले-चलनेवाले प्रभु की ओर इस प्रकार **संचरन्ति**=जाते हैं, **इव**=जैसे कि सामान्य लोगों की **चक्षूंषि**=आँखें **सूर्ये**=सूर्य में गतिवाली होती हैं। उदय होते हुए सूर्य की ओर जैसे हमारी आँखें जाती हैं, उसी प्रकार देवयन् पुरुषों के मन प्रभु की ओर जाते हैं। (२) **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **उषसा**=(उष दाहे) सब दोषों के दहन से **विरूपे**=विशिष्टरूपवाले मस्तिष्क व शरीर **सुवाते**=अपने में ज्ञान व शक्ति को प्रादुर्भूत करते हैं (जनयतः सा०), तो **अह्नां अग्रे**=दिनों के अग्रभाग में, ब्राह्ममुहूर्त के समय,

श्वेतः=वह शुद्ध **वाजी**=शक्तिशाली प्रभु **जायते**=हमारे लिये प्रकट होते हैं।

भावार्थ—दोषों का दहन करके, मस्तिष्क व शरीर को ज्ञान व शक्ति से भर के, हम देवयन् मन से प्रभु का दर्शन करें। ऐसा करनेवाला ही आदर्श संन्यासी है।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्राणिहित में प्रवृत्त उपासक को प्रभु-प्राप्ति

जनिष्ट हि जेन्यो अग्रे अह्नां हितो हितेष्वरुषो वनेषु।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानोऽग्निर्होता नि षसादा यजीयान्॥ ५॥

(१) **जेन्यः**=(जेतुं शीलः द०) सदा विजयी वह प्रभु **अह्नां अग्रे**=दिनों के अग्रभाग में **हि**=निश्चय से **जनिष्ट**=प्रादुर्भूत होते हैं। यह समय ही 'ब्राह्ममुहूर्त' है। यह हमारा दौर्भाग्य है कि हम सोये ही जाएँ (तमस्) या अन्य भोगों में फँस जाएँ (रजस्)। यह प्रभु **हितेषु**=प्राणिमात्र के प्रति हित की कामनावालों में **हितः**=स्थापित होते हैं। **वनेषु**=उपासकों में **अरुषः**=आरोचमान होते हैं। (२) वे प्रभु जहाँ भी प्रकट होते हैं, उन प्रत्येक **दमेदमे**=शरीर गृहों में **सप्त रत्ना**=सात रत्नों को (आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस् को) **दधानः**=धारण करते हैं। **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं। वे **यजीयान्**=उपास्य प्रभु **निषसाद**=हमारे हृदयों में ही आसीन होते हैं,

भावार्थ—वे प्रभु प्राणिमात्र के हित में प्रवृत्त उपासकों में निवास करते हैं। सब उपासकों के लिये सात रत्नों को धारण करते हैं।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपस्थे मातुः, सरभा उ लोके

अग्निर्होता न्यसीदद्यजीयानुपस्थे मातुः सुरभा उ लोके।
युवा कविः पुरुनिःष्ठ ऋतावा धर्ता कृष्टीनामुत मध्य इद्धः॥ ६॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **होता**=सब-कुछ देनेवाले हैं। **यजीयान्**=वे सब के उपास्य प्रभु **न्यसीदत्**=हमारे हृदयों में निवास करते हैं, स्थित होते हैं। परन्तु कब? जब कि हम **मातुः उपस्थे**=प्रभु द्वारा उपस्थित की गयी इस वेदमाता की गोद में स्थित होते हैं 'स्तुता मया वरदा वेदमाता'। **उ**=और निश्चय से **सुरभौ लोके**=सुगन्धित स्थान में, अर्थात् यज्ञवेदि पर आसीन होते हैं। स्वाध्याय और यज्ञ को अपनाने पर हम अपने को प्रभु का निवास-स्थान बनाते हैं। (२) ऐसा होने पर यह व्यक्ति **युवा**=अपने से दोषों का अमिश्रण व गुणों का मिश्रण करनेवाला होता है। **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ बनता है। **पुरुनिःष्ठः**=पालन व पूरण करनेवाली निष्ठावाला होता है। **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करता है, ऋतमय जीवनवाला होता है। **उत**=और **कृष्टीनां मध्ये**=मनुष्यों के बीच **इद्धः**=ज्ञानदीप्त हुआ-हुआ **धर्ता**=उनका धारण करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम वेदवाता की गोद में व यज्ञवेदि पर स्थित हों। तब हम प्रभु के निवास-स्थान बनेंगे। ऐसा होने पर ज्ञानदीप्त होकर हम लोकहित में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नमोभिः+घृतेन

प्र णु त्यं विप्रमध्वरेषु साधुमग्निं होतारमीळते नमोभिः।
आ यस्ततान रोदसी ऋतेन नित्यं मृजन्ति वाजिनं घृतेन॥ ७॥

(१) **नु**=अब **त्यम्**=उस प्रसिद्ध **विप्रम्**=सबका पूरण करनेवाले, **अध्वरेषु साधुम्**=सब यज्ञों में सिद्धि को प्राप्त करानेवाले **अग्निम्**=अग्रणी **होतारम्**=सर्वफल-प्रदाता प्रभु को **नमोभिः**=नमस्कारों के द्वारा **प्र ईडते**=प्रकर्षेण पूजित करते हैं। (२) **यः**=जो प्रभु **ऋतेन**=ऋत के द्वारा, अपने अटल नियमों के द्वारा **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **आततान**=विस्तृत करते हैं। उस **वाजिनम्**=शक्ति व सम्पत्तिवाले प्रभु को **नित्यम्**=सदा **घृतेन**=मलों के क्षरण (दूरीकरण) व ज्ञानदीप्ति के द्वारा **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। हृदय के निर्मल होने पर तथा मस्तिष्क के ज्ञानदीप्त होने पर ही प्रभु के दर्शन होते हैं।

भावार्थ—प्रतिदिन प्रभु को प्रणाम करते हुए हम निर्मलता व ज्ञानदीप्ति से प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'मार्जाल्य' प्रभु

मार्जाल्यो मृज्यते स्वे दमूनाः कविप्रशस्तो अतिथिः शिवो नः।
सहस्रशृङ्गो वृषभस्तदोजा विश्वाँ अग्ने सहसा प्रास्यन्यान्॥ ८॥

(१) **मार्जाल्यः**=यह प्रभु ही परिशोध के योग्य हैं, अन्ततः प्रभु ही ज्ञेय हैं, इनके जान लेने पर ही जीवन-यात्रा की पूर्णता होती है 'ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वा मृतमश्नुते'। **स्वे मृज्यते**=प्रत्येक व्यक्ति से अपने अन्दर ही इस प्रभु का परिशोध हुआ करता है। हृदय की शुद्धि के होने पर वहाँ ही प्रभु का दर्शन होता है। ये प्रभु **दमूनाः**=(दानमनाः) सदा हमारे लिये आवश्यक साधनों को देने के मनवाले हैं। **कविप्रशस्तः**=ज्ञानियों से सदा प्रभु का शंसन किया जाता है। वे प्रभु **अतिथिः**=निरन्तर गतिवाले हैं, हमारे यहाँ भी प्रभु का आगमन होता है, हमारे भी वे अतिथि बनते हैं और **नः शिवः**=हमारा कल्याण करनेवाले हैं। (२) **सहस्रशृंगः**=अनन्त ज्ञान की ज्वालाओंवाले वे प्रभु **वृषभः**=अत्यन्त शक्तिशाली हैं। **तद् ओजः**=उस पदार्थ के ओज प्रभु ही तो हैं 'यद् यद् विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा तत्तदेवावगच्छा त्वं मम तेजोंशसम्भवम्'। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **विश्वान् अन्यान्**=अन्य सबको **सहसा**=अपने बल से **प्र असि**=(प्रभवसि) अभिभूत कर लेनेवाले हैं।

भावार्थ—शुद्ध हृदय में प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करना चाहिए। वे प्रभु ही सब तेजस्वियों का तेज व बलवानों का बल हैं। वे अपने बल से सबको अभिभूत करनेवाले हैं।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सर्वातिशायी प्रभु

प्र सद्यो अग्ने अत्येष्यन्यानाविर्यस्मै चारुतमो बभूथ।
ईळेन्यो वपुष्यो विभावा प्रियो विशामतिथिर्मानुषीणाम्॥ ९॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **सद्यः**=शीघ्र ही **अन्यान्**=औरों को **प्र अत्येषि**=प्रकर्षेण लाँघ जाते हैं। आप सब गुणों की पराकाष्ठा के रूप में हैं 'तन्निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'=जहाँ ज्ञान निरतिशय हो जाता है, वे सर्वज्ञ प्रभु ही तो आप हैं। इसी प्रकार जहाँ शक्ति निरतिशय हो जाती है, वे सर्वशक्तिमान् प्रभु ही तो आप हैं। (२) **यस्मै आविः बभूथ**=जिसके लिये भी आप प्रकट होते हैं, उसके लिये **चारुतमः**=अत्यन्त सुन्दर होते हैं। वह द्रष्टा यही देखता है कि आप 'चारुतम' हैं। उसके लिये आप **ईडेन्यः**=स्तुत्य होते हैं, **वपुष्यः**=दीप्त रूपवाले होते हैं, तेजस्वी।

विभावा=विशिष्ट ज्ञानदीप्तिवाले। (३) हे प्रभो! आप **मानुषीणां विशाम्**=विचारशील प्रजाओं के **प्रियः अतिथिः**=प्रिय अतिथि होते हैं। विचारशील लोग ही आपके हृदयस्थरूपेण देखते हैं और प्रीति का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—वे सर्वातिशायी प्रभु 'सुन्दरतम स्तुत्य, तेजस्वी व ज्ञानदीप्त' हैं। विचारशील व्यक्ति उन्हें हृदय में देखते हैं और प्रीति का अनुभव करते हैं। वह प्रभु दर्शन का आनन्द तो 'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते'।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दान व प्रभुस्तवन

तुभ्यं भरन्ति क्षितयो यविष्ठ बलिमग्ने अन्तित ओत दूरात्।
आ भन्दिष्ठस्य सुमतिं चिकिद्धि बृहत्ते अग्ने महि शर्म भद्रम्॥ १० ॥

(१) हे **यविष्ठ**=सब बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों का हमारे साथ मिश्रण करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तुभ्यम्**=आपके लिये ही **क्षितयः**=मनुष्य **अन्तितः**=समीप से **उत**=और **दूरात्**=दूर से **बलिम्**=बलि को **आभरन्ति**=प्राप्त कराते हैं। आपकी प्राप्ति के लिये ही दान आदि पुण्य कार्यों को करते हैं। (२) हे प्रभो! **आभन्दिष्ठस्य**=इस दान की वृत्तिवाले उत्तम स्तोता की **सुमतिम्**=कल्याणीमति को **आचिकिद्धि**=सब प्रकार से ज्ञात कराइये, प्राप्त कराइये। **अग्ने**=परमात्मन्! **ते**=आपका **बृहत् शर्म**=महान् कल्याण आपसे प्राप्त कराये जानेवाला कल्याण **महि**=महनीय है और **भद्रम्**=सुखकर है।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु-प्राप्ति के लिये ही दान आदि वृत्तियों को अपनाते हैं। हम भी इस दानवृत्तिवाले बनकर प्रभु के सच्चे स्तोता बनें। प्रभु से प्राप्त कराये जानेवाले महनीय सुख को प्राप्त करें।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'भानुमान् समन्त' रथ

आद्य रथं भानुमो भानुमन्तमग्ने तिष्ठ यजतेभिः समन्तम्।
विद्वान्पथीनामुर्व१न्तरिक्षमेह देवान्हविरद्याय वक्षि॥ ११ ॥

(१) हे **भानुमः**=दीप्तिमन् **अग्ने**=परमात्मन्! **अद्य**=आज **भानुमन्तम्**=दीप्तिवाले **यजतेभिः**=संगतिकरण योग्य तत्त्वों से **समन्तम्**=समीचीन प्रान्तोंवाले! ज्ञानदीप्ति युक्त मस्तिष्कवाले तथा शक्ति व क्रियाशीलता से युक्त पाँवोंवाले **रथम्**=इस शरीर-रथ पर **आतिष्ठ**=अधिष्ठित होइये। आपकी कृपा से हमारा यह शरीर-रथ 'भानुमान् व समन्त' बने। (२) हे प्रभो! **पथीनां विद्वान्**=सब मार्गों को जाननेवाले आप **उरु अन्तरिक्षम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को (अन्तराक्षि)=मध्यमार्ग को **इह**=इस जीवन में **आवक्षि**=प्राप्त कराइये। अथवा (अन्तरिक्ष=हृदय) विशाल हृदय को हमें प्राप्त कराइये। **देवान्**=दिव्यगुणों को प्राप्त कराइये तथा **अद्याय**=खाने के लिये **हविः**=हवि को प्राप्त कराइये। हम सदा हवि को, यज्ञशेष को ही खानेवाले हों।

भावार्थ—हमारा दीप्तिवाला, उत्तम मस्तिष्क व पाँवोंवाला, यह शरीर-रथ प्रभु से अधिष्ठित हो। हम विशाल हृदय व दिव्यगुणों को प्राप्त करें और यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हों। सदा मध्यमार्ग से चलें।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हृदय में स्तवन, मस्तिष्क में ज्ञान

अवो॑चाम क॒वये॒ मेध्या॑य॒ वचो॑ व॒न्दारु॑ वृष॒भाय॒ वृष्णे॑।
गवि॑ष्ठिरो॒ नम॑सा॒ स्तोम॑म॒ग्नौ दि॒वी॑व रु॒क्मम॑रु॒व्यञ्च॑मश्रेत्॥ १२ ॥

(१) उस **कवये**=क्रान्तदर्शी **मेध्याय**=(मेधृ संगमे) संगम योग्य, पवित्र **वृषभाय**=शक्तिशाली **वृष्णे**=सुखवर्षक प्रभु के लिये **वन्दारु**=अभिवादन व स्तुति करनेवाले **वचः**=वचन को **अवोचाम**=बोलते हैं। प्रभु का स्तवन करते हैं। (२) **गविष्ठिरः**=वेद-वाणियों में स्थित होनेवाला पुरुष **अग्नौ**=उस अग्रणी प्रभु में **नमसा**=नमन के साथ **स्तोमम्**=स्तुति को **अश्रेत्**=आश्रित करे, **इव**=जिस प्रकार वह **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **उरुव्यञ्चम्**=विशाल विशिष्ट गमनवाले **रुक्मम्**=देदीप्यमान ज्ञान सूर्य को धारण करता है। 'गविष्ठिर' मन में स्तवन व मस्तिष्क में ज्ञान का धारण करता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। ज्ञान की वाणियों में स्थिर होनेवाला पुरुष हृदय में नम्रता युक्त स्तुति के भाव को स्थापित करता है और मस्तिष्क में दीप्त क्रियाशील ज्ञानाग्नि को।

इस प्रकार प्रभु-स्तवन व ज्ञानधारण को करनेवाला यह व्यक्ति **कुमार**=सब बुराइयों को (कु) मारनेवाला बनता है, 'अत्रेय' (अविद्यमानाः त्रयोयस्यः) 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठता है। यह **'वृश'** (वृश्यति selects) ठीक चुनाव करनेवाला होता है, प्रेय व श्रेय में श्रेय का ही चुनाव करता है और 'जारः'=सब वासनाओं को जीर्ण करनेवाला होता है। यह प्रार्थना करता है कि—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

युवति माता

कु॒मा॒रं मा॒ता यु॑व॒तिः समु॑ब्धं॒ गुहा॑ बिभर्ति॒ न द॑दाति पि॒त्रे।
अनी॑कमस्य॒ न मि॒नज्जना॑सः पु॒रः प॑श्यन्ति॒ निहि॑तमर॒तौ॥ १ ॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में 'वेदज्ञान' ही 'माता' है 'स्तुता मया वरदा वेदमाता'। यह दोषों को दूर करके गुणों का मिश्रण करने के कारण 'युवति' है। जीव 'कुमार' है, (कु) बुराई को मारनेवाला। यह **युवतिः माता**=कभी जीर्ण व मृत न होनेवाला 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति' जीवन का निर्माण करनेवाला (माता) वेदज्ञान **कुमारम्**=बुराई को नष्ट करनेवाले इस जीव को, **समुब्धम्**=जिसे कि ज्ञान से अच्छी प्रकार भरा गया है (उम् to fill with), **गुहा बिभर्ति**=अपने अन्दर धारण करती है या बुद्धिरूप गुहा में स्थापित करती है। **पित्रे न ददाति**=प्रभु रूप पिता के लिये नहीं दे डालती, अर्थात् यह जीव सदा प्रभु का ही जप नहीं करता रहता, ज्ञान-प्राप्ति आदि निर्विष्ट कर्मों को करनेवाला बनता है। वस्तुतः ज्ञान-प्राप्ति आदि कर्मों में लगना प्रभु की दृश्य भक्ति है, केवल नाम को जपते रहना उसकी श्रव्य भक्ति है। वेदमाता हमें दृश्यभक्ति में प्रेरित करती है, केवल श्रव्य भक्ति से बचाती है। (२) इस प्रकार यह वेदमाता **अस्य अनीकम्**=इसके बल को **न मिनत्**=नष्ट नहीं होने देती। इस प्रकार ज्ञान व शक्ति के परिपाक से **जनासः**=लोग इस कुमार को **पुरः**=अपने सामने **अरतौ निहितम्**=(अ-रतौ) विषय-वासनाओं के प्रति अरुचि में स्थापित हुआ-हुआ **पश्यन्ति**=देखते हैं। सब लोग अनुभव करते हैं कि वेदज्ञान ने इसे विषय-वासनाओं

की आसक्ति से ऊपर उठा दिया है।

भावार्थ—वेदमाता हमारे जीवन को सर्वांग सुन्दर बनाती है। यह वेदमाता का पुत्र केवल नाम ही नहीं जानता रहता। इसका बल हिंसित नहीं होता और यह विषयों के प्रति रुचिवाला नहीं होता।

ऋषिः—**वृशो जारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

गर्भः ववर्ध

कमे॒तं त्वं यु॑वते कुमा॒रं पेषी॑ बिभर्षि॒ महि॑षी जजान।
पूर्वी॒र्हि गर्भः॑ श॒रदो॑ व॒वर्धाप॑श्यं जा॒तं यदसू॑त मा॒ता ॥ २ ॥

(१) हे **युवते**=बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाली वेदमातः! **त्वम्**=तू **पेषी**=सब राक्षसीभावों का पेक्षण करनेवाली होती हुई **कम्**=किस अद्भुत **एतम्**=इस **कुमारम्**=बुराइयों के नष्ट करनेवाले जीव को **बिभर्षि**=धारण करती है। इसके धारण से ही तू **महिषी जजान**=महिषी के रूप में प्रादुर्भूत हुई है। इस कुमार के धारण करने से तू अत्यन्त महनीय हो गई है। (२) अपने जीवन के **पूर्वीः शरदः**=प्रारम्भिक वर्षों में **हि**=निश्चय से **गर्भः**=वेदमाता के गर्भ में रहता हुआ यह जीव (कुमार) **ववर्ध**=वृद्धि को प्राप्त हुआ है। आज **यद्**=जब **माता असूत**=वेदमाता इसे उत्पन्न करती है, यह उसके गर्भ से बाहिर आता है, तो **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए उस कुमार को **अपश्यम्**=मैं देखता हूँ 'तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः'।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में वेदमाता के गर्भ में रहता हुआ कुमार सुन्दर जीवनवाला बनता है। उत्पन्न हुए-हुए इस कुमार को, आचार्यकुल से समावृत्त इस कुमार को सब कोई देखने के लिये आते हैं।

ऋषिः—**कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

हिरण्यदन्त-शुचिवर्ण

हिर॑ण्यदन्तं॒ शुचि॑वर्णमा॒रात्क्षेत्रा॑दपश्य॒मायु॑धा॒ मिमा॑नम्।
द॒दा॒नो अ॑स्मा अ॒मृतं॑ वि॒पृक्व॒त्किं माम॑नि॒न्द्राः कृ॑णवन्ननु॒क्थाः ॥ ३ ॥

(१) गतमन्त्र में वर्धित कुमार का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **हिरण्यदन्तम्**=अत्यन्त हितरमणीय दाँतोंवाले अथवा स्वर्ण के समान चमकते हुए दाँतोंवाले, **शुचिवर्णम्**=पवित्र दीप्त वर्णवाले, तेजस्वी, इस कुमार को **अपश्यम्**=देखता हूँ। यह **क्षेत्रात् आराद्**=(आरात्=रुचि) इस क्रियाक्षेत्र शरीर में ही स्थित होकर **आयुधा मिमानम्**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि आदि जीवन संग्राम के आयुधों का निर्माण करते हुए है। यह सदा इनके परिष्कार में लगा रहता है। (२) यह कुमार **अस्मा**=हमारे लिये **विपृक्वत्**=विशिष्ट सम्पर्क के साधनभूत (पृच् संपर्के) प्रभु सम्पर्क को करानेवाले, **अमृतम्**=मृत्यु से ऊपर उठानेवाले (न मृतं यस्मात्) ज्ञान को **ददानः**=धारण करता है। हमारे लिये उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त कराता है। इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर अब **अनिन्द्राः**=प्रभु को माननेवाले, जगद् को अनीश्वर कहनेवाले **अनुक्थाः**=प्रभु-स्तवन से सदा दूर रहनेवाले **मां किं कृणवन्**=मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं, अर्थात् अब ये मुझे व्यर्थ की बातों से बहकाकर मार्गभ्रष्ट नहीं कर सकते।

भावार्थ—उत्तम आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करनेवाला कुमार पूर्ण स्वस्थ, मन, बुद्धि आदि का

परिष्कार करनेवाला औरों के लिये ज्ञान को देनेवाला बनता है।

ऋषिः—**कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

वासनाओं से लिप्त न होना और युवा बने रहना

क्षेत्रा॑दपश्यं सनु॒तश्चर॑न्तं सु॒मद्यू॒थं न पु॒रु शोभ॑मानम्।
न ता अ॑गृभ्र॒न्नज॑निष्ट॒ हि षः पलि॑क्नी॒रिद्यु॑वतयो॑ भवन्ति॥ ४॥

(१) आचार्य गर्भ में **सनुतः**=अन्तर्हित होकर रहते हुए इस कुमार को आज **क्षेत्रात्**=आचार्य गर्भ से **चरन्तम्**=बाहर विचरते हुए को **अपश्यम्**=देखता हूँ। अध्ययन काल में आचार्य गर्भ में रहकर आज यह आचार्य गर्भ से बाहर आया है। अध्ययन को पूरा करके आज उत्पन्न हुए-हुए इस कुमार को देखने के लिये सभी विद्वान् आये हैं 'तं जातं द्रष्टुमिभिसंयन्ति देवाः'। इसका **यूथम्**=इन्द्रियगण **न**=जैसे **सुमत्**=उत्तम ज्ञानवाला है, उसी प्रकार **पुरुशोभमानम्**=खूब ही शोभावाला है। शक्ति-सम्पन्न होने से इसकी प्रत्येक इन्द्रिय सुन्दर प्रतीत होती है। (२) **ताः**=वे संसार में प्रसिद्ध विषयवासनाएँ **न अगृभ्रन्**=इसे नहीं ग्रहण कर पायीं। यह विषयवासनाओं का शिकार नहीं हुआ। **सः**=वह कुमार **हि**=निश्चय से **अजनिष्ट**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाला हुआ है। विषय वासनाओं का शिकार न होने पर **पलिक्नीः इत्**=पलित केश वृद्ध प्रजाएं भी **इत्**=निश्चय से **युवतयः**=युवतियाँ **भवन्ति**=हो जाती हैं। विषय-वासनाएँ ही तो जीर्ण करती हैं। इनके अभाव में यौवन व सौन्दर्य ठीक बना रहता है।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को अपने रक्षण में रखता हुआ इस प्रकार तप=परिपक्व करता है कि यह वासनाओं में लिप्त नहीं होता और तेजस्विता से शोभा-सम्पन्न बना रहता है।

ऋषिः—**कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

ग्वाला व उसके पशु

के मे॑ मर्य॒कं वि य॑वन्त॒ गोभि॒र्न येषां॑ गो॒पा अर॑ण॒श्चि॒दास॑।
य ईं॑ जगृ॒भुरव॒ ते सृ॑ज॒न्त्वाजा॑ति प॒श्व उप॑ नश्चिकि॒त्वान्॥ ५॥

(१) **के**=कौन **मे मर्यकम्**=मेरे इस मनुष्य को, सन्तान को रक्षक के अभाव में जिसके मरने की निरन्तर आशंका है उस मेरे मर्यक को **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **वियवन्त**=विषयवासनाओं से पृथक् करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **येषाम्**=जिनका **गोपाः**=ग्वाला **अरणः**=इधर-उधर जानेवाला **न आस**=नहीं होता। विद्यार्थी गौवें हैं, आचार्य गोपा है। ग्वाला सदा गौवें के साथ रहता है तो गौवें हिंसन पशुओं के आक्रमण से बची रहती हैं। इसी प्रकार आचार्य सदा विद्यार्थियों के साथ रहता है, तो उन्हें निरन्तर ज्ञान देता हुआ विषयवासनाओं में फँसने नहीं देता। (२) **ये**=जो आचार्य **ईम्**=निश्चय से **जगृभुः**=इन विद्यार्थियों का ग्रहण करते हैं, **ते**=वे आचार्य ही इन्हें **अवसृजन्तु**=विषयवासनाओं से पृथक् करें। यह **चिकित्वान्**=ज्ञानी आचार्य **नः**=हमारे **पश्वः**=अक्रोध बालकों को (पशुतुल्य, नासमझ बालकों को) **उप आजाति**=अपने समीप प्राप्त कराता है 'आचार्य उपनयमानः ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'। अब इस आचार्य का ही कर्त्तव्य है कि वह इनकी रक्षा करे। आचार्य गोपा हो, ये विद्यार्थी ही इसके पशु हों। इनको वह विषयवासनारूप हिंस्र पशुओं के आक्रमण से बचाये। सदा इनको ज्ञानक्षेत्र में चराये।

भावार्थ—आचार्य गोप है, विद्यार्थी उसकी गौवें हैं। इनकी उसे रक्षा करनी है, इन्हें ज्ञान का चारा चराना है।

ऋषिः—**कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥
स्वरः—**पञ्चमः**॥

ज्ञान द्वारा वासनाओं से बचाव

वसां राजानं वसतिं जनानामरातयो नि दधुर्मर्त्येषु।
ब्रह्माण्यत्रेरव तं सृजन्तु निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु॥ ६॥

(१) **वसाम्**=शरीर में निवास करनेवाली इन्द्रियों, मन व बुद्धि के **राजानम्**=राजा-शासक, **जनानां वसतिम्**=लोगों को ज्ञानोपदेश आदि द्वारा बसानेवाले इस ज्ञानी पुरुष को भी **अरातयः**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रु **मर्त्येषु**=इन मरणधर्मा नश्वर पदार्थों में **निदधुः**=स्थापित करते हैं। ज्ञानी भी, आकस्मिक प्रमाद क्षण में, विषय वासनाओं की ओर झुक जाता है। सो सदा सावधान रहने की आवश्यकता है। (२) **अत्रेः**=(अ-त्रि) काम-क्रोध-लोभ से अतीत उस 'अ-त्रि' के, उस महान् प्रभु के **ब्रह्माणि**=ज्ञान को देनेवाले ये मन्त्र **तम्**=उसे **अवसृजन्तु**=इन विषयों से युक्त करें। अर्थात् सदा स्वाध्याय में लगा रहकर यह विषय वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाये। **निन्दितारः**=इन ज्ञान की वाणियों की निन्दा करनेवाले ही **निन्द्यासः**=निन्द्य जीवनवाले **भवन्तु**=हों। ज्ञान के प्रशंसक, ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहकर अपने जीवन को प्रशस्त बना पायें।

भावार्थ—सदा सावधान रहकर खाली समय को ज्ञान-प्राप्ति में व्यतीत करते हुए ही हम अपने को विषयों के आक्रमण से बचा सकते हैं।

ऋषिः—**कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

'होता-चिकित्वात्' आचार्य

शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद्यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि षः।
एवास्मदग्ने वि मुमुग्धि पाशान्होतश्चिकित्व इह तू निषद्य॥ ७॥

(१) आचार्य को ज्ञानी तो होना ही है 'चिकित्वान्', उसे लोकहित के कार्य में आहुति देनेवाला 'होता' भी बनना है। ऐसा ही आचार्य विद्यार्थियों का कल्याण कर सकता है। हे आचार्य! तूने **सहस्राद् यूपात्**=हजारों विषय वासनाओं के खम्भों से **निदितम्**=बँधे हुए **शुनः शेपम्**=सुख आराम का ही निर्माण करनेवाले सुख भोगों में मस्त **चित्**=भी इस पुरुष को **अमुञ्चः**=उन विषय स्तम्भों से मुक्त किया है। इससे अब **सः**=वह **हि**=निश्चय से **अशमिष्ट**=शान्त जीवनवाला बना है। (२) **एवा**=इसी प्रकार **होतः**=प्राजापत्य यज्ञ में अपनी आहुति देनेवाले अथवा ज्ञान को देनेवाले, **चिकित्वः**=ज्ञानी आचार्य! **इह**=यहाँ **तु**=निश्चय से **निषद्य**=हम लोगों में आसीन होकर, **अग्ने**=हे अग्नि के समान ज्ञानाग्नि से दीप्त आचार्य! **अस्मत्**=हमारे से **पाशान्**=जालों को **विमुमुग्धि**=छुड़ाइये। आपसे ज्ञान को प्राप्त करके हम विषय जालों से छूट जाएँ।

भावार्थ—ज्ञानी त्यागी आचार्यों के सम्पर्क से ज्ञान को प्राप्त करके हम विषय जाल से मुक्त हो जाएँ।

ऋषिः—कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

('जितेन्द्रिय ज्ञानी' आचार्य) फिर से प्रभु का प्रिय बनना

हृणीयमानो अप हि मदैयेः प्र मे देवानां व्रतपा उवाच।
इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम्॥ ८॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! जब मैं विषयों में फँस गया तो मुझे अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करने में लज्जा अनुभव करते हुए आप **मत्**=मेरे से **हि**=निश्चयपूर्वक **अप ऐयेः**=दूर हो गये। प्रभु का पुत्र विषयों में फँसे यह प्रभु के लिये भी लज्जाकर है ही। **देवानां व्रतपाः**=देवों के व्रतों के पालन करनेवाले ज्ञानी पुरुष ने **मे**=मुझे **प्र उवाच**=इस बात को कहा। देवों के व्रतों का पालन करनेवाला यह ज्ञानी मुझे प्रेरणा देता हुआ बतला रहा था कि इस प्रकार विषय मलिन तुझे प्रभु अपने पुत्र के रूप में कैसे स्वीकार करें? (२) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **हि**=निश्चय से **त्वा**=आपको **अनुचचक्ष**=सर्वत्र आपकी महिमा का दर्शन करता हुआ देखता है। **तेन**=उसी से **अनुशिष्टः**=अनुशासन-उपदेश को प्राप्त करके **अहम्**=मैं **आगाम्**=आपके पास आया हूँ। विषय वासनाओं को छोड़कर मैं आपका पुनः प्रिय बनने की कामनावाला हूँ।

भावार्थ—जितेन्द्रिय ज्ञानी आचार्यों से अनुशिष्ट होकर, विषयों से हम ऊपर उठें और प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—वृशो जारः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सद्गुणों का विकास-राक्षसीभावों का विनाश

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे॥ ९॥

(१) आचार्य से ज्ञान को प्राप्त करके **बृहता ज्योतिषा**=महान् ज्ञान-ज्योति से **विभाति**=यह विशेषरूप से चमकता है। **अग्निः**=प्रगतिशील होता है। **महित्वा**=ज्ञान की महिमा से **विश्वानि**=सब सद्गुणों को **आविः कृणुते**=अपने में प्रादुर्भूत करता है। (२) **अदेवीः**=अदिव्य, अर्थात् आसुरी **मायाः**=मायाओं को, छलकपट की भावनाओं को **प्रसहते**=प्रकर्षेण कुचल देता है। ये मायाएँ ही तो **दुरेवाः**=दुष्टगमनवाली हैं, उसे कुटिल मार्ग पर ले-जानेवाली हैं। यह **रक्षसे विनिक्षे**=राक्षसीभावों के विनाश के लिये **शृंगे शिशीते**=अपराविद्या व पराविद्या, प्रकृतिविद्या व आत्मविद्या रूप-शृंगों को तीव्र करता है। इन ज्ञानों को प्राप्त करके ही वह सब दुर्भावों से ऊपर उठ पाता है।

भावार्थ—ज्ञान-ज्योति से हमारे में सद्गुणों का विकास तथा राक्षसीभावों का विनाश होता है।

ऋषिः—कुमार आत्रेयो वृशो वा जार उभौ वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

स्तुति शब्दों से अदिव्य भावों का दूरीकरण

उत स्वानासो दिवि षन्त्वग्नेस्तिग्मायुधा रक्षसे हन्तवा उ।
मदे चिदस्य प्र रुजन्ति भामा न वरन्ते परिबाधो अदेवीः॥ १०॥

(१) **उत**=और **अग्नेः**=इस प्रगतिशील पुरुष के **स्वानासः**=स्तुति के शब्द **दिवि**=उस

द्योतनात्मक प्रकाशमय प्रभु में **सन्तु**-हों। ये सदा उस प्रकाशमय प्रभु का स्तवन करनेवाला हो। ये स्तुति शब्द ही **रक्षसे हन्तवा**=राक्षसीभावों के विनाश के लिये **उ**=निश्चय से **तिग्मायुधाः**=तीव्र अस्त्रों के समान हों। इन स्तुति शब्दों से राक्षसीभावों का विनाश हो। (२) स्तुति के द्वारा **मदे**=आनन्द के होने पर **चित्**=निश्चय से **अस्य**=इस (अग्नि) प्रगतिशील स्तोता के **भामाः**=तेज **प्ररुजन्ति**=उन राक्षसीभावों को प्रकर्षेण पीड़ित करते हैं। इन स्तोताओं को **अदेवीः**= आसुरी **परिबाधः**-उन्नति की बाधक भावनाएँ **न वरन्ते**-घेरनेवाली नहीं होतीं। यह स्तोता आसुरीभावों से कभी आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु स्तवन अदिव्य भावनाओं का विनाशक है।

ऋषिः—**कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

स्वर्वतीः अपः जयेम

एतं ते स्तोमं तुविजात विप्रो रथं न धीरः स्वपा अतक्षम्।
यदीदग्ने प्रति त्वं देव हर्याः स्वर्वतीरप एना जयेम॥ ११॥

(१) हे **तुविजात**=महान् विकासवाले प्रभो! प्रत्येक गुण की चरमसीमा ही तो आप हैं, आप में ज्ञान व शक्ति का निरतिशय विकास हुआ है। मैं **विप्रः**=अपना पूरण करनेवाला **एतम्**=इस **ते स्तोमम्**=आपके स्तवन को **अतक्षम्**=करता हूँ, **न**=जैसे कि एक **धीरः**=धीर (समझदार) **स्वपाः**=उत्तम कर्मोंवाला पुरुष **रथम्**=रथ को बनाता है। यह स्तवन ही मेरे लिये जीवन-यात्रा की पूर्ति का साधनरूप रथ बन जाता है। (२) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यदि**=यदि **इत्**=इस स्तोम को (It) **त्वम्**=आप **प्रतिहर्याः**=स्वीकार करें, यह आपके लिये प्रीतिकर हो, तो **एना**=इस स्तोम के द्वारा हम **स्वर्वतीः अपः**=स्वर्ग को प्राप्त करानेवाले कर्मों का **जयेम**=विजय करें। इस स्तवन से आपको आराधित करके आपकी प्रेरणाओं से हम यज्ञादि उत्तम कर्मों को करें, जो कि हमारे घरों स्वर्गतुल्य सुखमय बनाएँ।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों, जिनके परिणामस्वरूप हमारे गृह स्वर्ग बनें।

ऋषिः—**कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृदतिजगती**॥
स्वरः—**निषादः**॥

'बर्हिष्मान्-हविष्मान्'

तुविग्रीवो वृषभो वावृधानोऽशत्र्वर्यः समजाति वेदः ।
इतीममग्निममृता अवोचन्बर्हिष्मते मनवे शर्म यंसद्धविष्मते मनवे शर्म यंसत्॥ १२॥

(१) **तुविग्रीवः** (many)-अनन्त गर्दनोंवाला ('सहस्रशीर्षा: पुरुषः' की तरह ही 'तुविग्रीवः' का भाव है), अर्थात् सब प्राणियों के अन्दर विद्यमान होता हुआ अनन्त गर्दनोंवाला वह प्रभु **वृषभः**-शक्तिशाली है। **वावृधानः**=निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करानेवाला **अर्यः**=सबका स्वामी है। ये प्रभु ही **अशत्रु**=अकण्टक व न नष्ट करनेवाले **वेदः**=धन को **समजाति**=प्राप्त कराते हैं। **इति**=इस प्रकार **अमृताः**=विषयों के पीछे न मरनेवाले देव पुरुष **इमं अग्निम्**=इस अग्रणी प्रभु को **अवोचन्**=पुकारते हैं। (२) ये प्रभु **बर्हिष्मते**=वासनाशून्य प्रशस्त हृदयवाले, उस हृदयवाले जिसमें से कि वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **शर्म**=सुख

को **यंसत्**-देते हैं। **हविष्मते**-हविवाले **मनवे**-विचारशील पुरुष के लिये, त्यागपूर्वक अदन (हवि) करनेवाले ज्ञानी पुरुष के लिये, **शर्म**=कल्याण को प्राप्त कराते हैं। विचारशील पुरुष सब प्राणियों में प्रभु का दर्शन करता है, वह प्रभु को 'तुविग्रीव' रूप में देखता है। सो यज्ञ करके यह सदा यज्ञशेष का ही सेवन करता है। प्रभु भी इस 'बर्हिष्मान्-हविष्मान्' पुरुष को सुख प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम त्याग की वृत्तिवाले व प्रशस्त हृदयवाले बनें। प्रभु हमें वह धन प्राप्त करायेंगे जो कि किसी प्रकार हमारा विनाशक न होगा।

अगले सूक्त का ऋषि इस अविनाशक ज्ञान धन को प्राप्त करनेवाला 'वसुश्रुत' है, ज्ञानधन है। यह काम क्रोध-लोभ से ऊपर उठे होने के कारण 'आत्रेय' तो है ही। यह स्तुति करता हुआ कहता है कि—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वरुण मित्र इन्द्र

त्वम॑ग्ने॒ वरु॑णो॒ जाय॑से॒ यत्त्वं मि॒त्रो भ॑वसि॒ यत्समि॑द्धः।
त्वे विश्वे॑ सहसस्पुत्र दे॒वास्त्वमिन्द्रो॑ दा॒शुषे॒ मर्त्या॑य॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **यत्**-जब **जायसे**=हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत होते हैं, तो **वरुणः**=सब पापों का निवारण करनेवाले होते हैं। **यत् समिद्धः**=जब हमारे हृदयों में आप समिद्ध (दीप्त) होते हैं तो **त्वम्**=आप **मित्रः**-सब प्रमीतियों से, मृत्यु व रोगों से बचानेवाले **भवसि**=होते हैं। (२) हे **सहसः पुत्र**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाली शक्ति के पुञ्ज प्रभो! **त्वे**=आप में **विश्वे देवाः**=सब देवों का निवास है। आपके प्राप्त होने पर सब देवों की प्राप्ति तो हो ही जाती है। आपका आना ही सब दिव्य गुणों के आने का कारण बनता है। आपका स्मरण करके हम हृदयों को पवित्र व दिव्यवृत्तियों का अधिष्ठान बना पाते हैं। (३) हे प्रभो! आप **दाशुषे मर्त्याय**-इस दाश्वान् मनुष्य के लिये, देने की वृत्तिवाले मनुष्य के लिये अथवा अपना अर्पण करनेवाले मनुष्य के लिये **त्वम्**=आप **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं तथा शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। जो भी आपके प्रति अपना अर्पण करता है, उसे आप परमैश्वर्य-सम्पन्न करते हैं और उसके काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु दाश्वान् पुरुष के लिये मित्र हैं, वरुण हैं, इन्द्र हैं।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

समनसा दम्पती

त्वम॑र्य॒मा भ॑वसि॒ यत्क॒नीनां॒ नाम॑ स्वधाव॒न्गुह्यं॑ बिभर्षि।
अ॒ञ्जन्ति॑ मि॒त्रं सुधि॑तं॒ न गोभि॒र्यद्दम्प॑ती॒ सम॑नसा कृ॒णोषि॑॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **यत्**=जब **कनीनाम्**=ज्ञानदीप्तियों के **अर्यमा**=देनेवाले (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) **भवसि**=होते हैं, तो हे **स्वधावन्**=आत्मधारण शक्तिवाले प्रभो! **गुह्यम्**=हृदयरूप गुहा में होनेवाली **नाम**=नम्रता की भावना को **बिभर्षि**-पुष्ट करते हैं। प्रभु अपने उपासकों को ज्ञानदीप्ति व नम्रता धारण कराते हैं। (२) **यत्**-जब घरों में पति-पत्नी उस **मित्रम्**-सब मृत्यु व रोगों से बचानेवाले **सुधितम्**-हृदयों में उत्तमता से स्थापित **न**=(इव) के समान प्रभु को **गोभिः**=ज्ञान

की वाणियों के द्वारा **अञ्जन्ति**=(अञ्ज् गतौ) जाते हैं, उस प्रभु को हृदय में देखने का प्रयत्न करते हैं, तो हे प्रभो! आप **दम्पती**=उन पति-पत्नी को **समनसा कृणोषि**=समान मनवाला, एक हृदयवाला करते हैं। इन्हें आप सहृदयता व सामनस्य प्राप्त कराते हैं यदि घरों में पति-पत्नी स्वाध्याय व प्रभु के ध्यान की वृत्तिवाले बनते हैं तो समान मनस्क होते हैं, परस्पर सच्चे प्रेमवाले। सिनेमा व क्लबों में जाकर परस्पर विघटित मनवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानदीप्ति व नम्रता को देते हैं। प्रभु का ध्यान व स्वाध्याय पति-पत्नी को समानमनस्क बनाता है।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शुद्ध हृदय में प्रभु की श्री का निवास

तव॑ श्रि॒ये म॒रुतो॑ मर्जयन्त॒ रुद्र॒ यत्ते॒ जनि॑म॒ चारु॑ चि॒त्रम्।
प॒दं यद्विष्णो॑रुप॒मं नि॒धायि॒ तेन॑ पासि॒ गुह्यं॒ नाम॒ गोना॑म्॥ ३ ॥

(१) हे **रुद्र**=सब रोगों का द्रावण करनेवाले प्रभो! **तव श्रिये**=आपका आश्रय करने के लिये, आपकी श्री को प्राप्त करने के लिये **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुष **मर्जयन्त**=अपने जीवन का शोधन करते हैं। अपवित्र जीवनवाले को तो आपकी श्री ने क्या प्राप्त होना? हे इन्द्र! **यत्**=जो **ते**=आपका **जनिम**=प्रादुर्भाव व विकास है, हृदयों में जो आपकी ज्योति का देखना है, वह **चारु**=अत्यन्त सुन्दर है और **चित्रम्**=अद्भुत है, हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाला है (चित्+र)। (२) **यत्**=जब **विष्णोः**=उस सर्वव्यापक प्रभु का **उपमं पदम्**=वह सर्वोच्च (highest) ज्ञान (पद गतौ, गति=ज्ञान) **निधायि**=हृदय में स्थापित किया जाता है, तो हे प्रभो! **तेन**=उस ज्ञान से **गोनाम्**=इन ज्ञान की वाणियों के साथ सम्बद्ध **गुह्यं नाम**=हृदयस्थ नम्रता की भावना को **पासि**=आप रक्षित करते हैं। आप ज्ञान देते हैं, ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली नम्रता को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम हृदयों को शुद्ध करते हुए प्रभु की श्री को प्राप्त करते हैं। प्रभु हमें ज्ञान व नम्रता को प्राप्त कराते हैं। प्रभु का स्तोता 'ज्ञानी व नम्र' होता है।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु धारण व अमृतत्व की प्राप्ति

तव॑ श्रि॒या सु॒दृशो॑ देव दे॒वाः पु॒रू दधा॑ना अ॒मृतं॑ सपन्त।
होता॑रम॒ग्निं मनु॑षो॒ नि षे॑दुर्दश॒स्यन्त॑ उ॒शिजः॒ शंस॑मा॒योः॥ ४ ॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **देवाः**=सब सूर्य आदि देव **तव श्रिया**=आपकी श्री से ही **सुदृशः**=उत्तम दर्शनीय रूपवाले हो रहे हैं। ज्ञानी लोगों (विद्वांसो हि देवः) को ज्ञान भी आपसे ही प्राप्त होता है। 'तेन देवा देवतामग्र आयन्'=सब देवों को देवत्व आपसे ही प्राप्त होता है। (२) **पुरू दधानाः**=खूब ही आपका धारण करते हुए लोग **अमृतं सपन्त**=अमृतत्व का स्पर्श करते हैं। जितना-जितना प्रभु का धारण करते हैं, उतना-उतना ही देवत्व को प्राप्त होते हुए महादेव के समीप पहुँचते हैं और जन्म-मरण-चक्र से ऊपर उठ जाते हैं। (२) **मनुषः**=विचारशील पुरुष **होतारम्**=उस सब कुछ देनेवाले **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु की **निषेदुः**=उपासना में आसीन होते हैं। ये लोग **दशस्यन्तः**=हवि को देते हुए, यज्ञ करते हुए **उशिजः**=प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाले **आयोः**=गतिशील पुरुष के **शंसम्**=उपासन में **निषेदुः**=निषण्ण होते हैं। प्रभु की उपासना करते हैं, पर इनकी उपासना एक मेधावी गतिशील पुरुष की उपासना होती है। ये उपासना करते हुए

सदा दानशील होते हैं। यज्ञों के द्वारा ही वे प्रभु का उपासन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु को धारण करते हुए हम अमृतत्व को प्राप्त करें। यज्ञों के द्वारा प्रभु का उपासन करनेवाले हों।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'होता' प्रभु का उपासक भी होता बनता है

न त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान्न काव्यैः परो अस्ति स्वधावः।
विशश्च यस्या अतिथिर्भवासि स यज्ञेन वनवद्देव मर्तान्॥ ५॥

(१) हे **अग्ने** परमात्मन्! **त्वत् पूर्वः**-आपसे पहिला **होता न**=दाता कोई नहीं है। दाताओं में सर्वप्रथम दाता आप ही हैं। हे प्रभो! आपसे बढ़कर **यजीयान्**-पूजनीय कोई नहीं है। **काव्यैः**-ज्ञानों से भी **परः**=उत्कृष्ट भी **न अस्ति**=नहीं है। हे **स्वधावः**-आत्मधारणशक्तिवाले प्रभो! सर्वाधिक ज्ञानवाले आप ही हैं। आप ही सर्वश्रेष्ठ 'दाता, पूज्य व ज्ञानी' हैं। (२) **च**-और आप **यस्याः विशः**=जिस प्रजा के **अतिथिः भवासि**=अतिथि होते हैं, जिस प्रजा को आप प्राप्त होनेवाले होते हैं **सः**-वह **यज्ञेन**-यज्ञों के द्वारा, हे **देव**-प्रकाशमय प्रभो! **मर्तान्**-मनुष्यों को **वनवत्**=संभक्त करनेवाला होता है, यह यज्ञों के द्वारा मनुष्यों की सेवा करता है। प्रभु का उपासक सब प्राणियों के हित में प्रवृत्त होता ही है। प्रभु होता है, यह भी होता बनता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वश्रेष्ठ होता हैं इनका उपासक भी प्राजापत्य यज्ञ में आहुति देनेवाला बनता है।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वसूयवः बुध्यमानाः

वयमग्ने वनुयाम त्वोता वसूयवो हविषा बुध्यमानाः।
वयं समर्ये विदथेष्वह्नां वयं राया सहसस्पुत्र मर्तान्॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **त्वा ऊताः**=आपके द्वारा रक्षित हुए-हुए **वयम्**=हम **वनुयाम**-शत्रुओं का विजय करें, शत्रुओं को हिंसित करके **वसूयवः**=वसुओं की कामनावाले, जीवन के लिये आवश्यक धनों की कामनावाले, हम **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **बुध्यमानाः**=निरन्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। प्रभु-रक्षण को प्राप्त करके काम क्रोध को पराजित करें। वसुओं को प्राप्त करके, दानपूर्वक उन वसुओं का प्रयोग करते हुए हम निरन्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। (२) **वयम्**=हम **समर्ये**=संग्राम में तथा **अह्नां विदथेषु**=सब हितों में चलनेवाले ज्ञानयज्ञों में आपसे रक्षित होकर ही विजय को प्राप्त करेंगे (त्वा ऊताः वनुयाम)। काम क्रोध के साथ होनेवाले संग्राम में आपने ही हमें विजय प्राप्त करानी है। हमारे ज्ञानयज्ञों को भी आपने ही सफल बनाना है। (२) हे **सहसस्पुत्र**-शक्ति के पुञ्ज प्रभो! **वयम्** हम **राया**-धन के द्वारा **मर्तान्**=मनुष्यों को जीतनेवाले बनें। धन का विनियोग मानवहित के लिये करते हुए सर्वत्र प्रशंसनीय हों और इस प्रकार धन के विनियोग से, विलास में न फँसकर, हम खूब शक्तिशाली बनें।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित होकर हम वसुओं को प्राप्त करके, उनका लोकहित में विनियोग करते हुए शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अघशंस में अक्ष का धारण

यो न आगो अभ्येनो भरात्यधीदघमघशंसे दधात।
जही चिकित्वो अभिशस्तिमेतामग्ने यो नो मर्चयति द्वयेन॥७॥

(१) **यः**=जो पुरुष **नः अभि**=हमारे प्रति **आगः एनः**=अपराध को व पाप को **भराति**=करता है, तो उस अपराध व पाप से होनेवाले **अघम्**=कष्ट को (evil, harm) **इत्**=निश्चय से **अधशंसे**=इस अघ की कामना करनेवाले पुरुष में ही, हमें कष्ट देने की कामनावाले में ही **अधिदधात**=आधिक्येन धारण करिये। कोई भी व्यक्ति किसी आगस् व एनस् के द्वारा (अपराध व पाप के द्वारा) हमें कष्ठ पहुँचाने का प्रयत्न करता है तो यह कष्ट उसी अघशंस पुरुष को प्राप्त हो। (२) हे **चिकित्वः**=सर्वज्ञ प्रभो! **एताम्**=इस **अभिशस्तिम्**=(hurt, injury, attack) हानि व कष्ट के आक्रमण को **जहि**-विनष्ट करिये। हे **अग्ने**=प्रभो! **यः**=जो **नः**=हमें **द्वयेन मर्चयति**=आगस् व एनस् के दोनों के द्वारा बाधित व पीड़ित करता है उसे भी **जहि**=हमारे से दूर करिये, विनष्ट करिये। हम उसके आगस् व एनस् का शिकार न हों।

भावार्थ—हम अपराध व शाप जनित कष्टों का पात्र न बनें। बुरा चाहनेवाले को ही कष्ट प्राप्त हो।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रातः प्रभु-स्मरण

त्वामस्या व्युषि देव पूर्वे दूतं कृण्वाना अयजन्त हव्यैः।
संस्थे यदग्न ईयसे रयीणां देवो मर्तैर्वसुभिरिध्यमानः॥८॥

(१) हे **देव**-प्रकाशमय प्रभो! **त्वाम्**=आपको **अस्याः व्युषि**=इस रात्रि के व्युष्ट (समाप्त) होने पर, अर्थात् उषाकाल में (when the day dawns) **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले लोग **दूतं कृण्वानाः**=ज्ञान-संदेश प्राप्त करानेवाला करते हुए **हव्यैः अयजन्त**=हव्यों के द्वारा, यज्ञों के द्वारा उपासित करते हैं। उषाकाल होते ही ये पूर्व लोग आपका उपासन करते हैं, आप से ज्ञान सन्देश को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ध्यान तथा स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान को प्राप्त करने के लिये यत्नशील होते हैं तथा दानपूर्वक अदन से, यज्ञशीलता से आपका यजन करते हैं। आप सब कुछ देनेवाले हैं। ये लोग भी सदा देकर अवशिष्ट का ही सेवन करते हैं। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **देवः**=प्रकाशमय हैं। **यत्**=चूँकि **रयीणाम्**=सब ऐश्वर्यों के **संस्थे**=संस्थान में **ईयसे**=आप गति करते हैं, सो **मर्तैः**=मनुष्यों से **वसुभिः**=वसुओं के उद्देश्य से **इध्यमानः**=दीप्त किये जाते हैं। सब मनुष्य वसुओं की प्राप्ति के लिये आपका ही ध्यान करते हैं। सब धनों के अधिष्ठाता प्रभु ही हैं, सो प्रभु ही सब को वसु प्राप्त कराते हैं। जो भी प्रभु को अपने हृदय में दीप्त करते हैं, प्रभु उन्हें सब वसु प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रातः उठकर प्रभु का हम स्मरण करें। ज्ञानपूर्वक अदन से प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें सब वसु प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पिता के नेतृत्व में पुत्र की यात्रा

अव॑ स्पृधि पि॒तरं॒ योधि॑ वि॒द्वान्पु॒त्रो यस्ते॑ सहसः सून ऊ॒हे।
क॒दा चि॑कित्वो अ॒भि च॑क्षसे॒ नोऽग्ने॑ क॒दाँ ऋ॒तचि॑द्यातयासे ॥ ९ ॥

(१) हे **सहसः सूनो**-बल के पुत्र, बल के पुञ्ज प्रभो! **पितरं विद्वान्**-पालक आप को जानता हुआ **यः**-जो **ते**-आपका **पुत्रः**-पुत्र होता हुआ आपको **ऊहे**-अपने हृदय में धारण करता है, उसको आप **योधि अवस्पृधि**=(योधय, स्पृह extricate from) पापों के साथ युद्ध कराइये और इन पापों से पृथक् करिये। आपका स्मरण करता हुआ यह आपका उपासक पापों से मुकाबिला कर सके और उन्हें पराजित करके अपने से दूर करनेवाला हो। (२) हे **चिकित्वः**-सर्वज्ञ प्रभो! **कदा**-हमारे जीवन में कब वह सौभाग्य का दिन होगा जब कि आप **नः अभिचक्षसे**-हमारे पर कृपा दृष्टि करेंगे? हे **अग्ने** अग्रणी प्रभो! **कदा** कब **ऋतचित्**-ऋतों का, सत्यों का हमारे जीवन में चयन करनेवाले आप **नः**-हमें **यातयासे**=सन्मार्ग से ले चलनेवाले होते हैं? कितना ही सुन्दर वह दिन होगा जब कि हम आपकी कृपादृष्टि को प्राप्त करके आपसे सन्मार्ग पर ले जाये जा रहे होंगे। आप मेरे नेता होंगे, मैं आपका अनुयायी।

भावार्थ—हे प्रभो! मैं आपका स्मरण करूँ। आप मुझे पापों से पृथक् करें। मैं आपका अनुयायी होऊँ, आप मुझे सन्मार्ग से ले चलें और मेरे में सत्य का वर्धन करें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पिता द्वारा पुत्र में नम्रता का स्थापन

भूरि॒ नाम॒ वन्द॑मानो दधाति पि॒ता व॑सो॒ यदि॒ तज्जो॒षया॑से।
कु॒विद्दे॒वस्य॒ सह॑सा चका॒नः सु॒म्नम॒ग्निर्व॑नते वावृधा॒नः ॥ १० ॥

(१) **वन्दमानः**-स्तुति करता हुआ यह उपासक **भूरि**-खूब ही **नाम**-नम्रता को **दधाति**=धारण करता है, हे **वसो**-बसानेवाले प्रभो! **पिता**-पालक व रक्षक होते हुए **यदि**-यदि **तत्**=उस नम्रता को आप **जोषयासे**=हमें प्रीतिपूर्वक सेवन कराते हैं। अर्थात् इस नम्रता को भी तो आपने ही हमारे अन्दर धारण कराना है, पुत्र में पिता ही तो सब सद्गुणों का स्थापन करता है। (२) जब इस उपासक में प्रभु नम्रता को धारण कराते हैं, तो यह उपासक **देवस्य**-उस प्रकाशमय प्रभु का **कुवित्**-खूब ही **सहसा** बल के द्वारा **चकानः**-(कामयमानः) कामना करता हुआ **अग्निः**-प्रगतिशील होता है, **वावृधानः**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त करता है और **सुम्नम्**=सुख को **वनते**-जीतता है, प्राप्त करता है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इस बात का स्मरण करता हुआ वह उपासक अपने को प्राप्त करता हुआ अपने सुख को बढ़ाता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम नम्र बनते हैं। उपासना से सबल बनकर प्रभु प्राप्ति की कामनावाले होते हैं। प्रभु हमें सुखी करते हैं।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उपासक का निष्पाप जीवन

त्वम॒ङ्ग ज॑रि॒तारं॑ यविष्ठ॒ विश्वा॑न्यग्ने दु॒रि॒ताति॑ पर्षि।
स्ते॒ना अ॑दृश्रन्रि॒पवो॒ जना॒सोऽज्ञा॑तकेता वृ॒जि॒ना अ॑भूवन् ॥ ११ ॥

(१) हे **अंग**=गतिशील 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च', स्वाभाविकरूप से क्रियाशील, **यविष्ठ** हमारी बुराइयों को दूर करके हमारे साथ अच्छाइयों का सम्पर्क करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **जरितारम्**=स्तोता को **विश्वानि दुरिता**=सब पापों से **अतिपर्षि**=पार ले जाते हो। आपका उपासक, आपकी कृपा से पापवृत्तियों को पराजित करने में समर्थ होता है। (२) **अज्ञातकेताः**=(न ज्ञातं के तं यैः, केतः सं केत) आपके संकेतों को न समझनेवाले **जनासः**=लोग **स्तेनाः**=चोर व **रिपवः**=ठग (cheat, rogue) **अदृश्रन्**=देखे जाते हैं, ये **वृजिनाः** पाप ही पाप **अभूवन्** हो जाते हैं। जो प्रभु की ओर झुकाव नहीं रखते और प्रभु के संकेतों को नहीं समझते वे 'चोर, ठग व पापी' बन पाते हैं।

भावार्थ—उपासक निष्पाप जीवनवाला बनता है और नास्तिक पापमय जीवनवाला।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रक्षक प्रभु

इमे यामासस्त्वद्रिगभूवन्वसवे वा तदिदागो अवाचि।
नाहायमग्निरभिशस्तये नो न रीषते वावृधानः परा दात्॥ १२॥

(१) **इमे**=ये **यामासः**=गतिशील पुरुष **त्वद्रिक्**=आपकी ओर आनेवाले **अभूवन्**=होते हैं। **वा**=अथवा **तत् इत् आगः**=वह अपराध भी, जो कि हमारे से शक्ति व ज्ञान की अल्पता के कारण हो जाता है, **वसवे**=उस निवासक प्रभु के लिये **अवाचि**=कहा जाता है। हम अपने अपराध को प्रभु के सामने स्वीकार करके उसे दूर करने के लिये प्रभु से प्रार्थना करते हैं। प्रभु हमें निष्पाप बनाकर हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं। (२) **न अह अयं अग्निः**=नहीं ही यह अग्रणी प्रभु **नः**=हमें **अभिशस्तये**=वासनाओं के आक्रमण के लिये **परादात्**=छोड़ देते। अर्थात् ये प्रभु हमारे पर वासनाओं के आक्रमण को नहीं होने देते। **वावृधानः**=निरन्तर हमारा वर्धन करते हुए वे प्रभु **नः**=हमें **रीषते**=हिंसक पुरुष के लिये **न परादात्**=नहीं दे डालते। प्रभु से रक्षित हम उपासकों को हिंसक व्यक्ति भी हिंसित नहीं कर पाते।

भावार्थ—हम प्रभु की ओर चलें, प्रभु से ही पापों को दूर करने की याचना करें। प्रभु हमें वासनाओं व हिंसकों के आक्रमण से बचाते हैं।

'वसुश्रुत आत्रेयः' का ही अगला सूक्त है। वह अग्नि नाम से प्रभु स्मरण करता हुआ कहता है—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वसुओं व शक्तियों के दाता प्रभु

त्वामग्ने वसुपतिं वसूनामभि प्र मन्दे अध्वरेषु राजन्।
त्वया वाजं वाजयन्तो जयेमाभि ष्याम पृत्सुतीर्मर्त्यानाम्॥ १॥

हे **अग्ने**=अग्रणी **राजन्**=सबके शासक प्रभो! **वसूनां वसुपतिम्**=सब वसुओं (धनों) के पति **त्वाम्**=आपको **अध्वरेषु**=हिंसारहित परोपकार के कर्मों में **अभिप्रमन्दे**=आभिमुख्येन स्तुत करता हूँ, स्तुति करता हुआ आपके अभिमुख होता हूँ। आपने ही तो हमारे लिये सब वसुओं को प्राप्त कराना है। (२) **त्वया**=आपकी उपासना से **वाजयन्तः**=अपने साथ शक्ति को जोड़ने की कामना करते हुए हम **जयेम**=शत्रुओं को जीतनेवाले हों। हम **मर्त्यानाम्**=मरणधर्माओं की

पृत्सुतीः=सेनाओं को **अभिष्याम**-अभिभूत करें। कोई भी हमारे पर आक्रमण करे, तो हम उसका मुकाबिला कर सकें, उसके पराभव से आत्मरक्षण करने में समर्थ हों।

भावार्थ—प्रभु ही हमें वसुओं को प्राप्त कराते हैं, शत्रुओं को पराजित करने की शक्ति देते हैं।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'हव्यवाळग्निः अजरः पिता नः'

हव्यवाळग्निरजरः पिता नो विभुर्विभावा सुदृशीको अस्मे।
सुगार्हपत्याः समिषो दिदीह्यस्मद्र्यक्सं मिमीहि श्रवांसि ॥ २ ॥

(१) **नः**-हमारे **पिता**-वे रक्षक प्रभु **हव्यवाड्**-सब हव्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं, **अग्निः**-अग्रणी हैं, हम आगे ले चलनेवाले हैं। **अजरः**=कभी जीर्ण नहीं होते। **विभुः**-व्यापक, **विभावा**-विशिष्ट दीप्तिवाले, **अस्मे**=हमारे लिये **सुदृशीकः**=उत्तम दृष्टिवाले हैं, सदा हमारा ध्यान करनेवाले, कृपादृष्टिवाले हैं। पिता के अनुरूप बनते हुए हमें भी हव्य पदार्थों का सेवन करनेवाला (हव्यवाड्) प्रगतिशील (अग्नि), शक्तियों को न जीर्ण कर लेनेवाला (अजर), उदार (विभु), विशिष्ट ज्ञानदीप्तिवाला (विभावा) व सदा उत्तम दृष्टिवाला (सुदृशीक) बनना है। (२) हे प्रभो! आप **सुगार्हपत्माः**=गार्हपत्य यज्ञ को उत्तम बनानेवाले **इषः**-अन्नों को **अस्मद्र्यक्**-अस्मदभिमुख होकर **संमिमीहि**=सम्यक् दीजिये। आपकी कृपा से सात्विक अन्नों को प्राप्त करके, उन अन्नों के सेवन से सात्विक वृत्तिवाले होते हुए हम गृहस्थ यज्ञ को उत्तमता से चलानेवाले हों। हे प्रभो! आप इन्हीं सात्विक अन्नों से सात्विक बुद्धिवाला हमें बनाकर **शवांसि**-ज्ञानों का हमारे जीवन में निर्माण करिये?

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम अन्न व ज्ञान प्राप्त करायें, ताकि हमारा 'गृहस्थ यज्ञ' बड़ी उत्तमता से चले।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'रक्षक-पावक-होता' प्रभु

विशां कविं विश्पतिं मानुषीणां शुचिं पावकं घृतपृष्ठमग्निम्।
नि होतारं विश्वविदं दधिध्वे स देवेषु वनते वार्याणि ॥ ३ ॥

(१) **मानुषीणां विशां विश्पतिम्**=विचारशील प्रजाओं के रक्षक, **कविम्**=उस क्रान्तप्रज्ञ प्रभु को **निदधिध्वे**-निश्चय से अपने हृदयों में धारण करो। वे प्रभु **शुचिम्**=पवित्र हैं, **पावकम्**-हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले हैं। **घृतपृष्ठम्** दीप्त पृष्ठवाले हैं, अर्थात् दीप्ति के रूप में आभासित होते हैं। उपासक उन्हें एक प्रकाश के रूप में ही देखता है। **अग्निम्**-वे उपासक को उन्नति-पथ पर ले चलनेवाले हैं। **होतारम्**=वे होता हैं, दाता हैं। **विश्वविदम्**=सर्वज्ञ हैं व सर्वललक-सब कुछ प्राप्त करानेवाले हैं। (२) **सः**-वे प्रभु ही **देवेषु**-देवों में **वार्याणि**=वरणीय वस्तुओं को **वनते**=प्राप्त कराते हैं। सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले वे प्रभु ही हैं। सूर्यादि को ये ही दीप्ति प्राप्त कराते हैं। बुद्धिमानों को ये ही बुद्धि देते हैं और तेजस्वियों को तेज देनेवाले हैं। वे ही सर्वत्र विजय प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही रक्षक, पावक व सर्वप्रदाता हैं। सब वरणीय वस्तुएँ प्रभु ही प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ब्रह्मयज्ञ-अतिथियज्ञ

जुषस्वाग्न इळया सजोषा यतमानो रश्मिभिः सूर्यस्य।
जुषस्व नः समिधं जातवेद आ च देवान्हविरद्याय वक्षि॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **इडया सजोषाः**-वेदवाणी से प्रीतिवाला होता हुआ तू ज्ञान की रुचिवाला होता हुआ तू **जुषस्व**=अपने कर्त्तव्य कर्मों को प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला हो। तू **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों के साथ ही **यतमानः**=कर्त्तव्य कर्मों को करने के लिये यत्नशील हो। सूर्योदय से सूर्यास्त तक अपने नियत कर्मों को करने में लगा रह। (२) प्रभु जीव से कहते हैं कि—हे **जातवेदः**=उत्पन्न हुआ है ज्ञान जिसमें ऐसा तू **नः**=हमारी **समिधम्**=वेदोपदिष्ट इस ज्ञानदीप्ति को **जुषस्व**-प्रीतिपूर्वक सेवन कर। **च**=और **हविः अद्याय**=सदा दानपूर्वक अदन के लिये **देवान् आवक्षि**=देवों को अपने घर पर लानेवाला हो उनका आतिथ्य करके, उनको खिला करके ही तू खानेवाला बन। यह आतिथ्य ही तुझे सब लोकों का विजेता बनायेगा।

भावार्थ—मनुष्य स्वाध्याय करे और अपने कर्त्तव्य कर्मों के करने में लगा रहे। ज्ञान में रुचिवाला हो, अतिथियों को खिला करके ही यज्ञशेष को खानेवाला बने।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्मविजय से उन्माद विजय

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयतामा भरा भोजनानि॥ ५॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **जुष्टः**=प्रीतिपूर्वक कार्यों में लगा हुआ, **दमूनाः**=दान के मनवाला अथवा दान्त (वशीभूत) मनवाला, **अतिथिः**=निरन्तर गतिशील तू **दुरोणे**=घर में **इमम्**-इस **नः यज्ञम्**-हमारे यज्ञ को **उपयाहि**=प्राप्त हो। अर्थात् वेद में उपदिष्ट यज्ञों को तू करनेवाला बन। (२) **विद्वान्**=ज्ञानी व समझदार होता हुआ तू हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **विश्वाः**=सब **अभियुजः**=आक्रमण करनेवाली वासनाओं को **विहत्य**-नष्ट करके, **शत्रूयताम्**=इन शत्रुत्व का आचरण करनेवाली प्रजाओं के **भोजनानि**=भोग साधनभूत धनों को आभर (आहर) हरण करनेवाला हो। वस्तुतः अपना विजय करके ही जगत् का विजय करनेवाला बनेगा। 'इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रियुधनं त्वया'।

भावार्थ—हम इस शरीर में दान्तमनवाले बनकर यज्ञों में प्रवृत्त रहें। सब वासनाओं को जीतकर बाह्य शत्रुओं को भी पराजित करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ज्ञान' रूप शस्त्र से 'काम' रूप शत्रु का संहार

वधेन दस्युं प्र हि चातयस्व वयः कृण्वानस्तन्वे३ स्वायै।
पिपर्षि यत्सहसस्पुत्र देवान्त्सो अग्ने पाहि नृतम वाजे अस्मान्॥ ६॥

(१) हे जीव! तू **वधेन**=वध के साधनभूत आयुधों के द्वारा **दस्युम्**=इस नाशक कामरूप वृत्ति को **हि**=निश्चय से **चातयस्व**=विनष्ट कर। इसके विनाश के द्वारा **स्वायै तन्वे**=अपने शरीर के लिये **वयः**=दीर्घ आयुष्य को **कृण्वानः**=तू करनेवाला हो। यह 'काम' तेरे शरीर को जीर्ण

करनेवाला शत्रु है। इसके वध का साधन ज्ञान ही है। बुद्धि को परिष्कृत करता हुआ तू ज्ञान को बढ़ा और इस वासनारूप शत्रु को विनष्ट कर। (२) इस प्रकार कहा हुआ जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **सहसस्पुत्र** बल के पुञ्ज प्रभो! **यत्** जो आप **देवान् पिपर्षि** दिव्य गुणों का हमारे अन्दर पूरण करते हैं, **सः** वे **अग्ने**-हे अग्रणी, **नृतम** सर्वोत्तम नेतृत्व देनेवाले प्रभो! आप **वाजे** इस जीवन संग्राम में **अस्मान्**-हमें **पाहि** सुरक्षित कीजिये। आप से रक्षित होकर ही हम इस संग्राम में विजय को प्राप्त कर सकेंगे।

भावार्थ—जीव का कर्त्तव्य है कि ज्ञानरूप शस्त्र के द्वारा 'काम' रूप शत्रु का संहार करके दीर्घ जीवन को प्राप्त करे। प्रभु के सम्पर्क से शक्तिशाली बनकर जीवन संग्राम में विजय को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उक्थों व हव्यों द्वारा प्रभु-स्तवन

वयं ते अग्न उक्थैर्विधेम वयं हव्यैः पावक भद्रशोचे।

अस्मे रयिं विश्ववारं समिन्वास्मे विश्वानि द्रविणानि धेहि॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **वयम्** हम **उक्थैः**-स्तोत्रों से **ते विधेम**=आपका पूजन करें। हे **पावक**-हमें पवित्र करनेवाले, **भद्रशोचे**-कल्याणकर ज्ञानदीप्तिवाले प्रभो! **वयम्** हम **हव्यैः**=हव्यों के द्वारा दानपूर्वक अदन के द्वारा आपका पूजन करते हैं। यज्ञरूप प्रभु का पूजन यज्ञशेष के सेवन से ही होता है। (२) हे प्रभो! आप **अस्मे**-हमारे लिये **विश्ववारम्**-सब से वरने योग्य **रयिम्**-ज्ञानैश्वर्य को **समिन्व**-प्राप्त कराइये। इस ज्ञानैश्वर्य के द्वारा **विश्वानि**=सब **द्रविणानि**=जीवन की गति के साधक धनों को **धेहि**=हमारे में धारण करिये।

भावार्थ—हम स्तोत्रों व हव्यों के द्वारा प्रभु का पूजन करें। प्रभु हमें ज्ञानैश्वर्य व जीवन यात्रा के साधक द्रविणों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'हव्य व अध्वर' का सेवन व सुख प्राप्ति

अस्माकमग्ने अध्वरं जुषस्व सहसः सूनो त्रिषधस्थ हव्यम्।

वयं देवेषु सुकृतः स्याम शर्मणा नस्त्रिवरूथेन पाहि॥ ८॥

(१) हे **अग्ने** परमात्मन्! **अस्माकम्** हमारे **अध्वरम्** जीवनयज्ञ का **जुषस्व**-आप सेवन करिये। हमारा जीवनयज्ञ आपके लिये प्रिय हो। वस्तुतः आपके द्वारा ही इसने पूर्ण होना है। हे **सहसः सूनो**-बल के पुञ्ज **त्रिषधस्थ**-तीनों लोकों में एक साथ वर्तमान सर्वव्यापक प्रभो! हमारे **हव्यम्** हव्य को (जुषस्व) आप प्रीतिपूर्वक सेवन करिये। यह हव्य आपके लिये प्रीतिकर हो। हम इस त्यागपूर्वक अदन से ही तो आपकी उपासना कर पाते हैं। (२) **वयम्** हम **देवेषु** देववृत्ति के पुरुषों में भी **सुवृतः**-उत्तम कर्मों को करनेवाले **स्याम**=हों। देवों में भी देववर व देवतम बनने का प्रयत्न करें। अथवा माता, पिता, आचार्य व अतिथि आदि देवों में सदा शुभ कर्मों को करनेवाले हों, उनके प्रति अपने कर्त्तव्यों को अच्छी प्रकार निभायें। आप **त्रिवरूथेन**-तीनों कष्टों का निवारण करनेवाले **शर्मणा**-सुख से **नः**=हमें **पाहि**-सुरक्षित करिये। हमें 'वाचिक व मानस' कोई भी कष्ट न प्राप्त हो।

भावार्थ—हम अध्वर व हव्य के द्वारा प्रभु के प्रिय हों। उत्तम कर्मों को करते हुए त्रिविध

कष्टों से सन्तप्त न हों।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अत्रि' बनकर नमनपूर्वक प्रभु का उपासन करें

विश्वा॑नि नो दु॒र्गहा॑ जातवेदः॒ सिन्धुं॒ न ना॒वा दु॑रि॒ताति॑ पर्षि।
अग्ने॑ अत्रि॒वन्नम॑सा गृणा॒नो३॑ऽस्माकं॑ बोध्यवि॒ता त॒नूना॑म्॥ ९॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **नः**=हमें **विश्वानि**=सब **दुर्गहा**=दुःख से ग्रहण योग्य-दुःख से भोग्य, **दुरिता**=दुरितों को, अशुभों को **अतिपर्षि**=पार कराइये, **न**=जैसे कि **सिन्धुम्**=नदी को **नावा**=नाव से पार कराते हैं। आपकी कृपा से हम सब इन दुःखभोग्य दुरितों से दूर हों। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अत्रिवत्**='काम-क्रोध लोभ' से ऊपर उठे हुए व्यक्ति की तरह **नमसा**=नमस्कार के द्वारा **गृणानः**=हमारे से स्तुति किये जाते हुए आप **अस्माकम्**=हमारे **तनूनाम्**=शरीरों के **अविता**=रक्षक **बोधि**=होइये। हम अत्रि बनकर नमनपूर्वक आपके चरणों में उपस्थित हों और आपसे रक्षणीय हों।

भावार्थ—प्रभु हमें सब कष्टों से पार करते हैं। हम अत्रि बनकर प्रभु का स्तवन करें, प्रभु हमारा रक्षण करेंगे।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यशस्वी व अमर जीवन

यस्त्वा॑ हृ॒दा की॒रिणा॒ मन्य॑मा॒नोऽम॑र्त्यं॒ मर्त्यो॒ जोह॑वीमि।
जात॑वेदो॒ यशो॑ अ॒स्मासु॑ धेहि प्र॒जाभि॑रग्ने अमृत॒त्वम॑श्याम्॥ १०॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **अमर्त्यं त्वा**=अविनाशी आपको **यः**=जो **मर्त्यः**=मरणधर्मा में **कीरिणा**=स्तुतियुक्त **मनसा**=मन-से **मन्यमानः**=मनन करता हुआ, स्तुति शब्दों के अर्थ का भावन करता हुआ (तज्जपः तदर्थभावनम्) **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। (२) वे आप **अस्मासु**=हमारे में **यशः धेहि**=यश का स्थापन करिये, आपकी कृपा से मैं यशस्वी कार्यों को ही करनेवाला बनूँ। **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! मैं आपकी कृपा से **प्रजाभिः**=प्रजाओं के द्वारा **अमृतत्वम्**=अमरता को **अश्याम्**=प्राप्त करूँ। इस शरीर को छोड़ने के बाद भी सन्तानों के रूप में जीवित ही रहूँ। वस्तुतः यशस्वी जीवनवालों का वंश चलता ही चलता है। कोई तीव्र अपयश की बात आ जाने पर ही वंश समाप्त हुआ करता है।

भावार्थ—प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ। प्रभु मुझे यशस्वी व प्रजाओं द्वारा अमर जीवन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उत्तम धन

यस्मै॒ त्वं सु॒कृते॑ जातवेद उ लो॒कम॑ग्ने कृ॒णव॑: स्यो॒नम्।
अ॒श्विनं॒ स पु॒त्रिणं॑ वी॒रव॑न्तं॒ गोम॑न्तं र॒यिं न॑शते स्व॒स्ति॥ ११॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यस्मै सुकृते**=जिस पुण्यशाली के लिये **त्वम्**=आप **उ**=निश्चय से **स्योनम्**=सब सुखों के साधक **लोकम्**=आलोक को (प्रकाश को) **कृणवः**=करते हैं **सः**=वह **स्वस्ति**=कल्याण कर **रयिम्**=रयि को, ऐश्वर्य को **नशते**=प्राप्त होता

है। (२) उस रयि को प्राप्त होता है जो कि **पुत्रिणम्** प्रशस्त सन्तानोंवाला है, **वीरवन्तम्**=धन स्वामी को वीर बनानेवाला है तथा **गोमन्तम्**-उसे प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनाता है। सामान्यत: ऐश्वर्य में यही कमी है कि (क) सन्तानें अधिक लाड प्यार में पलने से बिगड़ जाती है, (ख) मनुष्य स्वयं कम काम करने से कमजोर हो जाता है, (ग) भोगविलास की वृद्धि से इन्द्रियाँ 'विषयपंक मलिन' हो जाती हैं। पर यह पुण्यशाली इन दोषों से रहित रयि को प्राप्त करता है।

भावार्थ—पुण्यशाली को प्रभु पवित्र रयि प्राप्त कराते हैं जो कि उसे पवित्र पुत्रोंवाला प्रकृष्ट बलवाला व प्रशस्तेन्द्रिय बनाता है।

वसुश्रुत आत्रेय ही अगले सूक्त का भी ऋषि है। यह ४.११ के अनुसार उस वसु के कारण श्रुत (प्रसिद्ध) है जो कि सन्तानों शक्ति व इन्द्रियों पर अशुभ प्रभाववाला नहीं। यह कहता है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषि: —**वसुश्रुत आत्रेय:** ॥ देवता—**आप्रिय:** ॥ छन्द: —**गायत्री** ॥ स्वर: —**षड्ज:** ॥

प्रभु प्राप्ति के लिये ज्ञान की साधना

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे॥ १ ॥

(१) **सुसमिद्धाय**-खूब दीप्त-तेजस्वी, **शोचिषे**=ज्ञानदीप्तिवाले, **अग्नये**=गतिशील अग्रणी, **जातवेदसे**-(जातं वेद: यस्यात्) उत्पन्न धनवाले, सब धनों के दाता उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **तीव्रम्**-बड़ी प्रबल **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को **जुहोतन**=अपने में आहुत करो। (२) प्रभु प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम ज्ञान को बढ़ायें। जितना-जितना ज्ञान बढ़ेगा, उतना-उतना प्रभु की महिमा को हम प्रत्येक पदार्थ में देखेंगे। प्रभु के समीप होते हुए हम भी तेजस्वी (समिद्ध) ज्ञानदीप्तिवाले, प्रगतिशील व आवश्यक धनों का अर्जन करनेवाले बनेंगे।

भावार्थ—ज्ञानवृद्धि के द्वारा हम प्रभु के सान्निध्य को प्राप्त करें। यह सान्निध्य हमें तेजस्वी, ज्ञानदीप्त, प्रगतिशील व ऐश्वर्य-सम्पन्न बनायेगा।

ऋषि: —**वसुश्रुत आत्रेय:** ॥ देवता—**आप्रिय:** ॥ छन्द: —**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वर: —**ऋषभ:** ॥

'अदाभ्य-कवि-मधुहस्त्य'

नराशंस: सुषूदतीमं यज्ञमदाभ्य:। कविर्हि मधुहस्त्य:॥ २ ॥

(१) **नराशंस:**-मनुष्यों से स्तुति किये जानेवाले वे प्रभु **इयं यज्ञम्**-इस यज्ञ को **सुषूदति**-सम्यक् प्रेरित करते हैं। जो भी प्रभु का स्तवन करता है, प्रभु उसे यज्ञात्मक कर्मों में चलने की प्रेरणा देते हैं। (२) वे प्रभु **अदाभ्य:**=वासनाओं व अन्य शत्रुओं से हिंसित होनेवाले नहीं, **हि**-निश्चय से **कवि:**-सर्वज्ञ हैं। **मधुहस्त्य:**=मधुरता से सब कर्मों को करनेवाले हैं, हाथों में माधुर्य को लिये हुए हैं। मन में अदाभ्य, मस्तिष्क में ज्ञानी, हाथों में मधुहस्त्य।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमारे जीवन को यज्ञमय बनाते हैं, हम 'अदाभ्य-कवि-मधुहस्त्य' बनते हैं।

ऋषि: —**वसुश्रुत आत्रेय:** ॥ देवता—**आप्रिय:** ॥ छन्द: —**निचृद्गायत्री** ॥ स्वर: —**षड्ज:** ॥

'सुख' रथ

ईळितो अग्न आ वहेन्द्रं चित्रमिह प्रियम्। सुखै रथेभिरूतये॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **ईडित:**-स्तुति किये गये आप **इह**-इस जीवन में **इन्द्रम्**-इस

जितेन्द्रिय पुरुष को **प्रियम्**=प्रीति के साधक **चित्रम्**=अद्भुत ज्ञान को (चित्=ज्ञाने) **आवह**=प्राप्त कराइये। (२) इस ज्ञान के द्वारा ही तो आप **सुखैः**=(सु-ख) उत्तम इन्द्रियोंवाले **रथेभिः**-शरीर-रथों से **ऊतये**=हमारे रक्षण के लिये होते हैं। प्रभु हमें ज्ञान प्राप्त कराते हैं, ज्ञान के द्वारा इन्द्रियाँ उत्तम बनती हैं। सब इन्द्रियों के उत्तम होने पर ही जीवन-यात्रा का सुख निर्भर करता है।

भावार्थ—प्रभु उपासक को ज्ञान प्राप्त कराते हैं, ज्ञान के द्वारा इन्द्रियाँ उत्तम होती हैं, इन्द्रियों के ठीक होने पर शरीर-रथ ठीक से चलता हुआ जीवन-यात्रा की पूर्ति का साधक होता है।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यागायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विशाल हृदयता-स्तुति व शुद्धता

ऊर्णम्रदा वि प्रथस्वाभ्य१र्का अनूषत। भवा नः शुभ्र सातये॥ ४॥

(१) **ऊर्णम्रदाः**=(ऊर्ण् आच्छादने, मृदु) औरों के दोषों को आच्छादित करनेवाले, दोषों को न उघाड़ते फिरनेवाले और कोमल हृदय से युक्त हुआ-हुआ तू **विप्रथस्व**-विशिष्ट विस्तारवाला हो। (२) **अर्काः**-मेरे जीवन में स्तुति के साधनभूत मन्त्र (अर्कः मंत्रः अर्चन्ति अनेन) **अभि अनूषत**=तेरा आभिमुख्येन स्तवन करनेवाला हो। तू मन्त्रों द्वारा सदा प्रभु का स्तोता बन। (३) **शुभ्र**=शुभ्र जीवनवाला होता हुआ तू **नः**=हमारी **सातये**=प्राप्ति के लिये **भवा**=हो। जीवन को शुद्ध बनाकर तू प्रभु को प्राप्त होनेवाला हो।

भावार्थ—हम विशाल हृदय बनें, मन्त्रों द्वारा प्रभु का स्तवन करें, शुद्ध जीवनवाले बनकर प्रभु को प्राप्त हों।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उत्तम इन्द्रिय द्वार

देवीर्द्वारो वि श्रयध्वं सुप्रायणा न ऊतये। प्रप्र यज्ञं पृणीतन॥ ५॥

(१) यह मानवदेह यज्ञ की वेदि है। इसमें इन्द्रियाँ इस यज्ञशाला के द्वार हैं। इनके लिये कहते हैं कि **देवीः द्वारः**=प्रकाशमय उत्तम व्यवहारों के साधक (दिव्-द्युतौ, व्यवहारे) इन्द्रिय द्वारो! **विश्रयध्वम्**=विशिष्टरूप से इस देह में अपना आश्रय करो। **नः**=हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिये **सुप्रायणाः**-शुभ प्रकृष्ट गतिवाले होवो। सब इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य उत्तमता से करें, ताकि जीवन यज्ञ सुन्दरता से चले। (२) हे इन्द्रिय द्वारो! सुप्रायण होते हुए तुम **यज्ञम्**=इस जीवन यज्ञ को **प्र प्र**=खूब ही अच्छी तरह **पृणीतन**-पूरा करो। ये इन्द्रियाँ इस जीवन यज्ञ के होता हैं, इन्होंने ही तो इसे पूरा करना है।

भावार्थ—इन्द्रिय द्वार उत्तम गतिवाले होकर जीवन यज्ञ को सिद्ध करनेवाले हों।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

जीवन को बनानेवाले 'दिन-रात'

सुप्रतीके वयोवृधा यह्वी ऋतस्य मातरा। दोषामुषासमीमहे॥ ६॥

(१) हम जीवन के निर्माण करनेवाले **दोषाम्**-रात्रि को व **उषासम्**=उषा (दिन) को **ईमहे**=स्तुत करते हैं। दिन व रात का ठीक उपयोग ही इनका स्तवन है। दिन के एक-एक क्षण को क्रियामय बनाते हुए हम इसे सचमुच 'उषस्' (दोष दहन करनेवाला) बनाते हैं तथा रात्रि को आराम करते हुए इसे रमयित्री करते हैं। (२) ये दिन-रात **सुप्रतीके**=उत्तम अंगोंवाले हैं। यदि दिन हमारा खूब क्रियाशील बीतता है और रात्रि हमारे लिये रमयित्री होती है तो सब अंग-प्रत्यंग

स्वास्थ्य के सौन्दर्य से दीप्त प्रतीत होते हैं। **वयोवृधा** ये दिन-रात हमारे आयुष्य के वर्धक हैं। **यह्वी**-हमारे लिये महत्त्वपूर्ण हैं (महत्यौ)। हमारे जीवनों में **ऋतस्य**-सब ठीक चीजों का **मातरा**-निर्माण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हमारे दिन रात क्रमशः निरन्तर क्रिया व आराम में बीतते हुए हमारे जीवन को 'सुरूप, दीर्घ व यज्ञिय' बनानेवाले हों।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

जीवन यज्ञ के दैव्य होता

वातस्य पत्मन्नीळिता दैव्या होतारा मनुषः। इमं नो यज्ञमा गतम्॥ ७॥

(१) शरीर में जो जीवनयज्ञ चलता है उसके 'दो कान, दो आँखें, दो नासिका छिद्र व मुख' ये सात होता हैं। इस जीवन यज्ञ के रक्षक प्राण व अपान हैं। उन्हें यहाँ 'दैव्य होता' कहा है। ये दोनों उस महान् देव प्रभु से शरीर में यज्ञ ही रक्षा के लिये स्थापित हुए हैं। ये दोनों **नः**-हमारे **इमम्** इस **यज्ञम्**-जीवन यज्ञ को **आगतम्**-प्राप्त हों। इन्होंने ही तो हमारे इस जीवन यज्ञ का रक्षण करना है 'तत्र जागृतः आस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ'-वे देव यज्ञ में आसीन होकर सदा जागते हैं। (२) ये दोनों **वातस्य पत्मन्**-वायु के पतन-स्थान अन्तरिक्ष में, हृदयान्तरिक्ष में **ईडिता**=स्तुत होते हैं। वायु अन्तरिक्ष की देवता है, प्राणापान हृदयान्तरिक्ष की। ये **मनुषः**=विचारशील पुरुष के **दैव्या होतारा**-प्रभु से दिये गये होता हैं, अथवा विचारशील पुरुष को प्रभु की ओर ले-जानेवाले होता हैं।

भावार्थ—बाहर जो वायु का स्थान है, वही शरीर में प्राणापान का। वे मनुष्य को प्रभु की ओर ले जानेवाले होते हैं, जीवन यज्ञ को सफल करते हैं।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इडा, सरस्वती, मही

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ ८॥

(१) पृथिवी स्थानीय अग्नि की पत्नी 'इडा' है, अन्तरिक्ष स्थानीय सरस्वान् (=वायु) की पत्नी सरस्वती है, द्युस्थान आदित्य (भरत) की पत्नी 'मही' है। शरीर के साथ 'इडा' का सम्बन्ध है, शरीर में उचित अग्नि आवश्यक ही है। हृदयान्तरिक्ष के साथ 'सरस्वती' का सम्बन्ध है, सरस्वती का आराधक हृदय ही 'हृदय' है। मस्तिष्क आदित्य पत्नी मही का निवास-स्थान है। यह मही ज्ञानवाणी ही मस्तिष्क को सुभूषित करती है। ये 'इडा सरस्वती मही'-शरीर, हृदय व मस्तिष्क की देवताएँ **तिस्रः**-तीनों मिलकर **देवीः**-हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाती हैं **मयोभुवः**-ये कल्याण व नीरोगता को जन्म देनेवाली हैं। (२) **अस्रिधः**-किसी प्रकार का हिंसन न करती हुई ये **बर्हिः**-हमारे वासनाशून्य हृदय में **सीदन्तु**=स्थित हों। हमारे हृदयों में इन तीनों के लिये स्थान हो। इन तीनों की स्थिति हमें अहिंसित बनाये।

भावार्थ—हम जीवन में 'इडा, सरस्वती व मही' के उपासक बनकर कल्याण को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'शिव, विभु, पोष' प्रभु

शिवस्त्वष्टरिहा गहि विभुः पोष उत त्मना। यज्ञेयज्ञे न उदव॥ ९॥

(१) **त्वष्टः**-हे संसार के निर्माता (त्वक्ष्) दीप्त (त्विक्ष्) प्रभो! आप **शिवः** सबका कल्याण

करनेवाले हैं। **विभुः**=सर्वव्यापक हैं। **उत**=और **त्मना**=स्वयं **पोषः**=पोषण करनेवाले हैं। हमारी बिना प्रार्थना के भी वे प्रभु पोषण करते ही हैं। ऐसे आप **इह**-यहाँ जीवनयज्ञ में **आगहि**-हमें प्राप्त होइये। (२) **यज्ञे यज्ञे**-प्रत्येक यज्ञ में, उत्तम कर्म में **नः**=हमें **उद् अव**=उत्कर्षेण रक्षित करिये। वस्तुतः प्रभु-कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त हों। हमारे सब यज्ञ प्रभु कृपा से पूर्ण हों।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वनस्पति' प्रभु (ज्ञानरश्मियों के पति)

यत्र वेत्थ वनस्पते देवानां गुह्या नामानि। तत्र हव्यानि गामय ॥ १० ॥

(१) हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के स्वामिन् प्रभो! **यत्र**=जहाँ आप **देवानाम्**=देववृत्तिवाले पुरुषों के **गुह्या**=हृदयरूप गुहा में होनेवाली **नामानि**=नम्रता की भावनाओं को **वेत्थ**=जानते हैं व प्राप्त कराते हैं, **तत्र** वहाँ **हव्यानि गामय**=हव्य पदार्थों को भी प्राप्त कराइये। (२) हे प्रभो! आपकी कृपा से हम देववृत्तिवाले बनकर, खूब उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके, हृदय में नम्रता को धारण करें तथा जीवन में सदा हव्य पदार्थों का ही सेवन करनेवाले बनें। सदा यज्ञशेष का सेवन ही हव्य का सेवन है। हम हव्यों के ग्रहण के द्वारा ही प्रभु-पूजन करते हैं।

भावार्थ—हमारे हृदयों में ज्ञानी पुरुष की नम्रता हो तथा हम हव्य पदार्थों का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हव्य सेवन के लाभ

स्वाहाग्नये वरुणाय स्वाहेन्द्राय मरुद्भ्यः। स्वाहा देवेभ्यो हविः ॥ ११ ॥

(१) **अग्नये**=उस अग्नि नामक प्रभु की प्राप्ति के लिये **हविः स्वाहा**=मैं अपने में हवि की आहुति देता हूँ। अर्थात् हवि का सेवन करता हुआ मैं अग्नि (प्रभु) को प्राप्त होता हूँ। हवि के द्वारा ही तो अग्नि का उपासन होता है। अग्नि, अर्थात् मैं प्रगतिशील बनता हूँ। (२) **वरुणाय** वरुण नामक प्रभु के लिये मैं अपने में हवि की **स्वाहा**=आहुति देता हूँ। हवि का सेवन करता हुआ वरुण का उपासक बनता हूँ। वरुण, अर्थात् द्वेष का निवारण करनेवाला व व्रत के बन्धन में अपने को बाँधनेवाला बनता हूँ। (३) **इन्द्राय**=इन्द्र के लिये मैं हवि को **स्वाहा**=अपने में आहुत करता हूँ। हवि का, यज्ञशेष का ही सेवन करता हुआ मैं जितेन्द्रिय बनता हूँ। (४) **मरुद्भ्यः**=प्राणों के लिये मैं हवि की अपने में आहुति देता हूँ। यज्ञशेष का सेवन करता हुआ अपनी प्राणशक्ति का वर्धन करता हूँ। (५) **देवेभ्यः**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिये मैं हवि को अपने में आहुत करता हूँ। हवि, अर्थात् 'हु दानादनयोः' देकर बचे हुए को ही खानेवाला बनता हूँ। इस यज्ञशेष के सेवन से हमारे में दिव्य वृत्तियों का वर्धन होता है, आसुर वृत्तियों का ह्रास।

भावार्थ—देकर बचे हुए यज्ञशेष का सेवन करता हुआ मैं 'प्रगतिशील, निर्द्वेष व व्रतबन्धनवाला, जितेन्द्रिय, प्राणशक्ति-सम्पन्न व दिव्यवृत्तिवाला' बनता हूँ।

इस प्रकार हव्य सेवन करनेवाले 'वसुश्रुत आत्रेय' को प्रभु की प्रेरणा प्राप्त होती है। यह भाव प्रस्तुत सूक्त में देखिये—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अग्नि=प्रगतिशील जीव

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ १ ॥

(१) **तम्**-उसको **अग्निम्**-प्रगतिशील **मन्ये**-मानता हूँ, (क) **यः**-जो **वसुः**-अपने निवास को उत्तम बनाता है और औरों के भी वास का कारण बनता है। (ख) उसे अग्नि मानता हूँ **यम्**-जिसको **धेनवः** ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणीरूप गौवें **अस्तं यन्ति**-घर की तरह प्राप्त होती हैं। गौवें चरकर सायं घर को लौटती हैं, इसे भी ये वेदवाणी रूप धेनुएँ प्राप्त होती हैं, यह उनके लिये घर की तरह बनता है (at home, familiar), (ग) इस अग्नि को **आशवः अर्वन्तः**-शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियाँ **अस्तम्** घर की तरह प्राप्त होती हैं। (घ) इस अग्नि को **नित्यासः**=(नि-) अन्दर होनेवाले, बाहर विषय वासनाओं से मलिन न होनेवाले **वाजिनः**-इन्द्रियरूप अग्नि **अस्तम्**-घर की तरह प्राप्त होते हैं। (२) इन **स्तोतृभ्यः**-अपने जीवन को उत्तम बनाने के द्वारा आपका सच्चा स्तवन करनेवाले स्तोताओं के लिये **इषम्**-प्रेरणा को **आभर** प्राप्त कराइये। आपसे निरन्तर प्रेरणा को प्राप्त करके ही तो ये अपने जीवन को सुन्दर बना पायेंगे।

भावार्थ—प्रगतिशील वह है जो अपने निवास को उत्तम बनाये, ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करे, क्रियाशील इन्द्रियोंवाला हो, विषयों से अनाक्रान्त इन्द्रियोंवाला हो। यही स्तोता है। इस स्तोता को प्रभु प्रेरणा प्राप्त होती है।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सुजात सूरियों का सम्पर्क

सो अग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सं सुजातासः सूरय इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ २ ॥

(१) **सः**-वह **अग्निः**=प्रगतिशील जीव है **यः**=जो कि **वसुः** अपने निवास को उत्तम बनाता है और औरों के निवास का कारण बनता है। **यम्**=जिसको **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणी रूप गौवें **सं आयन्ति**=सम्यक् प्राप्त होती हैं। जिसको **रघुद्रुवः**-शीघ्र गमनवाले, क्रियाओं को स्फूर्ति से करनेवाले **अर्वन्तः**=इन्द्रियाश्व **सम्**=सम्यक् प्राप्त होते हैं। (२) यह अग्नि ही **गृणे**=स्तुत होता है, प्रशंसनीय होता है, जिसे कि **सुजातासः**=उत्तम कुलों में जन्म लेनेवाले अथवा उत्तम विकासवाले **सूरयः**=ज्ञानी पुरुष **सम्**-प्राप्त होते हैं, जिसका उठना-बैठना कुलीन व गुण सम्पन्न ज्ञानी पुरुषों के साथ होता है। वस्तुतः ये ही पुरुष प्रभु के सच्चे स्तोता होते हैं। हे प्रभो! आप **स्तोतृभ्यः**=इन स्तोताओं के लिये **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**-प्राप्त कराइये।

भावार्थ—अग्नि वह है जो वसु है, जिसे ज्ञानदुग्धदात्री वेदवाणीरूप धेनुएँ प्राप्त होती हैं, जिसकी कर्मेन्द्रियाँ शीघ्र गतिवाली हैं, जिसका उठना-बैठना कुलीन ज्ञानी पुरुषों के साथ है। इन्हें ही प्रभु प्रेरणा प्राप्त होती है।

ऋषि:—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

विशाल 'व्यापक, मनोवृत्तिवाला' प्रभु-भक्त

अग्निर्हि वाजिनं विशे ददाति विश्वचर्षणिः ।

अग्नी राये स्वाभुवं स प्रीतो याति वार्यमिषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ३ ॥

(१) **विश्वचर्षणिः**=सब का द्रष्टा, सब का ध्यान (पालन) करनेवाला **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **हि**=निश्चय से **विशे**=प्रजाओं के लिये **वाजिनम्**=शक्ति को (strength) **ददाति**=देता है। इस शक्ति के द्वारा ही वह हमें रक्षण के योग्य बनाता है। **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु ही **स्वाभुवम्**=(सु आ भू) उत्तमता से सर्वत्र व्याप्त होनेवाले पुरुष को, अर्थात् वसुधा को ही अपना परिवार बना लेनेवाले पुरुष को, **राये**=धन के लिये प्राप्त कराता है। **सः**=वह स्वाभुम्=पुरुष **प्रीतः**=प्रसन्नता का अनुभव करनेवाला हुआ-हुआ **वार्य**=सब वरणीय धनों को **याति**=प्राप्त होता है। परिवार की विशालता से प्रीति का अनुभव होता है। यह वसुधा को परिवार बनानेवाला पुरुष प्रीति का अनुभव करता हुआ, प्रभु के अनुग्रह से सब वरणीय धनों को प्राप्त करता है। (२) हे प्रभो! आप इन वसुधा को अपना परिवार बनानेवाले, विशाल हृदयवाले **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिये **इषं आभर**=प्रेरणा को प्राप्त कराइये। ये स्वाभू पुरुष प्रभु के भक्त होते हैं 'सर्वभूतहितेरताः'। इन्हें प्रभु की प्रेरणा प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति व धन प्राप्त कराते हैं। हम हृदय को विशाल बनायें, तभी प्रभु के प्रिय होंगे और प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करेंगे।

ऋषि:—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु के अजरामर काव्य 'वेद' का उपासक

आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।

यद्ध स्या ते पनीयसी समिद्दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **ते**=आपकी **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय **अजरम्**=कभी जीर्ण न होनेवाली ज्ञान-ज्योति को **आ इधीमहि**=अपने में सर्वथा दीप्त करते हैं 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'=उस देव का यह वेद अजरामर काव्य है। इसे हम अपने में दीप्त करते हैं। (२) हे प्रभो! **यत्**=जो **स्या**=वह **ते**=आपकी **पनीयसी**=अति प्रशंसनीय **समित्**=ज्ञानदीप्ति है, वह **ह**=निश्चय से **द्यवि**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में **दीदयति**=चमकती है। अर्थात् आपने जो वेदज्ञान दिया है, उसे हम अपने मस्तिष्क में दीप्त करने का प्रयत्न करते हैं। हे प्रभो! आप इन **स्तोतृभ्यः**=आपके सच्चे स्तोताओं के लिये **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हम प्रभु की वेदरूप ज्ञान-ज्योति से मस्तिष्क को दीप्त करने का प्रयत्न करें। प्रभु हमें प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त करायेंगे।

ऋषि:—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विज्ञान-हवि

आ ते अग्न ऋचा हविः शुक्रस्य शोचिषस्पते ।

सुश्चन्द्र दस्म विश्पते हव्यवाट् तुभ्यं हूयत इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने** परमात्मन्! **तुभ्यम्** आपकी प्राप्ति के लिये **ते ऋचा**-आपकी इन ऋचाओं के साथ, विज्ञान वाणियों के साथ **हविः आ हूयते**-हमारे से हवि आहुत होती है। 'मंत्रोच्चारणपूर्वक हवन करते हैं' इस अर्थ के साथ 'ऋचा हविः आ हूयते' का भाव यह भी है कि हम (क) ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और (ख) सदा त्यागपूर्वक अदन करते हैं। प्रभु प्राप्ति के ये ही मुख्य साधन हैं। (२) हे प्रभो! आप **शुक्रस्य शोचिषः पते**-(शुक गतौ) हमें क्रियाशील बनानेवाली ज्ञानदीप्ति के पति हैं। आपसे प्राप्त ज्ञानदीप्ति से हमारा जीवन क्रियाशील बनता है। **सुश्चन्द्र**=आप उत्तम आह्लादवाले हैं। उपासक को अद्भुत आनन्द को प्राप्त कराते हैं। **दस्म** आप सब दुःखों के विनाशक हैं। **विश्पते** सब प्रजाओं के रक्षक हैं **हव्यवाट्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। हे प्रभो! आप **स्तोतृभ्यः**-विज्ञान व हवि को अपनानेवाले हम स्तोताओं के लिये **इषम्** प्रेरणा को **आभर**=प्राप्त करानेवाले होइये।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपके विज्ञान को धारण करते हुए दानपूर्वक अदन करनेवाले बनें। आप हमें प्रेरणा को प्राप्त कराके हमारे लिये आह्लाद को प्राप्त करानेवाले व दुःखों को दूर करनेवाले होइये।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

हिन्विरे-इन्विरे-इषणयन्ति

प्रो त्ये अग्नयोऽग्निषु विश्वं पुष्यन्ति वार्यम् ।
ते हिन्विरे त इन्विरे त इषणयन्त्यानुषगिषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ६ ॥

(१) **उ**-निश्चय से **त्ये**-वे ही **अग्नयः**=प्रगतिशील जीव हैं, जो **अग्निषु**-माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियों में रहते हुए, इन अग्नियों की उपासना करते हुए, **विश्वम्**-सब **वार्यम्**=वरणीय धनों को **प्रपुष्यन्ति** अपने में प्रकर्षेण पुष्ट करते हैं। माता के सम्पर्क में 'चरित्र' को, पिता से 'सदाचार' को तथा आचार्य से ये 'ज्ञान' को प्राप्त करते हैं। (२) **ते**=वे 'चरित्र सदाचार व ज्ञान' को प्राप्त करनेवाले व्यक्ति **हिन्विरे**-(cast, throw) सब बुराइयों को अपने से दूर फेंकते हैं, **ते इन्विरे**=(pervade) अच्छाइयों का वे व्यापन करते हैं। बुराइयों के स्थान में अच्छाइयों को अपने में भरते हैं। इस प्रकार **ते**-वे **आनुषक्**=निरन्तर **इषणयन्ति**-(strengthen) अपने को शक्तिशाली बनाते हैं। **स्तोतृभ्यः**-इन स्तोताओं के लिये **इषं आभर**=प्रेरणा को प्राप्त कराइये।

भावार्थ—माता, पिता व आचार्य से 'चरित्र, सदाचार व ज्ञान' रूप वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करें। बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को अपने अन्दर भरें और इस प्रकार अपने को शक्तिशाली बनायें। इस प्रकार प्रभु का स्तवन करनेवाले हमारे लिये प्रभु प्रेरणा को प्राप्त करायें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अर्चयः-वाजिनः

तव त्ये अग्ने अर्चयो महि व्राधन्त वाजिनः ।
ये पत्वभिः शफानां व्रजा भुरन्त गोनामिषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ७ ॥

(१) हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **त्ये**-वे **तव**-आपके **अर्चयः**-उपासक, **वाजिनः**-शक्तिशाली होते हुए **महि व्राधन्ते**-खूब वृद्धि को प्राप्त करते हैं। **ये** जो **पत्वभिः**-गतिशीलता के द्वारा, पुरुषार्थ के द्वारा **शफानाम्** (शं फणन्ति प्रापयन्ति इति) शान्ति को प्राप्त करानेवाली **गोनाम्**-ज्ञानवाणियों के **व्रजा**-समूहों को **भुरन्त**-चाहते हैं। इन ज्ञानवाणियों के द्वारा ही वस्तुतः

उनका जीवन उपासनामय व शक्तिशाली बनता है। प्रभु से दी गयी ये ज्ञान की वाणियाँ 'शफ' हैं, शान्ति का विस्तार करनेवाली हैं। सो इनका जीवन इन ज्ञानवाणियों के द्वारा शान्त बनता है। (२) इन **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिये हे प्रभो! आप **इषं आभर**-प्रेरणा को प्राप्त कराइये। आपसे निरन्तर प्रेरणा को प्राप्त करके ही ये सत्पथ का अनुसरण करते हुए 'उपासक व शक्तिशाली' बनते हैं। वस्तुतः तभी ये इन ज्ञान की वाणियों की कामनावाले भी बनते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनकर शक्तिशाली बनें। पुरुषार्थ से ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करते हुए जीवन को शान्त बनायें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

त्वादूतासः

नवा॑ नो अग्न॒ आ भ॑र स्तो॒तृभ्यः॑ सुक्षि॒तीरिषः॑ ।
ते स्या॑म॒ य आ॑नृ॒चुस्त्वादू॑तासो॒ दमे॑दम॒ इषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र ॥ ८ ॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **नः**-हम **स्तोतृभ्यः**-स्तोताओं के लिये **नवाः**-(नव गतौ) हमारे जीवन को गतिमय बनानेवाली **सुक्षितीः**=गति के द्वारा हमारे निवास को उत्तम बनानेवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **आभर**=प्राप्त कराइये। (२) आपकी प्रेरणाओं को प्राप्त करके **ते स्याम**=हम वे बनें, **ये आनृचुः**=जो सदा पूजा की वृत्तिवाले हों और **दमे दमे**=प्रत्येक गृह में **त्वादूतासः**=आपके दूत हों, आपके ज्ञान सन्देश को पहुँचानेवाले हों। इन **स्तोतृभ्यः**-स्तोताओं के लिये **इषं आभर**=आप प्रेरणा को प्राप्त कराइये। आप से प्रेरणा को प्राप्त करके ही सप्तम मन्त्र के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम में हम पुरुषार्थ से ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करते हैं। अष्टम मन्त्र के पूर्वार्ध के अनुसार गृहस्थ में गतिशील बनकर अपने निवास को उत्तम बनाते हैं। उत्तरार्ध के अनुसार वानप्रस्थ में निरन्तर आपका अर्चन करते हुए संन्यास में आपके ज्ञान के सन्देश को घर-घर में पहुँचाते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्रेरणा से हम अपने जीवन को उत्तम बनायें। निरन्तर प्रभु की उपासना से शक्तिशाली बनकर प्रभु के सन्देश को फैलानेवाले हों।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सर्पिषः उभे दर्वी (ज्ञान-विज्ञान)

उ॒भे सु॑श्चन्द्र स॒र्पिषो॒ दर्वी॑ श्रीणीष आ॒सनि॑ ।
उ॒तो न॒ उत्पु॑पूर्या उ॒क्थेषु॑ शवसस्पत॒ इषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र ॥ ९ ॥

(१) हे **सुश्चन्द्र**=उत्तम आह्लादवाले व आह्लाद को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **सर्पिषः**=(सृप् गतौ) (सर्पिः घृतं=दीप्तिः) हमें गतिशील बनानेवाली ज्ञानदीप्ति की **उभे दर्वी**=दोनों कड़छियों को **आसनि**=हमारे मुखों में **श्रीणीषे**-आप आश्रित करते हैं अथवा 'श्री पाके' उन्हें परिपक्व करते हैं। सर्पि की ये दो कड़छियाँ 'अपरा विद्या व पराविद्या' ही हैं। प्रभु हमारे लिये इन दोनों को ही प्राप्त कराते हैं। इनको प्राप्त कराके ही वे हमारे जीवनों को आह्लादमय बनाते हैं। (२) **उत**-और हे **शवसस्पते**=सब बलों के स्वामिन् प्रभो! आप **नः**=हमें **उ**=निश्चय से **उक्थेषु**=स्तोत्रों में **उत्पुपूर्याः**=उत्पूरित करिये, हम सदा आपका स्तवन करनेवाले हों, और आपके स्तवन से अपने में शक्ति का संचार करें। **स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिये **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करायें। हमें स्तुति की वृत्तिवाला बनायें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

गीर्भिः-यज्ञेभिः

एवाँ अग्निमजुर्यमुर्गीर्भिर्यज्ञेभिरानुषक् ।
दधदस्मे सुवीर्यमुत त्यदाश्वश्व्यमिषं स्तोतृभ्य आ भर॥ १०॥

(१) **एवा**-इस प्रकार **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा स्तुतियों से तथा **आनुषक्**=निरन्तर **यज्ञेभिः**=यज्ञों से उपासक लोग **अग्निं अजुः**=उस प्रभु की ओर जाते हैं और **यमुः**=उस प्रभु को अपने में स्थापित करते हैं। (२) प्रभु को प्राप्त करने के लिये यही मार्ग है कि हम ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करें (गीर्भिः) कर्मेन्द्रियों यज्ञों को करनेवाले हों (यज्ञेभिः)। ऐसा करने पर वे प्रभु **अस्मे**-हमारे लिये **सुवीर्यं दधत्**-उत्तम वीर्य को धारण करते हैं। **उत**-और **त्यत्**-उस **आशु**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले **अश्व्यम्**-इन्द्रियाश्व समूह को धारण करते हैं। हे प्रभो! **स्तोतृभ्यः**-इन गिराओं व यज्ञों को अपनानेवाले स्तोताओं के लिये आप **इषम्**-प्रेरणा को **आभर**=प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हम ज्ञानवाणियों व यज्ञों से प्रभु को प्राप्त हों। प्रभु हमें सुवीर्य व स्फूर्ति से क्रियाओं को करनेवाली इन्द्रियों को प्राप्त करायें।

सूचना—इस सूक्त में १० बार 'इषं स्तोतृभ्य आभर' यह वाक्य आवृत्त हुआ है। 'दसों की दसों इन्द्रियाँ उत्तम मार्ग पर ही प्रेरित हों' ऐसा इसका संकेत है। इन प्रेरणाओं के अनुसार चलनेवाला ऋषि 'इषः' कहलाता है, प्रेरणामय जीवन वाला। यह आत्रेय तो है ही, त्रिविध दुःखों से ऊपर उठा हुआ व काम-क्रोध-लोभ से दूर। यह कहता है—

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सम्यञ्चमिषं-स्तोमं

सखायः सं वः सम्यञ्चमिषं स्तोमं चाग्नये। वर्षिष्ठाय क्षितीनामूर्जो नप्त्रे सहस्वते॥ १ ॥

(१) हे **सखायः**=समान ज्ञानवाले, मित्रभाव से चलनेवाले साथियो! तुम **वः**-अपनी **सम्यञ्चम्**=मिलकर होनेवाली **इषम्**-गति को **च**=और **स्तोमम्**=स्तुति को **सम्**=(कुरुत, संस्कुरुत) सम्यक् करनेवाले होवो। तुम्हारे काम परस्पर विरोध करनेवाले न हों 'संगच्छध्वम्, संवदध्वम्'। तुम मिलकर प्रभु-स्तवन करनेवाले बनो। समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार है। परिवार में किसी भी क्रिया एक दूसरे का विरोध करनेवाली न हो और सब मिलकर प्रातः-सायं प्रभु-स्तवन करनेवाले हों। (२) यही मार्ग है **अग्नये**=उस अग्रणी प्रभु की प्राप्ति के लिये **वर्षिष्ठाय**=वृद्धतम प्रभु की प्राप्ति के लिये **क्षितीनाम्**-मनुष्यों के **ऊर्जः नप्त्रे**=बल व प्राणशक्ति को न गिरने देनेवाले प्रभु के लिये **सहस्वते**=शत्रुओं के कुचलनेवाले बलयुक्त प्रभु के लिये। यदि हमारी क्रियाएँ मिलकर होंगी और हम प्रभु स्तवन में प्रवृत्त होंगे तो प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनकर हम भी अग्रगतिवाले, बढ़ी हुई शक्तियोंवाले, अविनष्ट बलवाले व शत्रुओं के कुचलनेवाले बन पायेंगे।

भावार्थ—हमारे क्रियाएँ परस्पर अविरुद्ध हों। हम मिलकर प्रभु स्तवन करें। यही मार्ग है जिससे कि हम आगे बढ़ेंगे, सदा वृद्धि को प्राप्त करेंगे, शक्तियों को सुरक्षित रख पायेंगे और शत्रुओं को कुचलनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—इष आत्रेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अर्हन्तः-जन्तवः

कुत्रा चिद्यस्य समृतौ रण्वा नरो नृषदने। अर्हन्तश्चिद्यमिन्धते संजनयन्ति जन्तवः ॥ २ ॥

(१) **कुत्रा चित्**=वे प्रभु कहाँ हैं? **यस्य समृतौ**=(ऋ गतौ) जिनकी प्राप्ति के होने पर **नरः**=प्रगतिशील मनुष्य **नृषदने**=मनुष्यों के मिलकर बैठने के स्थानों में, सभाओं में **रण्वाः**=अत्यन्त रमणीय जीवनवाले होते हैं। प्रभु प्राप्तिवाले मनुष्य का जीवन सुन्दर बनता ही है। ऐसा व्यक्ति सभा में अनुपम शोभा पाता है। (२) 'कहाँ हैं?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वे प्रभु वे हैं **यम्**-जिनको **अर्हन्तः चित्**=पूजा करते हुए लोग ही **इन्धते**=अपने में दीप्त करते हैं और **जन्तवः**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोग **सञ्जनयन्ति**=अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं। अर्थात् प्रभु का निवास उन लोगों में है जो कि (क) पूजा की वृत्तिवाले हैं तथा (ख) अपनी शक्तियों के विकास में लगे हैं।

भावार्थ—'हम उपासना करें तथा अपनी शक्तियों का विकास करें' यही प्रभु-दर्शन का मार्ग है, प्रभु-दर्शन होने पर हमारा जीवन अद्भुत सौन्दर्य को लिये हुए होगा।

ऋषिः—इष आत्रेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

द्युम्न-शवस्-ऋत

सं यदिषो वनामहे सं हव्या मानुषाणाम्। उत द्युम्नस्य शवस ऋतस्य रश्मिमा ददे ॥ ३ ॥

(१) **यत्**-जब हम **इषः**=प्रभु प्रेरणाओं का **संवनामहे**=सम्यक् संभजन करते हैं, अर्थात् प्रभु प्रेरणाओं के अनुसार जीवन को बनाते हैं तथा **मानुषाणाम्**=विचारशील पुरुषों के **हव्या**=हव्य पदार्थों का ही **सम् (वनामहे)**=संभजन (सेवन) करते हैं। तो **द्युम्नस्य**-ज्ञान-ज्योति की **रश्मिम्**=किरणों को **आददे**=ग्रहण करता हूँ। **उत**-और **शवसः**=बल की रश्मि को ग्रहण करता हूँ। ज्ञान व बल को प्राप्त करके मैं **ऋतस्य**=ऋत की रश्मि को प्राप्त करता हूँ। मेरा जीवन तब ऋतमय बन जाता है, इसमें से सब अनृत दूर हो जाते हैं। (२) मनुष्य प्रभु प्रेरणा के अनुसार चले तथा सदा विचारशील बन करके अकेला खानेवाला न बन जाये, यज्ञ करके यज्ञशेष का ही सेवन करे। ऐसा करने पर 'ज्ञान, बल व ऋत' की प्राप्ति होती है। मस्तिष्क में ज्ञान, शरीर में बल तथा मन में ऋत। ज्ञान से मस्तिष्क दीप्त होता है, तो बल से शरीर स्वस्थ व नीरोग बनता है और ऋत से मन पवित्र बना रहता है।

भावार्थ—प्रभु प्रेरणा को सुनें और यज्ञशेष का सेवन करें। यही ज्ञान, बल व ऋत को प्राप्त करने का मार्ग है।

ऋषिः—इष आत्रेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

संभवामि युगे युगे

स स्मा कृणोति केतुमा नक्तं चिद् दूर आ सते। पावको यद्वनस्पतीन्प्र स्मा मिनात्यजरः ॥ ४ ॥

(१) **सः**=वे **पावकः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले प्रभु **नक्तं चित्**=रात्रि में भी, अत्यन्त अन्धकार में भी तथा **दूरे आ सते**=सर्वथा दूर स्थित पुरुष के लिये भी **केतुम्**-प्रकाश को **आकृणोति स्म**-करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु कृपा से ही हमें प्रकाश प्राप्त होता है। (२) इस प्रकाश को प्राप्त कराते तब हैं **यद्**=जब कि **अजरः**=कभी जीर्ण न होनेवाले वे प्रभु **वनस्पतीन्**=ज्ञान रश्मियों के स्वामियों को, ज्ञानी पुरुषों को, मुक्त हुए-हुए पुरुषों को **प्र आ**

मिनाति स्म=(establish) एक बार फिर पृथ्वी पर स्थापित करते हैं। प्रभु प्रेरणा से ये मुक्तात्मा जन्म-मरण के कष्ट को स्वीकार करके इस पृथ्वी पर आते हैं और लोगों को प्रभु का सन्देश सुनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु से दूर स्थित अन्धकार मग्न पुरुषों को प्रभु, स्वेच्छा से जन्म धारण करनेवाले मुक्तात्माओं के द्वारा, ज्ञान-सन्देश सुनाते हैं और इस प्रकार उनके अज्ञानन्धकार को दूर करते हैं।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पिता की पीठ पर

अव स्म यस्य वेषणे स्वेदं पथिषु जुह्वति। अभीमह स्वजेन्यं भूमा पृष्ठेव रुरुहुः ॥ ५ ॥

(१) **यस्य वेषणे**-जिस प्रभु के हृदय में व्याप्त होने पर (विष् व्याप्तौ) ये उपासक **पथिषु**=मार्गों में **स्वेदं अवजुह्वति स्म**-निश्चय से पसीने की आहुति देते हैं, अर्थात् खूब श्रमशील होते हैं 'क्रियावान् एव ब्रह्मविदां वरिष्ठः'। ये उपासक खाट पर आराम से लेटे हुए नहीं होते। सो ये **ईम्**=निश्चय से **अह**=ही **अभि रुरुहुः**=इहलोक व परलोक दोनों का आरोहण करनेवाले होते हैं, वे **इव**=जैसे कि **स्वजेन्यम्**=अपने से उत्पन्न हुआ-हुआ **भूम**=पुत्र **पृष्ठा**=पिता की पीठ पर आरोहण करता है। अभ्युदय व निःश्रेयस के शिखर पर पहुँचकर ये प्रभु को प्राप्त करते हैं, प्रभु की मानों पीठ पर होते हैं, उसी प्रकार जैसे कि पुत्र पिता की पीठ पर।

भावार्थ—प्रभु का उपासक खूब श्रमशील होता है। अभ्युदय व निःश्रेयस को सिद्ध करके प्रभु की पीठ पर आरूढ़ होता है, जैसे कि पुत्र पिता की पीठ पर।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रस्वादनं पितूनाम्

यं मर्त्यः पुरुस्पृहं विदद्विश्वस्य धायसे। प्र स्वादनं पितूनामस्ततातिं चिदायवे ॥ ६ ॥

(१) **यम्**=जिस **पुरुस्पृहम्**=खूब ही स्पृहणीय (=चाहने योग्य) प्रभु को **मर्त्यः**=मनुष्य **विदत्**=जानता है। जब मनुष्य उस प्रभु को जानता है तो यही अनुभव करता है कि वे प्रभु **विश्वस्य धायसे**=सब के धारण के लिये होते हैं। अन्ततो गत्वा ये प्रभु ही हमारा धारण कर रहे हैं। साक्षात् देखने में तो पृथिवी माता व द्यौ पिता ही हमें वृष्टि द्वारा सब धनों को प्राप्त करा रहे हैं। परन्तु इनके अन्दर भी तो उस-उस शक्ति को रखनेवाले वे प्रभु ही हैं। सो वस्तुतः, प्रभु ही सबका धारण करते हैं। (२) वे प्रभु ही सब **पितूनाम्**=अन्नों के **प्र स्वादनम्**=प्रकृष्ट स्वाद को करनेवाले हैं 'पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः'। तथा **आयवे**=गतिशील पुरुष के लिये **चित्**=निश्चय से **अस्ततातिं**=गृह का विस्तार करनेवाले वे प्रभु ही हैं। प्रभु ही घर व अन्न को देकर हमें उन्नति के लिये अवसर प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार वस्तुतः प्रभु ही सबका धारण कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ही स्पृहणीय हैं। वे ही तो सब का धारण कर रहे हैं। धारण के लिये वे ही अन्न व घर को देते हैं।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

उपासक का पवित्र जीवन

स हि ष्मा धन्वाक्षितं दाता न दात्या पशुः। हिरिश्मश्रुः शुचिदन्नृभुरनिभृष्टतविषिः ॥ ७ ॥

(१) **सः**=वह **पशुः**=सर्वद्रष्टा प्रभु **हि**=निश्चय से **दाता न**=एक खेत काटनेवाले के समान

(दाप् लावने) **आक्षितम्**=चारों ओर वासना-स्तम्बों (वासनाओं के झाड़ी झंकाड़ों) से बसे हुए (क्षि निवासे)=जिसमें वासनाओं की झाड़ियाँ ही झाड़ियाँ चारों ओर उगी हुई हैं, ऐसे **धन्व**=मरुप्रदेश को उत्तम भावनाओं के लिये ऊसर बने हुए इस हृदय क्षेत्र को **आ दाति**=चारों ओर काट डालता है। इसमें से वासनाओं को काटकर, इसे साफ बना देता है। प्रभु की उपासना हृदयक्षेत्र को पवित्र करती है। (२) अब यह उपासक (श्रनि श्रितं=श्वश्रु) **हिरिश्मश्रुः**=शरीर में रहनेवाले इन्द्रियगण, मन व बुद्धि को दीप्त करनेवाला होता है (हिरि=हिरण्य=स्वर्णवत् दीप्त)। **शुचिदन्**=पवित्र दाँतोंवाला होता है, कभी अभक्ष्य भोजनों को नहीं खाता और पूर्ण स्वस्थ होता है। **ऋभुः**=खूब ही ज्ञान से दीप्त बनता है और **अनिभृष्ट तविषिः**=शत्रुओं से अपीड़ित बलवाला होता है, इसकी शक्ति वासनाओं से आक्रान्त नहीं होती।

भावार्थ—उपासक के हृदय क्षेत्र को प्रभु पवित्र कर देते हैं। अब इस पर वासनाओं का आक्रमण नहीं हो पाता।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उपासना व स्वाध्याय

शुचिः ष्म यस्मा अत्रिवत्प्र स्वधितीव रीयते। सुषूरसूत माता क्राणा यदानशे भगम् ॥ ८ ॥

(१) वह व्यक्ति **शुचिः**=पवित्र बनता है, **यस्मै**-जिसके लिये वे प्रभु **अत्रिवत्**=(अत्ति इति अत्रिः) सब वासनाओं को दग्ध करनेवाले के समान और **स्वधिति इव**=वासनाओं के वृक्षों को काटनेवाले परशु के समान **प्र रीयते स्म**=प्रकर्षेण प्राप्त होते हैं। उपासक के जीवन को प्रभु पवित्र कर डालते हैं। (२) **माता**=वेदमाता भी **सुषूः**=उत्तम भावों को जन्म देनेवाली होती हुई **असूत**=इसके जीवन में दिव्य गुणों को जन्म देती है, **यत्**=जब कि **भगम्**=ऐश्वर्य को **क्राणा**=(कुर्वाणा) करती हुई **आनशे**=इसके जीवन में व्याप्त होती है। वेदमाता ऐश्वर्य को उत्पन्न करती हुई इस उपासक को दिव्य गुणोंवाला बनाती है।

भावार्थ—प्रभु ध्यान से सब वासनाएँ विनष्ट होती हैं। वेद के स्वाध्याय से, ज्ञान की उपासना से सब दिव्य गुणों का ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ज्योति-कीर्ति व स्मृति

आ यस्ते सर्पिरासुतेऽग्ने शमस्ति धायसे। ऐषु द्युम्नमुत श्रव आ चित्तं मर्त्येषु धाः ॥ ९ ॥

(१) हे **आसुते**=चतुर्दिक् ऐश्वर्यवाले **अग्ने**=परमात्मन्! **यः**=जो **ते**=तेरा **सर्पिः**=(उदकं नि० १।१२) रेतःरूप उदक है, वह **आ**=शरीर में चारों ओर व्याप्त होता हुआ **शं अस्ति**=शान्ति को देनेवाला है तथा **धायसे**=धारण के लिये है। इस रेतःरूप उदक के शरीर में रक्षण से शरीर का धारण होता है और मानस शान्ति प्राप्त होती है। (२) **एषु**=इन इस सर्पि की रक्षा करनेवाले लोगों में **द्युम्नम्**=ज्ञान की ज्योति का **आधाः**=सर्वथा धारण करिये। **उत**=और इन **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **श्रवः**=यश को धारण करिये। तथा **चित्रम्**=स्मृति शक्ति को **आधाः**=सर्वथा धारण करिये। ये लोग 'कोहं कुत आयातः' इस बात को भूले नहीं कि मैं 'कौन हूँ और क्यों कहाँ से आया हूँ'।

भावार्थ—शरीर में सोमरक्षण से शरीर का धारण होता है, मन की शान्ति प्राप्त होती है। ज्योति, कीर्ति व स्मृति को हम प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

दस्यून्-सासह्यात्

इति चिन्मन्युमध्रिजस्त्वादातमा पशुं ददे ।
आदग्ने अपृणतोऽत्रिः सासह्याद्दस्यूनिषः सासह्यान्नृन् ॥ १० ॥

(१) **इति चित्**=इस प्रकार गतमन्त्र में वर्णित सोम (सर्पि) के रक्षण के द्वारा, **अध्रिजाः**=(अधृष्यं जनयिता सा०) शत्रुओं से अधर्षणीय बल को अपने में पैदा करनेवाला यह व्यक्ति, हे **अग्ने**-परमात्मन्! **त्वादातम्**-आपसे दिये गये **मन्युम्** ज्ञान को तथा **पशुम्**=सर्वद्रष्टा आपको **आददे**-ग्रहण करता है। सोमरक्षण से ज्ञान व प्रभु की प्राप्ति होती है। (२) **आत्**=अब, ज्ञान और प्रभु को प्राप्त करने के बाद, **अत्रिः**=यह काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति **अपृणतः**-न पालन करनेवाली **दस्यून्**-दास्यव वृत्तियों को **सासह्यात्**-पराभूत करता है। इसके अन्दर आसुरी वृत्तियाँ प्रबल नहीं हो पातीं। यह **इषः**-प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति **नॄन्**-आक्रमण करनेवाले शत्रुभूत व्यक्तियों को भी पराभूत करता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक सोमरक्षण के द्वारा ज्ञान को व प्रभु को प्राप्त करता है। ज्ञान को प्राप्त करके दास्यव वृत्तियों को, तथा शत्रुभूत मनुष्यों को पराजित करता है।

अगले सूक्त में भी यह 'इष आत्रेय' ही अग्नि का उपासन करता हुआ कहता है कि—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ऋतायु' को प्रभु के प्रकाश की प्राप्ति

त्वामग्न ऋतायवः समीधिरे प्रत्नं प्रत्नास ऊतये सहस्कृत ।
पुरुश्चन्द्रं यजतं विश्वधायसं दमूनसं गृहपतिं वरेण्यम् ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने** अग्रणी प्रभो! **प्रत्नम्**-सनातन आपको **प्रत्नासः ऋतायवः**=सनातन काल से चले आनेवाले ऋतायु लोग **ऊतये**-अपने रक्षण के लिये **समीधिरे**-अपने में सम्यक् दीप्त करते हैं। ऋत का आचरण करनेवाले ऋतायु सदा से आपको ही अपने हृदय देश में देखने का प्रयत्न करते हैं। अपने को वासनाओं के आक्रमण से बचाने का यही मार्ग है। (२) हे **सहस्कृत**=शत्रुपराभव करने की शक्ति को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! आपको ही वे समिद्ध करते हैं। जो आप **पुरुश्चन्द्रम्**=खूब ही आह्लादमय हैं, उपासकों को आह्लादित करनेवाले हैं। **यजतम्**-उपासनीय हैं। **विश्वधायसम्**=सबका धारण करनेवाले हैं। **दमूनसम्**-दान के मनवाले हैं, आप हमें सब कुछ देने की कामना करते हैं। **गृहपतिम्**-आप ही हमारे शरीर रूप गृह के रक्षक हैं। **वरेण्यम्**-वरने के योग्य हैं।

भावार्थ—जीवन की क्रियाओं को ऋतपूर्वक करने से प्रभु के प्रकाश की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अतिथि का उपदेश

त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः शोचिष्केशं गृहपतिं नि षेदिरे ।
बृहत्केतुं पुरुरूपं धनस्पृतं सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषम् ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **अतिथिम्**-(अत सातत्यगमने) निरन्तर क्रियाशील **त्वाम्**-आपको **विशः**-सब प्रजाएँ **निषेदिरे**-अपने हृदय देश में बिठाने के लिये यत्नशील होती हैं। उन आपको,

जो कि **पूर्व्यम्**-हमारा पालन व पूरण करनेवालों में सर्वोत्तम हैं अथवा सृष्टि से पहिले ही होनेवाले हैं। **शोचिष्केशम्**-दीप्त ज्ञान-रश्मियोंवाले हैं। **गृहपतिम्**=हमारे गृहों के रक्षक हैं। (२) उन आपको हम हृदय में स्थापित करते हैं, जो आप **बृहत्केतुम्**=खूब बढ़े हुए ज्ञानवाले हैं, निरतिशय ज्ञानवाले हैं। **पुरुरूपम्**-अनन्त रूपोंवाले हैं 'रुपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' सब प्राणी आपके ही तो रूप हैं। **धनस्पृतम्**-सब धनों के देनेवाले हैं (स्पृ=grant)। **सुशर्माणम्**=आवश्यक धनों को देकर उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाले हैं, **स्ववसम्**=(सु-अवसं) खूब अच्छी प्रकार रक्षण करनेवाले हैं और **जरद्विषम्**=व्यापक ज्ञानों का (विष्) उपदेश देनेवाले हैं (जरत्)। वस्तुतः इस ज्ञानोपदेश द्वारा ही प्रभु हमारा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—हम उस अतिथि प्रभु को हृदयासन पर बिठायें। वे हमें व्यापक ज्ञानोपदेश देकर सुख व कल्याण प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः —**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः —**निचृज्जगती** ॥ स्वरः —**निषादः** ॥

'होत्राविद्-सुयज' प्रभु

त्वामग्ने मानुषीरीळते विशो होत्राविदं विविचिं रत्नधातमम्।
गुहा सन्तं सुभग विश्वदर्शतं तुविष्वणसं सुयजं घृतश्रियम्॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वाम्**=आपको **मानुषीः विशः**=विचारशील प्रजाएँ **ईडते**=उपासित करती हैं उन आपको जो कि **होत्राविदम्**=शरीर-यज्ञ के संचालक सात होताओं को प्राप्त कराते हैं 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'। **विविचिम्**=हृदयस्थरूपेण इन प्रजाओं के लिये सद्-असद् के विवेचक हैं, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान देनेवाले हैं। **रत्नधातमम्**-रसरुधिर आदि रमणीय धातुओं के धारण करनेवाले हैं। (२) **सुभग**=उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाले प्रभो! उन आपको ये विचारशील लोग उपासित करते हैं, जो आप **गुहा सन्तम्**=हृदयरूप गुहा के अन्दर निवास करनेवाले हैं। **विश्वदर्शतम्**=सब से दर्शनीय हैं व सबके द्रष्टा हैं। **तुविष्वणसम्**-महान् स्वनोंवाले हैं, हृदयस्थरूपेण सदा धर्माधर्म की प्रेरणा देनेवाले हैं। **सुयजम्**-सब उत्तम चीजों का हमारे साथ मेल करनेवाले हैं और **घृतश्रियम्**=दीप्त ज्ञान की श्रीवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु सब उत्तम चीजों का हमारे साथ मेल करनेवाले हैं।

ऋषिः —**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः —**निचृज्जगती** ॥ स्वरः —**निषादः** ॥

यशसा-सुदीतिभिः

त्वामग्ने धर्णसिं विश्वधा वयं गीर्भिर्गृणन्तो नमसोप सेदिम।
स नो जुषस्व समिधानो अङ्गिरो देवो मर्तस्य यशसा सुदीतिभिः॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वयम्**=हम **धर्णसिम्**=सबके धारक **त्वाम्**=आपको **विश्वधा**=सब प्रकार से **गीर्भिः गृणन्तः**=ज्ञान की वाणियों से स्तुत करते हुए **नमसा उपसेदिम**=नमन के द्वारा समीप प्राप्त हों। नम्रतापूर्वक आपकी उपासना करनेवाले बनें। (२) हे **अंगिरः**=गतिशील प्रभो! **समिधानः**=हृदयदेश में दीप्त किये जाते हुए **सः**=वे आप **नः जुषस्व**=हमें उत्तम धनादि से सेवित करिये आपकी कृपा से हम धन आदि पदार्थों को प्राप्त करें। **देवः**=प्रकाशमय आप **मर्तस्य**=मनुष्य के **यशसा**-यश से व **सुदीतिभिः**=(दीति splendour) उत्तम प्रकाशों से हमें संगत करिये। मनुष्य से प्राप्य यश व उत्तम ज्ञानदीप्तियों को हम प्राप्त करें।

भावार्थ—हम प्रभु के समीप नम्रता से बैठें। प्रभु हमें यशस्वी व ज्ञानदीप्त बनायेंगे।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अनाधृष्ट त्विषि

त्वम॑ग्ने पुरु॒रूपो॑ वि॒शेवि॑शे॒ वयो॑ दधासि प्र॒त्नथा॑ पुरुष्टुत।

पु॒रूण्यन्ना॒ सह॑सा॒ वि रा॑जसि॒ त्विषिः॒ सा ते॑ तित्विषा॒णस्य॒ नाधृषे॑॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **पुरुरूपः**-अनन्तरूपोंवाले हैं, विश्वरूप हैं। हे **पुरुष्टुत**=खूब ही स्तुति किये गये प्रभो! आप **प्रत्नथा**-सदा की तरह **विशे विशे**=सब प्रजाओं के लिये **वयः दधासि**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं। (२) **सहसा**=बल के हेतु से **पुरूणि अन्ना**=पालक व पूरक अन्नों के **विराजसि**-आप राजा होते हैं। बल प्राप्ति के लिये हमें उत्कृष्ट अन्नों को प्राप्त कराते हैं और **तित्विषाणस्य**-अत्यन्त दीप्तिवाले **ते**=आपकी **सा त्विषिः**=वह दीप्ति **न आधृषे**=धर्षण के लिये नहीं होती। आपकी दीप्ति किसी अन्य देव से अतिशयित नहीं की जा सकती। वस्तुतः सब देव आपकी दीप्ति से ही दीप्त हो रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये उत्कृष्ट अन्नों व ज्ञानदीप्तियों को प्राप्त कराके हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

चक्षुः-चोदयन्मति

त्वाम॑ग्ने समिधा॒नं य॑विष्ठ्य दे॒वा दू॒तं च॑क्रिरे हव्य॒वाह॑नम्।

उ॒रु॒ज्रय॑सं घृ॒तयो॑निमाहु॑तं त्वे॒षं चक्षु॑र्दधिरे चोद॒यन्म॑ति॥ ६ ॥

(१) हे **यविष्ठ्य**=बुराइयों को हमारे से दूर करनेवाले व अच्छाइयों को हमारे से मिलानेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **देवाः**-देववृत्ति के पुरुष **त्वां चक्रिरे**=आपको ही अपने हृदयों में स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। जो आप **समिधानम्**-सम्यग् ज्ञान से दीप्त हैं, **दूतम्**=ज्ञान सन्देश को प्राप्त करानेवाले हैं, **हव्यवाहनम्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। (२) आपको विद्वान् पुरुष **चक्षुः दधिरे**=आँख के रूप में धारण करते हैं, आपके द्वारा ही प्रकाश को प्राप्त करते हैं। जो आप **उरुज्रयसम्**-बड़े वेगवाले हैं। **घृतयोनिम्**=ज्ञानदीप्ति के उत्पत्ति-स्थान हैं। **आहुतम्**=चारों ओर दानोंवाले हैं (आ हुतं यस्य) **त्वेषम्**=दीप्त हैं तथा **चोदयन्मति**=हमारी बुद्धियों को प्रेरणा देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान-सन्देश प्राप्त करानेवाले हैं, प्रभु ही हमारी आँख हैं, हमारी बुद्धियों को सत्प्रेरणा देनेवाले हैं।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रदिवः-सुम्नायवः

त्वाम॑ग्ने प्र॒दिव॒ आहु॑तं घृ॒तैः सु॑म्ना॒यवः॑ सुष॒मिधा॒ समी॑धिरे।

स वा॑वृधा॒न ओष॑धीभिरु॒क्षि॒तो॑३॒ऽभि ज्रयां॑सि॒ पार्थि॑वा॒ वि ति॑ष्ठसे॥ ७ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **आहुतम्**-चारों ओर दानोंवाले **त्वाम्**=आपको **प्रदिवः**=प्रकृष्ट द्युतिवाले, **सुम्नायवः**-स्तोत्रों को अपनाने की कामनावाले उपासक **सुषमिधा**=उत्तम ज्ञान दीप्ति के द्वारा **समीधिरे**-अपने अन्दर समिद्ध करते हैं। प्रभु-दर्शन का उपाय 'ज्ञान-स्तवन' ही है। (२)

हे प्रभो! **सः**=वे आप **वावृधानः**=खूब ही हमारा वर्धन करते हुए, **ओषधीभिः उक्षितः**=ओषधियों के द्वारा हृदयों में सिक्त हुए-हुए (प्रभु-दर्शन के लिये वानस्पतिक भोजन ही ठीक है) **पार्थिवा ज्रयांसि**=सब पृथिवी सम्बन्धी विजयों के (ज्रि=to conquer) **अभि वि तिष्ठसे**=अधिष्ठाता होते हैं। अर्थात् आपके द्वारा ही सब पार्थिव विजयें प्राप्त होती हैं। इस पृथ्वीरूप शरीर में होनेवाली सब विजयें आप ही करते हैं 'जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्'।

भावार्थ—ज्ञान व स्तवन के समन्वय से हम प्रभु को हृदयों में समिद्ध करें। प्रभु प्राप्ति के वानस्पतिक भोजनों को अपनाएँ। प्रभु ही हमें सब विजयों को प्राप्त करायेंगे।

इस सूक्त के सातों मन्त्र 'त्वामग्ने' इस प्रकार प्रारम्भ होते हैं। केवल पञ्चम मन्त्र का 'त्वमग्ने' इस प्रकार प्रारम्भ हुआ है।

प्रभु के उपासन से यह उपासक प्राणशक्ति-सम्पन्न बनता है, सो 'गय' है यह 'आत्रेय' तो है ही, काम क्रोध-लोभ से ऊपर उठा हुआ। यह कहता है कि—

अथ चतुर्थाऽष्टके प्रथमोऽध्यायः

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

जातवेदस् प्रभु की उपासना

त्वाम॑ग्ने ह॒विष्म॑न्तो दे॒वं मर्ता॑स ईळते। मन्ये॑ त्वा जा॒तवे॑दसं॒ स ह॒व्या व॑क्ष्यानु॒षक्॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **देवं त्वाम्**=प्रकाशमय आपको **हविष्मन्तः**=हविवाले, दानपूर्वक अदन करनेवाले, यज्ञशेष का सेवन करनेवाले, **मर्तासः**=लोग **ईडते**=उपासित करते हैं। प्रभु की सच्ची उपासना वे ही करते हैं, जो कि हवि का सेवन करते हैं। (२) हे प्रभो! मैं **त्वा**=आपको **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ व सर्वैश्वर्यवाला (वेदस=धन) **मन्ये**=मानता हूँ। **सः**=वे आप **आनुषक्**=निरन्तर **हव्या**=हव्य पदार्थों को **वक्षि**=धारण करते हैं। हमारे लिये यज्ञ के साधनभूत सब पदार्थों को आप ही प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वज्ञ सर्वैश्वर्यवाले हैं। यज्ञशेष का सेवन करनेवाले लोग ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। इन हव्य पदार्थों को भी प्रभु ही तो प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'यज्ञासः वाजासः श्रवस्यवः' (कैसा घर?)

अ॒ग्निर्होता॒ दास्व॑तः॒ क्षय॑स्य वृ॒क्तब॑र्हिषः। सं य॒ज्ञास॒श्चर॑न्ति॒ यं सं वाजा॑सः श्र॒व॒स्यवः॑ ॥ २ ॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **दास्वतः**=(दसु उपक्षये) जिसमें से सब बुराइयों का उपक्षय कर दिया गया है अथवा (दास् दाने) दानवाले, जिसमें निरन्तर दान चलता है, **वृक्तबर्हिषः**=जिसमें से वासनाओं के बर्हि (घास) को काट दिया गया है, ऐसे वासनाशून्य **क्षयस्य**=गृह के **होता**=दाता हैं। प्रभु कृपा से हमारा घर दान की वृत्तिवाला व वासनाशून्य बनता है। (२) उस घर को प्रभु देते हैं **यम्**=जिसकी ओर **यज्ञासः**=यज्ञ **संचरन्ति**=गति करते हैं, **वाजासः**=शक्तियाँ **सम्**=गति करती हैं तथा **श्रवस्यवः**=ज्ञान की कामनावाले पुरुष गति करते हैं। इन गृहों के अन्दर रहनेवाले व्यक्ति शरीर में शक्ति-सम्पन्न (वाजासः) हृदयों में यज्ञ की भावनावाले (यज्ञासः) तथा दीप्त मस्तिष्कवाले (श्रवस्यवः) होते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा घर वासनाओं से मलिन नहीं होता। यहाँ 'यज्ञों, शक्तियों व

ज्ञानों' का निवास होता है।

ऋषि:—**गय आत्रेय:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द:—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वर:—**ऋषभ:** ॥

दो अरणियों द्वारा प्रभु रूप अग्नि का प्रकाश

उत स्म यं शिशुं यथा नवं जनिष्टारणी। धर्तारं मानुषीणां विशामग्निं स्वध्वरम्॥ ३ ॥

(१) **उत**=और उपर्युक्त मन्त्र में वर्णित घरों में रहकर, हम उस परमात्मा की उपासना करें, **यम्**-जिसको **अरणी**-देह व प्रणवरूप अरणियाँ (स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं प्रोत्तरारणिं ध्याननिर्मथनाभ्यासात् पश्येद्देवं निगूढवत्) उसी प्रकार **जनिष्ट** उत्पन्न करती हैं **यथा** जैसे माता पिता रूप अरणियाँ **नवं शिशुम्**-एक नव शिशु को। अथवा जैसे दो काष्ठरूप अरणियाँ इस स्तुत्य शिशु रूप अग्नि को (नु स्तुतौ)। प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करने के लिये शरीर में स्वास्थ्य की सबलता आवश्यक है तथा हृदय में प्रभु के ध्यान की आवश्यकता है। (२) हम उस प्रभु का ध्यान करें जो कि **मानुषीणां विशाम्**-मानव प्रजाओं के **धर्तारम्**-धारण करनेवाले हैं। **अग्निम्**-आगे ले चलनेवाले हैं तथा **स्वध्वरम्** हमारे जीवन से उत्तम यज्ञात्मक कर्मों को करानेवाले हैं।

भावार्थ—शक्ति व ध्यान के द्वारा हम प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करें। वे प्रभु पोषक अग्रणी व उत्तम यज्ञादि को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषि:—**गय आत्रेय:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द:—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वर:—**ऋषभ:** ॥

पुत्रो न ह्वार्याणाम्

उत स्म दुर्गृभीयसे पुत्रो न ह्वार्याणाम्। पुरू यो दग्धासि वनाग्ने पशुर्न यवसे॥ ४॥

(१) **उत**=और हे प्रभो! आप **दुर्गृभीयसे स्म**=बड़ी कठिनता से ग्रहण किये जाते हैं। आपको प्राप्त करने के लिये 'दीर्घकाल तक, निरन्तर आदरपूर्वक' ध्यान के अभ्यास की आवश्यकता है। आप **ह्वार्याणाम्**=कुटिल गतिवालों के **पुत्रः न**-पुत्र के समान हैं, उन कुटिल गतिवालों को 'पुनाति त्रायते' पवित्र करते हैं और उनका रक्षण करते हैं। प्रभु-स्मरण से चित्त की सब वक्रता विनष्ट हो जाती है ब्रह्मभूत (भू प्राप्तौ) पुरुष सरल वृत्ति का हो जाता है। (२) हे प्रभो! **यः**=जो आप हैं, वे **पुरू**=खूब ही **दग्धा असि**-वासनावृक्षों के वनों को जलानेवाले हैं। हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! आप **पशुः न**-सर्वद्रष्टा के समान होते हुए **यवसे**-(यु मिश्रणामिश्रणयोः) हमारी बुराइयों को दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को मिलानेवाले होते हैं।

भावार्थ—ये कठिनता से प्राप्त होनेवाले प्रभु हमारी कुटिलताओं को दूर करते हैं, वासनाओं को जलाते हैं तथा हमारे साथ अच्छाइयों का मिश्रण करते हैं।

ऋषि:—**गय आत्रेय:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द:—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वर:—**मध्यम:** ॥

धूमिनः अर्चयः

अध स्म यस्यार्चयः सम्यक्संयन्ति धूमिनः ।
यदीमह त्रितो दिव्युप ध्मातेव धमति शिशीते ध्मातरी यथा॥ ५ ॥

(१) **यद्**=जब **ईं अह**-निश्चय से **त्रितः**-काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति **दिवि**-मस्तिष्करूप द्युलोक में **उपध्माता इव**=शंख ध्वनि करनेवाले के समान **धमति**=प्रभु के नामों को ध्वमित करता है और **यथा ध्मातरि**=ध्माता में, अग्नि संयोग करनेवाले लोहार में, लोहार के समीप कोई अस्त्र अपने को तीक्ष्ण करता है उसी प्रकार जो प्रभु में, प्रभु की उपासना में **शिशीते**-अपनी बुद्धि को तीव्र करता है, **अध**=तो **यस्य अर्चयः**=जिस प्रभु की ज्ञान ज्वालाएँ

धूमिनः=वासनाओं को प्रकम्पित करनेवाली हैं वे ज्वालाएँ उसे सम्यक् **संयन्ति स्म**=सम्यक् प्राप्त होती हैं। (२) हम प्रभु के नामों का उच्चारण करें, प्रभु की उपासना से बुद्धि को तीव्र करें तो प्रभु की वे ज्ञान-ज्वालाएँ हमें प्राप्त होंगी जो कि हमारी वासनाओं को कम्पित करनेवाली हैं। ये ज्ञान ज्वालाएँ ही वासनाओं को विनष्ट करके हमें त्रित बनायेंगी।

भावार्थ—प्रभु की ज्ञान ज्वालाएँ वासनाओं को कम्पित करनेवाली हैं। हम प्रभु-स्मरण द्वारा बुद्धि को तीव्र करके इन्हें प्राप्त करें। ये हमें त्रित बनायेंगी, काम-क्रोध-लोभ को तैर जानेवाला।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्नुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वाह्याभ्यन्तर शत्रु विजय

तवाहमग्न ऊतिभिर्मित्रस्य च प्रशस्तिभिः। द्वेषोयुतो न दुरिता तुर्याम मर्त्यानाम्॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अहम्**=मैं **तव**=आपकी **ऊतिभिः**=रक्षाओं से **च**=और **मित्रस्य**=पापों से बचानेवाले आपके प्रशंसनों व स्तवनों से **मर्त्यानां दुरिता**=मनुष्यों के दुरितों से **तुर्याम**=तैर जाऊँ। उन सब दोषों से अपने को ऊपर उठानेवाला बनूँ, जो कि मानव स्वभाव में सुलभ हैं। (२) मैं इन दुरितों से इसी प्रकार तैर जाऊँ **न**=जैसे कि **द्वेषोयुतः**=द्वेष युक्त जनों को तैर जाऊँ। द्वेष करनेवालों के द्वेष का मैं शिकार न हो जाऊँ।

भावार्थ—प्रभु के रक्षणों व स्तवनों से हम अन्दर के शत्रुभूत दुरितों से तथा बाह्यशत्रुभूत द्वेषी जनों से तैर जायें। न अन्दर के शत्रुओं का शिकार हों और ना ही बाहर के शत्रुओं का।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स क्षेपयत्-स पोषयत्

तं नो अग्ने अभी नरो रयिं सहस्व आ भर।
स क्षेपयत्स पोषयद्भुवद्वाजस्य सातय उतैधि पृत्सु नो वृधे॥ ७॥

(१) हे **सहस्वः**-शत्रुमर्षक बल सम्पन्न **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **नरः**-हमें उन्नति-पथ पर ले चलनेवाले आप (नृ नये) **नः**=हमारे लिये **तम्**-उस **रयिम्**=धन को **अभि**-आभिमुख्येन **आभर**=प्राप्त कराइये। इस रयि के द्वारा ही हमारी जीवन-यात्रा को आपने सफल बनाना है। (२) इस रयि को प्राप्त करानेवाले **सः**=वे प्रभु ही **क्षेपयत्**=सब अमंगलों को हमारे से दूर करते हैं, **स पोषयत्**=वे प्रभु सब पोषणों को हमें प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु **वाजस्य**=शक्ति की **सातये**=प्राप्ति के लिये **भुवत्**=होते हैं। **उत**-और हे प्रभो! आप **पृत्सु**-संग्रामों में **नः**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिये **एधि**=होइये।

भावार्थ—प्रभु हमें वह रयि प्राप्त कराते हैं जिससे कि अमंगल दूर होता है, पोषण प्राप्त होता है, शक्ति बढ़ती है और संग्रामों में विजय प्राप्त होती है।

'गय आत्रेय' ही अगले सूक्त का भी ऋषि है। वह प्रार्थना करता है कि—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ओजिष्ठ द्युम्न

अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो। प्र नो राया परीणसा रत्सि वाजाय पन्थाम्॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=हमें निरन्तर आगे ले चलनेवाले प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये इस जीवन के

प्रथम प्रयाण में **ओजिष्ठम्**=ओजस्वितम-अत्यन्त शक्ति-सम्पन्न **द्युम्नम्**=ज्ञान-ज्योति को **आभर**=भरिये, प्राप्त कराइये। इस ब्रह्मचर्याश्रम में हम शक्ति व ज्ञान का संचय करके अपने जीवन-गगन में शुक्र व बृहस्पति नक्षत्रों का उदय करनेवाले बनें। (२) अब जीवन के द्वितीय प्रयाण में, हे **अध्रिगो**-अधृतगमन प्रभो! अव्याहत गतिवाले प्रभो! **नः**-हमें **परीणसा**-(परितो व्यापकेन) यज्ञादि के द्वारा सर्वत्र फैलनेवाले **राया**=धन से भरिये। गृहस्थ में धन-सम्पन्न हों। पर हमारा धन यज्ञों द्वारा चारों ओर फैलनेवाला हो। (३) हे प्रभो! अब जीवन के तृतीय प्रयाण में आप **वाजाय**-(sacrifice) त्याग के लिये **पन्थां रंसि**=मार्ग को बना देते हैं। हम वानप्रस्थ बनकर सांसारिक वस्तुओं के त्याग के लिये प्रवृत्त होते हैं। इस त्याग के पूर्ण होने पर संन्यस्त होकर प्रभु चरणों में निवासवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम जीवन-यात्रा में प्रथम ओजयुक्त ज्ञान का संचय करें, फिर यज्ञों में विनियुक्त होनेवाले धन का। अब तृतीय प्रयाण में इन धनों का त्याग करके आगे बढ़ें।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'सम्पूर्ण शक्ति के स्त्रोत' प्रभु

त्वं नो॑ अग्ने अद्भुत॒ क्रत्वा॒ दक्ष॑स्य मं॒हना॑। त्वे अ॑सु॒र्य१॒॑मारु॑हत्क्रा॒णा मि॒त्रो न य॒ज्ञियः॑ ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**-हमारे लिये **क्रत्वा**=कर्म के अनुसार अथवा यज्ञादि कर्मों के करने के हेतु से **दक्षस्य मंहना**-बल के दानों को **क्राणा**=(कुर्वाणः) करते हुए हैं। आप हमें शक्ति प्रदान करते हैं कि हम यज्ञादि कर्मों को कर सकें। (२) हे **अद्भुत**=सामर्थ्य के अतिशय से सब के लिये आश्चर्यभूत प्रभो! **त्वे**=आप में ही **असुर्यम्**=सब बल **आरुहत्**=आरूढ़ हुआ है। आप ही सम्पूर्ण शक्ति के स्त्रोत हैं, सर्वत्र आपसे ही शक्ति का प्रसार हो रहा है। **मित्रः न**=सूर्य की तरह आप **यज्ञियः**=आप संगतिकरण योग्य हैं। सूर्य के सम्पर्क में रोग व अन्धकार नष्ट होता है। प्रभु भी उपासक के रोगों व अज्ञानान्धकारों के विनाशक हैं।

भावार्थ—सब यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिये प्रभु ही शक्ति देते हैं। प्रभु में ही सम्पूर्ण शक्ति का निवास है। वे सूर्य हैं, हमारे रोगों व अन्धकारों को दूर करनेवाले हैं।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

गय-पुष्टं-मघ

त्वं नो॑ अग्न ए॒षां गयं॒ पुष्टिं॑ च वर्धय। ये स्तोमे॑भि॒ः प्र सू॒रयो॒ नरो॑ म॒घान्या॑न॒शुः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **एषां नः**=इन हमारे **गयम्**=प्राणों को **च**=व **पुष्टिम्**=धनादि के पोषण को **वर्धय**=बढ़ाइये। प्रभु कृपा से ही प्राणशक्ति व धन की वृद्धि होती है। (२) **ये**=जो **सूरयः नरः**=ज्ञानी पुरुष हैं वे **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **मघानि**-ऐश्वर्यों को **प्र आनशुः**-प्रकर्षेण व्याप्त करते हैं। प्रभु का स्तवन करते हुए ये ज्ञानी वास्तविक ऐश्वर्यों को, अध्यात्म-सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए 'प्राणशक्ति, धनपुष्टि व अध्यात्म ऐश्वर्य' को प्राप्त करें।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

स्तुति के लाभ

ये अ॑ग्ने चन्द्र ते॒ गिरः॑ शु॒म्भन्त्यश्व॑राधसः ।
शुष्मे॑भिः शु॒ष्मिणो॒ नरो॑ दि॒वश्चि॒द्येषां॑ बृ॒हत्सु॑की॒र्तिर्बोध॑ति॒ त्मना॑ ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी **चन्द्र**=सब के आह्लाद को करनेवाले प्रभो! **ये**=जो व्यक्ति **ते**=आपकी **गिरः**=स्तुति-वाणियों को **शुम्भन्ति**=शोभन करते हैं, अर्थात् खूब ही आपका स्तवन करते हैं, वे **अश्वराधसः**=अपने इन्द्रियाश्वों को खूब ही संसिद्ध करनेवाले होते हैं। (२) ये स्तोता **नरः**=पुरुष **शुष्मेभिः**-शत्रु शोषक बलों से **शुष्मिणः**=बलवाले होते हैं। ये वे होते हैं, **येषाम्**=जिनकी **सुकीर्तिः**=उत्तम कीर्ति **दिवः चित्**=द्युलोक से भी **बृहत्**=बड़ी होती है, इनकी कीर्ति दिशाओं से अवच्छिन्न नहीं होती। इन लोगों का प्रभु **त्मना**=स्वयं **बोधति**=ध्यान करते हैं। जो व्यक्ति इन्द्रियाश्वों को वश में करके मार्ग पर बढ़ते हैं, प्रभु से वे रक्षणीय होते ही हैं।

भावार्थ—स्तुति से (१) इन्द्रियाश्वों का वशीकरण होता है, (२) शत्रु शोषक बल प्राप्त होता है, (३) हम यशस्वी कर्मोंवाले बनते हैं, (४) प्रभु से रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु की ज्ञान-ज्वालाएँ

तव त्ये अग्ने अचयो भ्राजन्तो यन्ति धृष्णुया। परिज्मानो न विद्युतः स्वानो रथो न वाजयुः ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तव**=आपकी **त्ये**=वे प्रसिद्ध **अर्चयः**=ज्ञान-दीप्तियाँ **भ्राजन्तः**=चमकती हुईं **यन्ति**=हमें प्राप्त होती हैं। ये ज्ञान-ज्वालाएँ **धृष्णुया**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाली हैं। इनमें काम आदि का दहन हो जाता है। (२) ये ज्ञान ज्वालाएँ **परिज्मानः**=चारों ओर गतिवाली **विद्युतः न**=विद्युतों के समान हैं। जैसे विद्युत् अन्धकार को चीरती हुई प्रकाश को करनेवाली होती है, इसी प्रकार ये ज्ञान-ज्वालाएँ अविद्यान्धकार को विलुप्त करनेवाली हैं। **वाजयुः**=संग्राम में विजय की कामनावाले **स्वानः रथः न**=शब्द युक्त रथ की तरह ये ज्ञान-ज्वालाएँ हैं। जैसे रथ शब्द करता हुआ संग्राम में आगे बढ़ता है और विजय को प्राप्त कराता है, इसी प्रकार ये ज्ञान-ज्वालाएँ, ज्ञान के शब्दों का उच्चारण करती हुईं, हमें जीवन-संग्राम में विजयी बनाती है।

भावार्थ—प्रभु की ज्ञान-ज्वालाएँ अज्ञानान्धकार को दूर करती हैं, जीवन-संग्राम में विजयी बनाती हैं।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

इच्छाओं से ऊपर

नू नो अग्न ऊतये सबाधसश्च रातये। अस्माकासश्च सूरयो विश्वा आशास्तरीषणि ॥ ६ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **नु**=अब **नः**=हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिये होइये। **च**=और **सबाधसः**=दारिद्र्यजनित दुःखों के बाधन से युक्त धनों के **रातये**=दान के लिये होइये। (२) **च**=और **अस्माकासः**=हमारे ये **सूरयः**=विद्वान् पुरुष **विश्वा आशाः**=सब आशाओं को, इच्छाओं को **तरीषणि**=तैरने में समर्थ हों। सब आशाओं से ऊपर उठकर ही वास्तविक सुख का लाभ होता है। इन आशाओं से ऊपर उठना तभी होता है, जब कि हम प्रभु-दर्शन कर पाते हैं 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हों, प्रथमाश्रम में प्रभु-रक्षण में हम शक्ति व ज्ञान का संचय करें। द्वितीयाश्रम में प्रभु हमें दारिद्र्य दुःखनिवारक धनों को दें। तृतीय में हम इच्छाओं से ऊपर उठने की साधना करें।

ऋषिः—गय आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

विभ्वासह रयिं, स्तवन-सामर्थ्य, संग्राम-विजय

त्वं नो॑ अग्ने अङ्गिरः स्तु॒तः स्तवा॑न॒ आ भ॑र।
होत॒र्विभ्वा॒सहं॑ र॒यिं स्तो॒तृभ्य॒ः स्तव॑से च न उ॒तैधि॑ पृ॒त्सु नो॑ वृ॒धे॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**-अग्रणी, **अंगिरः**-अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले प्रभो! **स्तुतः**-पूर्वकाल में स्तुति किये गये **स्तवानः**-वर्तमान में स्तुति किये जाते हुए **त्वम्**-आप **नः**=हमारे लिये **रयिम्** रयि को, धन को **आभर** प्राप्त कराइये। हे **होतः**-सर्वप्रद प्रभो! **स्तोतृभ्यः**-हम स्तोताओं के लिये **विभ्वासहम्**-(विभु आसहं) व्यापक-व्यापक हित करनेवाले, अधिक से अधिक लोगों के हित में विनियुक्त होनेवाले को दीप्ति तथा सब कष्टों का पराभव करनेवाले धन को दीजिये। (२) **च**-और **नः**-हमारे लिये **स्तवसे**-स्तवन के सामर्थ्य को **एधि** प्राप्त कराइये, हमारे स्तवन सामर्थ्य के लिये होइये। **उत** और इस प्रकार **पृत्सु**-संग्रामों में **नः** हमारी **वृधे**-वृद्धि के लिये होइये। प्रभु स्तवन द्वारा हमें वह सामर्थ्य प्राप्त हो, जिससे कि हम सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं को पराभूत कर पायें।

भावार्थ—प्रभु हमें लोकहित में विनियुक्त होनेवाले धन को, स्तुति सामर्थ्य को और संग्राम-विजय को प्राप्त करायें।

सूचना—पूर्वार्ध में प्रार्थित रयि ऐहलौकिक संग्राम में हमें विजयी बनाती है और उत्तरार्ध में प्रार्थित स्तवन सामर्थ्य हमें पारलौकिक (अध्यात्म) संग्राम में विजयी करता है।

यहाँ 'विम्वाविभर्ति' यज्ञों से औरों का पोषण करता है, सो 'सुतम्भर' कहलाता है। यह आत्रेय तो है ही, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठा हुआ। यह प्रार्थना करता है कि—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—सुतम्भर आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

जनस्य गोपा

जन॑स्य गो॒पा अ॑जनिष्ट॒ जागृ॑वि॒र॒ग्निः सु॒दक्षः॑ सु॒वि॒ताय॒ नव्य॑से।
घृ॒तप्र॑तीको बृ॒ह॒ता दि॑वि॒स्पृशा॑ द्यु॒मद्वि भा॑ति भ॒र॒तेभ्य॒ः शुचि॑ः॥ १॥

(१) **जनस्य**-मनुष्य का **गोपाः**-रक्षक **जागृविः**-जागरणशील सदा प्रबुद्ध, **अग्निः**-अग्रणी **सुदक्षः**-उत्तम बलवाला वह प्रभु **नव्यसे**-अत्यन्त प्रशंसनीय **सुविताय**-कल्याण के लिये **अजनिष्ट**-होता है। ये प्रभु मनुष्य का कल्याण करते हैं। (२) **घृतप्रतीकः**-दीप्त अंगोंवाला, अर्थात् सर्वतो दीप्त **शुचिः**=पवित्र प्रभु **भरतेभ्यः**-अपने कर्त्तव्य कर्मों का भरण करनेवालों के लिये **बृहता**-अत्यन्त बढ़ी हुई **दिविस्पृशा**-द्युलोक को स्पर्श करनेवाली, सर्वत्र व्याप्त दीप्ति से **द्युमत् विभाति**-खूब ज्योतिर्मय होकर चमकते हैं। भरत लोग आपको प्रकाशमय रूप में देखते हैं।

भावार्थ—प्रभु सदा जागरूक रक्षक हैं। अपना कर्त्तव्यभार उठानेवालों के लिये ये प्रकाशमय रूप में प्रकट होते हैं।

ऋषिः—सुतम्भर आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

यज्ञस्य होता

य॒ज्ञस्य॑ के॒तुं प्र॑थ॒मं पु॒रोहि॑तम॒ग्निं नर॑स्त्रिषध॒स्थे समी॑धिरे।
इन्द्रे॑ण दे॒वैः स॒रथं॒ स ब॒र्हिषि॒ सीद॒न्नि होता॑ य॒जथा॑य सु॒क्रतु॑ः॥ २॥

(१) **यज्ञस्य केतुम्**-यज्ञों के प्रकाशक, यज्ञों का वेदमुखेन उपदेश देनेवाले 'यज्ञस्य देवम्', **प्रथमम्**=सर्वत्र विस्तृत-सर्वव्यापक **पुरोहितम्**-हमारे सामने आदर्श के रूप में विद्यमान **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग **त्रिषधस्थे**='ज्ञान-कर्म-उपासना' तीनों के (त्रि) मिलकर (षध) ठहरने के स्थान (स्थ) शरीर में **समीधिरे**=समिद्ध करते हैं। ज्ञान, कर्म, उपासना का समन्वय करके प्रभु को अपने अन्दर दीप्त करते हैं। (२) **इन्द्रेण**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव तथा **देवैः**=इन्द्रियों के साथ **सरथम्**=समान रथ में **सः**=वे **सुक्रतुः**=शोभनकर्मा व उत्तम शक्तिवाले प्रभु **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **निसीदत्**=निषण्ण होते हैं और **यजथाय**=इस जीवनयज्ञ के संचालन के लिये **होता**=होता होते हैं, सब आवश्यक सामग्री को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—ज्ञान, कर्म व उपासना के समन्वय से प्रभु का दर्शन होता है। जब हम इन्द्र (जितेन्द्रिय) बनते हैं, इन्द्रियों को प्रकाशमय (देव) बनाते हैं, तो प्रभु हमारे हृदयों में आसीन होकर जीवनयज्ञ को चलाते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

असम्मृष्टः-मात्रोः शुचिः

असंमृष्टो जायसे मात्रोः शुचिर्मन्द्रः कविरुदतिष्ठो विवस्वतः।
घृतेन त्वावर्धयन्नग्न आहुत धूमस्ते केतुरभवद्दिवि श्रितः॥ ३॥

(१) **असंमृष्टः**=किसी से शुद्ध न किये गये, स्वयं सदा से शुद्ध, हे प्रभो! आप **जायसे**=प्रादुर्भूत होते हैं। **मात्रोः शुचिः**=आप ही द्यावापृथिवी के शोधक हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को वे प्रभु शुद्ध करनेवाले हैं, वे किसी से शुद्ध नहीं किये जाते। **मन्द्रः**=आनन्दस्वरूप हैं। **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ हैं, सर्वज्ञ हैं। आप **विवस्वतः**=ज्ञान की किरणवालों से **उदतिष्ठः**=उत्त्थित होते हैं। ज्ञान की किरणोंवाला ही आपको हृदयदेश में देखता है। (२) हे **आहुत**=चारों ओर दानोंवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति से ही उपासक **त्वा**=आपको **अवर्धयन्**=अपने में बढ़ाते हैं। हे प्रभो! **दिवि श्रितः**=मस्तिष्करूप द्युलोक में आश्रित हुआ-हुआ **ते केतुः**=आपका ज्ञान, आपसे दिया गया ज्ञान **धूमः**=सब वासनाओं को कम्पित करनेवाला **अभवत्**=होता है। ज्ञान से वासनाएँ विनष्ट होती हैं।

भावार्थ—प्रभु स्वयं पवित्र हैं, हमें पवित्र करनेवाले हैं। ज्ञान से प्रभु का प्रकाश होता है। प्रभु का ज्ञान वासनाओं को कम्पित करनेवाला है।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु वरण से प्रज्ञा व शक्ति की प्राप्ति

अग्निर्नो यज्ञमुप वेतु साधुयाग्निं नरो वि भरन्ते गृहेगृहे।
अग्निर्दूतो अभवद्धव्यवाहनोऽग्निं वृणाना वृणते कविक्रतुम्॥ ४॥

(१) **साधुया**=सब पुरुषार्थों का साधक (साध्नोति) **अग्निः**=वह प्रभु **नः**=हमारे **यज्ञम्**=इस यज्ञ को **उपवेतु**=प्राप्त हो। प्रभु-कृपा से ही तो यज्ञ की पूर्ति होती है। **अग्निम्**=इस अग्रणी प्रभु को ही **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग **गृहे गृहे**=प्रत्येक घर में **विभरन्ते**=धारण करते हैं। वस्तुतः इस प्रभु के धारण से ही वे अपने गृह का धारण करते हैं। (२) यह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **दूतः**=ज्ञान सन्देश को प्राप्त करानेवाला **अभवत्**=होता है। यही **हव्यवाहनः**=सब यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। **अग्निं वृणानाः**=इस अग्रणी प्रभु का वरण करते हुए ये उपासक **कविक्रतुं वृणते**=उस क्रान्तप्रज्ञ शक्तिशाली प्रभु का वरण करते हैं। अर्थात् प्रज्ञा और शक्ति को अपने अन्दर

धारण करनेवाले होते हैं। प्रभु के वरण से यश व शक्ति प्राप्त होती है। प्रकृति का वरण अधिक से अधिक धन को देनेवाला होता है, न प्रज्ञा का न शक्ति का। सो नर मनुष्य प्रभु का ही वरण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण होते हैं। हम प्रभु का वरण करेंगे तो ज्ञान और शक्ति को प्राप्त कर रहे होंगे।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

स्तुति से शान्ति की प्राप्ति व बल की वृद्धि

तुभ्येदमग्ने मधुमत्तमं वचस्तुभ्यं मनीषा इयमस्तु शं हृदे।
त्वां गिरः सिन्धुमिवावनीर्महीरा पृणन्ति शवसा वर्धयन्ति च ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **तुभ्य**=आपके लिये ही **इदम्**=यह **मधुमत्तमं वचः**=अत्यन्त मधुर वचन बोला जाता है। हम अत्यन्त मधुर शब्दों में आपका स्तवन करते हैं। **तुभ्य**=आपके लिये ही **मनीषा**=बुद्धिपूर्वक की गयी यह स्तुति है। **इयम्**=यह **हृदे**=हृदय के लिये **शं अस्तु**=शान्ति को देनेवाली हो। (२) यह **गिरः**=स्तुतिवाणियाँ **त्वाम्**=आपको ही **आपृणन्ति**=(आपूरयन्ति) भरती हैं, आपकी ओर ही आती हैं, **इव**=जैसे कि **महीः अवनीः**=बड़ी-बड़ी नदियाँ **सिन्धुम्**=समुद्र को आपूरित करनेवाली होती हैं। **च**=और ये स्तुतियाँ **शवसा**=बल के द्वारा **वर्धयन्ति**=हमें बढ़ाती हैं। प्रभु-स्तवन से स्तोता का बल बढ़ता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हृदय को शान्ति प्राप्त होती है और स्तोता का बल बढ़ता है।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सहो महत्

त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत्त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः ॥ ६ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **गुहाहितम्**=हृदयरूप गुहा में स्थापित **त्वाम्**=आपको ये उपासक **अन्वविन्दन्**-प्राप्त करते हैं। **वने वने**=(वन् संभजने) प्रत्येक उपासक में **शिश्रियाणम्**=आश्रय करनेवाले प्रभु को ये उपासक प्राप्त होते हैं। (२) **स**=वे आप **मथ्यमानः**=मन्थन किये जाते हुए, चिन्तन किये जाते हुए **जायसे**-प्रादुर्भूत होते हैं। 'मनीषिणो मनसा पृच्छेत्'। हे **अंगिरः**=अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले **त्वाम्**=आपको **महत् सहः**=महान् शत्रुमर्षक बल अथवा **सहस्पुत्रम्**=बल का पुत्र (बल का पुञ्ज) **आहुः**=कहते हैं। वस्तुतः उपासक आपके बल से बलवान् होकर ही काम आदि शत्रुओं का पराभव करता है।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु को हम उपासना द्वारा देखते हैं। चिन्तन से प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है। वे बल का पुञ्ज प्रतीत होते हैं। इसी बल से उपासक बलवान् बनता है।

सुतम्भर आत्रेय ही कहता है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्तुति-वचनों का मुख में धारण

प्राग्नये बृहते यज्ञियाय ऋतस्य वृष्णे असुराय मन्म।
घृतं न यज्ञ आस्ये॒३ सुपूतं गिरं भरे वृषभाय प्रतीचीम् ॥ १ ॥

(१) **अग्नये**=उस अग्रणी, **बृहते**=सदा वर्धमान (वर्धमानं स्वे दमे), **यज्ञियाय**=पूजनीय, **ऋतस्य वृष्णे**=जो भी सत्य है (ठीक है) उसका सेचन करनेवाले के लिये (प्रभु हमारे हृदयों में सत्य का सेचन करते हैं) **असुराय**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाले (असून् राति) प्रभु के लिये **मन्म**=मननपूर्वक की जानेवाली स्तुति को **प्रभरे**=प्रकर्षेण सम्पादित करता हूँ। (२) मैं **आस्ये**=अपने मुख में **वृषभाय**=सुखों का वर्षण करनेवाले उस प्रभु के लिये **प्रतीचीम्**=(प्रति अञ्चति) प्रभु की ओर जानेवाली **गिरम्**=स्तुतिवाणी को **प्रभरे**=प्रभृत करता हूँ, **न**=जैसे कि **यज्ञे**=यज्ञ में **सुपूतम्**=सम्यक् पवित्र किये गये **घृते**=घृत को मुख में धारण करता हूँ। मुख में धारण किया गया यह पवित्र घृत जैसे प्रीतिकर होता है, ऐसे ही मेरे लिये यह स्तुतिवाणी प्रीतिकरी होती है।

भावार्थ—प्रभु के स्तवन में, प्रभु के स्तुतिवचनों के उच्चारण में प्रीति का अनुभव करता हूँ। वे प्रभु ही मुझे प्राणशक्ति-सम्पन्न करके यज्ञों में समर्थ करते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ऋत का ही सेवन

ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्ध्यृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः।
नाहं यातुं सहसा न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः॥ २॥

(१) हे प्रभो! आप **ऋतम्**=ऋत को **चिकित्वः**=जाननेवाले हैं, जाननेवाले ही क्या ऋत को जन्म देनेवाले आप ही हैं। **इत्**=निश्चय से **ऋतम्**=ऋत का **चिकिद्धि**=हमें ज्ञान दीजिये। आप **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली अथवा हमारा पालन व पूरण करनेवाली **ऋतस्य धाराः**=सत्य ज्ञान की इन वाणियों को (धाराः वाक् नि०) **अनु तृन्धि**=अनुकूलता से विच्छिन्न करिये, इन्हें खोलकर इनके रहस्य को समझाइये। (ये वाणियाँ हमें strike करें-सूझें) (२) इस सत्य वेदज्ञान को प्राप्त करके **अहम्**=मैं सहसा बल के कारण या अविचार के कारण **यातुम्**=पीडाकारी हिंसा का **न सपामि**=(स्पृशामि) सेवन नहीं करता हूँ। **न द्वयेन**=मैं सत्य व अनृत का प्रयोग करता हूँ संसार में कार्यों को नहीं करता। मैं तो **अरुषस्य**=आरोचमान **वृष्णः**=सब सुखों के वर्षक प्रभु के **ऋतम्**=ऋत का ही **सपामि**=सेवन करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से ऋत का ज्ञान प्राप्त करके मैं तदनुसार ही सब कार्यों को करता हूँ। न तो पीडाकरी हिंसा की ओर मेरा झुकान होता है और ना ही झूट-सच बोलकर जैसे-तैसे कार्यों को सिद्ध करनेवाला होता हूँ।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञाता व अज्ञेय प्रभु

कया नो अग्न ऋतयन्नृतेन भुवो नवेदा उचथस्य नव्यः।
वेदा मे देव ऋतुपा ऋतूनां नाहं पतिं सनितुरस्य रायः॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **ऋतेन**=सत्य वेदज्ञान से **ऋतयन्**=हमारे जीवन को ऋत युक्त करते हुए **कया**=इस कल्याणकारक वेदवाणी से **नः**=हमारे **न वेदाः**=ज्ञाता (ननवेद इति) **भुवः**=होते हैं। आप सदा हमारा ध्यान करते हैं। (२) वे प्रभु **ऋतूनां ऋतुपा**=सब ऋतुओं की नियमित गति के रक्षक हैं। प्रभु की व्यवस्था में ही ये ऋतुएँ नियम से चल रही हैं। **देवः**=वे ही प्रकाशमय हैं, **नव्यः**=स्तुति के योग्य हैं **मे उचथस्य**-मेरे स्तोत्र को **वेद**-जानते हैं। मेरी स्तुति उनसे सुनी जाती है। पर **अहम्**=मैं **अस्य**=इस **रायः**=ऐश्वर्य के **सनितुः**=दाता उस प्रभु को तथा

पतिम्-उस रक्षक प्रभु को **न वेद** जानता नहीं हूँ। प्रभु मुझे जानते हैं, मेरे ज्ञान से वे परे हैं। मैं प्रभु को पूरा ज्ञान नहीं पाता।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के व्यक्ति कौन हैं?

के ते अग्ने रिपवे बन्धनासः के पायवः सनिषन्त द्युमन्तः।

के धासिमग्ने अनृतस्य पान्ति क आसतो वचसः सन्ति गोपाः ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **के ते**=कौन व्यक्ति हैं, जो तेरे हैं? उत्तर—**रिपवे**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं के लिये जो **बन्धनासः**-बन्धन करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु के व्यक्ति वे ही हैं जो कि काम-क्रोध आदि में फँसते नहीं। प्रभु उपासना का यदि यह भी परिणाम न हो, तो उपासना निरर्थक ही हो जाए। (२) **के**-प्रभु-भक्त कौन हैं? उत्तर—जो **पायवः**-रक्षण करनेवाले होते हुए **द्युमन्तः**-ज्योतिर्मय जीवनवाले बनकर **सनिषन्त**=दीनों के लिये धनों का विभाग करते हैं। दीनों पर दया करनेवाला ही प्रभु-भक्त होता है। प्रभु-भक्त कभी अकेले खाने का विचार भी नहीं कर सकता। (३) हे **अग्ने**-प्रभो! कौन तेरे हैं? उत्तर—**अनृतस्य**-अनृत के **धासिम्**-धारक मनुष्य को अनृत से छुड़ाकर सन्मार्ग-दर्शन के द्वारा जो **पान्ति**-पाप से बचाते हैं। (४) **के**=कौन तेरे उपासक हैं? जो **असतः वचसः**=असत्य वचन से **गोपाः**-बचानेवाले, रक्षा करनेवाले **सन्ति**=हैं। असत्य से छुड़ाकर जो सत्य के लिये प्रेरित करते हैं वे ही प्रभु-भक्त हैं। ये प्रभु-भक्त स्वयं 'ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि' का व्रत ग्रहण करते हैं और औरों को भी अनृत से छुड़ाकर ऋत की ओर तथा असत्य से छुड़ाकर सत्य की ओर ले चलते हैं। ब्रह्म का प्रकाश जीवन में ऋत और सत्य के रूप में ही होता है।

भावार्थ—प्रभु भक्त (क) काम-क्रोध आदि में नहीं फँसता, (ख) अकेला नहीं खाता, (ग) अनृत मार्ग से, अशुभ अव्यवस्थित कर्मों से मनुष्यों को बचाता है, (घ) असत्य से हटाकर सत्य की ओर ले चलता है।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के मित्रों व अमित्रों में भेद

सखायस्ते विषुणा अग्न एते शिवासः सन्तो अशिवा अभूवन्।

अधूर्षत स्वयमेते वचोभिर्ऋजूयते वृजिनानि ब्रुवन्तः ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रभो! **ते सखायः**-जो तेरे मित्र हैं, वे **विषुणाः**-व्यापक (उदार) मनोवृत्तिवाले होते हैं। ये अपने परिवार को व्यापक करते हुए वसुधा को ही अपना कुटुम्ब बना लेते हैं। **एते** ये **शिवासः**-सदा कल्याण करनेवाले होते हैं। **सन्तः**-सज्जनता की वृत्तिवाले होते हैं। (२) इनके विपरीत जो प्रभु के मित्र नहीं होते वे **अशिवाः अभूवन्**-सबका अकल्याण करनेवाले बनते हैं और **ऋजूयते**-ऋजु (सरल) मार्ग पर आचरण करनेवाले के लिये **वृजिनानि**-कुटिल बातों को **ब्रुवन्तः**-कहते हुए **एते**=ये लोग, उन **वचोभिः**=कुटिल वचनों से स्वयं **अधूर्षत**=स्वयं हिंसित होते हैं। उन कुटिल वचनों का अशुभ परिणाम स्वयं इनके जीवन पर ही होता है।

भावार्थ—प्रभु के मित्र 'उदार, कल्याण करनेवाले व सज्जन' होते हैं। इनके विपरीत लोग अकल्याण में प्रवृत्त हुए-हुए, सज्जनों के लिये कुटिल शब्दों का प्रयोग करते हुए, स्वयं उन वचनों से हिंसित होते हैं।

ऋषिः—सुतम्भर आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'पृथुः क्षयः'-'साधुः शेषः'

यस्ते॑ अग्ने॒ नम॑सा य॒ज्ञमीट्ट॑ ऋ॒तं स पा॑त्यरु॒षस्य॒ वृष्णः॑।
तस्य॒ क्षयः॑ पृ॒थुरा सा॒धुरे॑तु प्र॒सर्स्रा॑णस्य॒ नहु॑षस्य॒ शेषः॑॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=प्रभो! **यः**=जो **ते**=आपके प्रति **नमसा**=नमन के साथ **यज्ञं ईट्टे**=यज्ञों का आसन करता है, यज्ञशील होता है, **सः**=वह व्यक्ति **अरुषस्य**=आरोचमान **वृष्णः**=शक्तिशाली आपके **ऋतम्**=ऋत का **पाति**=रक्षण करता है। इस ऋत के पालन से वह भी प्रभु की तरह आरोचमान व शक्तिशाली ब्रह्म है। मस्तिष्क में आरोचमान, शरीर में शक्ति-सम्पन्न। (२) **तस्य**=उस प्रभु के प्रति नमनवाले, यज्ञशील ऋत के रक्षक पुरुष का **क्षयः**=घर **पृथुः**=विशाल होता है, सब प्रकार से फलता फूलता है और इस **प्रसर्स्राणस्य**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में निरन्तर गतिवाले **नहुषस्य**=सबके साथ अपने को बाँधकर चलनेवाले मनुष्य का **शेषः**=सन्तान **आ साधुः**=सब प्रकार से साधु **एतु**=आये। अर्थात् इसके सन्तान सदा उत्तम होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रति नमन के साथ हम यज्ञशील हों, ऋत का पालन करें। इससे हम चमकेंगे और शक्तिशाली होंगे। हमारा घर फले-फूलेगा, सन्तान उत्तम स्वभाव के होंगे।

अगला सूक्त भी 'सुतम्भर आत्रेय' ऋषि का ही है—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—सुतम्भर आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अर्चना के तीन लाभ

अर्च॑न्तस्त्वा हवाम॒हेऽर्च॑न्तः॒ समि॑धीमहि। अग्ने॒ अर्च॑न्त ऊ॒तये॑॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अर्चन्तः**=पूजा करते हुए हम **त्वा हवामहे**=आपको पुकारते हैं। पूजा के द्वारा आप से सब आवश्यक वस्तुओं की याचना करते हैं। (२) **अर्चन्तः**=पूजा करते हुए ही **समिधीमहि**=आपको समिद्ध करते हैं, हृदयदेश में आपके प्रकाश को देखने के लिये यत्नशील होते हैं। (३) हे परमात्मन्! **ऊतये**=अपने रक्षण के लिये हम **अर्चन्तः**=आपकी पूजा करते हुए होते हैं। आपकी पूजा ही हमें वासनाओं का शिकार होने से बचायेगी।

भावार्थ—प्रभु पूजन (क) हमारी कामनाओं को पूर्ण करता है, (ख) प्रभु के प्रकाश को प्राप्त कराता है, (ग) वासनाओं के आक्रमण से हमें बचाता है।

ऋषिः—सुतम्भर आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'अग्नि-दिविस्पृग्-देव'

अ॒ग्नेः स्तोमं॑ मनामहे सि॒ध्रम॒द्य दि॑वि॒स्पृशः॑। दे॒वस्य॑ द्रविण॒स्यवः॑॥ २॥

(१) **द्रविणस्यवः**=द्रविणों (धनों) की कामनावाले हम **अद्य**=आज **सिध्रम**=सब प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाले **स्तोमम्**=स्तोम को, स्तुति को **मनामहे**=मननपूर्वक करते हैं। स्तोम ही सिध्र है, यह प्रभु स्तवन ही हमारे सब मनोरथों का पूरक है। (२) उस प्रभु के स्तवन को हम करते हैं जो कि **अग्नेः**=अग्रणी हैं, हमें उन्नतिपथ आगे ले-चलनेवाले हैं। **दिविस्पृशः**=सदा ज्ञान के स्पर्श करनेवाले, ज्ञानस्वरूप हैं। **देवस्य**=दिव्यगुणों के पुञ्ज हैं। वे प्रभु हमें भी शरीर के दृष्टिकोण से 'अग्नि', मस्तिष्क के दृष्टिकोण से 'दिविस्पृश' तथा हृदय के दृष्टिकोण से 'देव' बनाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु स्तवन द्वारा इष्ट द्रविणों को प्राप्त करनेवाले हों। शरीर में अग्नि तत्ववाले, मस्तिष्क में उत्कृष्ट ज्ञानवाले तथा हृदय में देव ही बनें।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स यक्षत् दैव्यं जनम्

अ॒ग्निर्जु॑षत नो॒ गिरो॒ होता॒ यो मानु॑षे॒ष्वा। स य॑क्ष॒द्दैव्यं॒ जन॑म्॥ ३॥

(१) **अग्निः**-वह अग्रणी प्रभु **नः गिरः**-हमारी स्तुति वाणियों को **जुषत**=प्रीतिपूर्वक सेचन करें। हमारी स्तुतिवाणियाँ प्रभु के लिये प्रिय हों। हमें स्तुति वृत्तिवाला देखकर प्रभु को हम प्रिय लगें। (२) वे प्रभु हमारी स्तुतिवाणियों को प्राप्त करें **यः**=जो कि **मानुषेषु**-विचारशील प्रजाओं **में आ होता**=समन्तात् आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले हैं। (२) **सः**-वे प्रभु **दैव्यं जनम्**=देव की ओर चलनेवाले, देव को अपनानेवाले, मनुष्य को **यक्षत्**=प्राप्त हों (यज् संगतिकरणे)। हम देववृत्तिवाले बनेंगे तो प्रभु हमें क्यों न प्राप्त होंगे।

भावार्थ—हम स्तुति द्वारा प्रभु के प्रिय होते हैं। ये प्रभु विचारशील पुरुषों के लिये सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं। देववृत्तिवाले पुरुषों को ये प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

त्वया यज्ञं वितन्वते

त्वम॑ग्ने स॒प्रथा॑ असि॒ जुष्टो॒ होता॒ वरे॑ण्यः। त्वया॑ य॒ज्ञं वि त॑न्वते॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **सप्रथाः असि**=(सर्वतः पृथुः नि ६।९) सब गुणों के दृष्टिकोण से निरतिशय (absolute) विस्तारवाले हैं। **जुष्टः**=प्रीतिपूर्वक सेवित होते हुए आप **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं। अतएव **वरेण्यः**-आप ही वरने के योग्य हैं, आपको प्राप्त कर लेने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है। (२) **त्वया**=आपसे ही सब यजमान **यज्ञं वितन्वते**=उस उस यज्ञ का विस्तार करते हैं। आपके द्वारा ही वे यज्ञपूर्ण होते हैं। '**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च**'। वस्तुतः आपकी शक्ति से ही ये सब यज्ञ चलते हैं। सो वस्तुतः इन यज्ञों को तो आप ही करते हैं। मैं तो निमित्त मात्र होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु सब प्रकार से महान् हैं। प्रसन्न हुए वे सब कुछ देनेवाले हैं। वरणीय हैं, क्योंकि इनके वरण में सब का वरण हो जाता है। प्रभु के आश्रय से ही हम यज्ञों का विस्तार कर पाते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुवीर्य प्राप्ति

त्वाम॑ग्ने वाज॒सात॑मं॒ विप्रा॑ वर्ध॑न्ति॒ सुष्टु॑तम्। स नो॑ रास्व सु॒वीर्य॑म्॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=सर्वाग्रणी प्रभो! **विप्राः**=ज्ञानी लोग **त्वाम्**=आपको **वर्धन्ति**=स्तुति शब्दों से बढ़ाते हैं स्तुति शब्दों से वस्तुतः अपने को प्रेरणा देते हुए आपके भाव को अपने अन्दर बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। उन आपको, जो कि **वाजसातमम्**-शक्ति प्रदान करनेवालों में सर्वोत्तम हैं। जितना-जितना आपको धारण करते हैं, उतना-उतना शक्ति को भी अपने अन्दर अनुभव करते हैं। उन आपकी हम स्तुति करते हैं, जो आप **सुष्टुतम्**=उत्तम स्तुतिवाले हैं, वस्तुतः सब स्तुत्य गुणों की चरमसीमा ही तो आप हैं, आपके स्तवन से स्तोता का जीवन उत्तम ही उत्तम बनता है। (२) **सः**=वे आप **नः**-हमारे लिये **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **रास्व**=दीजिये। सुवीर्य से सम्पन्न पुरुष

ही आपकी प्राप्ति का अधिकारी होता है। आप 'वाजसातम' हैं, आपका स्तोता बनकर मैं 'वाज' (बल) को क्यों न प्राप्त करूँगा अर्थात् अवश्य प्राप्त करूँगा।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हम सुवीर्य को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

चित्रं राधः

अग्ने नेमिरराँइव देवाँस्त्वं परिभूरसि। आ राधश्चित्रमृञ्जसे॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=सर्वाग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **देवान्**=सब देवों को **परिभूः**=व्याप्त करके **असि**=विद्यमान हो रहे हैं, **इव**-जैसे कि **नेमिः**=चक्रवलय **अरान्**-अरों को (spokes) व्याप्त करके विद्यमान होता है। सब देवों को देवत्व आपकी व्याप्ति से ही प्राप्त हो रहा है 'तेन देवा देवतामग्र आयन्'। (२) आप ही उस-उस देव के उस-उस **चित्रं राधः**=अद्भुत ऐश्वर्य को **आ ऋञ्जसे**=सर्वथा प्रसाधित करते हैं। सूर्य आदि को दीप्ति के देनेवाले आप ही हैं। बुद्धिमानों को बुद्धि के दाता, तेजस्वियों के तेज व बलवानों के बल आप ही हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब देवों में व्याप्त होकर उस-उस विभूति श्री व ऊर्ज् को उनमें स्थापित कर रहे हैं।

अगले सूक्त में भी 'सुतम्भर आत्रेय' ही प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हव्या देवेषु नो दधत्

अग्निं स्तोमेन बोधय समिधानो अमर्त्यम्। हव्या देवेषु नो दधत्॥ १॥

(१) हे उपासक! तू **समिधानः**=अपने को ज्ञान से दीप्त करता हुआ **स्तोमेन**=स्तुति के द्वारा **अमर्त्यम्**=उस अविनाशी **अग्निम्**-सर्वाग्रणी प्रभु को **बोधय**=अपने हृदय में समिद्ध कर। प्रभु के प्रकाश को हृदय में देखने के लिये यत्नशील हो। ये प्रभु ही तुझे विषयों के पीछे न मरनेवाला (अमर्त्य) व आगे बढ़नेवाला (अग्नि) बनायेंगे। (२) ये प्रभु **देवेषु**=सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि देवों में **नः**=हमारे लिये **हव्या**=सब हव्य पदार्थों को **दधत्**=धारण करते हैं। इन सूर्यादि से इन हव्य पदार्थों को प्राप्त करके हम अपने जीवनों को दिव्य बना पाते हैं।

भावार्थ—हम स्वाध्याय व स्तुति के द्वारा प्रभु के प्रकाश को देखें। प्रभु हमारे लिये सूर्यादि में हव्य पदार्थों को धारण करते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यजिष्ठं मानुषे-जने

तमध्वरेष्वीळते देवं मर्ता अमर्त्यम्। यजिष्ठं मानुषे जने॥ २॥

(१) **तम्**=उस प्रसिद्ध **अमर्त्यम्**=अमरणधर्मा **देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को **मर्ताः**=मनुष्य **अध्वरेषु**=यज्ञों में **ईडते**=उपासित करते हैं। यज्ञों के द्वारा ही प्रभु का उपासन होता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' प्रभु यज्ञरूप हैं। यज्ञ के द्वारा ही उपासित होते हैं। इन यज्ञों के करनेवाला भी अमर्त्य=विषयों के पीछे न मरनेवाला व देव=प्रकाशमय जीवनवाला बनता है। (२) उस प्रभु को यज्ञों के द्वारा उपासित करते हैं, जो कि **मानुषे जने**=विचारशील पुरुषों में **यजिष्ठम्**=अधिक

से अधिक संगतिवाले हैं। विचारशील पुरुषों को ही प्रभु की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्रभु अमर्त्य हैं, देव हैं। प्रभु का उपासन हम यज्ञों के द्वारा करते हैं। विचारशील बनते हैं, ताकि प्रभु के संग को प्राप्त करें।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

क्रियाशीलता व ज्ञानतत्परता

तं हि शश्वन्त ईळते स्रुचा देवं घृतश्चुता। अग्निं हव्याय वोळ्हवे॥ ३॥

(१) **तं देवम्**-उस प्रसिद्ध प्रकाशमय प्रभु को **शश्वन्तः**-प्लुतगतिवाले, स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाले, **घृतश्चुता** ज्ञानदीप्ति को टपकानेवाली, ज्ञान के प्रवाहवाली, **स्रुचा**-वाणी से (गणी वै स्रुचः श० ३।३।१।८) **हि**-निश्चयपूर्वक **ईडते**-उपासित करते हैं। प्रभु की उपासना क्रियाशीलता व ज्ञानतत्परता से होती है। (२) **अग्निम्**-उस परमात्मा को **हव्याय वोळहवे** हव्य पदार्थों को प्राप्त कराने के लिये उपासित करते हैं। उपासित हुए-हुए वे प्रभु हमारे लिये सब हव्य पदार्थों को देते हैं। सूर्यादि देवों में प्रभु ने इन हव्य पदार्थों को स्थापित किया है। सूर्य आदि से हम इन हव्य पदार्थों को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—क्रियाशीलता व ज्ञानतत्परता हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराती है। प्रभु हमारे लिये सूर्यादि देवों के द्वारा सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अविन्दद् गाः अपः स्वः

अग्निर्जातो अरोचत घ्नन्दस्यूञ्ज्योतिषा तमः। अविन्दद् गा अपः स्वः॥ ४॥

(१) **अग्निः**-वे अग्रणी प्रभु **जातः**-चिन्तन व श्रद्धा द्वारा प्रादुर्भूत हुए हुए **अरोचत**-हमारे हृदयों में दीप्त होते हैं। ये प्रभु **दस्यून्**-दास्यव वृत्तियों को, आसुरीभावों को **घ्नन्**-नष्ट करते हैं और **ज्योतिषा**-अपनी ज्ञान-ज्योति से **तमः**-अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हैं। प्रभु का प्रकाश होते ही सब अज्ञानान्धकार लुप्त हो जाता है। (२) ये प्रभु **गाः**-ज्ञान की वाणियों को, **अपः**=व्यापक कर्मों को यज्ञात्मक लोकहितवाले कर्मों को तथा **स्वः**-मानस आह्लाद को (सुख को) **अविन्दत्**-प्राप्त कराते हैं (अवेदयत् सा०)।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश होते ही आसुरवृत्तियाँ व अज्ञानान्धकार समाप्त हो जाता है। प्रभु हमें मस्तिष्क की दीप्ति के लिये ज्ञानवाणियों को, हाथों के लिये यज्ञात्मक कर्मों को तथा मन के लिये आह्लाद को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञानी व तेजस्वी

अग्निमीळेन्यं कविं घृतपृष्ठं सपर्यत। वेतु मे शृणवद्धवम्॥ ५॥

(१) **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **सपर्यत**-तुम पूजो। जो प्रभु **ईडेन्यम्**-स्तुति के योग्य हैं। **कविम्**-क्रान्तप्रज्ञ हैं, सर्वतत्वज्ञ हैं। **घृतपृष्ठम्**-दीप्त पृष्ठवाले हैं, अत्यन्त देदीप्यमान हैं। इन प्रभु के उपासन से हम भी कवि व घृतपृष्ठ, ज्ञानी व तेजस्वी बनेंगे। (२) वे प्रभु **मे**=मेरी **हवम्**=पुकार को **वेतु**-चाहें, मेरी पुकार प्रभु के लिये प्रिय हो और वे मेरी प्रार्थना को **शृणवत्**-सुनें। मेरी प्रार्थना प्रिय व श्रवणीय हो। वस्तुतः जब हम प्रार्थनीय वस्तु के लिये पूर्ण पुरुषार्थ करते हैं, तो हमारी प्रार्थना श्रवणीय होती ही है।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से हम 'ज्ञानी व तेजस्वी' बनें। पुरुषार्थी बनकर श्रवणीय प्रार्थनावाले हों।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्तोमेभिः-घृतेन

अ॒ग्निं घृ॒तेन॑ वावृधु॒: स्तोमे॑भिर्वि॒श्वच॑र्षणिम्। स्वा॒धीभि॑र्वच॒स्युभि॑: ॥ ६ ॥

(१) **अग्निम्**-उस अग्निवत् प्रकाशमान प्रभु को **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **वावृधुः**=अपने अन्दर बढ़ाते हैं। जितना-जितना ज्ञान को हम प्राप्त करते हैं, उतना-उतना प्रभु के समीप होते हैं। **विश्वचर्षणिम्**-उस सर्वद्रष्टा परमात्मा को **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा अपने में बढ़ाते हैं। प्रभु स्तवन करते हुए हम प्रभु से रक्षणीय होते हैं। (२) **स्वाधीभिः**=(शोभनध्यानैः) उत्तम ध्यानशील पुरुषों से तथा **वचस्युभिः**=ज्ञान की वाणियों की कामनावाले पुरुषों से वे प्रभु अपने अन्दर स्थापित किये जाते हैं। ध्यानशील पुरुष स्तवनों के द्वारा तथा वचस्यु पुरुष-ज्ञानदीप्ति के द्वारा प्रभु को अपने अन्दर धारण करते हैं।

भावार्थ—हम ध्यानशील बनकर स्तवनों के द्वारा प्रभु का अपने अन्दर वर्धन करें। तथा ज्ञान की वाणियों की कामनावाले होकर ज्ञानदीप्ति से प्रभु को अपने में स्थापित करें।

इस प्रकार स्तोम व घृत द्वारा प्रभु को अपने अन्दर धारण करनेवाला यह व्यक्ति 'धरुण' होता है, प्रभु धारण से ही अंग-प्रत्यंगों में रसवाला होता हुआ 'आंगिरस' होता है। यह 'धरुण आंगिरस' प्रभु का उपासन करता हुआ कहता है—

द्वितीयोऽनुवाकः

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**धरुण आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रायो धर्ता, धरुणो वस्वः

प्र वे॒धसे॑ क॒वये॒ वेद्या॑य॒ गिरं॑ भरे य॒शसे॑ पू॒र्व्याय॑।
घृ॒तप्र॑सत्तो॒ असु॑रः सु॒शेवो॑ रा॒यो ध॒र्ता ध॒रुणो॒ वस्वो॑ अ॒ग्निः ॥ १ ॥

(१) **वेधसे**=सृष्टि के निर्माता, **कवये**=क्रान्तप्रज्ञ, सर्वतत्त्वज्ञ, **वेद्याय**=जानने योग्य, **यशसे**-यशस्वी, **पूर्व्याय**-सृष्टि से पूर्वभावी 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' अर्थात् कभी न बननेवाले, सदा से वर्तमान प्रभु के लिये **गिरम्**=स्तुतिवाणियों को **प्रभरे**=प्रकर्षेण धारण करता हूँ। उस प्रभु का सतत स्मरण करता हूँ। सर्वज्ञ होने से उन प्रभु की यह सृष्टि पूर्ण है। इसमें हमें प्रभु को जानने का प्रयत्न करना है। प्रभु के ज्ञान के होने पर ही यह भक्ति पूर्ण होती है। (२) ये प्रभु **घृतप्रसत्तः**=ज्ञानदीप्ति से निर्मल होते हैं। प्रभु 'देदीप्यमान ज्ञान' हैं सो पूर्ण निर्मल हैं, हम भी प्रभु को इस ज्ञानदीप्ति से ही देख सकेंगे। **सुशेवः**=वे प्रभु उत्तम कल्याण करनेवाले हैं। इस कल्याण को प्राप्त कराने के लिये ही **असुरः**=(असून् राति) हमारे में प्राणशक्ति का संचार करते हैं। कल्याण को प्राप्त कराने के लिये ही **रायः धर्ता**=जीवन-यात्रा के लिये आवश्यक धनों के वे धारण करनेवाले हैं। धनों के ही क्या, **वस्वः**=निवास के लिये आवश्यक सब वसुओं के **धरुणः**=धारण करनेवाले हैं। इस प्रकार **अग्निः**=हमें जीवन-यात्रा में आगे और आगे ले-चल रहे हैं।

भावार्थ—वे सृष्टि निर्माता प्रभु ही वेद्य हैं। उन्हीं का हम स्तवन करें। वे ही सब धनों व निवास के लिये आवश्यक पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**धरुण आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋत-यज्ञ-सत्संग

ऋतेन॑ ऋतं ध॒रुणं॑ धारयन्त य॒ज्ञस्य॑ शा॒के पर॒मे व्यो॑मन्।
दि॒वो धर्म॒न्ध॒रुणे॑ सेदु॒षो नॄञ्जा॒तैरजा॑ताँ अ॒भि ये न॑न॒क्षुः॥ २॥

(१) **ऋतेन**-ऋत के द्वारा, अपने अन्दर ऋत के धारण के द्वारा सब कार्यों को नियमित गति से करने के द्वारा, **परमे व्योमन्**-उत्कृष्ट हृदयाकाश में **यज्ञस्य शाके**-यज्ञ के शक्तिशाली कर्मों के होने पर **ऋतम्** उस सत्यस्वरूप **धरुणम्**-सबके धारक प्रभु को **धारयन्त**=धारण करते हैं। प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम (क) ऋत का पालन करें, (ख) यज्ञात्मक कर्मों से भोगवृत्ति से ऊपर उठने के द्वारा, हम अपने को शक्तिशाली बनायें। वे प्रभु 'ऋत' हैं, सो ऋत के द्वारा प्राप्त होते हैं। वे 'धरुण' हैं, सो लोक धारण के हेतुभूत यज्ञात्मक कर्मों से प्राप्त होते हैं। (२) प्रभु को धारण वे करते हैं **ये**-जो कि **नॄन्**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगों की **अभि**=ओर **ननक्षुः**=प्राप्त होते हैं। उनके संग में बैठते हैं जो कि **दिवः धरुणे** स्वर्ग के धारक **धर्मन्**=यज्ञात्मक (धारणात्मक) कर्मों से **सेदुषः**-स्थित होते हैं, तथा **जातैः**-शक्तियों के प्रादुर्भावों से **अजातान्**=जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठनेवाले हैं, जीवन्मुक्त हैं। इन लोगों का संग हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है और हम प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के तीन मुख्य साधन हैं—(क) ऋत का पालन, सब कार्यों को नियमितरूप से करना, (ख) यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहने के द्वारा शक्ति को स्थिर रखना, (ग) उत्तम पुरुषों के संग में रहना।

ऋषिः—**धरुण आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पाप से पृथक्

अं॒होयु॒वस्त॒न्व॑स्तन्वते॒ वि वयो॑ म॒हद्दु॒ष्टरं॑ पू॒र्व्याय॑।
स सं॒वतो॒ नव॑जातस्तुतुर्या॒त्सिं॒हं न क्रु॒द्धम॒भित॒ः परि॑ ष्ठुः॥ ३॥

(१) **पूर्व्याय**-उस सृष्टि के पूर्व होनेवाले, कभी न बननेवाले, सदा वर्तमान प्रभु की प्राप्ति के लिये **अंहोयुवः**-पापों से अपने को पृथक् करनेवाले लोग **तन्वः**-शरीर के **महत्**=महान् **दुष्टरम्**-शत्रुओं से अजेय **वयः**=(strength) शक्ति को **वितन्वते**=विस्तृत करते हैं। शक्ति प्राप्ति के द्वारा ही प्रभु की प्राप्ति होती है 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। पापों में फँस जाने से ही शक्ति का ह्रास होता है। पापवृत्ति को अपने से दूर करने से शक्ति का संग्रह होता है और तभी प्रभु की प्राप्ति होती है। (२) **सः**-वह प्रभु को प्राप्त होनेवाला व्यक्ति **नवजातः**-नवीन अथवा स्तुत्य जीवनवाला बना हुआ **संवतः**=संगत शत्रुओं को, समकाम बनाकर आनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **तुतुर्यात्**=हिंसित करता है। ये शत्रु इसको **परि**=(वर्जयित्वा) छोड़कर इस प्रकार दूर **स्थुः**=स्थित होते हैं, **न**=जैसे कि **क्रुद्धं सिहं अभितः**-क्रुद्ध शेर के चारों ओर दूर भागकर मृग स्थित होते हैं। शेर से भयभीत होकर मृग दूर चले जाते हैं, इसी प्रकार प्रभु प्राप्त व्यक्ति से वासनाएं दूर भाग जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये निष्पाप बनकर शक्ति का संग्रह करना आवश्यक है। इस प्रभु प्राप्त व्यक्ति से वासनाएँ दूर भाग जाती हैं।

सूचना—'संवतः' शक का अर्थ आचार्य 'संसेवमानः' करते हैं। उन्होंने 'वन संभक्तौ' से इस

शब्द को बनाया है। तब अर्थ इस प्रकार होगा 'प्रभु का सेवन करता हुआ, स्तुत्य जीवनवाला यह व्यक्ति वासनाओं को तैर जाता है'।

ऋषिः—**धरुण आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

माता के समान (प्रभु)

मातेव यद्भरसे पप्रथानो जनंजनं धायसे चक्षसे च।
वयोवयो जरसे यद्दधानः परि त्मना विषुरूपो जिगासि॥ ४॥

(१) **पप्रथानः**=सर्वत्र विस्तृत होते हुए आप **माता इव**=माता के समान **यद्**=जब **जनं जनम्**=प्रत्येक व्यक्ति को **भरसे**=भरण करते हैं, तो आप सबके **धायसे**=धारण के लिये होते हैं, **च**=और **चक्षसे**=देखने के लिये होते हैं, सबका ध्यान करते हैं। (२) **यद्दधानः**=जब आप सब प्राणियों का धारण करते हैं तो **वयः वयः**=प्रत्येक अन्न को **जरसे**=आप ही जीर्ण (पचा हुआ) करते हैं 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्'। आपके द्वारा ही अन्न के पाचन की व्यवस्था होती है और हमारे जीवनों का धारण होता है। (३) हे प्रभो! आप ही **विषुरूपः**=विविध रूपोंवाले होते हुए **त्मना**=स्वयं **परिजिगासि**=चारों ओर प्राप्त होते हैं। सर्वत्र आपकी ही विभूति दृष्टिगोचर होती है। सूर्य में प्रभा के रूप से, अग्नि में तेज के रूप से, जल में रस, पृथिवी में गन्ध तथा बलवानों में बल के रूप से आप ही विद्यमान हो रहे हैं। सम्पूर्ण जीवन आपके ही कारण है।

भावार्थ—प्रभु ही माता की तरह सब प्राणियों का धारण करते हैं। प्रभु ही हमारे धारण के लिये अन्न का पाचन करते हैं। विविध रूपों से सर्वत्र प्रभु ही प्राप्त हैं। क्या सूर्यादि में, क्या विद्वानों व बलवानों में सर्वत्र प्रभु की ही महिमा दृष्टिगोचर होती है।

ऋषिः—**धरुण आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रशस्त अन्न व बल

वाजो नु ते शवसस्पात्वन्तमुरुं दोघं धरुणं देव रायः।
पदं न तायुर्गुहा दधानो महो राये चितयन्नत्रिमस्पः॥ ५॥

(१) हे **देव**=हमारे लिये सब उत्तमताओं को जीतने की कामनावाले प्रभो! **नु**=अब **ते**=आपका दिया हुआ **वाजः**=यह अन्न **शवसः अन्तम्**=बल के उत्कर्ष का **पातु**=रक्षण करे। जो बल का उत्कर्ष **उरुम्**=विशाल है **दोघम्**=सब कामनाओं का पूरण करनेवाला है तथा **रायः धरुणम्**=धन का धारक है। प्रभु प्रदत्त अन्न हमें उत्कृष्ट बल को प्राप्त कराये, जिस बल से हम सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कर सकें। (२) हे प्रभो! **तायुः न**=एक तस्कर की तरह **पदम्**=अपने चरणों को **गुहा दधानः**=हमारी हृदय गुहा में धारण करते हुए आप, अर्थात् छिपाकर रखते हुए आप (जैसे एक चोर छिपाकर रखता है) **महः राये**=(महते धनाय सा०) महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **चितयन्**=मार्ग को दिखलाते हुए **अत्रिम्**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठे हुए मनुष्य को **अस्पः**=प्रीणित करते हैं और भवसागर से पार ले जानेवाले होते हैं (स्पृ प्रीणनपारणयोः)।

भावार्थ—प्रभु ने जो अन्न दिये हैं वे हमें उत्कृष्ट बल को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ने अपने को छिपाकर हमारी हृदयगुहा में रखा है। वे प्रभु महान् ऐश्वर्य के लिये हमें मार्ग दिखाते हैं और हमें काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठाकर प्रीणित करते हैं।

प्रभु से उत्कृष्ट बल व चेतना को पाकर अपना पूरण करनेवाला यह 'पूरु' बनता है। यह आत्रेय

तो है ही, काम-क्रोध लोभ से ऊपर उठा हुआ। यह कहता है कि—

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

स्वाध्याय व पूजन (मानवे, देवायाग्नये)

बृहद्वयो हि भानवेऽर्चा देवायाग्नये। यं मित्रं न प्रशस्तिभिर्मर्तासो दधिरे पुरः ॥ १ ॥

(१) हम **बृहद् वयः**-अपने इस प्रवृद्ध व विशाल जीवन को **हि** निश्चय से **भानवे**=उस ज्ञान की दीप्तिवाले प्रभु के लिये अर्पित करें। स्वयं भी प्रभु की तरह ही ज्ञानदीप्त बनने का प्रयत्न करें। इसी से जीवन दीर्घ व प्रवृद्ध बनेगा। (२) हे जीव! तू ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करने के साथ **देवाय**=उस दिव्य गुणों के पुञ्ज सर्वाग्रणी प्रभु के लिये **अर्चा**=अर्चना कर, तू प्रभु की पूजावाला बन। यह प्रभु पूज़न तुझे भी दिव्यगुणोंवाला व प्रगतिशील बनायेगा। (३) तू उस प्रभु का पूजन कर **यम्**-जिनको **मित्रं न**=मित्र के समान **मर्तासः**-मनुष्य **प्रशस्तिभिः**-प्रशंसनों व स्तुतियों के द्वारा **पुरः दधिरे**-अपने सामने स्थापित करते हैं। प्रभु को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। प्रभु दयालु हैं, सो हमने भी दया की वृत्तिवाला बनना है। वे न्यायकारी हैं, हमें भी न्यायप्रिय होना है। इस प्रकार प्रभु का ही छोटा रूप बनने का प्रयत्न करना है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को ज्ञानदीप्ति के लिये लगायें। प्रभु पूजन के द्वारा दिव्य गुणों को धारण करते हुए आगे बढ़ें। प्रभु को ही अपना लक्ष्य बनायें।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ज्ञान-ज्योति व बाहुबल

स हि द्युभिर्जनानां होता दक्षस्य बाह्वोः। वि हव्यमग्निरानुषग्भगो न वारमृण्वति ॥ २ ॥

(१) **सः अग्निः**-वे अग्रणी प्रभु! **जनानाम्** लोगों के लिये **द्युभिः**-ज्ञान-ज्योतियों के साथ **बाह्वोः**=भुजाओं के **दक्षस्य**-बल को **होता**-देनेवाले हैं। हमें ज्ञान व शक्ति प्रभु कृपा से ही प्राप्त होती है। प्रभु कृपा के पात्र वे ही बनते हैं, जो कि 'जन' बनें, अपनी शक्तियों के विकास के लिये यत्नशील हों। (२) वे प्रभु **आनुषक्**-निरन्तर **हव्यम्**-हव्य पदार्थों को **ऋण्वति**-देते हैं (प्रयच्छति)। तथा **भगः न**-ऐश्वर्यशाली के समान **वारम्**-सब वरणीय धनों के देनेवाले हैं। वस्तुतः भुजाओं के बल को देकर वे हमें इस योग्य बना देते हैं कि हम वरणीय धनों का सञ्चय कर सकें तथा ज्ञान को देकर वे हमें इन धनों को हव्य के रूप में प्रयोग करना सिखाते हैं। शक्ति से प्राप्त धन को ज्ञान के कारण हम यज्ञशेष के रूप में ही सेवन करते हैं। धन हमारे यज्ञों के लिये हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देते हैं, शक्ति देते हैं। हम शक्ति से वरणीय धनों का अर्जन करते हैं और ज्ञान से यज्ञों में उनका विनियोग करते हैं।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

स्तोमे सख्ये च

अस्य स्तोमे मघोनः सख्ये वृद्धशोचिषः।
विश्वा यस्मिन्तुविष्वणि समर्ये शुष्ममादधुः ॥ ३ ॥

(१) हम **अस्य**-इस **मघोनः**-ऐश्वर्यशाली अथवा (मघवतः=मखवतः) महान् यज्ञशाली (यज्ञरूप) प्रभु के **स्तोमे**=स्तुति में स्थित हों। **वृद्धशोचिषः**=अत्यन्त बढ़ी हुई दीप्तिवाले प्रभु की

सख्ये=मित्रता में हों। (२) **यस्मिन् तुविष्वणि**=जिस महान् शब्दोंवाले **अर्ये**=ब्रह्माण्ड के स्वामी प्रभु में **विश्वाः**=सब प्रजाएँ **शुष्मम्**=शत्रु शोषक बल को **सं आदधुः**=सम्यक् धारण करती हैं। प्रभु की उपासना से इस शुष्म की प्राप्ति होती है। इस शुष्म की प्राप्ति के लिये हम भी महान् शब्दोंवाले, खूब स्वाध्यायवाले व स्वामी (अर्य) अपनी इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तवन में व प्रभु की मित्रता में चलें। वे प्रभु महान् शब्दोंवाले हैं, अर्य हैं (स्वामी हैं)। उसकी उपासना में स्थित होकर हम शत्रु शोषक बल को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'सुवीर्य के दाता' प्रभु

अधा ह्यग्न एषां सुवीर्यस्य मंहना। तमिद्यह्वं न रोदसी परि श्रवो बभूवतुः॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=प्रभो! **अधा**=अब **हि**=ही **एषाम्**=इन उपासकों के **सुवीर्यस्य**=उत्तम शक्ति के **मंहना**=(मंहनायै भव) दान के लिये आप होइये। प्रभु की उपासना से उपासक प्रभु के बल से सम्पन्न होता है। (२) **यह्वं न**=महान् सूर्य के समान **श्रवः**=सब से श्रवणीय ('आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्', 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः') **तम्**=उस प्रभु के **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **परि बभूवतुः**=परिग्रह करनेवाले होते हैं (परिगृह्णीतः)। उस प्रभु के आश्रय से ही ये द्यावापृथिवी स्थित हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासक को सुवीर्य प्राप्त कराते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस प्रभु का ही परिग्रह करता है, उसी के आधार से स्थित है।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्तवन व संग्रामविजय

नू न एहि वार्यमग्ने गृणान आ भर।
ये वयं ये च सूरयः स्वस्ति धामहे सचोतैधि पृत्सु नो वृधे॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नु**=निश्चय से **नः**=हमारे लिये **एहि**=प्राप्त होइये। **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **वार्यम्**=वरणीय धनों को **आभर**=प्राप्त कराइये। (२) **ये**=जो **वयम्**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले हैं, **च**=और ये **सूरयः**=जो ज्ञानी हैं, वे **स्वस्ति धामहे**=कल्याणकारक कर्मों का ही धारण करते हैं। आप **सचा एधि**=हमारे साथ होइये, **उत**=और **पृत्सु**=संग्रामों में **नः वृधे**=हमारे वर्धन के लिये होइये। वस्तुतः इन जीवन-संग्रामों में आपने ही हमें विजय प्राप्त करानी है।

भावार्थ—प्रभु ही वरणीय धनों को व संग्रामों में विजयों को प्राप्त कराते हैं। सो हम प्रभु का ही स्तवन करें और कल्याणकारक शुभ कर्मों का धारण करें। शुभ कर्मों का करना ही प्रभु का सच्चा स्तवन है।

'पूरुरात्रेय' ही अगले सूक्त में प्रार्थना करते हैं—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'यज्ञों के द्वारा उपास्य' यज्ञरक्षक प्रभु

आ यज्ञैर्देव मर्त्य इत्था तव्यांसमूतये। अग्निं कृते स्वध्वरे पूरुरीळीतावसे॥ १॥

(१) हे **देव**-प्रकाशमय प्रभो! **मर्त्यः**-मनुष्य **इत्था**=सचमुच **यज्ञैः**-यज्ञों के द्वारा **तव्यांसम्**=सब गुणों के दृष्टिकोण से प्रवृद्ध गुणों की चरमसीमा के रूप में आपको **ऊतये**-रक्षण के लिये (आ ह्वयति)=पुकारता है। वस्तुतः आपके रक्षण से ही उसके यज्ञपूर्ण होते हैं। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **पूरुः**=पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों में तत्पर मनुष्य (पृ पालनपूरणयोः) **स्वध्वरे**-उत्तम यज्ञों के **कृते**-करने पर **अवसे**=रक्षण के लिये **ईडीत**=आपका पूजन करता है। यह आपका पूजन ही उसे बल देता है, जिससे कि वह यज्ञों को कर पाता है।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा प्रभु का उपासन होता है। यज्ञों के रक्षण के लिये यह 'पूरु' प्रभु को पुकारता है।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आसा-मनीषया (तज्जपः, तदर्थभावनम्)

अस्य हि स्वयशस्तर आसा विधर्मन्मन्यसे। तं नाकं चित्रशोचिषं मन्द्रं परो मनीषया॥ २॥

(१) हे **स्वयशस्तरः**-अपने कर्मों द्वारा यशवाले जीव! तू **विधर्मन्**-विशिष्टरूप से धारणात्मक यज्ञादि कर्मों में **आसा**=अपने मुख से, वाणी से **हि**-निश्चयपूर्वक **अस्य मन्यसे**-इस प्रभु का स्तवन करता है। इसी के नामों का उच्चारण करता है (तज्जपः)। (२) **तम्**=उस **नाकम्**=सुखस्वरूप (दुःखरहित) **चित्रशोचिषम्**=अद्भुत दीप्तिवाले **मन्द्रम्**=आनन्दमय **परः**-सब अन्धकारों से परे विद्यमान (तमसः परस्तात्) प्रभु को **मनीषया**=बुद्धि से **मन्यसे**=मनन करता है, उसका चिन्तन करता है (तदर्थ भावनम्)। मुख से बोले गये नामों का बुद्धि से अर्थभावन करनेवाला होता है।

भावार्थ—उत्तम यज्ञादि कर्मों में प्रभु के नामों का ही मुख से उच्चारण करें। उन्हीं नामों के बुद्धि द्वारा अर्थभावन से उस आनन्दस्वरूप प्रभु का ही चिन्तन करें।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

तुजा, गिरा (सामर्थ्य-ज्ञान)

अस्य वासा उ अर्चिषा य आयुक्त तुजा गिरा। दिवो न यस्य रेतसा बृहच्छोचन्त्यर्चयः॥ ३॥

(१) **अस्य**-इस अग्नि नामक प्रभु की **अर्चिषा**-ज्ञानज्वाला व दीप्ति से ही **वै**=निश्चयपूर्वक **असौ**=वह जो जीव है वह **उ**=भी **तुजा**=शक्ति से जगद् रक्षण समर्थ बल से तथा **गिरा**-ज्ञान की वाणियों से **आयुक्तः**=युक्त होता है। (२) **दिवः न**=सूर्य के समान **यस्य रेतसा**=जिसकी शक्ति से **बृहत्**=बहुत अधिक **अर्चयः**=दीप्तियाँ **शोचन्ति**=चमकती हैं। प्रकृति के सब पिण्डों में उस प्रभु की ही दीप्ति है जिस जीव को यह दीप्ति प्राप्त होती है वह शक्ति व ज्ञान से चमक उठता है। जिस प्रकृति पिण्ड में यह पहुँचती है, वह दिव्य बन जाता है। संक्षेप में 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'।

भावार्थ—प्रभु की दीप्ति उपासक को सामर्थ्य व ज्ञान से युक्त करती है। प्रकृति पिण्डों को दिव्य बनाती है।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'विचेताः दस्म' प्रभु का आराधन

अस्य क्रत्वा विचेतसो दस्मस्य वसु रथ आ। अधा विश्वासु हव्योऽग्निर्विक्षु प्र शंस्यते॥ ४॥

(१) **विचेतसः**-विशिष्ट ज्ञानवाले, सर्वज्ञ, निरतिशय ज्ञानवाले, **दस्मस्य**-दर्शनीय व सब दुःखों के नाशक **अस्य**-इस प्रभु के **क्रत्वा**=सामर्थ्य से, प्रभु द्वारा प्राप्त शक्ति से उपासक लोग

रथे=इस शरीर रथ में **वसु**=सब वसुओं को, धनों को 'तेज, वीर्य, बल, ओज, ज्ञान व सहस्' रूप सम्पत्ति को **आ** (दधति)=धारण करते हैं। 'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि०'। ये प्रभु सर्वातिशायी ज्ञानवाले हैं, इस ज्ञान के द्वारा ही वे हमारे दुःखों को दूर करते हैं। अविद्या ही तो सब क्लेशों की जननी है। (२) **अधा**-अब सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले वे प्रभु **हव्यः**=पुकारने योग्य होते हैं, आराधनीय होते हैं। प्रभु से ही सब याचना की जाती है। वे **अग्निः**=हमारी सब प्रकार उन्नतियों के साधक प्रभु **विश्वासु विक्षु**=सब प्रजाओं में **प्रशस्यते**=प्रशंसनीय होते हैं। सब प्रभु का ही शंसन व स्तवन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्रदत्त सामर्थ्य से ही सब वसुओं की प्राप्ति होती है। सो प्रभु ही सदा शंसनीय व आराधनीय होते हैं।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

शक्ति-प्राप्ति व संग्राम विजय

नू नु इद्धि वार्यमासा सचन्त सूरयः ।
ऊर्जो नपादभिष्टये पाहि शग्धि स्वस्तय उतैधि पृत्सु नो वृधे ॥ ५ ॥

(१) **नु**=अब **नः सूरयः**=हमारे में से विद्वान्-ज्ञानी-पुरुष **इत् हि**-निश्चय से **वार्यम्**=वरणीय धनों को **आसा**=(आस्येन) स्तुति के द्वारा अथवा **आसा** (आस् उपवेशने)=उपासना के द्वारा **सचन्त**=सेवन करते हैं। स्तुति व उपासना उन ज्ञानियों के लिये सब वरणीय धनों को देनेवाली होती है। (२) **ऊर्जोनपात्**=शक्ति को न गिरने देनेवाले प्रभो! **अभिष्टये**=हमें शत्रुओं पर आक्रमण के लिये **पाहि**=रक्षित करिये और **शग्धि**=शक्तिशाली बनाइये। **उत**=और इस प्रकार **स्वस्तये**=कल्याण के लिये तथा **पृत्सु**=संग्रामों में **नः वृधे**=हमारे वर्धन के लिये **एधि**=होइये।

भावार्थ—प्रभु ही सब वरणीय धनों को देते हैं। प्रभु ही शक्ति को देकर हमें संग्रामों में विजयी बनाते हैं।

प्रभु की उपासना से 'शक्ति व ज्ञान' दोनों का विस्तार करनेवाला यह 'द्वि-त' (द्वौ तनोति) बनता है। अपने इन्द्रियाश्वों को (शक्ति से कर्मेन्द्रियों को, ज्ञान से ज्ञानेन्द्रियों को) शुद्ध बनानेवाला यह 'मृक्त-वाहा' कहलाता है। परिणामतः 'आत्रेय' तो होता ही है, 'काम-क्रोध-लोभ' से परे। यह स्तवन करता हुआ कहता है—

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**द्वितो मृक्तवाहा आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु पूजन से दिन का प्रारम्भ

प्रातरग्निः पुरुप्रियो विशः स्तवेतातिथिः । विश्वानि यो अमर्त्यो हव्या मर्तेषु रण्यति ॥ १ ॥

(१) हे **विशः**=प्रजाओ! **प्रातः**=दिन के प्रारम्भ में यह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **स्तवेत**=तुम्हारे से स्तुति किया जाये। जो प्रभु **पुरुप्रियः**=उत्तमोत्तम वरणीय (हव्य) पदार्थों के द्वारा हमें प्रीणित करनेवाले हैं। **अतिथिः**=(अत सातत्यगमने) हमें सुन्दर प्रेरणाओं को देने के लिये निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। (२) ये प्रभु वे हैं **यः**=जो कि **अमर्त्यः**=अमरणधर्मा होते हुए **मर्तेषु**=मनुष्यों में **विश्वानि**=सब **हव्या**=हव्य पदार्थों को **रण्यति**=(कामयते) चाहते हैं। हमें प्रभु सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं, यदि हम अपने को उनका पात्र बनाते हैं।

भावार्थ—हम सर्वप्रथम प्रभु का ही स्तवन करें। प्रभु हमारे अतिथि हैं, हमारे लिये सब हव्य

पदार्थों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—द्वितो मृक्तवाहा आत्रेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'द्वित वृक्तवाहस्' को शक्ति की प्राप्ति

द्वितार्य मृक्तवाहसे स्वस्य दक्षस्य मंहना। इन्दुं स धत्त आनुषक्स्तोता चित्ते अमर्त्य ॥ २ ॥

(१) **द्विताय**=ज्ञान व शक्ति का विस्तार करनेवाले अथवा काम-क्रोध को वश में करनेवाले (द्वौ तरति, तौ हि अस्यपरिवन्धिनौ) किनके लिये, जो कि **मृक्तवाहसे**-इन्द्रियाश्वों को शुद्ध करनेवाला हुआ है, उसके लिये हे प्रभो! आप **स्वस्य दक्षस्य**-अपने बल के **मंहना**-देने के लिये होइये (दानाय भव सा०)। 'द्वित मृक्तवाहस्' को आप अपनी शक्ति दीजिये। यह 'द्वित मृक्तवाहस्' प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न बनता है। (२) हे **अमर्त्य**-अमरणधर्मा प्रभो! **ते स स्तोता**=आपका वह स्तोता **चित्**-निश्चय से **आनुषक्**-निरन्तर **इन्दुम्**-शक्ति को देनेवाले सोम को **धत्ते**-धारण करता है। प्रभु स्तवन से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और इस प्रकार सोम के रक्षण का संभव होता है। यह सुरक्षित सोम ही वस्तुतः शक्ति सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—काम-क्रोध को तैरनेवाले शुद्धेन्द्रिय पुरुष को प्रभु की शक्ति प्राप्त होती है। यह प्रभु का स्तोता सोम-रक्षण के द्वारा शक्तिशाली बनता है।

ऋषिः—द्वितो मृक्तवाहा आत्रेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिगुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

'दीर्घ-पवित्र-दीप्त' जीवन

तं वो दीर्घायुशोचिषं गिरा हुवे मघोनाम्। अरिष्टो येषां रथो व्यश्वदावन्नीयते ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! **मघोनाम्** (मघः मख) यज्ञशील पुरुषों के **दीर्घायुशोचिषम्**-दीर्घ जीवन को पवित्र व दीप्त करनेवाले **तं वः** ('युष्मान्' बहुवचनं आदरार्थ त्वाम्)-उन आपको **गिरा**-इन स्तुतिवाणियों के द्वारा **हुवे**-पुकारता हूँ। हे प्रभो! आपकी आराधना करके मैं भी उन यज्ञशील पुरुषों में होने का प्रयत्न करता हूँ, जिनके कि जीवन को आप 'दीर्घ पवित्र व दीप्त' बनाते हैं। (२) हे **अश्वदावन्**-इन्द्रियाश्वों को देने व उनका शोधन करनेवाले प्रभो! (दा दाने, दैप् शोधने) मैं उन यज्ञशील पुरुषों में होने का प्रयत्न करता हूँ **येषाम्**=जिनका **अरिष्टः रथः**=न हिंसित होनेवाला शरीर रथ रोगों से न आक्रान्त होनेवाला यह शरीर, **वि ईयते**-विशिष्ट रूप से मार्ग पर गतिवाला होता है। इनमें गिना जाने पर मेरा भी शरीर दीर्घ, पवित्र व दीप्त बनेगा ही।

भावार्थ—प्रभु यज्ञशील पुरुषों के जीवन को दीर्घ, पवित्र व दीप्त बनाते हैं।

ऋषिः—द्वितो मृक्तवाहा आत्रेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ज्ञान-स्तुति-यज्ञ=पवित्रता

चित्रा वा येषु दीधितिरासन्नुक्था पान्ति ये। स्तीर्णं बर्हिः स्वर्णरे श्रवांसि दधिरे परि ॥ ४ ॥

(१) **येषु**-जिनमें **वा**-निश्चय से **चित्रा**-अद्भुत **दीधितिः** ज्ञानदीप्ति होती है, **ये**-जो **आसन्**=अपने मुखों में **उक्था**-स्तोत्रों को **पान्ति**-रक्षित करते हैं। इन पुरुषों का **स्वर्णरे**=यज्ञों में (स्वः नृ नये) **बर्हिः**-वासनाशून्य हृदयरूप आसन **स्तीर्णम्**=बिछाया जाता है। मस्तिष्क में ज्ञान और हृदय में स्तुति के होने पर ये हाथों से यज्ञों को करते हुए हृदय को वासनाशून्य (-बर्हिस्) बनाते हैं। (२) ये लोग **परि** सर्वतः **श्रवांसि**-(fame, glory) यशों को **दधिरे**=धारण करते हैं। ऐसे लोग सर्वत्र यशस्वी होते हैं। वस्तुतः 'मस्तिष्क में ज्ञान, मुख में प्रभु के नाम तथा हाथों में यज्ञ' ये सब चीजें मिलकर हृदय को पूर्ण पवित्र बना देती हैं। यह पवित्र हृदयासन प्रभु के आसीन

होने के योग्य होता है।

भावार्थ—'ज्ञान, स्तुति व यज्ञ' ये सब मिलकर हमारे हृदय को पूर्ण पवित्र बनाते हैं।

सूचना—यहाँ यज्ञ को 'स्वर्णः' कहा है। यज्ञ स्वर्ग का साधन है 'स्वर्गकामो यजेत'। यज्ञों से हमारे घर स्वर्गोपम बनते हैं। 'एष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्'=यज्ञ सब कामनाओं को पूर्ण करता है।

ऋषिः—**द्वितो मृक्तवाहा आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

पचास वर्ष पर्यन्त माता आदि के संरक्षण में

ये मे पञ्चाशतं ददुरश्वानां सधस्तुति ।
द्युमदग्ने महि श्रवो बृहत्कृधि मघोनां नृवदमृत नृणाम्॥ ५॥

(१) वैदिक संस्कृति में पच्चीस वर्ष तक 'माता, पिता व आचार्य' देव होते हैं, ये एक बालक को चरित्रवान्, सदाचारी व शिक्षित करके एक सुन्दर युवक बना देते हैं। अब पचास वर्ष तक समय-समय पर आनेवाले अतिथि उस युवक के जीवन को प्रशस्त बनाये रखने का ध्यान करते हैं। इस आश्रम में ये अतिथि ही देव होते हैं। पचास वर्ष के बाद एक वनस्थ प्रभु को ही अपना देव बनाता है। (२) सो कहते हैं कि **ये**=जिन 'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' रूप देवों ने **मे**=मेरे लिये **सधस्तुति**-प्रभु के स्तवन के साथ **पञ्चाशतम्**-पचास वर्ष पर्यन्त **अश्वानां ददुः**=इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराया। हे **अग्ने**=अग्रणी **अमृत**=अविनाशी प्रभो! उन **मघोनां नृणाम्**=यज्ञशील पुरुषों के **श्रवः**=ज्ञान को **द्युमत्**=ज्योतिर्मय, **बृहत्**-वृद्धिवाला, **महि**-महान् व **नृवत्**=पौरुषवाला **कृधि**=करिये। वस्तुतः इन यज्ञशील पुरुषों ने ही हमारे इन्द्रियाश्वों को प्रशस्त बनाना है। पचास वर्ष तक इनके संरक्षण में ही हम जीवन के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ते हैं तथा भटकते नहीं। ये हमें प्रभु-स्तवन की ओर प्रवृत्त करते हैं। प्रभु-स्तवन ही हमारे इन्द्रियाश्वों को पवित्र करता है।

भावार्थ—माता, पिता, आचार्य व अतिथि पचास वर्ष पर्यन्त हमारे जीवनों को उत्तम बनाने के लिये यत्नशील होते हैं। प्रभु इनके ज्ञान का वर्धन करें, ताकि ये अपने कार्य को अधिक सौन्दर्य से कर सकें।

गत सूक्त के अन्तिम मन्त्र के अनुसार माता, पिता, आचार्य व अतिथियों के उत्तम संरक्षण को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति जीवन में ठीक ही चुनाव करता है। श्रेय व प्रेय में से श्रेय का ही वरण करता है। 'कृणोति' ठीक चुनाव करता है सो 'वव्रि' कहलाता है। इस ठीक चुनाव के कारण इसका रूप उत्तम बना रहता है, इसलिए भी यह 'वव्रि' कहलाता है (वव्रि=रूपम् नि० ३।८) यह वव्रि 'आत्रेय' है, तीनों काम-क्रोध व लोभ की वृत्तियों से दूर। इसका जीवन अगले मन्त्र में चित्रित हुआ है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वव्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उत्तरोत्तर उत्कृष्ट अवस्था

अभ्यवस्थाः प्र जायन्ते प्र वव्रेर्वव्रिश्चिकेत। उपस्थे मातुर्वि चष्टे॥ १॥

(१) **वव्रेः**=ठीक चुनाव करनेवाले पुरुष की **अवस्थाः**=अवस्था में **अभि**=लक्ष्य का ध्यान करते हुए **प्रजायन्ते**-प्रकृष्ट प्रादुर्भाववाली होती हैं। पाँच वर्ष तक इसका जीवन चरित्र की शिक्षा का ग्रहण करता हुआ चरित्रवान् बन जाता है। अब यह आठ वर्ष तक शिष्टाचार का पाठ पढ़ता

है और पच्चीस वर्ष तक खूब विद्याभ्यासवाला होता है। इस प्रकार यह **वव्रिः**=उत्तम रूपवाला (वव्रि=रूप) **प्र चिकेत**-खूब ही ज्ञानवाला समझदार बन जाता है। (२) यह गृहस्थ में प्रवेश करने पर भी **मातुः**=वेदमाता की **उपस्थे**=गोद में रहता हुआ, नित्य स्वाध्याय को करता हुआ **विचष्टे**-विशिष्ट ज्ञानवाला बनता है, सब वस्तुओं को ठीक रूप में ही देखता है।

भावार्थ—हम 'वव्रि' बनकर उत्तरोत्तर उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करें। सदा वेदमाता की गोद में रहते हुए तत्त्वदृष्टि को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वव्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सद्गृहस्थ

जुहुरे वि चितयन्तोऽनिमिषं नृम्णं पान्ति। आ दृळ्हां पुरं विविशुः ॥ २ ॥

(१) गृहस्थ में आने पर गतमन्त्र के वव्रि **विचितयन्तः**=प्रभु के चिन्तन से व वेदमाता की उपासना से (स्वाध्याय से) विशिष्ट चेतनावाले होते हुए ये **जुहुरे**-सदा अग्निहोत्र करनेवाले होते हैं 'जरामर्यं वा सत्रं यदग्निहोत्रम्'। इस प्रकार ध्यान व यज्ञों में प्रवृत्त ये पुरुष **अनिमिषम्**=बिना किसी प्रमाद के निरन्तर **नृम्णम्**=बल का **पान्ति**=रक्षण करते हैं। (२) इस प्रकार बल का रक्षण करते हुए ये **दृढां पुरम्**-बड़े दृढ़ इस शरीर में **आविविशुः**-प्रविष्ट होते हैं। अपने शरीर को बड़ा दृढ़ बनाये रखते हैं। 'अश्मा भवतु नस्तनूः'। इनका शरीर रोगों के लिये एक दुर्भेद्य दुर्ग के समान होता है, रोग उसमें प्रविष्ट नहीं हो पाते।

भावार्थ—हम ध्यान करें, यज्ञशील हों। अपने बल का रक्षण करें, शरीर को रोगों के लिये दुर्भेद्य दुर्ग बनायें।

ऋषिः—**वव्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'निष्कग्रीव-बृहदुक्थ-वाजयु'

आ श्वैत्रेयस्य जन्तवो द्युमद्वर्धन्त कृष्टयः। निष्कग्रीवो बृहदुक्थ एना मध्वा न वाजयुः ॥ ३ ॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित **श्वैत्रेयस्य**-(श्वित्र-शुद्ध हृदयान्तरिक्ष) शुद्ध हृदयान्तरिक्षवाले पुरुष के **जन्तवः**=सन्तान (जायन्ते इति) **द्युमत्**=ज्योतिर्मय होते हुए **आवर्धन्त**=सर्वथा वृद्धि को प्राप्त होते हैं। **कृष्टयः**=ये खूब ही श्रमशील व ज्ञानी होते हैं (कृष्टिः=a learned man)। वस्तुतः माता-पिता के संस्कारों को लेकर ही तो सन्तान होते हैं। (२) यह **श्वैत्रेय** (-शुद्ध हृदयवाला पुरुष)-स्वयं भी **निष्कग्रीवः**=ग्रीवा में स्वर्णहार धारण किये हुए, स्वर्ण हिरण्य=ज्ञान-विज्ञान से अलंकृत गर्दनवाला, **बृहद् उक्थः**=खूब ही स्तोत्रोंवाला **च**=तथा **एना मध्वा**-इस सोम के द्वारा (वीर्यशक्ति के द्वारा) **वाजयुः**-शक्ति को अपने साथ जोड़ने की कामनावाला होता है। यह श्वैत्रेय ज्ञानों को गर्दन में धारण किये हुए, स्तुतिशील व शक्ति-सम्पन्न होता है। तभी तो इसके सन्तान भी ज्योतिर्मय व श्रमशील होते हैं।

भावार्थ—जब माता-पिता 'श्वैत्रेय' (शुद्ध जीवनवाले) होते हैं तो उनके सन्तान ज्योतिर्मय श्रमशील होते हैं। हम अपने जीवन को ज्ञान शक्ति व स्तुति से सम्पन्न बनायें।

ऋषिः—**वव्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

माता-पिता के निरीक्षण में

प्रियं दुग्धं न काम्यमजामि जाम्योः सचा। घर्मो न वाजजठरोऽदब्धः शश्वतो दभः ॥ ४ ॥

(१) **जाम्योः सचा**-जन्म देनेवाले माता-पिता के साथ उनके सम्पर्क में रहता हुआ मैं

प्रियम्=प्रीणित करनेवाले **दुग्धं न**=दुग्ध के समान **काम्यम्**=चाहने योग्य ज्ञान को **अजामि**=प्राप्त होता हूँ (अज गतौ)। माता-पिता ने निरीक्षण में रहनेवाला सन्तान अवाञ्छनीय बातों को नहीं सीखता। वह कमनीय ज्ञान को ही प्राप्त करता है। (२) **घर्मः न**=यह (sun-shine) सूर्य के प्रकाश के समान होता है, ज्ञान से चमकता है। **वाजजठरः**=शक्ति को अपने जठर में लिये हुए होता है, शक्तिशाली होता है। **अदब्धः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं से हिंसित नहीं होता। **शश्वतः**=प्लुतगतिवाला होता है तथा **दभः**=शत्रुओं का हिंसक होता है। वस्तुतः यह निरन्तर क्रियाशीलता ही इसे शत्रुओं का संहार करने में समर्थ करती है।

भावार्थ—माता-पिता के निरीक्षण में रहनेवाला सन्तान उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करता है, प्रशस्त जीवनवाला होता है।

ऋषिः—**वव्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

भस्मना वायुना

क्रीळन्नो रश्म आ भुवः सं भस्मना वायुना वेविदानः।
ता अस्य सन्धृषजो न तिग्माः सुसंशिता वक्ष्यो वक्षणेस्थाः ॥ ५ ॥

(१) हे **रश्मे**=ज्ञानकिरणस्वरूप प्रभो! **भस्मना**=ज्ञानदीप्ति से तथा **वायुना**=क्रियाशीलता से **संवेविदानः**=सम्यग् ज्ञायमान होते हुए आप **क्रीडन्**=इस संसार की क्रीड़ा को करते हुए **नः आभुवः**=हमारे अभिमुख होइये। हम अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिये निरन्तर स्वाध्यायवाले हों। कभी भी आलस्य को जीवन में स्थान न दें। इस प्रकार आपके (प्रभु के) प्रकाश को देखनेवाले बनें तथा संसार की सब घटनाओं को प्रभु की लीला के रूप में देखें। (२) प्रभु की क्रीड़ा के उस रूप में संसार को देखने पर **ताः**=वे **अस्य**=इस प्रभु की **वक्षणेस्थाः**=अग्नि में स्थित (वक्षणं=in fire) **सुसंशिताः**=अतितीक्ष्ण **धृषजः**=शत्रुओं की धर्षिका **वक्ष्यः**=ज्वालाएँ भी **नतिग्माः**=इसके लिये अतीक्ष्ण **सन्**=हों। इसे अग्नि की ज्वालाओं में भी धर्मरक्षणार्थ जलना पड़े, तो यह उन ज्वालाओं से संतप्त नहीं होता, सहर्ष उनमें अपने शरीर को भस्म होने देता है।

भावार्थ—हम ज्ञानदीप्ति व क्रियाशीलता से प्रभु की लीला को देखनेवाले बनें। हमारे लिये अग्नि की ज्वालाएँ भी शान्त हों। इन्हें भी हँसते-हँसते सह सकें। इनमें भी प्रभु की क्रीड़ा का अनुभव करें।

ये व्यक्ति सदा सात्त्विक अन्न का प्रयोग करते हुए चित्तवृत्ति को राजस नहीं बनने देते। सो '**प्रयस्वन्तः**'=प्रकृष्ट भोजनवाले कहलाते हैं, ये **अत्रयः**='अत्रि' (अविद्यमानाः त्रयो यस्य) काम-क्रोध-लोभ से दूर होते हैं। ये प्रार्थना करते हैं कि—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रयस्वन्त आत्रेयाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

यशस्वी दिव्य ऐश्वर्य

यमग्ने वाजसातम त्वं चिन्मन्यसे रयिम्।
तं नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम् ॥ १ ॥

(१) हे **वाजसातम**=अधिक से अधिक शक्ति को देनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **यं चित्**=जिस भी **रयिम्**=ऐश्वर्य को **मन्यसे**=मान्यता देते हैं, उत्कृष्ट समझते हैं, **तम्**=उस ऐश्वर्य को **नः**=हमारे लिये **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के साथ **पनय**=(प्रापय) प्राप्त कराइये। हम आपकी

कृपा से ज्ञान व ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले हों। (२) हमें आप उस ऐश्वर्य को प्राप्त कराइये, जो कि **श्रवाप्य**=अत्यन्त यशस्वी है, हमारे यश का कारण बनता है तथा **देवत्रा आ युजम्**=देवों में सम्पर्कवाला है, हमें दिव्य गुणों की ओर ले चलता है। वह ऐश्वर्य जो हमें विलास में फँसानेवाला नहीं तथा जो हमारे अपयश का कारण नहीं बनता। उत्तम साधनों से कमाया जाने के कारण व दानादि में विनियुक्त होने के कारण वह 'श्रवाय्य' हो तथा विलास में व्ययित न होता हुआ वह 'दव युज्' हो।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें वह धन दीजिये जो कि यशस्वी व दिव्यगुणों का प्रापक हो।

ऋषिः—**प्रयस्वन्त आत्रेयाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

द्वेष व कुटिलता से दूर

ये अग्ने नेरयन्ति ते वृद्धा उग्रस्य शवसः। अप द्वेषो अप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिरे ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **ये**-जो भी व्यक्ति **न ईरयन्ति** (ईर् go away) धर्म के मार्ग से, गतमन्त्र में वर्णित 'श्रवाय व देवत्रा युज् रयि की प्राप्ति के मार्ग से' विचलित नहीं होते, **ते**=वे **उग्रस्य शवसः**=शत्रु विनाशक बल के दृष्टिकोण से **वृद्धाः**=बढ़े हुए होते हैं। धर्ममार्ग पर दृढ़ता से चलनेवालों का बल बढ़ता ही है। (२) ये धर्ममार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति **अन्यव्रतस्य**=वेदोपदिष्ट व्रतों से अन्य व्रतवाले, अवैदिक व्रतवाले, पुरुष के **द्वेषः अप सश्चिरे** द्वेष को अपने से दूर करते हैं, **अप ह्वरः**=कुटिलता व हिंसा को अपने से दूर करते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! हम धर्ममार्ग पर चलते हुए अपने बल को बढ़ाएँ तथा द्वेष तथा कुटिलता से दूर हों।

ऋषिः—**प्रयस्वन्त आत्रेयाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु का वरण-प्रभु का स्तवन

होतारं त्वा वृणीमहेऽग्ने दक्षस्य साधनम्। यज्ञेषु पूर्व्यं गिरा प्रयस्वन्तो हवामहे ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने** परमात्मन्! **दक्षस्य साधनम्**-सब उन्नतियों के सिद्ध करनेवाले, **होतारम्**-सब साधनों के देनेवाले **त्वा**=आपको **वृणीमहे**-हम वरते हैं। प्रभु का वरण हमें शक्ति-सम्पन्न बनाता है और हमें उन्नति पथ पर ले चलता है। प्रकृति का वरण ही हमारी अवनति व शक्ति ह्रास का कारण बनता है। (२) **प्रयस्वन्तः** उत्तम भोजनवाले होते हुए हम सात्त्विक वृत्तिवाले बनकर, **गिरा**=स्तुति वाणियों से **यज्ञेषु**=यज्ञों में **पूर्व्यम्**-पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु की ही आराधना करते हैं। इस प्रभु की कृपा से ही हमारे यज्ञ पूर्ण होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का वरण करते हैं, प्रभु का ही स्तवन करते हैं। प्रभु कृपा से ही हमें शक्ति प्राप्त होती है और हमारे यज्ञ पूर्ण होते हैं।

ऋषिः—**प्रयस्वन्त आत्रेयाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

आराधन

इत्था यथा त ऊतये सहसावन्दिवेदिवे ।
राय ऋतायं सुक्रतो गोभिः ष्याम सधमादो वीरैः स्याम सधमादः ॥ ४ ॥

(१) हे **सहसावन्**=शक्ति सम्पन्न प्रभो! **इत्था**=आप ऐसी कृपा करिये कि **यथा**=जिससे हम **दिवे दिवे**-प्रतिदिन **ते ऊतये**=आपकी रक्षा के पात्र हों, आप से रक्षणीय हों। **राये**=हम

उस धन के लिये हों, जो कि (रा दाने) दानादि उत्तम क्रियाओं में विनियुक्त होता है। **ऋताय**=हम ऋत के लिये हों, अनृत से दूर हों। सब कार्यों को ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाले हों (ऋत=right)। (२) हे **सुक्रतो**=उत्तम कर्मों व प्रज्ञानोंवाले, शक्ति सम्पन्न प्रभो! (क्रतु-यज्ञ, ज्ञान, शक्ति) हम घरों में यज्ञादि कर्मों को करते हुए, स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को बढ़ाते हुए, तथा शक्ति-सम्पन्न होते हुए **गोभिः**=गौओं के साथ **सधमादः**=मिलकर आनन्द को प्राप्त करें तथा **वीरैः**=वीर सन्तानों के साथ **सधमादः स्याम**=मिलकर आनन्द को प्राप्त करें। हमारे घरों में गौवें हों और वीर सन्ताने हों। 'गौ' का अर्थ वेदवाणी भी है। हमारे घरों में वेदवाणी का उच्चारण हो और वीरता बनी रहे। ये ज्ञान और शक्ति हमारे जीवन को आनन्दित करें।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम प्रभु की रक्षा के पात्र हों। धन को प्राप्त करें। जीवन को ऋतमय बनायें। हमारे घरों में गौवें हों और वीर सन्तान हों।

अगले सूक्त का ऋषि 'ससः' है (ससं इति अन्न नाम नि० २।७), प्रशस्त अन्नवाला (ससं अस्य अस्ति इति)। पिछले सूक्त के ऋषि 'प्रयस्वन्तः' से इसकी भावना मिलती जुलती ही है। उत्तम वानस्पतिक अन्नों का सेवन करता हुआ यह 'सस' आत्रेय होता है, काम-क्रोध-लोभ से दूर। यह आराधना करता है कि—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सस आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

निधीमहि-समिधीमहि

मनुष्वत्त्वा नि धीमहि मनुष्वत्समिधीमहि। अग्ने मनुष्वदङ्गिरो देवान्देवयते यज ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मनुष्यत्**=मनु की तरह एक विचारशील पुरुष की तरह **त्वा**=आपको **निधीमहि**=अपने हृदयों में स्थापित करते हैं। **मनुष्वत्**=एक विचारशील पुरुष की तरह **समिधीमहि**=अपने हृदयों में आपको समिद्ध करते हैं। ध्यान द्वारा आपको हृदयों में स्थापित करने के लिये यत्न करते हैं तो स्वाध्याय द्वारा आपकी ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करके आपके प्रकाश को देखने का प्रयत्न करते हैं। (२) हे **अंगिरः**=हमारे अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले प्रभो! **मनुष्वत्**=एक विचारशील पुरुष की तरह **देवयते**=दिव्य गुणों की कामनावाले मेरे लिये **देवान् यज**=दिव्य वृत्ति के पुरुषों को आप मेरे साथ संगत करिये ताकि उनके संग से मेरे अन्दर भी दिव्य गुणों का वर्धन हो।

भावार्थ—हम ध्यान द्वारा प्रभु को हृदयों में स्थापित करें, स्वाध्याय द्वारा उनके प्रकाश को देखें। प्रभु कृपा से दिव्य पुरुषों के संग से देववृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**सस आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

स्रुचः-सर्पिः

त्वं हि मानुषे जनेऽग्ने सुप्रीत इध्यसे। स्रुचस्त्वा यन्त्यानुषक्सुजात सर्पिरासुते ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **मानुषे जने**=विचारशील पुरुष में **सुप्रीतः**=उत्तम प्रीतिवाले होते हुए **इध्यसे**=दीप्त होते हैं। विचारशील पुरुष ही अपने हृदय में प्रभु के प्रकाश को देख पाता है। (२) हे **सुजात**=उत्तम प्रादुर्भाव के कारणभूत (शोभनं जातं यस्मात्) प्रभो! **स्रुचः**=स्तुतिवाणियाँ **आनुषक्**=निरन्तर **त्वा**=आपको **यन्ति**=प्राप्त होती हैं। हम सदा आपका स्तवन करते हैं। हे **आसुते**=समन्तात् ऐश्वर्यवाले प्रभो! **सर्पिः**=(सर्पि=उदक=(रेतःकण)

यह शरीर में ही स्थित रेत:कण आपको प्राप्त होते हैं। अर्थात् शरीर में सुरक्षित हुए हुए ये रेत:कण ज्ञानाग्नि को दीप्त करके मुझे आपका दर्शन कराते हैं।

भावार्थ—हम विचारशील बनें। हमारे मुख से स्तुतिवाणियाँ उच्चरित हों। हम रेत:कणों के रक्षण से ज्ञानाग्नि को दीप्त करके आपको देखनेवाले बनें, समन्तात् आपके ऐश्वर्य का अनुभव करें।

ऋषि: —**सप्त आत्रेय:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द: —**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वर: —**ऋषभ:** ॥

प्रभु रूप दूत की पूजा (दूत-देव)

त्वां विश्वे॑ स॒जोष॑सो दे॒वासो॑ दू॒तम॑क्रत। स॒प॒र्यन्त॑स्त्वा कवे य॒ज्ञेषु॑ दे॒वमी॑ळते ॥ ३ ॥

(१) **विश्वे**-सब **सजोषस:**-मिलकर प्रीतिपूर्वक कर्त्तव्यों का पालन करनेवाले (जुष्-प्रीति सेवनयो:) **देवास:** देववृत्ति के पुरुष **त्वाम्** आपको ही **दूतम्**-ज्ञान संदेश का प्राप्त करानेवाला **अक्रत**=करते हैं। आपसे ही ज्ञान-सन्देश को सुनते हैं। (२) हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन्! सर्वज्ञ प्रभो! **यज्ञेषु**=यज्ञों में, लोकहित के लिये किये जानेवाले श्रेष्ठतम कर्मों में **त्वा सपर्यन्त:**=आपका पूजन करते हुए **देवम्**-प्रकाशमय आपको **ईडते**-आराधित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान सन्देश को प्राप्त करानेवाले 'दूत' हैं। प्रभु ही हमें यज्ञों में प्रेरित करनेवाले 'देव' हैं (यज्ञस्य देवम्)।

ऋषि: —**सप्त आत्रेय:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द: —**निचृद्बृहती** ॥ स्वर: —**मध्यम:** ॥

'ऋतस्य-ससस्य' योनिमासदः

दे॒वं वो॑ देवय॒ज्यया॒ग्निमी॑ळीत॒ मर्त्यः॑ ।
समि॑द्धः शुक्र दीदिह्यृ॒तस्य॒ योनि॒मास॑दः स॒सस्य॒ योनि॒मास॑दः ॥ ४ ॥

(१) **मर्त्य:**-मनुष्य **व:** तुम सब के **देवम्**=प्रकाशक **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **देवयज्यया**=देवयज्ञ के द्वारा **ईडीत**-उपासित करे। यज्ञों के द्वारा ही प्रभु का उपासन होता है। (२) हे प्रभो! **समिद्ध:**-ज्ञान प्राप्ति के द्वारा हृदय में समिद्ध किये गये **शुक्र:**=दीप्तिमय आप **दीदिहि**-प्रकाशित होइये। मेरे हृदय में आपका प्रकाश हो। **ऋतस्य योनिम्**=ऋत के घर में **आसद:**-आप आसीन होइये। **ससस्य योनिम्**-वानस्पतिक भोजन का सेवन करनेवाले के घर में **आसद:**-आप आसीन होइये। प्रभु का निवास वहीं होता है जहाँ सब कार्य 'ऋत' पूर्वक हों तथा जहाँ क्रूरता व हिंसा से प्राप्य भोजनों का स्थान न हो।

भावार्थ—प्रभु को हम यज्ञों द्वारा पूजित करते हैं। ऋत का पालन करते हुए, वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करते हुए हम प्रभु को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार 'ऋत का उपासक' 'वानस्पतिक अन्नों का सेवक' यह पुरुष 'विश्वसामा' (विश्व सामयस्य) अत्यन्त शान्त स्वभाव का बनता है। आत्रेय तो होता ही है। यह प्रभु की आराधना इस प्रकार करता है—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषि: —**विश्वसामा आत्रेय:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द: —**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वर: —**गान्धार:** ॥

होता-मन्द्रतमः

प्र वि॒श्वसामन्नत्रि॒वदर्चा॑ पाव॒कशो॑चिषे। यो अ॑ध्व॒रेष्वीड्यो॒ होता॑ म॒न्द्रत॑मो वि॒शि ॥ १ ॥

(१) हे **विश्वसामन्**-शरीर, मन व मस्तिष्क में 'काम-क्रोध-लोभ' के विनाश के द्वारा

शान्ति को उत्पन्न करनेवाले! तू **अत्रि-वत्**=‘काम क्रोध-लोभ’ से रहित पुरुष की तरह **पावकशोचिषे**=पवित्र दीप्तिवाले प्रभु के लिये **प्र अर्चा**=पूजा को करनेवाला हो। तू वासनाओं को विनष्ट करने का प्रयत्न करता हुआ प्रभु-पूजन करनेवाला बन। (२) उस प्रभु का तू पूजन कर **यः**=जो कि **अध्वरेषु**-हिंसारहित कर्मों में **ईड्यः**=उपासना के योग्य हैं। **होता**=सब हव्य पदार्थों के देनेवाले हैं और **विशि**=सब प्रजाओं में **मन्द्रतमः**=स्तुत्यतम हैं।

भावार्थ—हम काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठकर प्रभु का पूजन करें, प्रभु यज्ञों में पूज्य होते हैं, सब कुछ देनेवाले हैं, स्तुत्यतम हैं।

ऋषिः—**विश्वसामा आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

‘ध्यान’ व ‘निरन्तर यज्ञ’

न्य१ग्निं जातवेदसं दधाता देवमृत्विजम्। प्र यज्ञ एत्वानुषगद्या देवव्यचस्तमः ॥ २ ॥

(१) हे विश्वसामन्! आपको हम **अग्निम्**=अग्रणी, **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ, **देवम्**=प्रकाशमय, **ऋत्विजम्**=प्रत्येक ऋतु में उपासनीय प्रभु को **निदधाता**=अपने हृदय में स्थापित करें। (२) **अद्य**-आज हमें **यज्ञः**=यज्ञ **आनुषक्**-निरन्तर **प्र एतु**-प्रकर्षेण प्राप्त हो। यह यज्ञ **देवव्यचस्तमः**-देवों में अधिक से अधिक व्याप्तिवाला है। हमारे जीवनों में दिव्यगुणों का संचार करता हुआ यज्ञ हमें देव बनाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का हृदयों में ध्यान करें। यज्ञों को अपनाएँ। ये यज्ञ ही हमारे जीवनों में दिव्यगुणों को उत्पन्न करेंगे।

ऋषिः—**विश्वसामा आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रभु के वरणीय रक्षण का ध्यान

चिकित्विन्मनसं त्वा देवं मर्तास ऊतये। वरेण्यस्य तेऽवस इयानासो अमन्महि ॥ ३ ॥

(१) **मर्तासः**-मनुष्य **ऊतये**=रक्षण के लिये **चिकित्विन्मनसम्**-ज्ञानयुक्त मनवाले, अथवा हमारे मनों को ज्ञानयुक्त करनेवाले **देवम्**-प्रकाशमय **त्वा**-आपको **इयानासः**-प्राप्त होनेवाले होते हैं। आपकी उपासना ही हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाती है और हम आपके ही छोटे रूप-देवतुल्य बन पाते हैं। (२) **वरेण्यस्य**=वरने के योग्य **ते**=आपके **अवसः**=रक्षण का ही हम **अमन्महि**=मनन करते हैं। किस प्रकार अद्भुत उपायों से आप हमारा रक्षण करते हैं। उस आपके रक्षण का स्मरण करते हुए हम आपके उपासक बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों को प्रकाशमय व दिव्यवृत्तिवाला बनाते हैं। प्रभु का रक्षण ही वरणीय है।

ऋषिः—**विश्वसामा आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

स्तोमैः-गीर्भिः

अग्ने चिकिद्ध्य१स्य न इदं वचः सहस्य ।
तं त्वा सुशिप्र दम्पते स्तोमैर्वर्धन्त्यत्रयो गीर्भिः शुम्भन्त्यत्रयः ॥ ४ ॥

(१) हे **सहस्य**=सहसः सूनो! बल के पुत्र, बल के पुञ्ज, **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **नः**=हमारे **इदम्**=इस **वचः**=स्तुति वचन को आप **चिकिद्धि**=जानिये। हमारा यह स्तुतिवचन आपके लिये प्रिय हो। (२) हे **सुशिप्र**=शोभन हनु वा नासिकावाले! **दम्पते**=गृहपते प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **अत्रयः**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाले व्यक्ति **स्तोमैः**=स्तुतियों से **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। ये

अत्रयः=अत्रि **गीर्भिः**–ज्ञान की वाणियों से **शुम्भन्ति**=अपने हृदयों में आपको अलंकृत करते हैं। प्रभु को 'सुशिप्र' करने का भाव यह है कि प्रभु स्मरण से हम उत्तम हनु व नासिकावाले बनते हैं। 'शोभने हनू नासिके वा यस्मात्'। प्रभु स्मरण हमें अति भोजन की वृत्ति से दूर करके, असात्त्विक भोजनों से दूर करके, उत्तम जबड़ोंवाला बनाता है तथा प्राणायाम में प्रवृत्त करता है। इस प्रकार प्रभु स्मरण हमें 'सुशिप्र' बनाता है।

भावार्थ—हम स्तुतियों व ज्ञानवाणियों से प्रभु का अपने में धारण करें। इससे हम 'मितभोजी-प्राणायाम के अभ्यासी व शरीर गृह के रक्षक' बनेंगे।

गतमन्त्र के अनुसार जीवन के होने पर हम ज्ञानज्योतिवाले 'द्युम्न' होंगे, तत्त्वद्रष्टा 'विश्वचर्षणि' बनेंगे। यह द्युम्न विश्वचर्षणि प्रभु की आराधना करता हुआ कहता है—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**द्युम्नो विश्वचर्षणिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आन्तर व बाह्य शत्रुओं का विजय

अग्ने सहन्तमा भर द्युम्नस्य प्रासहा रयिम्।
विश्वा यश्चर्षणीरभ्यासा वाजेषु सासहत्॥ १ ॥

(१) **अग्ने**=हे परमात्मन्! **प्रासहा**=प्रकर्षेण शत्रुओं के अभिभावक बल से **सहन्तम्**–शत्रुओं को कुचलते हुए **रयिम्**–ऐश्वर्य को **द्युम्नस्य** इस ज्ञान-ज्योतिवाले पुरुष के लिये **आभर**–सर्वथा प्राप्त कराइये। वह धन, जो हमें विषयों की ओर न ले जाकर, काम क्रोध आदि को जीतनेवाला बनाता है, वही अभीष्ट धन है। (२) वह धन, **यः**–जो कि **आसा**=मुख में स्तोत्रों के द्वारा **वाजेषु**–संग्रामों में **विश्वाः**=सब **चर्षणीः**–शत्रुभूत मनुष्यों को **अभि सासहत्**–पराभूत करता है। वस्तुतः पूर्वार्ध में आन्तर शत्रुओं के पराभव का संकेत था, जो उत्तरार्ध में बाह्य शत्रुओं के पराभव का उल्लेख है। हम आन्तर व बाह्य दोनों शत्रुओं को जीतनेवाले बनें।

भावार्थ—हे प्रभो! हमारे लिये उस धन की प्राप्त कराइये, जो कि हमें आन्तर व बाह्य शत्रुओं का विजेता बनाये।

ऋषिः—**द्युम्नो विश्वचर्षणिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शत्रुनाशक धन-ज्ञानयुक्त बन

तमग्ने पृतनाषहं रयिं सहस्व आ भर। त्वं हि सत्यो अद्भुतो दाता वाजस्य गोमतः ॥ २ ॥

(१) हे **सहस्वः**=बलवन् **अग्ने**–परमात्मन्! **त्वम्**–आप **तम्**=उस **रयिम्**–धन को **आभर**=हमारे में सर्वथा धारण करिये जो कि **पृतनाषहम्**–शत्रु सेनाओं को कुचल देनेवाला है। अर्थात् ऐसा धन जो कि विषयों में न फँसकर हमें विषयों से दूर ले जानेवाला है। प्रभु ही हमारे लिये ऐसे धन को प्राप्त कराते हैं। (२) हे प्रभो! **त्वं हि**–आप ही **सत्यः**–सत्यस्वरूप हैं। **अद्भुतः**–अद्भुत हैं, मनुष्य ज्ञान शक्ति व धनवाले हैं। **गोमतः**–ज्ञान की वाणियोंवाले **वाजस्य**–बल के **दाता**=आप देनेवाले हैं। हमारे लिये ज्ञान व बल को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु शत्रु नाशक धन को देते हैं, ज्ञानयुक्त बल को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—द्युम्नो विश्वचर्षणिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सजोषसः-वृक्तबर्हिषः

विश्वे हि त्वा सजोषसो जनासो वृक्तबर्हिषः। होतारं सद्मसु प्रियं व्यन्ति वार्या पुरु ॥ ३ ॥

(१) **विश्वे**=सब **हि**=ही **सजोषसः**-मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्यों को करनेवाले, **वृक्तबर्हिषः**=(वृक्तं बर्हिः यैः) हृदयों से वासनारूप घास-फूस को उखाड़ देनेवाले **जनासः**=लोग, हे प्रभो! **त्वा**=आप से ही **वार्या**=वरणीय वस्तुओं की **पुरु**-खूब **व्यन्ति**=याचना करते हैं (व्यन्तिः याचन्ते सा०) (२) उन आपसे याचना करते हैं, जो आप **सद्मसु**=हमारे गृहों में **होतारम्**-सब वरणीय वस्तुओं के देनेवाले हैं, तथा **प्रियम्**-प्रीति व तृप्ति को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय बनने के लिये आवश्यक है कि हम मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्य करें, तथा वासनाओं का उद्बर्हण करनेवाले हों। प्रभु होता हैं, प्रिय हैं। वे ही सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—द्युम्नो विश्वचर्षणिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शत्रु-हिंसक बल-धन-ज्योति

स हि ष्मा विश्वचर्षणिरभिमाति सहो दधे।
अग्न एषु क्षयेष्वा रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत्पावक दीदिहि ॥ ४ ॥

(१) **सः**=वे **विश्वचर्षणिः**=विश्वद्रष्टा सबका ध्यान करनेवाले प्रभु **हि**=ही **अभिमाति**=शत्रुओं के हिंसक **सहः**=बल को **आ दधे स्म**=हमारे में धारण करते हैं। (२) **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! आप **एषु क्षयेषु**=गृहों में **रेवत्**=धनयुक्त होकर **नः**=हमारे लिये **दीदिहि**=दीप्त होइये। अर्थात् हमें आवश्यक धनों को प्राप्त कराइये। हे **पावक**=पवित्र करनेवाले, **शुक्र**=दीप्त प्रभो! **द्युमत्**=ज्योतिर्मय होकर हमारे लिये **दीदिहि**=दीप्त होइये।

भावार्थ—प्रभु हमें शत्रु-हिंसक बल, धन व ज्योति प्राप्त करायें।

इस प्रकार शत्रु-हिंसक बल को प्राप्त करके ये 'लौपायन' शत्रुओं का लोप करनेवाले बनते हैं। इन्द्रियों का रक्षण करते हुए 'गौपायन' होते हैं। इनके रक्षण के लिये ही **बन्धुः**=सदा यज्ञादि कर्मों में अपने को बाँधनेवाले, **सुबन्धुः**=उत्तम कार्यों में अपने को बाँधनेवाले होते हैं। ये **श्रुतबन्धु**-शास्त्रज्ञान से अपने को बाँधनेवाले व **विप्रबन्धु**=ज्ञानी पुरुषों के संगवाले बनते हैं। ये प्रार्थना करते है कि—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा ॥ देवता—अग्निः ॥
छन्दः—साम्नी बृहती ॥ स्वरः—माध्यमः ॥

अन्तमः त्राता

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**-आप **नः**=हमारे **अन्तमः**=(intimate) अन्तिकतम मित्र हैं। **उत**=और **त्राता**=रक्षक हैं। (२) **शिवः भव**=आप हमारा कल्याण करनेवाले होइये। **वरूथ्यः**=आप ही हमारे रक्षकों में सर्वोत्तम हैं। (वरूथ cover) आप से आच्छादित हुए-हुए हम सदा काम-क्रोध आदि से बचे रहते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे अन्तिकतम मित्र रक्षक व कल्याण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा**॥ देवता—**अग्निः**॥
छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**माध्यमः**॥

वसुः अग्निः

वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः॥ २॥

(१) हे प्रभो! आप ही **वसुः** हमारे बसानेवाले हैं। **अग्निः** आगे ले चलनेवाले हैं। **वसुश्रवाः**-निवास के लिये उपयोगी ज्ञान को देनेवाले हैं। (२) हे प्रभो! **अच्छा नक्षि**-मैं आपके अभिमुख प्राप्त होता हूँ अथवा आप ही हमें, कृपा करके, आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं और **द्युमत्तमं रयिं दाः**-अधिक से अधिक ज्योतिर्मय धन को देते हैं। प्रभु से प्राप्त धन हमें ज्ञान ज्योति के वर्धन में सहायक होता है।

भावार्थ—प्रभु 'वसु' हैं, 'अग्नि' हैं, 'वसुश्रवाः' हैं। वे हमें उस धन को प्राप्त करायें जो कि हमारे लिये ज्ञान-ज्योति के वर्धन में सहायक हो।

ऋषिः—**बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा**॥ देवता—**अग्निः**॥
छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**माध्यमः**॥

पाप चाहनेवाले से बचाव

स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो अघायतः समस्मात्॥ ३॥

१. **सः**=वे आप **नः बोधि**=हमें बोधयुक्त करिए, **हवं श्रुधी**=हमारी पुकार को सुनिए। २. **नः**=हमें **समस्मात्**=सब **अघायतः**=अघ की कामनावाले—हमारे साथ पापों व कष्टों को जोड़ने की कामनावाले—पुरुषों से **उरुष्या**=बचाइए। हम इन अघशंसों के चक्कर में पड़कर पापमय जीवनवाले न हो जाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान दें। हमारी इस आराधना को वे सुनें कि हम अघ (पाप) की कामनावाले पुरुषों के चक्कर में न फंस जाएँ।

ऋषिः—**बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा**॥ देवता—**अग्निः**॥
छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**माध्यमः**॥

सुम्न+सखा

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥ ४॥

१. हे **शोचिष्ठ**=अधिक-से-अधिक हमारे जीवन को पवित्र बनानेवाले, **दीदिवः**=ज्ञान दीप्ति से दीप्त प्रभो! **तं त्वा**=उन आपसे हम **सुम्नाय**=सुखप्राप्ति के लिए **नूनम्**=निश्चय से **ईमहे**=याचन करते हैं। २. इसी दृष्टिकोण से हम **सखिभ्यः**-उत्तम मित्रों की प्राप्ति के लिए याचना करते हैं। इस संसार में जीवनों के निर्माण में मित्रों का भी प्रमुख स्थान है। उत्तम मित्र को प्राप्त करके हम जीवन को उत्तम बना सकें।

भावार्थ—हे प्रभो! शुचिता व पवित्रता को प्राप्त कराके हमारे जीवनों को सुखी करिए तथा उत्तम मित्रों के द्वारा सदा हमारे ज्ञान का वर्धन करिए।

इन मित्रों के सम्पर्क में हम सदा उत्तम वसुओं को प्राप्त करनेवाले 'वसूयु' बनें। 'वसूयु' बनकर 'आत्रेय' हों—सब त्रिविध कष्टों से दूर। इन वसुयु आत्रेयों की प्रार्थना है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वसुः+ऋतावा

अच्छा वो अग्निमवसे देवं गासि स नो वसुः। रासत्पुत्र ऋषुणामृतावा पर्षति द्विषः॥ १॥

१. **वः**=तुम्हारे **अग्निम्**=अग्रणी—उन्नति के साधक **देवम्**=उस प्रकाशमय प्रभु की **अच्छा**=ओर तू **अवसे**=रक्षण के लिए आता है **गासि**=उस प्रभु का ही गायन करता है। **सः**=वह प्रकाशमय प्रभु ही **नः**=हमारा **वसुः**=बसानेवाला है। **रासत्**=वही हमारे लिए सब इष्ट पदार्थों को प्राप्त कराता है। २. **ऋषूणाम्**=यह तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों का **पुत्रः** (पुनाति त्रायते)=पवित्र करनेवाला व त्राण करनेवाला है। **ऋतावा**=ज्ञान के द्वारा उन ऋषियों में ऋत का (यज्ञ का—श्रेष्ठतम कर्म का) रक्षण करनेवाला है। यह हमें सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से **पर्षति**=पार करता है।

भावार्थ—हम प्रभु का गायन करें। प्रभु ही हमारा निवास उत्तम बनानेवाले हैं। वे हमें ज्ञान देकर अनृत से दूर करते हैं—द्वेषों से ऊपर उठाते हैं। हमारे जीवन में ऋत का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'होता-मन्द्रजिह्व-विभावसु'

स हि सत्यो यं पूर्वे चिद्देवासश्चिद्यमीधिरे। होतारं मन्द्रजिह्वमित्सुदीतिभिर्विभावसुम्॥ २॥

१. **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं, **यम्**=जिनको **पूर्वे**=अपना पालन व पूरक करनेवाले लोग **चित्**=ही **ईधिरे**=अपने हृदयों में दीप्त करते हैं। **यम्**=जिनको **देवासः**=देववृत्तिवाले लोग—ज्ञान से अपने हृदयों को प्रकाशमय बनानेवाले लोग—**चित्**=ही अपने में समिद्ध करते हैं। २. उस परमात्मा को ये पूर्व तथा देव समिद्ध करते हैं, जोकि **होतारम्**=सब-कुछ देनेवाले हैं। **मन्द्रजिह्वम्** (मंदनजिह्वं, मोदमानजिह्वं वा नि० ६.२३)=प्रशंसनीय व आनन्दप्रद वाणीवाले हैं—जिनसे उच्चरित वेदज्ञान स्तुत्य व सुखद है। **इत्**=निश्चय से **सुदीतिभिः**=उत्तम ज्ञानदीप्तियों से **विभावसुम्**=ज्ञानधनवाले हैं।

भावार्थ—हम अपना पालन व पूरण करते हुए देववृत्तिवाले बनकर हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करें। वे प्रभु 'होता-मन्द्रजिह्व व विभावसु' हैं। हमारे लिए भी वे प्रशंसनीय आनन्दप्रद ज्ञानधन को प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

धनों द्वारा 'शुभकर्म, ज्ञानवर्धन, पापवर्जन' (धीति, सुमति, सुवृक्ति)

स नो धीती वरिष्ठया श्रेष्ठया च सुमत्या। अग्ने रायो दिदीहि नः सुवृक्तिभिर्वरेण्य॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **रायः**=ऐश्वर्यों को **दिदीहि**=दीजिए। ताकि हम **वरिष्ठया धीती**=श्रेष्ठतम परिचरणात्मक कर्मों को कर सकें (हेतौ तृतीया)। इन वरिष्ठ कर्मों के हेतु से हमें ऐश्वर्यों को दीजिए। ऐश्वर्य को प्राप्त करके हम इन धारणात्मक कर्मों को कर सकें। २. हे **वरेण्य**=वरने योग्य प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **श्रेष्ठया सुमत्या**=श्रेष्ठ सुमति के हेतु से धनों को दीजिए। इसलिए हमें धनों को प्राप्त कराइए ताकि उनके द्वारा ज्ञानसाधनों को जुटाकर हम सुमति का वर्धन कर सकें। **च**=और **सुवृक्तिभिः**=उत्तमता से (अच्छी प्रकार) पापवर्जन के हेतु से हमारे लिए धनों को दीजिए। कहीं दरिद्रता हमें पाप की ओर न ले जाए। (बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्)।

भावार्थ—हमें प्रभु ऐश्वर्य दें ताकि हम उत्तम परिचरणात्मक कर्म कर सकें, (ख) ज्ञानसाधनों को जुटाकर ज्ञान का वर्धन कर सकें तथा (ग) पापों को अपने से दूर रख सकें।

सूचना—वही ऐश्वर्य ठीक है जिससे हमारे हाथ धारणात्मक कर्मों में लगे हों, मन पापवर्जनवाले हों, मस्तिष्क ज्ञानदीप्तिवाले हों।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

हव्यवाहन प्रभु का 'धी' द्वारा उपासन

अ॒ग्निर्दे॒वेषु॑ राजत्य॒ग्निर्म॒र्ते॑ष्वावि॒शन्। अ॒ग्निर्नो॑ हव्य॒वाह॑नो॒ऽग्निं धी॒भिः स॑पर्यत ॥ ४ ॥

१. **अग्निः**=यह अग्रणी प्रभु ही **देवेषु**-सूर्य चन्द्र तारे आदि सब देवों में **राजति**=चमक रहा है। उसी की दीप्ति से सब देव दीप्त हो रहे हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु ही **मर्तेषु**=सब मरणधर्मा प्राणियों में भी **आविशन्**-प्रविष्ट हो रहे हैं। इन मनुष्यों में तो बल, ज्ञान व धन है, वह सब उस प्रभु के कारण ही है 'तेजस्तेजस्विनामहम्' 'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि' 'अहं धनानि संजयामि शाश्वतः'। २. **अग्निः**-वे अग्रणी प्रभु ही **वः**-हमारे लिए **हव्यवाहनः**=सब हव्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं। **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **धीभिः**-ज्ञान की वाणियों द्वारा स्तुति करते हुए **सपर्यत**=पूजो। जितना-जितना हम ज्ञान का वर्धन करते हैं व बुद्धि को सूक्ष्म बनाते हैं उतना उतना ही प्रभु के समीप होते चलते हैं। इसी प्रकार हम प्रभु का सच्चा पूजन कर पाते हैं।

भावार्थ—सर्वत्र देवों में मनुष्यों में प्रभु का ही प्रकाश है। प्रभु ही सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। ज्ञान के द्वारा हम प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

दाश्वान् का पुत्र

अ॒ग्निस्तु॒विश्र॑वस्तमं तु॒विब्र॑ह्माणमु॒त्तमम्। अ॒तूर्तं॑ श्राव॒यत्प॑तिं पु॒त्रं द॑दाति दा॒शुषे॑ ॥ ५ ॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए—दान की वृत्तिवाले व प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिए—**पुत्रं ददाति**=उत्तम सन्तान को प्राप्त कराते हैं। जो सन्तान **तुविश्रवस्तमम्**=खूब ही उत्कृष्ट ज्ञानवाला है। **तुविब्रह्माणम्**=(ब्रह्म स्तोत्र) खूब स्तोत्रोंवाला है—प्रभु स्तवन की वृत्तिवाला है और अतएव **उत्तमम्**=उत्तम जीवनवाला है। ज्ञान व स्तवन से जो प्रशस्त जीवनवाला बना है। २. उस सन्तान को प्रभु प्राप्त कराते हैं, जो कि **अतूर्तम्**=काम-क्रोध आदि से हिंसित नहीं होता तथा **श्रावयत् पतिम्**=अपने उत्तम कर्मों से अपने रक्षकों (पति=माता-पिता आदि) की कीर्ति को फैलानेवाला है।

भावार्थ—हम दाश्वान् बनें ताकि 'तुविश्रवस्तम, तुविब्रह्मा, उत्तम अतूर्त, श्रावयत् पति' सन्तान को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कैसा पुत्र?

अ॒ग्निर्द॑दाति॒ सत्प॑तिं सा॒साह॒ यो यु॒धा नृभिः॑। अ॒ग्निरत्यं॑ रघु॒ष्यदं॒ जेता॑र॒मप॑राजितम् ॥ ६ ॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **ददाति**=ऐसे पुत्र को देते हैं, जो कि **सत्पतिम्**=सत्कर्मों का रक्षक होता है। **यः**=जो **नृभिः**=मनुष्यों से **युधा**=युद्ध के द्वारा **सासाह**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। २. **अग्निः**=ये अग्रणी प्रभु उस सन्तान को प्राप्त कराते हैं जो कि **अत्यम्**=सततगमनशील

होता है, **रघुष्यदम्**=वेगयुक्त गतिवाला होता है—सब कार्यों को स्फूर्ति के साथ करता है, **जेतारम्**=सदा विजयी होता है, और **अपराजितम्**=कभी पराजित नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें ऐसा पुत्र प्राप्त हो जो कि सत्कर्मों का रक्षक हो। युद्ध में जीतनेवाला हो। क्रियाशील स्फूर्तिसम्पन्न—विजयी व अपराजित हो।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभुपूजन व दान

यद्वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो। महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते॥ ७॥

१. **यद् वाहिष्ठम्**=जो भी वस्तु वाहिष्ठ हो—वो दृढ़तम हो—हमें लक्ष्य स्थान पर पहुँचाने के लिए उत्तम हो—**तद्**=उसे **अग्नये**=उस प्रभु के लिए अर्पित करो। हमारे में 'शक्ति धन व ज्ञान' जो भी कुछ उत्कृष्ट रूप में हो, उसे प्रभु के अर्पित करना चाहिए—उसे प्रभुकृपा से प्राप्त समझना चाहिए—उसका गर्व न करना चाहिए। हे **विभावसो**=ज्ञान को धन समझनेवाले उपासक! तू इस प्रकार वाहिष्ठ वस्तु को प्रभु के अर्पण करता हुआ **बृहद् अर्च**=खूब ही प्रभु का पूजन करनेवाला हो। वस्तुतः प्रभु पूजन यही है कि सब जयों को प्रभु की विजय समझना और उसका अहंकार न करना। २. **महिषी इव**=महिषी की तरह—एक पूजा की वृत्तिवाली गृहपत्नी की तरह **त्वद् रयि**=तेरे से धन **उदीरते**=उद्गत होता है, **त्वद् वाजाः**=तेरे से सब अन्न उद्गत होते हैं। जैसे एक उत्तम गृहपत्नी सबको खिलाकर स्वयं खाती है—आये-गये व्यक्तियों के लिए दान देनेवाली होती है, उसी प्रकार विभावसु भी औरों को खिलाकर खानेवाला व दान देनेवाला बनता है। यह सदा यज्ञशेष का सेवन करता है।

भावार्थ—ज्ञानधन व्यक्ति सब विजयों को प्रभु के अर्पण करता है। खूब ही अन्नों व धनों का देनेवाला बनता है।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उस महान् गुरु के शब्दों को सुनें

तव द्युमन्तो अर्चयो ग्रावेवोच्यते बृहत्। उतो ते तन्यतुर्यथा स्वानो अर्त त्मना दिवः॥ ८॥

१. हे प्रभो! **तव**=आपकी **अर्चयः**=ज्ञान ज्वालाएँ **द्युमन्तः**=अत्यन्त ज्योतिर्मय है। आप **बृहत्**=सर्वमहान् **ग्रावा इव**=उपदेष्टा (गुरु) की तरह **उच्यते**=कहे जाते हैं 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'। आप ही गुरुओं के गुरु—सर्वप्रथम गुरु हैं। २. आपके ज्ञान को किसी और से प्राप्त नहीं करते। **उत**=और **त्मना दिवः**=स्वयं ज्योतिर्मय ने आपका **स्वानः**=शब्द इस प्रकार **अर्त**=उद्गत होता है **यथा**=जैसे **उ**=निश्चय से **तन्यतुः**=मेघध्वनि हो। मेघध्वनि के समान गर्जनावाले इन शब्दों को भी हम अज्ञानी नहीं सुन पाते।

भावार्थ—उस दीप्तिमय प्रभु के कल्याणकर शब्दों को हम सुननेवाले बनें।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'द्वेष समुद्र तारणी' नाव

एवाँ अग्निं वसूयवः सहसानं ववन्दिम। स नो विश्वा अति द्विषः पर्षन्नावेव सुक्रतुः॥ ९॥

१. **एवम्**=इस प्रकार **वसूयवः**=सब वसुओं को प्राप्त करने की कामनावाले हम **सहसानम् अग्निम्**=हमारे बल की तरह आचरण करते हुए प्रभु को **ववन्दिम**=वन्दना करते हैं। जब हम प्रभु की वन्दना करते हैं, तो प्रभु के बल से बल सम्पन्न होते हैं। इसी बल के द्वारा हम सब वसुओं

को प्राप्त होनेवाले होते हैं। २. **सः**=वे **सुक्रतुः**=शोभनकर्मा प्रभु **नः**=हमें **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेषों से इस प्रकार **अतिपर्षत्**=पार करें, **इव**=जैसे कि **नावा**=नौका से सिन्धु को पार करते हैं। नाव से समुद्र को पार करने के समान हम सुक्रतु प्रभु को द्वेषसागर से पार करने की नाव बनायें।

भावार्थ—हम प्रभु की वन्दना करें। प्रभु हमें शक्तिसम्पन्न बनाकर सब द्वेषों से दूर करें।

अगले सूक्त में 'वसूयवः आत्रेयः' ही ऋषि है, देवता भी 'अग्नि' ही है—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'रोचिषा—मन्द्रयाजिह्वया' (ज्ञान+स्तुति)

अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया। आ देवान्वक्षि यक्षि च॥ १॥

१. हे **पावक**=पवित्र करनेवाले, **अग्ने**=अग्रणी **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **रोचिषा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा तथा **मन्द्रया जिह्वया**=स्तुतिवाली जिह्वा के द्वारा आप **देवान्**=दिव्यगुणों को **आवक्षि**=हमें प्राप्त कराएँ **च**-और उन दिव्य गुणों का ही **यक्षि**=हमारे साथ संगम कराएँ। २. प्रभु हमें पवित्र करें। हमें उन्नति पथ पर आगे ले-चलें। हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाएँ। ज्ञानदीप्ति के द्वारा तथा स्तुतिशब्दों का उच्चारण करनेवाली वाणी के द्वारा प्रभु हमारे जीवनों में दिव्यता का वर्धन करें।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा झुकाव ज्ञान व स्तुतिमय वाणी की ओर हो। ये दोनों ही चीजें हमें देव बनानेवाली हों।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्रीः** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

देवसम्पर्क से अज्ञानन्धकार का विनाश

तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम्। देवाँ आ वीतये वह॥ २॥

१. हे **घृतस्नो**=ज्ञानदीप्ति के प्रेरक, **चित्रभानो**=अद्भुत ज्ञानरश्मियोंवाले प्रभो! **स्वर्दृशम्**=सबके देखनेवाले **तं त्वा**=उन आपको हम **ईमहे**=याचना करते हैं। आप हमें भी ज्ञानदीप्ति प्राप्त कराइए। सब ज्ञानों के प्रेरक आप ही तो हैं। २. **वीतये**=सब अज्ञानान्धकारों को विनाश के लिए **देवान्**='माता, पिता, आचार्य व अतिथि' रूप देवों को **आवह**=हमें प्राप्त कराइए। हम देवों के सम्पर्क में आकर हमारा अज्ञान नष्ट हो और हम ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल जीवनवाले बनें। हमारे जीवन में 'सच्चरित्रता-सदाचार-ज्ञान व यज्ञशीलता' को ये देव उत्पन्न करें। इनके द्वारा हमारा जीवन चमक उठे।

भावार्थ—प्रभु सब ज्ञानों के प्रेरक हैं। प्रभु कृपा से हमें 'उत्तम माता, पिता, आचार्य व अतिथि' रूप देव प्राप्त होते हैं। इनके द्वारा प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्रीः** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

होत्र-ज्ञान-अध्वर

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे॥ ३॥

१. हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन्—सर्वज्ञ प्रभो! **वीतिहोत्रम्**=कान्त यज्ञोंवाले **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय **त्वा**=आपको हम अपने हृदयों में **समिधीमहि**=समिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। आपको समिद्ध करने का उपाय यही तो है कि हम कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित करके 'वीतिहोत्र' बनने का प्रयत्न करें तथा ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगाकर 'द्युमान्' बनें। २. हे **अग्ने**=अग्रणी

प्रभो! **बृहन्तम्**=महान्—सदावृद्ध आपको **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञों में दीप्त करने के लिए यत्नशील हों। हम अपने जीवनों में अध्वरात्मक कर्मों में व्यापृत होकर आगे और आगे बढ़ें। इसी प्रकार हम आपको अपने जीवनों में दीप्त कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिए हम (क) यज्ञप्रिय हों (ख) ज्ञान को बढ़ाएँ (ग) अध्वरात्मक (अहिंसात्मक) कर्मों में व्यापृत हों।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दिव्यगुणों व प्रभु की प्राप्ति के लिए 'हव्यदाति' बनें

अग्ने विश्वेभिरा गहि देवेभिर्हव्यदातये। होतारं त्वा वृणीमहे ॥ ४ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **हव्यदातये**=हव्यों के देनेवाले यज्ञशील पुरुष के लिए **विश्वेभिः देवेभिः**=सब देवों के साथ **आगहि**=प्राप्त होइए। देने के स्वभाववाला यज्ञशील पुरुष दिव्यगुणों को प्राप्त हो और इन दिव्यगुणों का वर्धन करता हुआ अन्ततः आपकी प्राप्ति का पात्र हो। २. हम **होतारम्**=सब-कुछ देनेवाले **त्वा**=आपको ही **वृणीमहे**=वरते हैं। आपकी प्राप्ति में सब प्राप्त हो जाता है। आपके उपासक बनने पर मनुष्य को किसी प्रकार की कमी नहीं रह जाती।

भावार्थ—हम हव्यदाति-यज्ञशील बनें। हमें सब दिव्यगुण प्राप्त होंगे। दिव्यगुणों के साथ हम प्रभु के समीप होते चलेंगे। हम में किसी बात की कमी न रहेगी।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यजमान+सुन्वत्

यजमानाय सुन्वत आग्ने सुवीर्यं वह। देवैरा सत्सि बर्हिषि ॥ ५ ॥

१. **यजमानाय**=यज्ञशील और यज्ञशीलता के द्वारा **सुन्वते**=सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष के लिए हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **सुवीर्यम्**=उत्तम बल व पराक्रम को **आवह**=प्राप्त कराइए। यज्ञों में लगे रहने से हम वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते और सोमरक्षण के द्वारा सुवीर्य को प्राप्त करते हैं। २. ऐसा होने पर हे प्रभो! आप **बर्हिषि**=हमारे वासनाशून्य हृदयों में **देवैः**=सब दिव्यगुणों के साथ **आसत्सि**=आसीन होते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें। वासनाओं से बचे रहकर सोम का रक्षण करें। यही दिव्यगुणों व प्रभु की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

धार्मिक जीवन

समिधानः सहस्रजिदग्ने धर्माणि पुष्यसि। देवानां दूत उक्थ्यः ॥ ६ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **समिधानः**=हृदयदेश में समिद्ध किये जाते हुए आप **सहस्रजित्**=सहस्रशः वासनाओं को पराजित करनेवाले हैं। इन काम, क्रोध आदि को आप ही भस्म करते हैं। इन्हें भस्म करके **धर्माणि**='देवपूजा-संगतिकरण-दान' रूप प्रथम धर्मों का **पुष्यसि**=आप ही हमारे जीवनों में पोषण करते हैं। २. **देवानां दूतः**=देववृत्तियों के लिए आप ही ज्ञानसन्देश का वहन करते हैं और आप ही **उक्थ्यः**=स्तुति के योग्य हैं। आपका स्तवन करते हुए हम (क) वासनाओं को पराजित करते हैं (ख) धर्म का अपने में पोषण करते हैं और (ग) ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। वासनाओं से आक्रान्ता न होते हुए धर्म में प्रवृत्त रहकर,

ज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्रीः** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु का धारण

न्य१ग्निं जातवेदसं होत्रवाहं यविष्ठ्यम्। दधाता देवमृत्विजम्॥ ७॥

१. **अग्निम्**=उस अग्रगति के साधक **जातवेदसम्**=ज्ञान को हमारे में प्रादुर्भूत करनेवाले (जातः वेदः यस्मात्) **होत्रवाहम्**=हमारे सब यज्ञों का वहन करनेवाले, **यविष्ठ्यम्**=हमारे से बुराइयों को अधिक-से अधिक दूर करनेवाले व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले प्रभु को **नि दधात**=अपने हृदयमन्दिरों में स्थापित करो। २. उस प्रभु को हृदय में आसीन करो जो कि **देवम्**=प्रकाशमय हैं तथा **ऋत्विजम्**=ऋतु ऋतु में—समय-समय पर अर्थात् सदा यजनीय (उपासनीय) हैं। यह प्रभु का उपासन ही हमारे जीवनों को उत्तम बनाता है।

भावार्थ—हम प्रभु को अपने हृदयों में आसीन करें। ये हमारे जीवनों को प्रगतिवाला ज्ञानयुक्त-यज्ञमय बनाएँगे।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्रीः** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यज्ञ-दिव्यगुण-प्रभुप्राप्ति

प्र यज्ञ एत्वानुषगद्या देवव्यचस्तमः। स्तृणीत बर्हिरासदे॥ ८॥

१. **यज्ञः**='देवपूजा संगतिकरण व दान' रूप यज्ञ हमें **आनुषक्**=निरन्तर **प्र एतु**=प्रकर्षेण प्राप्त हो। यह यज्ञ **अद्य**=आज हमारे लिए **देवव्यचस्तमः**=दिव्यगुणों के अधिक-से-अधिक विस्तार को करनेवाला हो। २. हे यज्ञशील पुरुषो! तुम **आसदे**=प्रभु को बिठाने के लिए **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **स्तृणीत**=आच्छादित करो—बिछाओ। इस वासनाशून्य हृदयासन पर ही प्रभु विराजमान होते हैं।

भावार्थ—यज्ञों से दिव्यगुणों का विस्तार होता है। दिव्यगुणोंवाले—निर्वासनं-हृदयों में प्रभु आसीन होते हैं।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्रीः** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दिव्य जीवन

एदं मरुतो अश्विना मित्रः सीदन्तु वरुणः। देवासः सर्वया विशा॥ ९॥

१. **इदम्**=हमारे इस जीवन में **मरुतः**=प्राण **आ सीदन्तु**=आसीन हों। हम प्राणायाम के द्वारा प्राणशक्ति का वर्धन करते हुए यहाँ प्राणों को स्थापित करें। **अश्विना**=द्यावापृथिवी ज्ञानदीप्त मस्तिष्क (द्युलोक) तथा दृढ़ शरीर (पृथिवी) हमें प्राप्त हों। **मित्रः**=स्नेह की भावना तथा वरुणः=द्वेष का निवारण हमारे जीवन में हो। २. **देवासः**=सब दिव्यगुण **सर्वया विशा**=सब शरीर में प्रवेश के योग्य उत्तम भावनाओं के साथ हमारे जीवन में आसीन हों।

भावार्थ—हमारा जीवन 'प्राणशक्ति-ज्ञान व बल—स्नेह व निर्द्वेषता-तथा दिव्यगुणों व सब उत्तम भावनाओं' से युक्त हो।

यह जीवन में दिव्यता को लानेवाला व्यक्ति (त्रीन् ऋच्छति इति त्र्यरुणः) 'त्र्यरुण' बनता है—'शरीर मन व मस्तिष्क' तीनों को उत्तम बनाता हैं—'त्रैवृष्णः'=तीनों को शक्तिशाली बनाता है। इस व्यक्ति से दास्यव भावनाएँ भयभीत होकर दूर ही रहती हैं—यह 'त्रसदस्यु' होता है, खूब ही वासनाओं का संहार करने के कारण 'पौरुकुत्स्य' कहलाता है। प्रशस्त इन्द्रियों के साथ मेलवाला

यह 'अश्व-मेध' है (मेधृ to meet)—उत्तमता से भरण करने के कारण 'भारत' है—क्राम, क्रोध, लोभ से दूर होने के कारण 'अत्रि' है। इन ऋषियों की आराधना का स्वरूप यह है—

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—त्र्युरुणस्त्रैवृष्णस्त्रसदस्युश्च पौरुकुत्स्य अश्वमेधश्च भारतोऽत्रिर्वा॥ देवता—अग्निः॥
छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शरीर शकट

अनस्वन्ता सत्पतिर्मामहे मे गावा चेतिष्ठो असुरो मघोनः।
त्रैवृष्णो अग्ने दशभिः सहस्रैर्वैश्वानर त्र्यरुणश्चिकेत॥ १॥

१. **चेतिष्ठः**=निरतिशय ज्ञानवाला व अधिक-से-अधिक चेतना को प्राप्त करानेवाला, **असुरः**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाला, **मघोनः**=ऐश्वर्यशाली, **सत्पतिः**=सज्जनों का पालक प्रभु **मे**=मेरे लिए **अनस्वन्ता**=प्रशस्त शरीर रूप शकटवाले **गावा**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप दो बैलों को **मामहे**=देते हैं। प्रभु ने जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए यह शरीर शकट दिया है—और इसमें ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप दो बैलों को जोता है। २. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **वैश्वानर**=सबको आगे और आगे ले-चलनेवाले प्रभो! इस शरीर रथ में बैठा हुआ **त्रैवृष्णः**=शरीर मन व बुद्धि सभी को शक्तिशाली बनानेवाला यह **त्र्यरुणः**=ज्ञान कर्म व उपासना तीनों की ओर चलनेवाला—तीनों का अपने जीवन में समन्वय करनेवाला—**दशभिः सहस्रैः**=इन ऋग्वेदोपदिष्ट दश सहस्र ऋचाओं से **चिकेत**-ज्ञानवाला बनता है। ऋचाओं की संख्या १०५५२ है। 'दस हज़ार' का भाव यहाँ लगभग दस हज़ार ही है। यहाँ मुख्य प्रयोजन ऋचाओं की संख्या का प्रतिपादन तो है ही नहीं। इन ऋचाओं के द्वारा पदार्थों के तथा अपने शरीर शकट के गुण धर्मों को खूब समझता हुआ पदार्थों के यथायोग से दृढ़ शकटवाला बनकर जीवनयात्रा में आगे बढ़ता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें शरीर शकट दिया है। इसमें कर्मेन्द्रिय व ज्ञानेन्द्रिय रूप दो बैल जुते हैं। ऋचाओं से पदार्थों के गुण धर्मों को जानकर इनके ठीक प्रयोग से हम इस शकट को दृढ़ बनाकर जीवनयात्रा को पूरा करें।

ऋषिः—त्र्युरुणस्त्रैवृष्णस्त्रसदस्युश्च पौरुकुत्स्य अश्वमेधश्च भारतोऽत्रिर्वा॥ देवता—अग्निः॥
छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

एक सौ बीस वर्ष तक

यो मे शता च विंशतिं च गोनां हरी च युक्ता सुधुरा ददाति।
वैश्वानर सुष्टुतो वावृधानोऽग्ने यच्छ त्र्यरुणाय शर्म॥ २॥

१. **यः**=जो **मे**=मेरे लिए **शता च विंशतिं च**=सौ और बीस अर्थात् एक सौ बीस वर्ष तक **गोनाम्**=ज्ञान की वाणियों को **ददाति**=देता है, **च**=तथा **सुधुरा**=उत्तमतया शकट की धुरा को वहन करनेवाले **युक्तः**=शकट में जुते हुए **हरीः**=इन्द्रियाश्वों को **ददाति**=देता है। प्रभु हमें १२० वर्ष तक जहाँ ज्ञान देते हैं, वहाँ इस दृढ़ शरीर शकट को प्राप्त कराते हैं, जिसमें उत्तम इन्द्रियाश्व जुते हैं। २. हे **वैश्वानर**=सब नरों का हित करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सुष्टुतः**=अच्छी प्रकार स्तुति किये गये **वावृधानः**=निरन्तर हमारा वर्धन करते हुए आप **त्र्यरुणाय**='शरीर, मन, बुद्धि' तीनों का ध्यान करनेवाले अथवा 'ज्ञान, कर्म, उपासना' तीनों का अपने में समन्वय करनेवाले त्र्यरुण के लिए **शर्म**=कल्याण को **यच्छ**=दीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमें १२० वर्ष के जीवन—ज्ञान की वाणियों व उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं। हम प्रभुस्तवन द्वारा अपना वर्धन करते हुए कल्याण को प्राप्त करें।

ऋषिः—**त्र्युरुणस्त्रैवृष्णस्त्रसदस्युश्च पौरुकुत्स्य अश्वमेधश्च भारतोऽत्रिर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥
छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

त्रसदस्युः-त्र्यरुणः

एवा ते अग्ने सुमतिं चकानो नविष्ठाय नवमं त्रसदस्युः।
यो मे गिरस्तुविजातस्य पूर्वीर्युक्तेनाभि त्र्यरुणो गृणाति॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नविष्ठाय**=अत्यन्त स्तुत्य (नु स्तुतौ) **ते**=आपके लिए, आपकी प्राप्ति के लिए **एवा**=इस प्रकार **नवमम्**=(नव गतौ) क्रियामय **सुमतिम्**=कल्याणी बुद्धि को **चकानः**=चाहता हुआ **त्रसदस्युः**=सब वासनाओं को भयभीत करनेवाला बनता है। जो व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करके ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगा रहता है, वही प्रभु प्राप्ति का अधिकारी बनता है। २. प्रभु कहते हैं कि **यः**=जो **तुविजातस्य**=महान् प्रादुर्भाववाले—सर्वत्र ब्रह्माण्ड में प्रकट महिमावाले—**मे**=मेरी **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली तथा पालन व पूरण करनेवाली **गिरः**-इन ज्ञानवाणियों का **युक्तेन**=एकाग्रमन से **अभिगृणाति**=प्रातः सायं दिन के दोनों ओर उच्चारण करता है। वही **त्र्यरुणः**=उत्तम शरीर, मन व बुद्धि को प्राप्त करता है—वही अपने में ज्ञान, कर्म व उपासना का समन्वय करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रभु की कल्याणी मति को प्राप्त करने की कामना करते हुए वासनाओं को भयभीत करनेवाले 'त्रसदस्यु' बनें। प्रभु की ज्ञानवाणियों का प्रातःसायं अध्ययन करते हुए 'त्र्यरुण' बनें।

ऋषिः—**त्र्युरुणस्त्रैवृष्णस्त्रसदस्युश्च पौरुकुत्स्य अश्वमेधश्च भारतोऽत्रिर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥
छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सनिं-मेधाम् (ददत्)

यो म इति प्रवोचत्यश्वमेधाय सूरये। ददद्दृचा सनिं यते ददन्मेधामृतायते॥ ४॥

१. **यः**=जो **मे**=मेरे लिए **इति**=इस प्रकार ज्ञान की वाणियों का सृष्टि के प्रारम्भ में **प्रवोचति**= प्रकर्षेण उपदेश करते हैं वे प्रभु **अश्वमेधाय**=इन्द्रियाश्वों का अपने साथ मेल करनेवाले—इन्द्रियाश्वों को इधर-उधर न भटकने देनेवाले—**सूरये**=उन ज्ञानवाणियों के अनुसार अपने को प्रेरित करनेवाले (षू प्रेरणे), **ऋचा**=(ऋच् स्तुतौ) स्तुतिपूर्वक गति करनेवाले—प्रभुस्मरण के साथ सब कार्यों को करनेवाले—व्यक्ति के लिए **सनिं ददत्**=सम्भजनीय (सेवनीय) धन को देते हैं। २. ये प्रभु ही **ऋतायते**=ऋतपूर्वक सब क्रियाओं को करनेवाले के लिए—ठीक समय व ठीक स्थान पर सब कार्यों को करनेवाले के लिए—**मेधां ददत्**=मेधा बुद्धि को देते हैं। वस्तुतः प्रभु की वाणियों का अध्ययन हमारी बुद्धि को परिष्कृत करनेवाला है।

भावार्थ—स्तुतिपूर्वक गति करते हुए हम सम्भजनीय धन को प्राप्त करते हैं और ऋतपूर्वक आचरण करते हुए हम मेधा (बुद्धि) को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**त्र्युरुणस्त्रैवृष्णस्त्रसदस्युश्च पौरुकुत्स्य अश्वमेधश्च भारतोऽत्रिर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥
छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

अश्वमेध की इन्द्रियाँ

यस्य मा परुषाः शतमुद्धर्षयन्त्युक्षणः। अश्वमेधस्य दानाः सोमा इव त्र्याशिरः॥ ५॥

१. प्रभु ने इस शरीर शकट में दस इन्द्रिय रूप बैलों को जोता है। जो अश्वमेध बनता है—इन्द्रियाश्वों को अपने साथ जोड़ने का प्रयत्न करता है—इन्हें भटकने नहीं देता—उसका ये कल्याण करनेवाले होते हैं। यदि अश्वमेध नहीं बनता, तो ये इन्द्रिय रूप उक्षा उसके लिए सुखसेचन न कर उसे नरक में गिरानेवाले हो जाते हैं। सो मन्त्र में कहते हैं—**यस्य**=जिस **अश्वमेधस्य**=इन्द्रियाश्वों को अपने साथ जोड़नेवाले—न भटकने देनेवाले **मा**=मेरे लिए **दानाः**=दिये हुए **उक्षण**=ये शरीर शकट के बैल **परुषाः**=पालन व पूरण करनेवाले हैं। (पॄ पालनपूरणयोः) या मार्ग विघ्नकारी शत्रुओं के लिए भयंकर हैं और **शतम्**=शतवर्ष पर्यन्त **उद्धर्षयन्ति**=मेरे उत्कृष्ट उल्लास का कारण बनते हैं। २. ये उक्षा (इन्द्रिय रूप बैल) **सोमाःइव**=सोमकणों की तरह **त्र्याशिरः**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों में दोषों का संहार करनेवाले हैं (त्रि+आशॄ)। शरीर में सुरक्षित सोमकण जैसे—शरीर को नीरोग, मन को निर्मल व बुद्धि को तीव्र बनाते हैं, इसी प्रकार अश्वमेध को प्राप्त ये इन्द्रिय रूप उक्षा 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी में दोषों का संहार करनेवाले होते हैं। इसी से यहाँ इन्हें 'त्र्याशिरः' कहा है।

भावार्थ—यदि हम इन्द्रियों को भटकने न दें तो ये शतवर्षपर्यन्त हमारे उल्लास का कारण बनती हैं तथा शरीर, मन व बुद्धि में दोषों को उत्पन्न नहीं होने देतीं।

ऋषिः—**त्र्युरुणस्त्रैवृष्णस्त्रसदस्युश्च पौरुकुत्स्य अश्वमेधश्च भारतोऽत्रिर्वा**॥ देवता—**इन्द्राग्नी**॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

'अश्वमेध' में 'क्षत्र व सूर्य' का स्थापन

इन्द्राग्नी शतदाव्न्यश्वमेधे सुवीर्यम्। क्षत्रं धारयतं बृहद्दिवि सूर्यमिवाजरम्॥ ६॥

१. **शतदाव्नि** (दाप् लवने)=शतवर्षपर्यन्त दोषों का लवन (छेदन) करनेवाले **अश्वमेधे**=इन्द्रियाश्वों से अपना मेल रखनेवाले—इन्हें न भटकने देनेवाले—उपासक में **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देव (सर्वाणि बल कर्माणि इन्द्रस्य, अग्नि=प्रकाश की देवता) **सुवीर्यम्**=उत्कृष्ट वीर्य को **धारयते**=धारण करें। वस्तुतः वीर्यरक्षण का उपाय ही यही है कि हम बल व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले कार्यों में लगे रहें। २. ये इन्द्राग्नी **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **क्षत्रम्**=बल को **धारयतम्**=धारण करें तथा **दिवि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में **सूर्यम् इव**=सूर्य के समान **अजरम्**=न जीर्ण होनेवाले ज्ञान को धारण करें। यह वेदज्ञान प्रभु का अजरामर काव्य है, इसे हमारे लिए धारण करें।

भावार्थ—हम बुराइयों का संहार करनेवाले विश्वविजयी—अश्वमेध बनें। सर्वशक्तिसम्पन्न **'इन्द्र'** हमारे लिए बृहत् क्षत्र (बल) को धारण कराएँ और अग्निवत् प्रकाशमान प्रभु ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त कराएँ।

सब बुराइयों को दूर करके सब अच्छाइयों का ही वरण करनेवाली वृत्ति हमें 'विश्ववारा' बनाती है 'विश्वं भद्रम् एव वृणोति' अथवा 'विश्वं वारयति' अन्दर घुस जानेवाली काम, क्रोध, लोभ की वृत्तियों को निवारित करती हैं, इसीलिए यह 'आत्रेयी' है—'काम-क्रोध-लोभ' तीनों से दूर। यह आराधना करती है—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्ववारात्रेयी**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

विश्ववारा का सुन्दर जीवन

समिद्धो अग्निर्दिवि शोचिरश्रेत्प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया वि भाति।
एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईळाना हविषा घृताची॥ १॥

१. **समिद्धः**=स्तुति व स्वाध्याय द्वारा हृदय में दीप्त किये हुए **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **दिविः**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **शोचिः अश्रेत्**=ज्ञानदीप्ति को स्थापित करते हैं। **उषसं प्रत्यङ्**=प्रत्येक उषाकाल में—ब्राह्ममुहूर्त में—प्राप्त होते हुए वे प्रभु **उर्विया**=खूब ही **विभाति**=दीप्त होते हैं। प्रत्येक उषा में खूब ही प्रभु का प्रकाश दिखता है। २. ऐसा होने पर यह **विश्ववारा**=सब बुराइयों का अपने से निवारण करनेवाली यह उपासिका **प्राची एति**=अग्रगतिवाली होती हुई क्रियाशील होती है। **नमोभिः**=नमस्कारों के द्वारा **देवान्**='माता, पिता, आचार्य, अतिथि व प्रभु' रूप देवों का **ईडाना**-यह पूजन करती है तथा **हविषा**=दानपूर्वक अदन से वह **घृताची** (घृतं अञ्चति)=ज्ञान दीप्ति को प्राप्त करनेवाली होती है तथा सब मलों का क्षरण कर पाती हैं (घृ क्षरणदीप्तयोः)। यह दानपूर्वक अदन की वृत्ति, भोगवृत्ति से हमें दूर करके, हमारे ज्ञान को बढ़ाती है तथा हमारे मानस व शरीर मलों को दूर करती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदयों में दीप्त करने का प्रयत्न करें। नम्रता से देवों का पूजन करें। दानपूर्वक अदन से ज्ञानदीप्ति को बढ़ाएँ व मलों को अपने जीवन से दूर करें।

ऋषिः—**विश्ववारात्रेयी**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का आतिथ्य

स॒मि॒ध्यमा॑नो अ॒मृत॑स्य राजसि ह॒विष्कृ॒ण्वन्तं॑ सचसे स्व॒स्तये॑।
विश्वं॒ स ध॑त्ते॒ द्रवि॑णं॒ यमिन्व॑स्यातिथ्य॑मग्ने॒ नि च॑ धत्त॒ इत्पु॒रः॥ २॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **समिध्यमानः**=हृदयदेश में समिद्ध किये जाते हुए आप **अमृतस्य राजसि**=अमृतत्व के ईश होते हो, अर्थात् आप अपने उपासक को अमृतत्व-नीरोगता प्राप्त कराते हो। **हविःकृण्वन्तम्**=हवि के करनेवाले को—सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले यज्ञशील पुरुष को—आप **स्वस्तये**=कल्याण के प्राप्त कराने के लिए **सचसे**=प्राप्त होते हैं। २. **यम्**=जिसको आप **इन्वसि**=प्राप्त होते हैं, **सः**=वह **विश्वम्**=सब **द्रविणम्**=धनों को **धत्ते**=धारण करता है **च**=और इन द्रविणों को प्राप्त करके **पुरः**=(पुरस्तात्) सर्वप्रथम **आतिथ्यम् इत्**=आपके आतिथ्य को ही **निधत्ते**=निश्चय से धारण करता है। आपका आतिथ्य करता हुआ वह इन धनों को लोकहित के कार्यों में ही विनियुक्त करता है। यह 'सर्वभूतहिते रतः' ही तो आपका सच्चा भक्त होता है।

भावार्थ—प्रभु उपासक को नीरोगता प्राप्त कराते हैं और सब धनों को प्राप्त कराते हैं। यह उपासक इन धनों का लोकहित में विनियोग करता हुआ प्रभु का आतिथ्य करता है।

ऋषिः—**विश्ववारात्रेयी**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

महान् सौभाग्य

अग्ने॒ शर्ध॑ मह॒ते सौभ॑गाय॒ तव॑ द्यु॒म्नान्यु॑त्त॒मानि॑ सन्तु।
सं जा॑स्प॒त्यं सु॒यम॒मा कृ॑णुष्व शत्रूय॒ताम॒भि ति॑ष्ठा॒ महां॑सि॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **शर्ध**=हमारे शत्रुओं का अभिभव कीजिए (शृधु प्रसहने) ताकि **महते सौभगाय**=हमारा जीवन महान् सौभाग्य के लिए हो। हम काम-क्रोध लोभ आदि शत्रुओं को पराजित करके उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करें। हे प्रभो! **तव**=आपसे दिये गये **द्युम्नानि**=ज्ञानधन **उत्तमानि सन्तु**=अत्यन्त उत्कृष्ट हों। हम शत्रुओं को कुचल सकें तथा ज्ञानधन को प्राप्त कर सकें। द्युम्न का अर्थ धन भी है। इसका 'उत्तमानि' विशेषण इस बात का संकेत करता है कि धन को धर्मपूर्वक ही कमाना है। गृहस्थ के मौलिक धर्म दो ही है (क) न्याय्य मार्ग से धनार्जन (ख)

संयम सम्पन्न दाम्पत्य। २. हे प्रभो! आप हमारे लिए **सुयमम्**=उत्तम संयम से युक्त **संजास्पत्यम्**=उत्कृष्ट दाम्पत्य धर्म को **आकृणुष्व**=सर्वथा करिए। आपकी कृपा से हमारा गार्हस्थ्य धर्म संयम सम्पन्न हो। आप **शत्रूयताम्**=हमारा शातन (विनाश) करनेवालों के **महांसि**=तेजों को **अभितिष्ठ**=पाँवों तले कुचल दीजिए। काम-क्रोध आदि शत्रुओं को निस्तेज कर दीजिए। गृहस्थ में हम संयमी जीवनवाले होते हुए काम-क्रोध आदि से अभिभूत न हों।

भावार्थ—हम शत्रुओं को अभिभूत करके 'सौभाग्य-ज्ञान तथा सुसंयत दाम्पत्यजीवन' को प्राप्त करें।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ शत्रुओं के तेज के अभिभव से हुआ है। इसी भावना पर मन्त्र की समाप्ति है। वस्तुतः इस शत्रुतेजोऽभिभव का ही परिणाम 'महान् सौभाग्य, उत्तम द्युम्न व सुयम संजास्पत्य' हैं।

ऋषिः—**विश्ववारात्रेयी** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान्

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियम्। वृषभो द्युम्नवाँ असि समध्वरेष्विध्यसे ॥ ४ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **समिद्धस्य**=ज्ञानज्योति से दीप्त **प्रमहसः**=प्रकृष्ट तेजवाले **तव**=आपकी **श्रियम्**=श्री का **वन्दे**=वन्दन करता हूँ। प्रभु सर्वज्ञ हैं—अनन्त ज्ञान की ज्योतिवाले हैं। वे प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं—निरतिशय तेजस्वितावाले हैं। यह 'सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमत्ता' प्रभु की श्री को वन्दनीय बना रही हैं। २. आप **वृषभः**=शक्तिशाली हैं, **द्युम्नवान् असि**=प्रशस्त ज्ञानवाले हैं। **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के होने पर आप **समिध्यसे**=हमारे हृदयों में दीप्त किये जाते हैं। जो भी मनुष्य यज्ञात्मक उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होता है—वही हृदय में प्रभु के प्रकाश का अनुभव करता है।

भावार्थ—प्रभु अनन्त ज्ञान व अनन्तशक्तिवाले हैं। ज्ञान व शक्ति के समन्वय के कारण श्रीसम्पन्न हैं। यज्ञ प्रवृत्त होकर हम भी हृदयों के प्रकाश को देखें। प्रभु की तरह ही 'वृषभ+द्युम्नवान्' बनें।

ऋषिः—**विश्ववारात्रेयी** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हव्यवाट् प्रभु

समिद्धो अग्न आहुत देवान्यक्षि स्वध्वर। त्वं हि हव्यवाळसि ॥ ५ ॥

१. हे **आहुत**=चारों ओर दानोंवाले (आ हुतं यस्य) **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **समिद्धः**=हृदय देश में दीप्त होते हुए आप **देवान् यक्षि**=सब दिव्यगुणों का हमारे साथ सम्पर्क करते हैं। यह प्रतिदिन प्रभु का ध्यान ही सब दिव्यगुणों का हमारे जीवनों में जन्म देनेवाला है। २. हे **स्वध्वर**=उत्तम यज्ञों के पालक प्रभो! (शोभनः अध्वरः यस्मात्) **त्वं हि**=आप ही **हव्यवाड् असि**=सब हव्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं। जब हम यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, तब उन यज्ञों को सिद्ध करने के लिए सब हव्य पदार्थों को प्रभु कृपा से अवश्य प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों। इसी से प्रभु की दीप्ति को हृदयों में देखेंगे। इसीसे दिव्यगुण प्राप्त होंगे। यज्ञों के लिए सब हव्य पदार्थों को भी हम प्रभुकृपा से प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**विश्ववारात्रेयी** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आजुहोत-दुवस्यत

आ जुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम् ॥ ६ ॥

१. जीवन को हमें यज्ञात्मक बनाना ही चाहिए। इस **अध्वरे प्रयति**=जीवन यज्ञ के प्रकर्षेण चलने पर—'प्रातः सवन माध्यन्दिन सवन व तृतीय सवन में' निरन्तर **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु के प्रति **आजुहोत**=अपनी आहुति देनेवाले बनो! प्रभु के प्रति अर्पण करके ही जीवन में चलना चाहिए। **दुवस्यत**=उस प्रभु की ही उपासना करो—यह प्रभु का उपासन ही हमें शक्तिशाली बनाता है। २. **हव्यवाहनम्**=सब हव्य पदार्थों के देनेवाले उस प्रभु का **वृणीध्वम्**=वरण करो। प्रकृति के वरण की अपेक्षा प्रभु का वरण ही कल्याणकर है। प्रकृति वरण में हम प्रभु से दूर हो जाते हैं और प्रकृति के पाँव तले कुचले जाते हैं। प्रभु वरण में जीवन पवित्र बना रहता है और प्रकृति हमारी सेविका बनी रहती है।

भावार्थ—हम जीवनयज्ञ में प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। प्रभु के ही उपासक हों। यह प्रभु का वरण हमें सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाला बनाएगा।

प्रभु का वरण करनेवाला 'गौरिवीति' बनता है (गौरी-वाक्, वीति=भोजन) वाङ्मय शास्त्ररूपी भोजनवाला होता है, विषयों में न फँसने से 'शाक्त्य' शक्ति का पुत्र (शक्ति का पुतला) बनता है (The body of an athlete and the soul of a sage) यह प्रभु की आराधना करता हुआ कहता है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मरुतः पूतदक्षाः

त्र्य॑र्य॒मा मनु॑षो दे॒वता॑ता॒ त्री रो॑च॒ना दि॒व्या धा॑रयन्त।
अर्च॑न्ति त्वा म॒रुतः॑ पू॒तद॑क्षा॒स्त्वमे॑षा॒मृषि॑रिन्द्रासि॒ धीरः॑ ॥ १ ॥

१. **मनुषः**=विचारशील पुरुष **देवताता**=यज्ञों में—जीवन को यज्ञों में चलाते हुए—**त्री अर्यमा**=तीन (अरीन् यच्छति नि० ११.२३) शत्रुओं के नियमनों को तथा **त्री दिव्या रोचना**=तीन दिव्य दीप्तियों को **धारयन्त**=धारण करते हैं। 'काम' के नियमन के द्वारा शरीर की तेजस्विता को, 'क्रोध' के नियमन के द्वारा मानस आह्लाद को, तथा 'लोभ' के नियमन के द्वारा ज्ञान की प्रचण्ड दीप्ति को ये धारण करनेवाले होते हैं। २. हे प्रभो! **त्वा**=आपको **मरुतः**=मितरावी (कम बोलनेवाले) व प्राणसाधना करनेवाले (मरुतः प्राणाः) **पूतदक्षाः**=पवित्र बलवाले व्यक्ति ही **अर्चन्ति**=पूजते हैं। प्रभु का उपासक (क) कम बोलता है (ख) प्राणायाम का अभ्यासी होता है (३) अपने बल को वासनाओं से मलिन नहीं होने देता। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **एषाम्**=इनके **ऋषिः**=मन्त्रद्रष्टृत्व को देनेवाले हैं तथा **धीरः**=(धियम् ईरयति) बुद्धियों को प्रेरित करनेवाले हैं। ये उपासक प्रभु कृपा से ही 'ऋषि व धीर' बनते हैं।

भावार्थ—'काम, क्रोध, लोभ' को जीतकर हम 'शरीर, मन व मस्तिष्क' की दीप्ति को धारण करें। प्राणसाधना द्वारा पवित्र बलवाले होकर प्रभु के उपासक बनें। प्रभु हमें धीर व ऋषि बनाएँगे।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रियाशीलता व प्रभुप्राप्ति

अनु॒ यदीं॑ म॒रुतो॑ मन्दसा॒नमार्च॒न्निन्द्रं॑ पपि॒वांसं॑ सु॒तस्य॑।
आद॑त्त॒ वज्र॑म॒भि यदहिं॒ ह॒न्नपो य॒ह्वीर॑सृज॒त्सर्त॒वा उ॑ ॥ २ ॥

१. **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **मरुतः**=ये मितरावी व प्राणसाधक पुरुष **मन्दसानम्**=उस

आनन्दमय **सुतस्य**=उत्पन्न सोम के **पपिवांसम्**=हमारे शरीरों में रक्षण करनेवाले **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को **अनु आर्चन्**=अनुक्रमेण प्रतिदिन पूजते हैं तब यह उपासक **वज्रम् आदत्त**=हाथों में क्रियाशीलता रूप वज्र को ग्रहण करता है। २. **यद्**=जब यह क्रियाशील पुरुष **अहिम्**=इस (आहन्ति) विनाशक वासना को **अभि हन्**=विनष्ट करता है तो **उ**=निश्चय से अपने जीवन में **यह्वीः**=महान् **अपः**=कर्मों को **सर्तवा**=प्रभु की ओर जाने के लिए **असृजत्**=उत्पन्न करता है। वस्तुतः यह क्रियाशील पुरुष ही आगे बढ़ता जाता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता द्वारा प्रभु का उपासन होता है। क्रियाशीलता ही वासना को विनष्ट करती है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्रह्माणः मरुतः इन्द्रः

उत ब्रह्माणो मरुतो मे अस्येन्द्रः सोमस्य सुषुतस्य पेयाः।
तद्धि हव्यं मनुषे गा अविन्ददहन्नहिं पपिवाँ इन्द्रो अस्य॥ ३॥

१. प्रभु कहते हैं कि **ब्रह्माणः**=ज्ञानप्राप्ति में लगे हुए ज्ञानप्रधान व्यक्ति **उत**=और **मरुतः**=मितरावी प्राणसाधक पुरुष तथा **इन्द्रः**=इन्द्रियों को वश में करनेवाला व्यक्ति **मे**=मेरे **अस्य**=इस **सुषुतस्य**=सम्यक् उत्पन्न किये गये **सोमस्य**=सोम का **पेयाः**=पान करें। 'ज्ञानप्राप्ति में लगे रहना, प्राणसाधना तथा जितेन्द्रियता' सोम के पान का साधन हैं। २. **तद्**=वह सोमपान **हि**=ही **हव्यम्**=(आह्वयितुं योग्यः) प्रार्थनीय है। प्रभु से यही प्रार्थना करनी चाहिए कि 'हम सोम का रक्षण करने में समर्थ हों'। यह सोम **मनुषे**=विचारशील पुरुष के लिए **गाः**=ज्ञान की वाणियों को **अविन्दत्**=प्राप्त कराता है। सोम ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। इसलिए **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **अहिम्**=वासना को **अहन्**=नष्ट करना है और **अस्य पपिवान्**=इस सोम का पान करनेवाला होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के साधन हैं (क) ज्ञान प्राप्ति में लगे रहना (ख) प्राणसाधना में प्रवृत्त होना तथा (ग) जितेन्द्रिय बनना। सुरक्षित सोम हमारी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मृगों का पलायन

आद्रोदसी वितरं वि ष्कभायत्संविव्यानश्चिद्भियसे मृगं कः।
जिगर्तिमिन्द्रो अपजर्गुराणः प्रति श्वसन्तमव दानवं हन्॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोमरक्षण करनेवाला व्यक्ति **आत्**=सोमरक्षण के साथ शीघ्र ही **रोदसी**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को—**वितरम्**=खूब ही **विष्कभायत्**=थामता है। मस्तिष्क व शरीर का अच्छी प्रकार धारण करता है। **संविव्यानः**=सम्यक् गति करता हुआ (वेतैर्गतिकर्मणा)—सदा उत्तम कर्मों में लगा हुआ **चित्**=निश्चय से **मृगम्**=काम-क्रोध आदि पशुओं को (कामः पशुः, क्रोधः पशुः) **भियसे कः**=भयभीत करता है—उन्हें अपने से दूर भगाता है। सदा सत्कर्मों में लगा हुआ काम आदि से आक्रान्त नहीं होता। २. **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **जिगर्तिम्**=निगल जानेवाले इन लोभ आदि शत्रुओं को **अपजर्गुराणः**=(ejecting) परे फेंकता हुआ अथवा इनके आच्छादन से अपने को मुक्त करता हुआ **प्रतिश्वसन्तम्**=आक्रमण के लिए फुंकार मारते हुए इन **दानवम्**=असुरभावों को **अवहन्**=सुदूर विनष्ट करता है।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष काम-क्रोध रूप पशुओं को दूर भगाता है। लोभ द्वारा निगले जाने

से अपने को बचाता है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण से प्रभुप्राप्ति

अध क्रत्वा मघवन्तुभ्यं देवा अनु विश्वे अददुः सोमपेयम्।
यत्सूर्यस्य हरितः पतन्तीः पुरः सतीरुपरा एतशे कः ॥ ५ ॥

१. **अध**=अब **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए **क्रत्वा**=ज्ञान व शक्ति की प्राप्ति के हेतु से **विश्वेदेवाः**=सब देव **सोमपेयं**=सोम के पान को **अनु अददुः**= अनुकूलता से प्राप्त कराते हैं। देववृत्तियों के होने पर सोमरक्षण का सम्भव होता है। यही देवों का 'सोमपेय का दान' है। आसुरभाव ही सोम विनाश का कारण बनते हैं। सोमरक्षण के होने पर शक्ति व प्रज्ञान की प्राप्ति होती है। ये शक्ति व प्रज्ञान हमें प्रभु प्राप्ति का पात्र बनाते हैं २. जब हम प्रभु को प्राप्त करते हैं तो यह वह समय होता है **यत्**=जब कि वे प्रभु **सूर्यस्य**=ज्ञानसूर्य की **पतन्तीः**=चारों ओर फैलती हुई **हरितः**=रश्मियों को **पुरःसतीः**=सामने होती हुई तथा **उपराः** (Nearer) अधिक समीप **एतशे**=इस ज्ञानदीप्त (shining) पुरुष के निमित्त **कः**=करते हैं। हम प्रभु को प्राप्त करते हैं, प्रभु हमें ज्ञानरश्मियों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—दिव्यगुणों को धारण करने के प्रयत्न से हम सोम का रक्षण करते हैं। सोमरक्षण से प्रज्ञान व शक्ति प्राप्त होती है। इससे हम प्रभु प्राप्ति के योग्य बनते हैं। प्रभु हमारे लिए ज्ञानरश्मियों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासनाग्नि का निर्माण

नव यदस्य नवतिं च भोगान्त्साकं वज्रेण मघवा विवृश्चत्।
अर्चन्तीन्द्रं मरुतः सधस्थे त्रैष्टुभेन वचसा बाधत द्याम् ॥ ६ ॥

१. **मघवा**=ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त यह उपासक **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **अस्य**=इस शंवर (ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध) नामक असुर के **नव नवतिं च**=निन्यानवे **भोगान्**=भोगसाधन नगरियों को **साकम्**=एकदम **विवृश्चत्**=काट डालता है। क्रियाशीलता के द्वारा भोगवृत्तियों से ऊपर उठता है। २. इसी शंवर की पुरियों के विनाश के लिए ही **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुष **सधस्थे**=आत्मा व परमात्मा के सह-स्थान हृदय में **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अर्चन्ति**=पूजते हैं। प्रभु पूजन हमें वासनाओं का शिकार नहीं होने देता। **त्रैष्टुभेन वचसा**='काम, क्रोध, लोभ' को रोकनेवाले प्रभु के स्तुतिवचनों से **द्याम्**=(दिव्-fire) वासनाओं की अग्नि को—कामाग्नि को—**बाधत**=बाधित करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हृदय में प्रभु का उपासन करने से शतशः वासनाओं का विनाश होकर वासनाग्नि शान्त हो जाती है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महिष् त्रय पचन

सखा सख्ये अपचत्तूयमग्निरस्य क्रत्वा महिषा त्री शतानि।
त्री साकमिन्द्रो मनुषः सरांसि सुतं पिबद् वृत्रहत्याय सोमम् ॥ ७ ॥

१. **सखा**=सर्वमित्र **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **अस्य क्रत्वा**=इस जीव के प्रज्ञान व शक्ति के हेतु से **सख्ये**=अपने मित्रभूत इस जीव के लिए **तूयम्**=शीघ्र ही **शतानि**=शतवर्ष पर्यन्त **त्री**=तीन **महिषा**=महनीय 'ऋग् यजु साम' रूप ज्ञानों को **अपचत्**=परिपक्व करता है। यह परिपक्व ज्ञान ही इस नींव का 'ओदन' (भोजन) बनता है। इस ओदन से परिपुष्ट हुआ-हुआ जीव प्रभु को प्राप्त करता है। २. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **साकम्**=साथ-साथ **मनुषः**=विचारशील पुरुष के **त्री सरांसि**=इन तीन ज्ञान जलाशयों को **पिबत्**=पीने का प्रयत्न करता है। 'ऋग् यजु साम' इन तीनों का ग्रहण करके वह 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' तीनों शरीरों को पवित्र कर लेता है। ऋचाओं के तालाब में (विज्ञान में) स्थूल शरीर का शोधन हो जाता है। यजु में (यज्ञों में) सूक्ष्म शरीर धुल जाता है तथा साम (उपासना) में कारणशरीर दीप्त हो उठता है। ३. यह **इन्द्र सुतं सोमम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **वृत्रहत्याय**=वासनाओं के विनाश के लिए **पिबत्**=पीता है। सोमपान के द्वारा ज्ञान की आवरणभूत वासना को यह विनष्ट करता है। इस वृत्र रूप मेघ के हट जाने से इसका ज्ञानसूर्य चमक उठता है।

भावार्थ—प्रभु अपने मित्र जीव के लिए 'ऋग् यजु साम' रूप तीन महनीय ज्ञानों का पचन करते हैं। ये ही तीन सरस्वती के सरस् हैं। विचारशील पुरुष इनमें स्नान करता है। उत्पन्न सोम का रक्षण करता हुआ वासना का विनाश करता है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

महिषत्रय मांस भक्षण

त्री यच्छ॒ता म॑हि॒षाणा॒मघो॒ मास्त्री सरां॑सि म॒घवा॑ सो॒म्यापाः॑।
का॒रं न विश्वे॑ अह्वन्त दे॒वा भर॒मिन्द्रा॑य॒ यदहिं॑ ज॒घान॑॥ ८॥

१. **यत्**=जब **शता**=शतवर्ष पर्यन्त, अर्थात् आजीवन **त्री महिषाणाम्**=तीनों महनीय 'ऋग् यजु साम' ज्ञानों के **मास्**=तत्त्व को **अघः**=तू खाता है, अर्थात् इनके तत्त्व का तू ग्रहण करता है। उस तत्त्व का जिसमें कि अद्भुत मानस आह्लाद प्राप्त होता है 'मानसम् अस्मिन् सीदति इति' तो **मघवा**=ज्ञानैश्वर्य वाला होता हुआ तू, हे **सौम्य**=सोमपान में उत्तम **सरांसि**=तीनों ज्ञान जलाशयों का **अपाः**=पान करता है। २. **विश्वे देवाः**=सब देववृत्ति के व्यक्ति **कारं न**=सब संसार के निर्माण करनेवाले की तरह **भरम्**=संसार का भरण करनेवाले उस प्रभु को **अह्वन्त**=पुकारते हैं। वे प्रभु ही संसार को बनाते हैं, वे ही इसका भरण करते हैं। देववृति के व्यक्ति इस प्रभु को पुकारते हैं **यत्**=क्योंकि ये प्रभु ही **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **अहिम्**=(आहन्ति) विनाशक वासना को **जघान**=नष्ट करते हैं।

भावार्थ—हम सदा तीन महनीय 'ऋग् यजु साम' रूप ज्ञानों के तत्त्व को समझने का प्रयत्न करे—यही तीन महिषों के तत्त्व का भक्षण है। इन तीन ज्ञानसरोवरों का पान करें। प्रभु को पुकारें। प्रभु ही तो हमारी वासना को विनष्ट करेंगे।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः उशना वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शुष्ण संहार

उ॒शना॒ यत्स॑ह॒स्यै३॑रया॑तं गृ॒हमि॑न्द्र जूजु॒वाने॑भि॒रश्वैः॑।
व॒न्वा॒नो अत्र॑ स॒रथं॑ ययाथ॒ कुत्से॑न दे॒वैरव॑नोर्ह॒ शुष्ण॑म्॥ ९॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् व सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप और **उशनाः**=(कामयमानः) आपकी

प्राप्ति की कामनावाला यह जीवन **यत्**=जब **सहस्यैः**=उत्तमशत्रुमर्षक बलवाले **जूजुवानेभिः**= वेगवान् **अश्वैः**=इन्द्रियाश्वों के साथ **गृहम् अयातम्**=इस शरीर गृह में प्राप्त होते हो तो **वन्वानः**=यह जीव सदा शत्रुओं को जीतनेवाला होता है। प्रभु के सम्पर्क में जीव शत्रुओं से कुचला नहीं जाता। २. हे प्रभो! आप **कुत्सेन** (कुथ हिंसायाम्) इन वासनाओं का विनाश करनेवाले जीव के साथ **अत्र**=यहाँ **सरथम्**=समान रथ में **ययाथ**=गति करते हैं तो आप ही **देवैः**=दिव्य गुणों के द्वारा **शुष्णम्**=सुखा देनेवाले इस काम रूप शत्रु को **ह**=निश्चय से **अवनोः**=(अहिंसीः) हिंसित करते हैं।

भावार्थ—जब जीव प्रभु प्राप्ति की कामनावाला होता हुआ अपने शरीररथ में प्रभु के साथ अधिष्ठित होता है तो प्रभु इस के लिए वासना को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान+धन

प्रान्यच्च्चक्रमवृहः सूर्यस्य कुत्सायान्यद्वरिवो यातवेऽकः।
अनासो दस्यूँरमृणो वधेन नि दुर्योण आवृणङ्मृध्रवाचः॥ १०॥

१. हे प्रभो! आप **कुत्साय**=वासनाओं का संहार करनेवाले के लिए **सूर्यस्य**=ज्ञान सूर्य के **अन्यत् चक्रम्**=विलक्षण चक्र को **प्र अवृहः**=प्रकर्षेण बढ़ाइए। जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए वह शरीर रथ प्रभु ने दिया है। प्रभु इस रथ में एक चक्र तो ज्ञान का चक्र स्थापित करें। तथा **अन्यत्**=दूसरा **यातवे**=जीवनयात्रा को चलाने के लिए **वरिवः**=धन रूप **चक्र अकः**=करें (बनाएँ)। जीवन यात्रा के लिए धन आवश्यक है। इस धन के ठीक उपयोग के लिए ज्ञान आवश्यक है। शरीर शकट का एक चक्र 'ज्ञान' है तो दूसरा 'धन'। २. हे प्रभो! आप **अनासः**= स्तुति शब्दों से शून्य **दस्यून्**=दास्यव वृत्तिवाले लोगों को **वधेन**=शास्त्रों द्वारा **अमृणः**=कुचल देते हैं। **दुर्योणे**= संग्राम में **मृध्रवाचः**=हिंसक वाणीवाले लोगों को **नि आवृणक्**=छिन्न करनेवाले होते हैं। हमें जीवनसंग्राम में विजय प्राप्ति के लिए स्तुतिवाला-देववृत्तिवाला-तथा अहिंसकवाणी वाला बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीर शकट को ज्ञान व धन रूप पहियों से सुशोभित करें। हम जीवनसंग्राम में 'स्तुति-दिव्यवृत्ति व मधुरवाणी' को अपनाएँ। न हम 'अनास्' हो न 'दस्यु' और न ही 'मृध्रवाक्'।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गौरिवीति का सुन्दर जीवन

स्तोमासस्त्वा गौरिवीतेरवर्धन्नरन्धयो वैदथिनाय पिप्रुम्।
आ त्वामृजिश्वा सख्याय चक्रे पचन्पक्तीरपिबः सोममस्य॥ ११॥

१. 'गौरी' का अर्थ है वाक्, 'वीति' का भोजन। ज्ञान की वाणियाँ ही जिसका भोजन हैं वह '**गौ**रिवीति' है। हे प्रभो! इस **गौरिवीतेः**=ज्ञान रूप भोजनवाले ज्ञानी पुरुष से किये गये **स्तोमासः**= **स्तवन त्वा**=तुझे **अवर्धन्**=बढ़ानेवाले हों। ज्ञानी भक्त ही तो आप को सर्वाधिक प्रिय है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'। २. आप इस **वैदथिनाय**=सदा ज्ञानयज्ञ के द्वारा आपका उपासन करनेवाले पुरुष के लिए **पिप्रुम्**=(प्र पूरणे) अपने पेट को ही भरते रहने की वृत्ति को—अत्यन्त स्वार्थ की वृत्ति को—**अरन्धयः**=विनष्ट करते हैं। ज्ञानी पुरुष स्वार्थ से ऊपर उठता है। ज्ञान की कमी ही मनुष्य

को स्वार्थी बनाती है। ३. यह स्वार्थी पुरुष छलछिद्र से चलता है—इसका जीवन कुटिल होता है। इसके विपरीत **ऋजिश्वा**=ऋजुमार्ग से आगे बढ़नेवाला (ऋजुनाश्वयति) ज्ञानी पुरुष **त्वाम्**-हे प्रभो! आप को ही **सख्याय आचक्रे**=मित्रता के लिए करता है। ज्ञानी पुरुष प्रभु का मित्र बनता है। यह **पक्तीः पचन्**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध पाँच ज्ञानों के परिपाक को करता है और **अस्य**=इस परमात्मा से उत्पन्न किये हुए **सोमम् अपिबः**=सोम को पीता है। सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखता है। यह सोमरक्षण ही उसे 'दीप्त ज्ञानाग्निवाला—स्वार्थ से ऊपर—प्रभु का मित्र' बनाता है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ही प्रभु का सच्चा स्तोता है। ये ज्ञानी भक्त स्वार्थ से दूर रहते हैं। सरल मार्ग से चलते हुए ये प्रभु के मित्र होते हैं। ये प्रभु के मित्र ज्ञानौदन का परिपाक करते हैं, सोम का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'स्तवन' व 'पवित्र दीर्घजीवन'

नवग्वासः सुतसोमास इन्द्रं दशग्वासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः।
गव्यं चिदूर्वमपिधानवन्तं तं चिन्नरः शशमाना अप व्रन्॥ १२॥

१. नवम दशक तक—नब्बे साल तक—चलनेवाले 'नवग्व' हैं तथा दशम दशक तक जानेवाले 'दशग्व' हैं। ये **नवग्वासः**=नब्बे वर्ष तक चलनेवाले, **दशग्वासः**=१०० वर्ष तक चलनेवाले **सुतसोमासः**=सोम का (वीर्य का) सम्पादन करनेवाले लोग ही **अर्कैः**=मन्त्रों द्वारा **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु की **अभ्यर्चन्ति**=प्रातःसायं पूजा करते हैं। यह पूजा ही उन्हें वासनाओं के आक्रमण से बचाती है। तभी वे सोम का रक्षण कर पाते हैं और दीर्घजीवी बनते हैं। २. ये **शशमाना**=प्रभु का शंसन करते हुए अथवा प्लुत गति से कार्यों को करते हुए **नरः**= उन्नति पथ पर चलनेवाले लोग **तं**=उस **अपिधानवन्तम्**=वासनाओं के आवरण से आच्छादित **चित्**=भी **गव्यम् ऊर्वम्**=इन्द्रियों के समूह को **चित्**=निश्चय से **अपव्रन्**=आच्छादन रहित करते हैं। शशमान ही इन्द्रियों को विषय वासनाओं से लिप्त होने से बचा पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का अर्चन करते हुए दीर्घजीवी बनें, और इन्द्रिय समूह को विषय वासनाओं से आवृत हो जाने से बचाएँ।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अवर्णनीय महिमा वाले' प्रभु

कथो नु ते परि चराणि विद्वान्वीर्या मघवन्या चकर्थ।
या चो नु नव्या कृणवः शविष्ठ प्रेदु ता ते विदथेषु ब्रवाम॥ १३॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **या वीर्या चकर्थ**=जिन शक्तिशाली कर्मों को आप करते हैं, उन सबको **विद्वान्**=जानता हुआ मैं **नु**=अब **कथो**=कैसे ही **ते परिचराणि**=आपकी उपासना करूँ? आपके कर्म अनन्त हैं, मेरी वाणी की शक्ति सीमित है। सो उसके लिए आपकी महिमा का प्रतिपादन कैसे सम्भव है? आपकी महिमा मेरी वाणी से अतीत है। २. **च**=और **उ**=निश्चय से **या नव्या कृणवः**=जिन स्तुत्य कर्मों को आप करते हैं, हे **शविष्ठ**=शक्तिशालिन् प्रभो! **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में हम **ते**=आपके **ता**=उन कर्मों का **इत् उ**=अवश्य ही **प्रब्रवाम**=खूब ही प्रतिपादन करें।

भावार्थ—ज्ञानयज्ञों में एक चित्त होकर हम प्रभु के शक्तिशाली कर्मों का प्रतिपादन करें। इस प्रकार इन ज्ञानयज्ञों से ही प्रभु का पूजन करें। वस्तुतः प्रभु की महिमा हमारी वाणी से अतीत है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अनन्त शक्ति' प्रभु

एता विश्वा चकृवाँ इन्द्र भूर्यपरीतो जनुषा वीर्येण।
या चिन्नु वज्रिन्कृणवो दधृष्वान्न ते वर्ता तविष्या अस्ति तस्याः ॥ १४ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **एता विश्वा**=इन सब लोकों को **चकृवान्**=पालन व पोषण के दृष्टिकोण से आपने बनाया है। इन लोकों की प्रत्येक वस्तु ठीक उपयुक्त होने पर **भूरि**-हमारा भरण करनेवाली है। अज्ञानवश अयुक्त व अतियुक्त हुई-हुई वह वस्तु हमारे अकल्याण का कारण बनती है। हे प्रभो! आप **जनुषा वीर्येण**=अपने सहज (जन्मसिद्ध) पराक्रम से अथवा शक्तियों के विकास व पराक्रम से **अपरीतः**=शत्रुओं से कभी घेरे नहीं जाते। २. हे **वज्रिन्**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाले प्रभो! आप **दधृष्वान्**=सब शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं। आप **नु**=जब **या चित्**=जिन भी कर्मों को **कृणवः**=करते हैं, उस समय **ते**=आपकी **तस्याः**=उस **तविष्याः**=शक्ति का **वर्ता**=रोकनेवाला **न अस्ति**=नहीं है। आपकी शक्ति का कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता। आपके कर्मों को कोई विहत नहीं कर सकता।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति अनन्त है। प्रभु का कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वस्त्रा इव+रथं न

इन्द्र ब्रह्म क्रियमाणा जुषस्व या ते शविष्ठ नव्या अकर्म।
वस्त्रेव भद्रा सुकृता वसूयू रथं न धीरः स्वपा अतक्षम् ॥ १५ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **या**=जिन **ते**=आपके **नव्या**=प्रशस्त (नित्य नये) **ब्रह्म**=स्तोत्रों को **अकर्म**=करते हैं, वे **क्रियमाणा**=किये जाते हुए स्तोत्र, हे **शविष्ठ**=शक्तिशालिन् प्रभो! आपके लिए **जुषस्व**=प्रीतिजनक हों। आप उन स्तोत्रों को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करिए। २. मैं **धीरः**=ज्ञान में रमण करनेवाला होकर **स्वपाः**=उत्तम कर्मोंवाला होता हुआ **वसूयुः**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों की कामना वाला **भद्राः**=कल्याणकर **सुकृताः**=अच्छी प्रकार बुने हुए **वस्त्रा इव**=वस्त्रों की तरह उन स्तोत्रों को **अतक्षम्**=करता हूँ। वस्त्र हमें सर्दी गर्मी से बचाते हैं, इसी प्रकार ये स्तोत्र हमारा रक्षण करनेवाले होते हैं। **रथं न**=रथ के समान मैं इन स्तोत्रों को करता हूँ। रथ जैसे यात्रापूर्ति का साधन है, इसी प्रकार ये स्तोत्र हमारी जीवन यात्रा की पूर्ति का साधन बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु के स्तोत्र हमारे लिए वस्त्रों के समान रक्षण करनेवाले तथा रथ के समान जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए होते हैं।

इन स्तोत्रों के द्वारा उत्तमता से भरण करनेवाला यह 'बभ्रु' कहलाता है—स्तोत्रों से रक्षित हुआ-हुआ यह 'आत्रेय' तो बनता ही है—काम, क्रोध, लोभ से दूर यह प्रार्थना करता है—

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—बभ्रुरात्रेयः ॥ देवता—इन्द्र ऋणञ्चयश्च ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु दर्शन करनेवाला 'वीर'

क्व१स्य वीरः को अपश्यदिन्द्रं सुखरथमीयमानं हरिभ्याम्।

यो राया वज्री सुतसोममिच्छन्तदोको गन्ता पुरुहूत ऊती॥ १॥

१. **क्व**=कहाँ है **स्यः**=वह **वीरः**=वीर? **कः**=कौन **अपश्यत्**=देखता है **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को? 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्'। प्रकृति से आकृष्ट न हो जानेवाला कोई विरल वीर पुरुष ही प्रभु का दर्शन करता है। प्राकृतिक चमकीले विषयों से आकृष्ट न होना ही सबसे बड़ी वीरता है। २. उस प्रभु को जो कि **सुखरथम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले शरीर रथ को हमारे लिए देते हैं (सुखः रथः यस्मात्), जो रथ **हरिभ्याम्**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों से **ईयमानम्**=गतिवाला हो रहा है। उस प्रभु को हम देखें **यः**=जो कि **वज्री**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाले होते हुए **राया**=धन के द्वारा **सुतसोमम्**=सोम का (वीर्य का) सम्पादन करनेवाले पुरुष को **इच्छन्**=चाहते हैं। और **ऊती**=रक्षण के हेतु से जो **पुरुहूतः**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभु **तद् ओकः**=उस सुत सोम पुरुष के घर को **गन्ता**=जानेवाले होते हैं। सुतसोम को प्रभु प्राप्त होते हैं, इसी का वे रक्षण करते हैं। यह सुतसोम पुरुष ही अन्ततः प्रभु का दर्शन करता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें इन्द्रियाश्वों से युक्त यह शरीररथ दिया है। प्रभु ही हमें रक्षण के लिए आवश्यक धन देते हैं। हमारे रक्षण के लिए स्वयं उपस्थित होते हैं। हम सुतसोम बनकर प्रभु के दर्शन करनेवाले वीर बनें।

ऋषिः—बभ्रुरात्रेयः ॥ देवता—इन्द्र ऋणञ्चयश्च ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

नर+बुबुधान

अवाचचक्षं पदमस्य सस्वरुग्रं निधातुरन्वायमिच्छन्।

अपृच्छमन्याँ उत ते म आहुरिन्द्रं नरो बुबुधाना अशेम॥ २॥

१. **अस्य**=इस प्रभु के **सस्वः**=(गुप्तं द०, अन्तर्हित सा०) अन्तर्हित अथवा **स-स्वः**=प्रकाशमय **उग्रम्**=तेजस्वी **पदम्**=रूप को **अवाचचक्षम्**=विषयों से हटकर हृदय के अन्दर देखता हूँ। **निधातुः**=इस संसार के धारण करनेवाले के **अयम्**=आगमन व प्राप्ति को **अनु इच्छन्**=चाहता हुआ मैं **अन्यान् अपृच्छम्**=अन्य विद्वानों से भी जानने का प्रयत्न करता हूँ। **उत**=और **ते**=वे विद्वान् **मे**=मेरे लिए **आहुः**=कहते हैं कि **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले तथा **बुबुधानाः**=ज्ञानवाले होते हुए **अशेम**=प्राप्त करें। अर्थात् प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यही है कि 'नर' बनें—बुबुधान बनें।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों में ही विद्यमान है। उन्हें देखने के लिए आवश्यक है कि (क) हम उन्नति पथ पर चलनेवाले 'नर' बनें। तथा (ख) निरन्तर ज्ञानज्योति को प्राप्त करनेवाले 'बुबुधान' हों।

ऋषिः—बभ्रुरात्रेयः ॥ देवता—इन्द्र ऋणञ्चयश्च ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जीव हित के लिए सृष्टि के निर्माता 'सर्वसेन मघवा'

प्र नु वयं सुते या ते कृतानीन्द्र ब्रवाम यानि नो जुजोषः।

वेददविद्वाञ्छृणवच्च विद्वान्वहतेऽयं मघवा सर्वसेनः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभो! **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में या **ते कृतानि**=जो आपके कर्म हैं, **यानि**=जिनको **नः**=हमारे लिए **जुजोषः**=आप प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं, **वयम्**=हम **नु**=अब **प्रब्रवाम**=उनका प्रकर्षेण प्रतिपादन करते हैं। आपके उन कर्मों का स्मरण करते हुए आपका साधन करते हैं। २. **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष उन कर्मों को **शृणवत्**=(श्रावयेत्) सुनाए **च**=और **अविद्वान्**=न जानता हुआ उन्हें **वेदत्**=उस ज्ञानी पुरुष से जाने। **अयम्**=यह **मघवा**=सृष्टि रूप महान् यज्ञ (मघ-मख) को करनेवाला प्रभु **सर्वसेनः**=सूर्यचन्द्र अग्नि आदि तैंतीस देवरूप पूर्ण सेनावाला **वहते**=इस सृष्टि का वहन करता है प्रभु ही इस सारे संसार को चला रहे हैं। द्युलोकस्थ ग्यारह देव, अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देव, तथा पृथिवीस्थ ग्यारह देव इस प्रकार ये तैंतीस देव उस महादेव के सैनिक हैं। इस देव सैन्य के साथ प्रभु संसार को चला रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ने इस संसार को हमारे हित के लिए बनाया है। वे प्रभु इस देव सैन्य के साथ संसार का संचालन कर रहे हैं। प्रभु सेनापति हैं, सूर्य आदि देव उनके सैनिक।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

एकाग्रता का लाभ

स्थिरं मनश्चकृषे जात इन्द्र वेषीदेको युधये भूयसश्चित्।
अश्मानं चिच्छवसा दिद्युतो वि विदो गवामूर्वमुस्त्रियाणाम्॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **जातः**=गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की उपासना से विकसित शक्तियोंवाला होकर **मनः**=अपने मन को **स्थिरम्**=स्थिर (Still) शान्त-विषयों में न भटकनेवाला—**चकृषे**=करता है। मन को स्थिर करके तू **एकः इत्**=अकेला ही **भूयसः चित्**=संख्या में कितने ही अधिक हजारों शत्रुओं के साथ **युधये**=युद्ध के लिए **वेषीत्**=गतिवाला होता है—उनपर आक्रमण के लिए उनकी ओर जाता है। २. **अश्मानं चित्**=इस अविद्या पर्वत को भी **शवसा**=शक्ति के द्वारा **विदिद्युतः**=विच्छिन्न करता है। इस अविद्यापर्वत को विनष्ट करके **उस्त्रियाणाम्**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली **गवाम्**=इस वेदवाणी रूप गौवों के **ऊर्वम्**=समूह को **विदः**=प्राप्त करता है। मन के एकाग्र होने पर इन वेदवाणी रूप धेनुओं का ज्ञानदुग्ध प्राप्त होता ही है।

भावार्थ—उपासना से मन एकाग्र होता है। एकाग्र मन वासनाओं को पराजित करता है। इस मन के द्वारा अविद्या का विनाश होकर खूब ज्ञान की वृद्धि होती है।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परः-परमः

परो यत्त्वं परम आजनिष्ठाः परावति श्रुत्यं नाम बिभ्रत्।
अतश्चिदिन्द्रादभयन्त देवा विश्वा अपो अजयद्दासपत्नीः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार **यत्**=जब **त्वम्**=तू **परः**=विषयों से दूर होता हुआ **परमः**=उत्कृष्ट **आजनिष्ठाः**=विकसित शक्तियोंवाला होता है। उस समय जब कि तू **परावति**=उस (दूरात सुदूरे) दूर से दूर प्रदेश में भी वर्तमान प्रभु में **श्रुत्यं नाम**=श्रवणीय नाम को **बिभ्रत्**=धारण करता है। उस प्रभु का तू स्मरण करता है, जिसको कि लाँघने का कभी सम्भव ही नहीं—ऐसे स्थान में पहुँचा ही नहीं जा सकता जहाँ कि प्रभु नहीं। २. **अतः चित् इन्द्रात्**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु से ही **देवाः**=सब सूर्य आदि देव **अभयन्त**=भयभीत होते हैं 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'। तू प्रभु का बनता है तो ये सब देव तेरे भी अनुकूल

होते हैं। उस समय प्रभु तेरे लिए **विश्वाः**=सब **दासपत्नीः**=(दासः पतिः यासां) दास-वृत्र-वासना जिनकी स्वामिनी बन रही थी उन **अपः**=रेतःकणों को **अजयत्**=जीतते हैं। तू रेतःकणों के अपने में सुरक्षित कर पाता है। वस्तुतः प्रभु ही वासना को विनष्ट करते हैं और इन रेतःकणों को हमें प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण करते हुए हम विषयों से परे और उत्कृष्ट विकासवाले बनते हैं। सब देव हमारे अनुकूल होते हैं और हम रेतःकणों को वासनाओं का शिकार नहीं होने देते।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः**॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु का अर्चन व वासना का विनाश

तुभ्येदेते मरुतः सुशेवा अर्चन्त्यर्कं सुन्वन्त्यन्धः।
अहिमोहानमप आशयानं प्र मायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्रः॥ ६॥

१. हे प्रभो! **तुभ्य इत्**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **एते**=ये **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुष **सुशेवाः**=उत्तम कल्याणवाले होते हुए—सबके लिए सुखों को पैदा करते हुए **अर्कम् अर्चन्ति**=स्तुतिमन्त्रों को करते हैं—स्तोत्रों के द्वारा अर्चन करते हैं और आपकी प्राप्ति के लिए ही **अन्धः सुन्वन्ति**=अपने अन्दर सोम को उत्पन्न करते हैं। स्तुतिमन्त्रों के द्वारा अर्चन व सोम के रक्षण से हम प्रभु प्राप्ति के पात्र बनते हैं। २. **इन्द्रः**=यह प्रभु का अर्चन करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **मायाभिः**=प्रज्ञानों के द्वारा **अहिम्**=इस विनाशक (आहन्ति) वासना को **प्रसक्षत्**=अभिभूत करता है जो वासना **ओहानम्**=(देवान् अपबाधमानम्) दिव्य गुणों का बाधन करती है। **अपः आशयानम्**=रेतःकणों को आवृत करके शयन करती है, अर्थात् हमारे रेतःकणों की स्वामिनी बन जाती है और **मायिनम्**=अत्यन्त माया—छल, छिद्र व कुटिलता—वाली है। यह वासना हमें दिव्यगुणों से दूर—रेतःकणों का भोग में अपव्यय करनेवाला—तथा छलछिद्रमय जीवनवाला बना देती है। प्रभु की अर्चना हमें इस वासना से बचाती है।

भावार्थ—हम प्रभु प्राप्ति के लिए (क) प्राणसाधना करें (मरुतः) सबके जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न करें (सुशेवाः), स्तोत्रों को अपनाएँ (अर्चनमर्कम्) तथा सोम का रक्षण करें (अन्धः सुन्वन्ति)। प्रभु हमारे लिए वासना का विनाश करेंगे।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः**॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

नमुचि के शिर का उद्वर्तन (उलटना)

वि षू मृधो जनुषा दानमिन्वन्नहन्गवा मघवन्त्संचकानः।
अत्रा दासस्य नमुचेः शिरो यदवर्तयो मनवे गातुमिच्छन्॥ ७॥

१. हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यवाले प्रभो! आप **संचकानः**=स्तूयमान होते हुए **दानम् इन्वन्**=हमारे जीवनों में दानवृत्ति को प्रेरित करते हुए—हमें दानशील (=त्याग की वृत्तिवाला) बनाकर भोगमार्ग से दूर करते हुए—**जनुषा**=अपने जन्म से **मृधः**=हमारा कत्ल करनेवाले इन आसुरभावों को **गवा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **सु**=अच्छी प्रकार **वि अहन्**=नष्ट करते हैं। २. **अत्रा**=इस जीवन में **यद्**=जब आप **दासस्य**=हमारा उपक्षय (विनाश) करनेवाले इस **नमुचेः**=हमारा पीछा न छोड़नेवाले अहंकार के **शिरः**=सिर को **अवर्तयः**=आप उलटा देते हैं, अर्थात् हमारे अहंकार को विनष्ट कर देते हैं तो इस **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए आप **गातुम् इच्छन्**=मार्ग को चाहते हैं, अर्थात् इस विचारशील पुरुष को आप सदा मार्ग से ले-चलते हैं। अहंकार ही मनुष्य को मार्ग

भ्रष्ट करता है। विचारशील पुरुष सदा मार्ग पर चलनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान देकर—त्याग की वृत्तिवाला बनाते हुए वासनाओं से दूर करते हैं। अहंकार को नष्ट करके हमें मार्ग पर ले-चलते हैं।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मस्तिष्क व शरीर रूप दो चक्रोंवाला जीवनशकट

युजं हि मामकृथा आदिदिन्द्र शिरो दासस्य नमुचेर्मथायन्।
अश्मानं चित्स्वर्यं वर्तमानं प्र चक्रियेव रोदसी मरुद्भ्यः॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **माम्**=मुझे **हि**=निश्चय से **युजम् अकृथा**=अपना साथी बनाते हो—मेरे लिए अपनी मित्रता का प्रदान करते हो। **आत् इत्**=और अब शीघ्र ही **दासस्य**=मेरे विनाशकारी (दसु उपक्षये) **नमुचेः**=अहंकार के **शिरः**=सिर को **मथायन्**=कुचल देते हो। २. **स्वर्यम्** (स्वृ उपतापे)=अत्यन्त उपतप्त करनेवाले **वर्तमानम्**=मेरे जीवन में विद्यमान **अश्मानं चित्**=अविद्यापर्वत को भी आप विनष्ट करते हैं। और इन **मरुद्भ्यः**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुषों के लिए **रोदसी**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को—**चक्रिया इव**=जीवन शकट के दो चक्रों की तरह **प्र (अकृथाः)**=प्रकर्षेण कर देते हैं। मस्तिष्क की दीप्ति व शरीर की दृढ़ता से इनका जीवन शकट इन्हें लक्ष्य स्थान पर पहुँचानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे अहंकार व अज्ञान को नष्ट करते हैं। हमारे जीवन शकट को ज्ञान व शक्ति के चक्रों से युक्त करके हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचने के योग्य करते हैं।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्त्री रूप आयुध

स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः।
अन्तर्ह्यख्यदुभे अस्य धेने अथोप प्रैद्युधये दस्युमिन्द्रः॥ ९॥

१. **दासः**=हमारा उपक्षय करनेवाला वृत्र (कामदेव) **हि**=निश्चय से **स्त्रियः**=स्त्रियों को **आयुधानि चक्रे**=अपना आयुध (अस्त्र) बनाता है। तपोविद्या के नाश लिए वासनाओं के रूप में ये हमारे पास आती है, परन्तु **अस्य**=इस दास की ये **अबलाः सेनाः**=स्त्री रूप सेनाएँ **मा**=मेरा **किं करन्**=क्या कर सकती हैं। ये मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं। २. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **अस्य**=इस प्रभु की **उभे**=दोनों **धेने** (धेना-वाक्) अपराविद्या व पराविद्या रूप वाणियों को **अन्तः अख्यत्**=अपने अन्दर देखने का प्रयत्न करता है (चक्ष्=to see)। इन धेनाओं को अपने अन्दर देखता हुआ यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अथ**=अब **युधये**=युद्ध के लिए **दस्युम्**=उन स्त्रीरूप आयुधों का प्रयोग करनेवाले दस्यु को **उपप्रैत्**=आक्रान्त करता है। ज्ञान द्वारा वासनाओं पर आक्रमण करता है।

भावार्थ—संसार की वासनाओं में 'स्त्री के प्रति आसक्ति' प्रबलतम वासना है। हम ज्ञान द्वारा इस पर विजय पाने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बछड़े का गौ से मेल

समत्र गावोऽभितोऽनवन्तेहेह वत्सैर्वियुता यदासन्।
सं ता इन्द्रो असृजदस्य शाकैर्यदीं सोमासः सुषुता अमन्दन्॥ १०॥

१. **अत्र**=गतमन्त्र के अनुसार जब हम वासना पर विजय पा लेते हैं तो **गावः**=ये ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणीरूप गौएँ **इह**=इस जीवन में **अभितः**=चारों ओर से **सम् अनवन्त**=सम्यक् गतिवाली होती हैं, वे गौएँ **यद्**=जो **इह**=यहाँ **वत्सैः**=(वदति इति वत्सः) वेदमन्त्रों का उच्चारण करनेवाले पुरुष रूप वत्सों से **वियुताः**=वियुक्त (पृथक्) **आसन्**=थीं। पुरुष का वेदवाणी से मेल तो इस प्रकार है जैसा कि बछड़े का अपनी मातृभूत गौ से मेल हो। २. **ताः**=उन वेदवाणी रूप गौवों को **इन्द्रः**=प्रभु **समसृजत्**=इन वत्सों के साथ संसृष्ट कर देता है। **अस्य**=इस बछड़े की **शाकैः**=शक्तियों के हेतुओं से वे प्रभु ऐसा करते हैं जिस बछड़े को मातृदुग्ध पीने को नहीं प्राप्त होता, वह जैसे निर्बल हो जाता है, इसी प्रकार वेदमाता से पृथक् हुआ-हुआ पुरुष निर्बल हो जाता है। यह सब होता तब है **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **सुषुताः**=सम्यक् उत्पन्न हुए-हुए **सोमासः**=सोमकण इस सोम रक्षक पुरुष को **अमन्दन्**=आनन्दित करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा प्रभु वत्सतुल्य हम लोगों का गौ के तुल्य वेदवाणी से मेल कर देते हैं। इससे उस वेदवाणी के ज्ञानदुग्ध का पान करके हमारी शक्तियों का पोषण ठीक से होता है।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासना विनाश व ज्ञानदुग्धपान

यदीं सोमा बभ्रुधूता अमन्दन्नरोरवीद् वृषभः सादनेषु।
पुरन्दरः पपिवाँ इन्द्रो अस्य पुनर्गवामददादुस्रियाणाम्॥ ११ ॥

१. **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **सोमाः**=सोमकण **बभ्रुधूताः**=अपना धारण करनेवाले से शोधित किये हुए **अमन्दन्**=उस बभ्रु के जीवन को आनन्दयुक्त करते हैं, तो यह **वृषभः**=सोमरक्षण से शक्तिशाली बना हुआ मनुष्य **सादनेषु**=अपने गृहों में **अरोरवीत्**=खूब ही प्रभु का स्तवन करता है—प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता है। सोमरक्षण मनुष्य को प्रभु-श्रवण बनाता है। सोमी पुरुष सदा प्रभु भक्त होता है। २. इस समय **पुरन्दरः**=काम, क्रोध, लोभ आदि असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाला, **पपिवान्**=सोम का पान (रक्षण) करनेवाला **इन्द्रः**=शक्तिशाली प्रभु **अस्य**=इस स्तोता को **पुनः**=फिर **उस्रियाणाम्**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली **गवाम्**=वेदवाणी रूप गौओं को **अददात्**=देता है। इस स्तोता के लिए वासनाओं को विनष्ट करके, ज्ञानदुग्धदात्री वेदवाणी रूप गौओं को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमारी वृत्ति प्रभुस्तवन की होती है। इस स्तोता को प्रभु वासनाविनाश के साथ ज्ञानदुग्धदात्री वेदवाणीरूप धेनुओं को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋणञ्चय व रुशम (आचार्य+उपाध्याय)

भद्रमिदं रुशमा अग्ने अक्रन्गवां चत्वारि ददतः सहस्रा।
ऋणंचयस्य प्रयता मघानि प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणाम्॥ १२ ॥

१. 'ऋण' शब्द जल के लिए (rain) प्रयुक्त होता है—ये जल ही शरीर में रेतःकण हैं। इनका संचय करनेवाला—ऊर्ध्वरेता—ही ऋणञ्चय है। एक आचार्य को इसी प्रकार ऊर्ध्वरेता 'ऋणञ्चय' होना ही चाहिए। एक आचार्य कुल में सब उपाध्याय भी 'रुशम' (रुश हिंसायाम्) काम, क्रोध आदि शत्रुओं के हिंसक होने उचित हैं। ऐसे आचार्यों व उपाध्यायों से शिक्षा ग्रहण करते

हुए ही विद्यार्थी उत्तम ज्ञानयुक्त जीवनवाले बन सकते हैं। सो विद्यार्थी कहते हैं कि **गवाम्**=ज्ञान की वाणियों के **चत्वारि सहस्रा**=चार हजार को यजुर्वेद सामवेद को—**ददतः**=देते हुए **रुशमाः**=वासनाओं का संहार करते हुए उपाध्यायों ने, हे **अग्ने**=प्रभो! **इदं भद्रम् अक्रन्**=यह कल्याण ही किया है। यजुर्वेद के यज्ञों व साम की उपासना द्वारा ही तो वासनाओं का संहार होता है। २. इन उपाध्यायों से इन ज्ञानों को तो हमने ग्रहण किया ही है। साथ ही **नृणां नृतमस्य**=आगे ले-चलनेवालों में सर्वश्रेष्ठ (मनुष्यों के मनुष्य) **ऋणञ्चयस्य**=उर्ध्वरेता आचार्य के **प्रयता**=पवित्र **मघानि**=ज्ञानैश्वर्यों को हमने **प्रत्यग्रभीष्म**=ग्रहण किया है। इन उपाध्यायों व आचार्य ने ही हमें इस ज्ञानदुग्धवाणी वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्ध को पिलाया है।

भावार्थ—हम आचार्य व उपाध्यायों से ज्ञान को ग्रहण करें। इसी प्रकार हम वासनाओं का संहार करनेवाले व ऊर्ध्वरेता बन पाएँगे—'रुशम व ऋणञ्चय बन पाएँगे।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

समावर्तन

सुपेशसं माव सृजन्त्यस्तं गवां सहस्रै रुशमासो अग्ने।
तीव्रा इन्द्रममन्दुः सुतासोऽक्तोर्व्युष्टौ परितक्म्यायाः॥ १३॥

१. आचार्य व उपाध्याय विद्यार्थी को ज्ञान देकर सुन्दर जीवनवाला (-सुपेशस्) बनाकर घर में वापिस भेजते हैं। यही समावर्तन है। समावृत्त होता हुआ विद्यार्थी कहता है कि हे **अग्ने**=प्रभो! **रुशमासः**=ये वासनाओं का संहार करनेवाले उपाध्याय **गवां सहस्रैः**=हजारों ज्ञान वाणियों के द्वारा **सुपेशसम्**=उत्तम रूपवाला (उत्तम जीवनवाला) बनाकर **मा**=मुझे **अस्तम् अवसृजन्ति**=घर को प्राप्त करते हैं। आज मुझे सुपेशस् (पेश-Shape) बनाकर घर पर लौटने की अनुमति देते हैं। २. वस्तुतः **परितक्म्यायाः** (परितः तमसा तकति) चारों ओर से अन्धकार से व्याप्त करनेवाली **अक्तोः व्युष्टौ**=अज्ञान रात्रि के समाप्त होने पर—ज्ञान प्रभात के रूप में परिवर्तित हो जाने पर—**इन्द्रम्**=मुझ जितेन्द्रिय पुरुष को **सुतासः**=उत्पन्न हुए **तीव्राः**=प्रबल शक्तिवाले ये सोमकण **अममन्दुः**=आनन्द को देनेवाले हुए हैं। इनके द्वारा ही ज्ञानाग्नि की प्रचण्डता से मेरे लिए ज्ञानग्रहण का भी सम्भव हुआ है और उन्होंने ही मेरे गृहस्थ को सुसन्तति-वाला बनाया है।

भावार्थ—आचार्यों व उपाध्यायों ने ज्ञान देकर मेरे अज्ञानान्धकारवाली रात्रि को समाप्त किया है। मुझे सोमरक्षक बनाकर आनन्दित किया है।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीन रात्रियों का बीतना

औच्छत्सा रात्री परितक्म्या याँ ऋणंचये राजनि रुशमानाम्।
अत्यो न वाजी रघुरज्यमानो बभ्रुश्चत्वार्यसनत्सहस्रा॥ १४॥

१. 'प्रकृति जीव परमात्मा' के ज्ञान का अभाव ही रात्रि है। इन तीन रात्रियों के बीतने तक विद्यार्थी आचार्य कुल में ही रहता है। ये आचार्य 'ऋणञ्चय' है—शक्तिकणों का शरीर में संचार करनेवाले ऊर्ध्वरेता पुरुष हैं। अन्य उपाध्याय भी वासनाओं का संहार करनेवाले 'रुशम' हैं। ये ऋणञ्चय रुशमों के राजा ही है, सब उपाध्यायों में आचार्य की अद्भुत ही शोभा है—वे अपनी ज्ञानदीप्ति से चमकते प्रतीत होते हैं। सा **परितक्म्या रात्री**=वह चारों ओर से अन्धकार से कांपनेवाली रात **औच्छत्**=आज समाप्त हो गई है (-विवासित हो गई है), **यान्**=जिस रात्रि में

मैंने **रुशमानाम्**=रुशमों के अतीत वासनाओंवाले उपाध्यायवाले उपाध्यायों **राजनि**=राजा **ऋणञ्चये**=ऊर्ध्वरेता आचार्य के समीप रहकर बिताया है। इन्होंने ही अपने ज्ञान के प्रकाश से मेरी अज्ञानान्धकारवाली रात्रि को समाप्त किया है। २. आज यह विद्यार्थी **अत्यः न**=सततगामी अश्व के समान **वाजी**=शक्तिशाली बना है। **रघुः**=खूब तीव्र गतिवाला—आलस्य.....स्फूर्तिमय जीवनवाला हुआ है। **अज्यमानः**=विद्या आदि गुणों से इसका जीवन अलंकृत हुआ है। **बभ्रुः**=यह भरणपोषण में समर्थ बना है। क्योंकि इसने **चत्वारि सहस्रा**=इन चार हज़ार यजु व साम वाणियों का **असनत्**=सम्भजन किया है। यह यज्ञों व उपासना के द्वारा सचमुच 'घर का सुन्दर भरण कर पाएगा'।

भावार्थ—अज्ञानान्धकार दूर होने तक आचार्यकुल में रहकर यह विद्यार्थी स्फूर्तिमय गुणालंकृत जीवनवाला बना है। यह घर का उत्तमता से भरण करनेवाला 'बभ्रु' क्यों न बनेगा? इसने यज्ञों व उपासना का पाठ पढ़ा है। ये यज्ञ व उपासना इसके घर को उत्तम बनाएँगे ही।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अयस्मय (लोहा दृढ़) शरीर

चतुःसहस्रं गव्यस्य पश्वः प्रत्यग्रभीष्म रुशमेष्वग्ने।
घर्मश्चित्तप्तः प्रवृजे य आसीदयस्मयस्तम्वादाम विप्राः॥ १५॥

१. उस **पश्वः**=(पश्यति) सर्वद्रष्टा प्रभु के **गव्यस्य**=इन ज्ञानदुग्धदात्री वेदधेनुओं के **चतुः सहस्रम्**=इन यजु साम रूप चार हजार मन्त्रों को हमने **रुशमेषु**=वासनाओं के संहारक उपाध्यायों के चरणों में बैठकर **प्रत्यग्रभीष्म**=ग्रहण किया है। २. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **घर्मः**=यह शक्ति की उष्णतावाला शरीर **चित् तप्तः**=निश्चय से खूब ही तप वाला हुआ है, अर्थात् आचार्यकुल में मैंने तपस्यापूर्वक निवास किया है। अतएव **यः**=जो यह शरीर **प्रवृजे आसीत्**=सब रोगों व बुराइयों के छोड़नेवाला हुआ वह **अयस्मयः**=लोहे का बना हुआ—लोह दृढ़ बना है। हम **विप्राः**=ज्ञानी बनकर **तम् उ**=उस लोहों जैसे दृढ़ शरीर को ही **आदाय**=सदा ग्रहण करनेवाले हों।

भावार्थ—आचार्य कुल में विद्यार्थी ज्ञान को ग्रहण करे और शरीर के तप की अग्नि में तपा कर सब बुराइयों व रोगों से रहित करके अपने शरीर को अयोमय (लोह दृढ़) बनाए।

इस प्रकार ज्ञान व तपस्या द्वारा अपने रक्षण की कामनावाला 'अवस्यु' आत्रेय बनाता है—सब त्रिविध कष्टों से दूर होता है। यह कहता है कि—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जितेन्द्रियता-ज्ञानैश्वर्य-उपासना

इन्द्रो रथाय प्रवतं कृणोति यमध्यस्थान्मघवा वाजयन्तम्।
यूथेव पश्वो व्युनोति गोपा अरिष्टो याति प्रथमः सिषासन्॥ १॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **रथाय**=अपने शरीररथ के लिए **प्रवतम्**=(easy passage) निर्विघ्न मार्ग को **कृणोति**=बनाता है। विषय वासनाओं के टीले ही तो जीवनयात्रा के मार्ग को विषम बनाते हैं। उनसे ऊपर उठता हुआ यह व्यक्ति अपने मार्ग को सुगम बनाता है। उस रथ के मार्ग को सुगम बनाता है। **यम्**=जिस **वाजयन्तम्**=शक्तिशाली की तरह आचरण करते हुए रथ पर **मघवा**=ज्ञानैश्वर्यवाला यह इन्द्र **अध्यस्थात्**=अधिष्ठित होता है। २. **इव**=जैसे **गोपाः**=एक

ग्वाला **पश्वः यूथा**=पशुओं के झुण्ड को **व्युनोति**=प्रेरित करता है, उसी प्रकार यह रथाधिष्ठित मघवा **अरिष्टः**=रोगों व वासनाओं से हिंसित न होता हुआ **प्रथमः याति**=सर्वमुख्य होता हुआ आगे बढ़ता है। अपनी इस यात्रा में यह **सिषासन्**=(संभक्तुमिच्छन्) सदा प्रभु की उपासना की कामनावाला होता है। यह प्रभु की उपासना ही इसे प्रथम स्थान प्राप्त करने के योग्य बनाती है। उस प्रभु को अपना गोप बनाकर यह 'काम क्रोध आदि' पशुओं को ठीक से प्रेरित करने में समर्थ होता है। वशीभूत पशु कल्याणकर हैं। अवारा पशु ही परेशानी का कारण बना करते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रियता (इन्द्रः) व ज्ञानैश्वर्य (मघवा) जीवनयात्रा को सफलता से पूर्ण करने के प्रमुख साधन हैं। जितेन्द्रियता व ज्ञानैश्वर्य के लिए उपासना (सिषासन्) मूल साधन है।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानग्रहण व ज्ञानप्रदान

आ प्र द्र॑व हरिवो॒ मा वि वे॑नः॒ पिश॑ङ्गराते अ॒भि नः॑ सचस्व।

न॒हि त्वदि॑न्द्र॒ वस्यो॑ अ॒न्यदस्त्य॑मेनाँश्चि॒ज्जनि॑वतश्चकर्थ॥ २॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोवाले जीव! **आ प्र द्रव**=सब प्रकार से हमारी ओर आनेवाला तू हो अथवा निरन्तर अपने कर्त्तव्य कर्मों में गति वाला तू हो। **मा विवेनः**=उपासक कामनावाला न होना। सदा वेदाधिगम (ज्ञान-प्राप्ति) की कामनावाला बन तथा वैदिक कर्मयोग (वेदानुकूल कर्मों को करने) की कामनावाला हो। **पिशङ्गराते**=अलंकृत करनेवाले धनवाले। **नः**=हमें **अभि सचस्व**=प्रातः सायं दोनों समय संगत होनेवाला हो, अर्थात् प्रातः सायं ध्यान करने वाला तू बन। २. इस प्रकार करने पर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **त्वद् अन्यः**=तेरे से भिन्न कोई **अन्यत्**=और **वस्यः**=उत्तम वसुओंवाला है—तूने ही अपने निवास को उत्तम बनाया है। **अमेनान् चित्**=वेदवाणी रूप पत्नी से रहित पुरुषों को **चित्**=भी तू **जनिवतः**=वेदवाणी रूप जायावाला **चकर्थ**=करता है, अर्थात् उनके लिए वेदज्ञान को देनेवाला होता है।

भावार्थ—हमारे में सदा प्रभु प्राप्ति की कामना हो। हम ज्ञानधन से अपने को अलंकृत करें। औरों के लिए भी वेदज्ञान के देनेवाले बनें।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति व ज्ञान के दाता प्रभु

उद्यत्सह॒ः सह॑स॒ आज॑निष्ट॒ देदि॑ष्ट॒ इन्द्र॑ इन्द्रि॒याणि॒ विश्वा॑।

प्राचो॑दयत्सु॒दुघा॑ व॒व्रे अ॒न्तर्वि ज्योति॑षा संववृ॒त्वत्तमो॑ऽवः॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन बिताने पर **सहसः**=उस शक्तिपुत्र प्रभु से **उद्यत् सहः**=उदय होता हुआ शत्रुनाश बल **आजनिष्ट**=हमारे में प्रादुर्भूत होता है। **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **विश्वा इन्द्रियाणि**=सब इन्द्रियों को व बलों को **देदिष्ट**=हमारे लिए देते हैं। २. **वव्रे अन्तः**=हमें आवृत कर लेनेवाले अज्ञानान्धकार के बीच में **सुदुघाः**=उत्तम ज्ञानदुग्ध को पूरित करनेवाली वेदवाणी रूप गौओं को **प्राचोदयत्**=प्रकर्षेण प्रेरित करते हैं और इस प्रकार **ज्योतिषा**=ज्ञान के प्रकाश से **संववृत्वत्**=आवृत कर लेने वाले अन्धकार को **वि अव**=निवारित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही बल देते हैं। प्रभु ही अज्ञानान्धकार को नष्ट करके ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—अवस्युरात्रेयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ते अनवः

अनवस्ते रथमश्वाय तक्षन्त्वष्टा वज्रं पुरुहूत द्युमन्तम्।
ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्धयन्नहये हन्तवा उ॥ ४॥

१. हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **ते अनवः**=तेरे ये प्राणशक्तिसम्पन्न पुरुष **रथम्**=अपने शरीररथ को **अश्वाय**=इन्द्रियाश्वों से सम्पर्क के लिए **तक्षन्**=बनाते हैं, अर्थात् इस रथ में ये घोड़े सदा जुते रहते हैं और इनका जीवन क्रियाशील होता है। यह आपका व्यक्ति **त्वष्टा**=(त्विषेर्दीप्तौ) बड़े दीप्त जीवनवाला होता हुआ **वज्रम्**=अपने क्रियाशीलतारूप वज्र को **द्युमन्तम्**= प्रशस्त ज्योतिर्मय बनाता है। संक्षेप में, प्रभु का व्यक्ति क्रियाशील होता है और इसकी क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक होती हैं। २. **ब्रह्माणः**=स्तोतालोक **अर्कैः**=स्तुति मन्त्रों द्वारा **महयन्तः**=पूजन करते हुए **अवर्धयन्**=प्रभु की महिमा को बढ़ाते हैं। **अहये हन्तवा उ**=और (उ) इस प्रभु की महिमा के वर्धन के द्वारा ये वासना को विनष्ट करने में समर्थ होते हैं। वस्तुतः जब हृदय में प्रभु का निवास होता है तो वहाँ वासना का प्रवेश होता ही नहीं। ऐसे हृदय में प्रविष्ट होते ही वासना भस्म के रूप में हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु के व्यक्ति क्रियामय होते हैं। इनकी क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक होती हैं। ज्ञानयज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन करते हुए ये वासना को विनष्ट कर पाते हैं।

ऋषिः—अवस्युरात्रेयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अन्तःशत्रुओं के विजय से बाह्य शत्रुओं का विजय

वृष्णे यत्ते वृषणो अर्कमर्चानिन्द्र ग्रावाणो अदितिः सजोषाः।
अनश्वासो ये पवयोऽरथा इन्द्रेषिता अभ्यवर्तन्त दस्यून्॥ ५॥

१. हे प्रभो! **यत्**=जब **वृषणः**=शक्तिशाली पुरुष **वृष्णे ते**=शक्तिशाली आपके लिए **अर्कम् अर्चान्**=स्तुति मन्त्रों के द्वारा पूजन करते हैं। हे **इन्द्र**=हे सर्वशक्तिमन् प्रभो! तब **ये ग्रावाणः**=स्तोता लोग **अदितिः** (अदितयः)=स्वास्थ्यवाले होते हैं तथा **सजोषाः**=मिलकर परस्पर प्रीतिपूर्वक कार्यों को करनेवाले होते हैं। २. **अनश्वासः**=बिना ही घोड़ोंवाले **अरथाः**=रथों से भी रहित **ये**=जो **पवयः**=अपने को पवित्र बनानेवाले लोग हैं, वे **इन्द्रेषिताः**=प्रभु से प्रेरित हुए-हुए **दस्यून् अभ्यवर्तन्त**=दस्युओं पर आक्रमण करनेवाले होते हैं। ये बिना ही रथों व घोड़ों के अपने शत्रुओं को जीतनेवाले होते हैं। अन्तःशत्रुओं के विजय से अपने को शक्तिशाली बनाकर ये बाह्य शत्रुओं पर भी विजय पानेवाले होते हैं। 'इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया'।

भावार्थ—प्रभु के उपासक अपने जीवन को पवित्र बनाकर बाह्य शत्रुओं पर भी विजय पानेवाले होते हैं।

ऋषिः—अवस्युरात्रेयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के पूर्व व नूतन कर्म

प्र ते पूर्वाणि करणानि वोचं प्र नूतना मघवन्या चकर्थ।
शक्तीवो यद्विभरा रोदसी उभे जयन्नपो मनवे दानुचित्राः॥ ६॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=आपके **पूर्वाणि**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले

करणानि=कामों को **प्रवोचम्**=प्रकर्षेण प्रतिपादित करता हूँ—उनके महत्त्व को ज्ञानयज्ञों में कहता हूँ। हे मघवन्! **या**=जिन **नूतना**=स्तुत्य कर्मों को आप **चकर्थ**=करते हैं, उन्हें मैं प्रतिपादित करता हूँ। प्रभु के पालनात्मक पूरणात्मक व स्तुत्य कर्मों का प्रतिपादन करता हुआ मैं प्रभु की उपासना करता हूँ। २. हे **शक्तीवः**=निरतिशय शक्तिसम्पन्न प्रभो! **यद्**=जो आप **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **विभराः**=विशेष रूप से धारित करते हैं वे आप **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **दानुचित्राः**=(चित्रदानाः सा०) अद्‌भुत दानवाले, अद्‌भुत शक्ति को प्राप्त करानेवाले व (दाप् लवने) अद्‌भुत प्रकार से वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाले **अपः**=कर्मों को **जयन्**=जीतते हैं। अपने उपासक के द्यावापृथिवी—मस्तिष्क व शरीर का धारण करते हुए आप उसे कर्मशील बनाते हैं। जिससे कि वह सब वासनाओं का विनाश कर पाता है।

भावार्थ—प्रभु के कर्म अद्‌भुत है। प्रभु द्यावापृथिवी का धारण करते हुए हमें भी उन कर्मों की ओर प्रेरित करते हैं जो कि हमारी शक्ति का वर्धन करते हैं और हमारी वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दस्यु नाशक' प्रभु

तदिन्नु ते करणं दस्म विप्राहिं यद् घ्नन्नोजो अत्रामिमीथाः।
शुष्णस्य चित्परि माया अगृभ्णाः प्रपित्वं यन्नप दस्यूँरसेधः॥ ७॥

१. हे **दस्म**=दर्शनीय व दुःखध्वंसक **विप्र**=हमारा विशेष रूप से पूरण करनेवाले प्रभो! **इत् नु**=निश्चय से **तत्**=वह **ते**=आपका **करणम्**=महत्त्वपूर्ण कर्म है **यत्**=कि **अहिं घ्नन्**=वासना को विनष्ट करते हुए आप **अत्र**=यहाँ हमारे जीवन में **ओजः**=शक्ति को **मिमीथाः**=निर्मित करते हैं। २. **शुष्णस्य**=इस शोषक 'काम' (वासना) की **मायाः**=छलयुक्त प्रपञ्चों को **चित्**=निश्चय से **परि अगृभ्णाः**=काबू करते हैं। इसके छलों से हमें बचाते हैं और **प्रपित्वं यन्**=समीपता को प्राप्त होते हुए **दस्यून्**=हमारी दास्यववृत्तियों को **अप असेधः**=सुदूर निषिद्ध करते हैं। दूर से ही इन्हें रोककर हमारे समीप नहीं आने देते।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमारे समीप होते हुए हमारे शत्रुओं को दूर भगाते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः; इन्द्रः कुत्सो वा; इन्द्रः उशना वा** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सुदुघाः अपः अरमयः

त्वमपो यदवे तुर्वशायारमयः सुदुघाः पार इन्द्र।
उग्रमयातमवहो ह कुत्सं सं ह यद्वामुशनारन्त देवाः॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वम्**=आप **यदवे**=यत्नशील पुरुष के लिए—सतत उद्योग में लगे हुए व्यक्ति के लिए तथा **तुर्वशाय**=त्वरा से शत्रुओं को वश में करनेवाले व्यक्ति के लिए **सुदुघाः**=उत्तमता से प्रपूरण करनेवाले **अपः**=इन रेतःकणों को **अरयथः**=शरीर में ही रमणवाला बनाते हैं और इस प्रकार **पारः**=उसे सब रोगों व वासनाओं से पार करनेवाले होते हैं। इन रेतःकणों के रक्षण से शरीर में रोग नहीं आते तथा मन में वासनाओं का विनाश हो जाता है। इसीलिए इन्हें 'सुदुघाः' कहा है। ये हमारा उत्तम पूरण करते हैं। २. हे **इन्द्रः**=शत्रु विनाशक प्रभो! आप और **कुत्स**=(शत्रु विनाशक के लिए यत्नशील पुरुष) **उग्रम्**=इस उद्‌गूर्ण—अतिप्रबल—शत्रु 'काम' को

अयातम्=आक्रान्त करते हो। उस समय हे प्रभो! आप ही **ह**=निश्चय से **कुत्सम्**=इस शत्रुविनाशक पुरुष को **अवहः**=शत्रु विनाश के द्वारा घर में (ब्रह्मलोक में) प्राप्त कराते हैं। **यद्**=जब **वाम्**=आप दोनों को (इन्द्र और कुत्स को) **उशना देवाः**=प्रभु प्राप्ति की कामनावाले देववृत्ति के व्यक्ति **ह**=निश्चय से **समरन्त**=प्राप्त होते हैं। देववृत्ति के व्यक्ति इन्द्र (प्रभु) की उपासना करते हैं और ज्ञानवर्धन के लिए कुत्स (वासनाओं का विनाश करनेवाले आचार्य) के समीप उपस्थित होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें रेत:कणों को प्राप्त कराके भवसागर के पार ले-जाते हैं। इन रेत:कणों के रक्षण के लिए प्रभु ही हमें 'काम' के विनाश में समर्थ करते हैं। देववृत्ति के व्यक्ति प्रभु की उपासना करते हैं, ज्ञानप्राप्ति के लिए इन कुत्स लोगों के समीप उपस्थित होते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः कुत्सश्च वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हृदय से अन्धकार का निवारण

इन्द्राकुत्सा वहमाना रथेना वामत्या अपि कर्णे वहन्तु।
निः षीमद्भ्यो धमथो निः षधस्थान्मघोनो हृदो वरथस्तमांसि॥ ९ ॥

१. 'इन्द्र' प्रभु है—इस प्रभु का उपासक जीव भी जितेन्द्रिय बनकर 'इन्द्र' हो जाता है। उस समय जीव कुत्स होता है—वासनाओं का संहार करनेवाला। हे **इन्द्राकुत्सा**=इन्द्र व कुत्स **रथेन**=इस शरीररथ से **वहमाना**=उह्यमान (ले जाये जाते हुए) **वाम्**=आप को **अत्याः**=ये सततगामी—निरन्तर क्रिया में लगे हुए इन्द्रियाश्व **कर्णे**=उस प्रभु की वाणी को सुनने के स्थान में **अपिवहन्तु**=निश्चय से प्राप्त कराएँ। २. आप दोनों **सीम**=सब ओर से **अद्भ्यः**=प्रजाओं के हित के लिए **मघोनः**-हे परमात्मन्! **निः धमथः**=दुष्टजनों को, बुरे विचारों को निकालो **सधस्थात्**=साथियों के भी **हृदः**=हृदय से **तमांसि**=अन्धकारों को **निः वरथः**=निवारण करो।

भावार्थ—वह परमात्मा हमारे हृदय के अन्धकार को दूर करे, जिससे हमें ज्ञान का प्रकाश मिले।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कवि-अवस्युः

वातस्य युक्तान्त्सुयुजश्चिदश्वान्कविश्चिदेषो अजगन्नवस्युः।
विश्वे ते अत्र मरुतः सखाय इन्द्र ब्रह्माणि तविषीमवर्धन्॥ १० ॥

हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यशाली परमात्मन्! जैसे **कविः चित्**=क्रान्तदर्शी **अवस्युः**=गमन का इच्छुक **वातस्य**=वायु के बल से **सुयुजः**-अच्छी प्रकार जुड़नेवाले **युक्तान्**-जुड़े हुए **अश्वान्**=घोड़ों या वाहनों को **अजगन्**=नियन्त्रित कर चलाता है। उसी प्रकार **विश्वे**=सब **अत्र**=यहाँ **मरुतः**=प्राणापान **सखायः**=मित्रभाव से **ब्रह्माणि**=परब्रह्म **ते तविषीम्**=वे प्राणों के साथियों को, यम-नियमों को **अवर्धन्**=बढ़ायें।

भावार्थ—जिस प्रकार एक कुशल चालक अपने घोड़ों को वाहन को नियन्त्रित रखता है, उसी प्रकार योग द्वारा प्राणों को नियन्त्रित करता है।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रतुं भत्

सूरश्चिद्रथं परितक्म्यायां पूर्वं करदुपरं जूजुवांसम्।
भरच्चक्रमेतशः सं रिणाति पुरो दधत्सनिष्यति क्रतुं नः॥ ११ ॥

जिस प्रकार **सूरः चित्**-कोई विद्वान् **रथम्**=शरीररूपी रथ को **परितक्म्यायाम्**-कठिनाइयों में भी **उपरम्**-आगे उन्नति पथ पर **जूजुवांसम्**=वेग से **पूर्वं करत्**-पूरण करता है। गन्तव्य स्थल पहुँचता है। अर्थात् स्थित हुआ हुआ वह स्फूर्ति से सब कार्यों को करनेवाला होता है। २. यह **एतशः**=शुद्ध जीवन में निवास करनेवाला (एते शेते) **चक्रं भरत्**-दिन भर के कार्यचक्र का भरण करता है। **संरिणाति** (drive out, expel)=इस प्रकार सब वासनाओं को अपने जीवन से पृथक् करता है। इस प्रकार **पुरः दधत्**=इन शरीर नगरियों का धारण करता हुआ—इन्हें रोगों व वासनाओं का शिकार न होने देता हुआ—यह **नः**=हमारे (प्रभु के) **क्रतुम्**=शक्ति व प्रज्ञान को **सनिष्यति**=अवश्य प्राप्त करेगा। जो भी व्यक्ति आलस्यशून्य होकर कर्त्तव्यपालन में प्रवृत्त होगा वह अवश्य ही शक्तिशाली व ज्ञानी बनेगा।

भावार्थ—चारों ओर अन्धकार के होने पर भी ज्ञानी शरीररथ को निरन्तर आगे बढ़ाता है। दिन के कार्यक्रम को सुन्दरता से करता हुआ यह अपने में ज्ञान व शक्ति को भरता है।

सुतसोम अध्वर्यु

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

आयं जना अभिचक्षे जगामेन्द्रः सखायं सुतसोममिच्छन्।

वदन्ग्रावाव वेदिं भ्रियाते यस्य जीरमध्वर्यवश्चरन्ति॥ १२॥

१. **जनाः**=हे लोगो! **अयम् इन्द्रः**=यह सर्वशक्तिमान-सर्वैश्वर्यसम्पन्न प्रभु **अभिचक्षे**=तुम्हें देखने के लिए तुम्हारे रक्षण के लिए (Look after) **आजगाम**=आता है। यह इन्द्र **सखायम्**=अपने मित्र **सुतसोमम्**=सोम का सवन करनेवाले को—अपने अन्दर वीर्यशक्ति (सोम) को उत्पन्न करनेवाले को—**इच्छन्**=चाहता है। २. यह **वदन्**=हमारे हृदयों में ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करता हुआ **ग्रावा**=महान् गुरु (स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्) **वेदिम् अवभ्रियाते**=यज्ञवेदी की ओर लाया जाता है, अर्थात् यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होने पर ही हम उस प्रभु को अपने समीप प्राप्त कराते हैं। उस प्रभु के सान्निध्य को हम प्राप्त करते हैं, **यस्य**=जिसकी **जीरम्**-प्रेरणा को **अध्वर्यवः**=यज्ञप्रणेता लोग **चरन्ति**=कार्यान्वित करते हैं। वस्तुतः प्रभु ने 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' यज्ञों के साथ ही हमें जन्म दिया है और कहा है कि इसके द्वारा तुम फूलो-फलो। इन यज्ञों के द्वारा ही तो प्रभु की उपासना होती है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। प्रभु यज्ञरूप ही तो हैं।

भावार्थ—प्रभु का मित्र वह है जोकि सोम का (वीर्य का) रक्षण करता है और यज्ञशील होता है ये ही व्यक्ति प्रभु से रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

चाकानन्त-चाकनन्त

ये चाकनन्त चाकनन्त नू ते मर्ता अमृत मो ते अंह आरन्।

वावन्धि यज्यूँरुत तेषु धेह्योजो जनेषु येषु ते स्याम॥ १३॥

हे **अमृत**=अमर धर्मन् परमात्मन्! **ये मर्ताः** जो मरणधर्मा मनुष्य **ते चाकनन्त**=तुझे चाहते हैं, **नू**-निश्चय से **ते**-वे तुझे **चाकनन्त**-सदा चाहते रहें। **ते**-वे मनुष्य **अंहः**=पाप को **मो आरन्**=मत प्राप्त हों। **उत**=और तू **तेषु**-उनमें **ओजः**-तेज **धेहि**-धारण कर, **यज्यून्**=यज्ञ करनेवालों का **वावन्धि**-संग कर जिससे हम **ते स्याम**-तेरे भक्त होवें।

भावार्थ—जो परमात्मा को चाहते हैं वे यज्ञशील होते हुए पाप कर्मों से दूर रहकर परमेश्वर

के भक्त होते हैं।

सुतसोम अध्वर्यु ही मार्ग पर चलनेवाला है। यह 'गातुः' (ठीक मार्ग पर चलनेवाला) कहाता है। मार्ग पर चलने से यह त्रिविध दुःखों से दूर 'आत्रेय' होता है। यह प्रार्थना करता है कि—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासना बन्धन-विनाश

अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान्बद्बधानाँ अरम्णाः।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजो वि धारा अव दानवं हन्॥ १ ॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आपने **उत्सम्**=ज्ञान प्रवाह को **अदर्दः**=वासना रूप बाँध के विदारण से खोल डाला है और इस प्रकार **खानि**=इन्द्रियों को **वि असृजः**=विषयों से विसृष्ट (पृथक्) किया है। **बद्बधानान्**=(बाध्यमानान्) वासना से बाधित होते हुए **अर्णवान्**=ज्ञान समुद्रों को, वासना विनाश के द्वारा **अरम्णाः**=फिर रमणवाला (=क्रीड़ावाला) किया है। २. हे **इन्द्र**=वज्र से शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जो अपने **महान्त पर्वतम्**=इस महान् अविद्यापर्वत (पाँच पर्वोंवाली होने से अविद्या पर्वत है) **विवः**=खोल डाला है और **धाराः**=ज्ञान की धाराओं को **विसृजः**=विसृष्ट किया है—बन्धन से मुक्त किया है। इस प्रकार **दानवम्**=दानव वृत्ति को—आसुरवृत्ति को **अवहन्**=विनष्ट किया है। ज्ञान खड्ग से ही विषयदानव का संहार होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे जीवनों में वासनाबन्धन को विनष्ट करके ज्ञान की धाराओं को प्रवाहित करते हैं।

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अविद्या-रात्रि' का अन्त

त्वमुत्साँ ऋतुभिर्बद्बधानाँ अरंह ऊधः पर्वतस्य वज्रिन्।
अहिं चिदुग्र प्रयुतं शयानं जघन्वाँ इन्द्र तविषीमधत्थाः॥ २ ॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आपने **बद्बधानान्**=विषयों से बाँधे जाते हुए **उत्सान्**=ज्ञान प्रवाहों को **ऋतुभिः**=(ऋ गतौ) नियमित गतियों के द्वारा **अरंहः**=फिर से गतिमय किया है। हे **वज्रिन्**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाले प्रभो! **पर्वतस्य**=आपने इस अविद्यापर्वत को **ऊधः**=रात्रि को (नि० १.७) **जघन्वान्**=विनष्ट किया है। २. हे **इन्द्र**=शत्रु विदारक प्रभो! **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! **अहिं चित्**=इस विनाशक वासना को भी आप ही नष्ट करते है, जो कि **प्रयुतम्**=हमारे साथ प्रकर्षेण युक्त हो जाती है और **शयानम्**=हमारे में निवास करती है। हे इन्द्र! आप इस वासना को विनष्ट करके **तविषीम्**=बल को **अधत्थाः**=हमारे में धारण करते हैं। वासना विनाश ही बल का जनक है।

भावार्थ—अविद्या की रात्रि को समाप्त करके प्रभु ज्ञानप्रवाह को गतिमय करते हैं। इस ज्ञानप्रवाह से वासना को विनष्ट करके वे हमें सबल बनाते हैं।

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तव्यान् अजनिष्ट

त्यस्य चिन्महतो निर्मृगस्य वधर्जघान तविषीभिरिन्द्रः।
य एक इदप्रतिर्मन्यमान आदस्मादन्यो अजनिष्ट तव्यान्॥ ३ ॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **तविषीभिः**=बलों के द्वारा—ज्ञान द्वारा प्राप्त शक्तियों से— **त्यस्य चित्**=उस प्रसिद्ध **महतः**=प्रबल (महान्) **मृगस्य**=पशु के तुल्य बलवान् काम के **वधः**=अस्त्र को **निर्जघान**=नष्ट करता है। काम के अस्त्र को विनष्ट करके यह उसे निरस्त्र (निहत्था) बना देता है। २. **यः**=जो **एकः इत्**=अकेला ही **अप्रतिः**=प्रतिद्वन्द्वियों से रहित **मन्यमानः**=आदरणीय प्रभु हैं। **आत्**=अब **अस्मात्**=इस प्रभु से **अन्यः**=दूसरा जीव भी **तव्यान्**=बड़ा शक्तिशाली **अजनिष्ट**=हो जाता है। प्रभु सम्पर्क से जीव की भी शक्ति बड़ी बढ़ी हुई हो जाती है।

भावार्थ—वासना के विनाश होने पर जीव, उस प्रभु से मेल के कारण, बड़ा शक्तिशाली बन जाता है।

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दानव तेजो हरण

त्यं चिदेषां स्वधया मदन्तं मिहो नपातं सुवृधं तमोगाम्।
वृषप्रभर्मा दानवस्य भामं वज्रेण वज्री नि जघान शुष्णम्॥ ४॥

१. **वज्री**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाला जीव **वज्रेण**=इस क्रियाशीलता रूप वज्र के द्वारा **शुष्णम्**=शोषक शत्रुभूत काम को **निजघान**=नष्ट करता है। क्रियामय जीवनवाले को वासना नहीं सताती। **वृषप्रभर्मा**=धर्म (वृष धर्म) का प्रकर्षेण धारण करनेवाला यह वज्री **दानवस्य**=इस दानव के **भामम्**=तेज को विनष्ट करता है। 'काम' धर्म को नष्ट करता है, 'धर्म' काम को। वृषप्रभर्मा के जीवन में धर्म प्रबल होता है, सो वह काम का ध्वंसक बनता है। २. **त्यं चित्**=उस काम को भी यह विनष्ट करता है जो कि **एषां स्वधया मदन्तम्**=इनके अन्त से ही हर्षित होता है, अर्थात् इन प्राणियों को ही अपना आधार बनाकर विनष्ट कर डालता है—इन्हें ही खा जाता है। **मिहः**=आनन्द की वर्षा को यह **नपातम्**=नहीं गिरने देता। वासना के कारण धर्ममेघ समाधि में पहुँचकर आनन्द की वर्षा के अनुभव करने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। **सुवृधम्**=यह काम सेवित हुआ-हुआ बढ़ता ही जाता है 'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते'। **तमोगाम्**=हमें तमोगुण की ओर ले जाता है—हमारे जीवनों में अन्ततः अन्धकार का कारण बनता है।

भावार्थ—धर्म का धारण करनेवाला व्यक्ति क्रियाशीलता रूप वज्र से कामासुर का संहार करता है।

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'अन्धकार-निवासी' वृत्र

त्यं चिदस्य क्रतुभिर्निषत्तममर्मणो विददिदस्य मर्म।
यदीं सुक्षत्र प्रभृता मदस्य युयुत्सन्तं तमसि हर्म्ये धाः॥ ५॥

१. 'मर्म' शब्द के दो अर्थ हैं (क) (Truth) सत्य, तथा (Weak point) निर्बलता। वासना में सत्य नहीं, सो यह अमर्म है। चिन्तन करते ही यह नष्ट होती है, सो वही इसकी निर्बलता है, मर्म है। हे **सुक्षत्र**=उत्तम बलवाले इन्द्र **अमर्मणः**=सत्य से रहित **अस्य**=इस वृत्र (वासना) के **त्यम्**=उस **चित्**=निश्चय से **निःषत्तम्**=अन्दर गुप्त रूप से छिपे हुए **मर्म**=मर्मस्थल को **अस्य क्रतुभिः**=इस प्रभु के प्रज्ञानों से—हृदयस्थ प्रभु से दिये हुए प्रज्ञान के द्वारा—**विदद्**=जान लेता है। प्रभु का चिन्तन करते ही यह वासना विनष्ट हो जाती है। २. **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से ऐसा

होता है अर्थात् प्रभु का चिन्तन चलता है तो **यदस्य**=आनन्द को प्राप्त करानेवाले सोम के **प्रभृता**=प्रकर्षेण धारण करने पर **युयुत्सन्तम्**=युद्ध की इच्छावाले इस वृत्र को **तमसि**=अन्धकारमय **हर्म्ये**=घर में **धाः**=तू स्थापित करता है। वृत्र तेरी शक्ति से भयभीत होकर अन्धकारमय स्थान में जा छिपता है। इस वाक्य प्रयोग से यह भी स्पष्ट है कि वासना का निवास वहीं होता है, जहाँ अन्धकार हो। प्रकाश में वासना विनष्ट हो जाती है।

भावार्थ—सत्य से रहित वासना का मर्म (भेद) यही है कि प्रभु का चिन्तन हुआ और यह नष्ट हुई। प्रभु चिन्तन से सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष को छोड़कर यह उन पुरुषों में निवास करती है जिनके हृदयों में प्रभु का प्रकाश नहीं—जहाँ अन्धकार है।

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वासना का वर्धन हमारा विनाशक है

त्यं चिदित्था कत्पयं शयानमसूर्ये तमसि वावृधानम्।
तं चिन्मन्दानो वृषभः सुतस्योच्चैरिन्द्रो अपगूर्या जघान॥ ६॥

१. **त्यम्**=उस **चित्**=निश्चय से **इत्था**=सचमुच **कत्पयम्**=कुत्सित आप्यायन (वर्धन) वाले—जिसके बढ़ने से हमारा विनाश है, **शयानम्**=हमारे अन्दर ही निवास करनेवाले **असूर्ये**=आसुर भावनाओं के लिए हितकर **तमसि**=अन्धकार में **वावृधानम्**=खूब बढ़ते हुए **तम्**=उस वृत्र को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **उच्चैः अपगूर्या**=खूब उठाकर पटकता हुआ **जघान**=विनष्ट कर डालता है—ऊँचे उठाकर पटक डालता है। २. वह इन्द्र इस वृत्र को पटक कर नष्ट करता है, जो कि **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए सोम से (सोमेन सा०) **मन्दानः**=आनन्द का अनुभव करता हुआ **वृषभः**=शक्तिशाली बनता है।

भावार्थ—अन्धकार में पनपनेवाली वासना का वर्धन हमारे लिए अत्यन्त हानिकर है। हमें चाहिए कि हम सोम (वीर्य) का रक्षण करते हुए इस वासना को पटककर विनष्ट कर डालें।

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वासना विनाशक' वज्र

उद्यदिन्द्रो महते दानवाय वधर्यमिष्ट सहो अप्रतीतम्।
यदीं वज्रस्य प्रभृतौ ददाभ विश्वस्य जन्तोरधमं चकार॥ ७॥

१. **यत्**=जब **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **महते दानवाय**=इस महान् दानव (राक्षस) 'वृत्र' के विनाश के लिए **अप्रतीतम्**=शत्रुओं से आक्रान्त न होनेवाले **सहः**=शत्रुओं को कुचल देनेवाले **वधः**=क्रियाशीलता रूप वज्र को **उद्यमिष्ट**=उठाता है, और **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **वज्रस्य**=इस क्रियाशीलतारूप वज्र के **प्रभृतौ**=प्रकर्षेण धारण करने पर **ददाभ**=यह शत्रुओं को हिंसित करता है तो इस वृत्र को **विश्वस्य जन्तोः**=सब प्राणियों के **अधमं चकार**=अधम कर देता है—उनके पाँव तले इस वृत्र को रौंद देता है। २. वृत्र के विनाश के लिए बल प्राप्ति का एक ही मार्ग है कि हम क्रियाशील बने रहें। यह क्रियाशीलता ही वज्र है, जिससे कि वासना का विनाश होता है। वासना को कुचलने का—पाँव तले रौंदने का—यही उपाय है कि हम क्रियामय जीवनवाले हों।

भावार्थ—क्रियाशीलतारूप वज्र से ही वासना का विनाश सम्भव है।

ऋषिः—गातुरात्रेयः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अपादम् अत्रम्

त्यं चिदर्णं मधुपं शयानमसिन्वं वव्रं मह्याददुग्रः।
अपादमत्रं महता वधेन नि दुर्योण आवृणङ्मृध्रवाचम्॥ ८॥

१. **त्यम्**=उस **चित्**=निश्चय से **मधुपम्**=शरीर में सोम का पान (रक्षण) करनेवाले **अर्णम्**=ज्ञान जल को आवृत करके—उस पर परदा डालकर—**शयानम्**=निवास करते हुए, **असिन्वम्**=हमें निरन्तर इधर-उधर फेंकते हुए **वव्रं**=इस **महि**=महान् अति प्रबल वृत्र को—वासना को—**उग्रः**=यह तेजस्वी इन्द्र **आदत्**=पकड़ लेता है—उसे वश में करता है। वासना को काबू करके ही इसका विनाश किया जा सकता है। वस्तुतः वशीभूत काम 'काम' नहीं रहता। यह 'प्रेम' हो जाता है। २. **अपादम्**=कैद हो जाने के कारण गति से रहित हुए हुए इस **अत्रम्**=खा जानेवाले **मृध्रवाचम्**=ज्ञान वाणियों का हिंसन करनेवाले काम को वह तेजस्वी इन्द्र **महता वधेन**=महान् क्रियाशीलतारूप आयुध के द्वारा **दुर्योण**=इस शरीररूप गृह में अथवा इस शरीर में चलनेवाले वासनाओं के साथ संग्राम में **नि आवृणक्**=निश्चय से छिन्न कर डालता है।

भावार्थ—हम वासना को काबू करें। इसे वशीभूत करके क्रियाशीलतारूप वज्र से विनष्ट कर डालें। अन्यथा यह वासना हमें विनष्ट कर डालेगी। यह 'अत्र' है—खा जानेवाली है (अद् भक्षणे)।

ऋषिः—गातुरात्रेयः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अप्रतिम बलवाले प्रभु

को अस्य शुष्मं तविषीं वरात एको धना भरते अप्रतीतः।
इमे चिदस्य ज्रयसो नु देवी इन्द्रस्यौजसो भियसा जिहाते॥ ९॥

१. **कः**=कौन **अस्य**=इस इन्द्र के **शुष्मम्**=शत्रुओं का शोषण करनेवाले **तविषीम्**=बल को **वराते**=रोक सकता है, अर्थात् इसके बल का प्रतिरोध कोई नहीं कर सकता। **एकः**=यह अद्वितीय प्रभु ही **अप्रतीतः**=किसी भी शत्रु से आक्रान्त न हुआ-हुआ **धना भरते**=हमारे लिए धनों का पोषण करता है। २. **इमे देवी**=ये दिव्य शक्तियोंवाले द्यावापृथिवी प्रभु **चित्**=भी **अस्य ज्रयसः**=इस वेगवान् **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **ओजसः**=ओज के—बल के—**भियसा**=भय से ही **नु**=निश्चय से **जिहाते**=गति करते हैं। द्यावापृथिवी प्रभु की शक्ति से ही—उस प्रभु के प्रशासन में ही—गति कर रहे हैं। 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'=प्रभु के भय से सब गतिमय हो रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु का बल अप्रतिम है। प्रभु ही सब प्राणियों में उस उस धन का धारण करते हैं। द्यावापृथिवी उसी की शक्ति से गतिवाले होते हैं।

ऋषिः—गातुरात्रेयः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सब प्रभु के प्रति प्रणत होते हैं

न्यस्मै देवी स्वधितिर्जिहीत इन्द्राय गातुरुशतीव येमे।
सं यदोजो युवते विश्वमाभिरनु स्वधाव्ने क्षितयो नमन्त॥ १०॥

१. आकाश में सारे पदार्थ व लोक लोकान्तर धारित हो रहे हैं— आकाश 'स्वधिति' है—स्वयं अपना धारण करनेवाला है। यह **देवी**=दिव्य-प्रकाशमय—**स्वधितिः**=स्वयं अपने को धारण

करनेवाला आकाश **अस्मै इन्द्राय**=इस सर्वशक्तिमान् प्रभु के लिए **निजिहीते**=प्रणत होकर गतिवाला हो रहा है। यह आकाश प्रभु के प्रति प्रणत होता है। **गातुः**=यह गमनशील पृथिवी भी **उशती इव**=कामना करती हुई पत्नी के समान **येमे**=अपने को दे डालती हैं—उसी के प्रशासन में चलती है। २. **यद्**=जब वे प्रभु **अभिः**=इन द्यावापृथिवी में निवास करनेवाली प्रजाओं के साथ **विश्वम् ओजः**=सब बलों को **संयुवते**=मिलाते हैं तो उस समय **क्षितयः**=सब मनुष्य **स्वधाव्ने**=उस शक्तिवाले प्रभु के लिए **अनुनमन्त**=अनुकूलता से नतमस्तक होते हैं। प्रभु ही बल प्राप्त कराते हैं—सभी अन्ततः इस बल के स्वामी प्रभु के प्रति प्रणत होते हैं।

भावार्थ—सब द्यावापृथिवी—व उनमें रहनेवाले मनुष्य प्रभु से ही बल को प्राप्त करते हैं। सो वे प्रभु के प्रति प्रणत होते हैं।

ऋषिः—गातुरात्रेयः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

दिन-रात प्रभु का स्मरण

एकं नु त्वा सत्पतिं पाञ्चजन्यं जातं शृणोमि यशसं जनेषु।
तं मे जगृभ्र आशसो नविष्ठं दोषा वस्तोर्हवमानास इन्द्रम्॥ ११॥

१. हे प्रभो! **त्वा**=आपको मैं **जनेषु**=शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों में **जातम्**=प्रादुर्भूत हुआ-हुआ **शृणोमि**=सुनता हूँ। वस्तुतः उन लोगों में अमुक-अमुक शक्ति आपके प्रादुर्भाव के कारण ही होती है। मैं आपको **नु**=निश्चय से **एकम्**=अद्वितीय—अनुपम सुनता हूँ। आपकी किसी से उपमा नहीं दी जा सकती। **सत्पतिम्**=आप सज्जनों के रक्षक हैं। **पाञ्चजन्यम्**=पञ्चजनों का हित करनेवाले हैं—'ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र व निषाद' सभी का आप भला करते हैं। **यशसम्**=सम्पूर्ण यश आपका ही है। २. **मे**=मेरी **आशसः**=कामनाएँ **नविष्ठम्**=अत्यन्त स्तुत्य **तम्**=उस प्रभु को ही **जगृभ्रे**=ग्रहण करें। **दोषावस्तोः**=दिन रात **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **हवमानासः**=हम पुकारनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वश्रेष्ठ हैं। हम प्रभु को ही चाहें—प्रभु को ही दिन-रात पुकारें, अर्थात् प्रभुस्मरण करके ही सब कार्यों को करें।

ऋषिः—गातुरात्रेयः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'सर्वकाम प्रपूरक' प्रभु

एवा हि त्वामृतुथा यातयन्तं मघा विप्रेभ्यो ददतं शृणोमि।
किं ते ब्रह्माणो गृहते सखायो ये त्वाया निदधुः काममिन्द्र॥ १२॥

१. मैं **एवा**=सचमुच **हि**=ही **त्वाम्**=आपको **ऋतुथा**=उस-उस समय के अनुसार **यातयन्तम्**=प्रेरित करते हुए को **शृणोमि**=सुनता हूँ। आप ही सदा सत्प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। आपको ही मैं **विप्रेभ्यः**=अपना विशेष रूप से पूरण करनेवालों के लिए—न्यूनताओं को दूर करनेवाले के लिए—**मघा ददतम्**=ऐश्वर्यों को देते हुए को सुनता हूँ। आप ही विप्रों के लिए सब ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं। ३. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ये**=जो **कामम्**=अपनी इच्छा को **त्वाया**=आपकी प्राप्ति की कामना से ही **निदधुः**=स्थापित करते हैं, अर्थात् जिन्हें आपकी प्राप्ति के अतिरिक्त कोई कामना नहीं होती, **ते**=वे **ब्रह्माणः**=ज्ञानी स्तोता **सखायः**=आपके मित्र होते हुए **किं गृहते**=अनिर्वचनीय आनन्द को ग्रहण करनेवाले होते हैं। 'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते'।

भावार्थ—प्रभु ही समयानुसार प्रेरणा देते हैं—प्रभु ही सब ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु के उपासक एक अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार जो प्रभु का वरण करता है वह 'संवरण'=उत्तमवरणवाला होता है यह 'प्राजापत्य' (प्रजापते: अयम्-) प्रभु का ही हो जाता है। सदा प्रभु के कार्यों में प्रवृत्त रहता है—प्रजा के रक्षण में प्रवृत्त होता है। यह प्रार्थना करता है कि—

अथ चतुर्थाष्टके द्वितीयोऽध्यायः

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उपासना द्वारा शक्ति व सुमति का लाभ

महिं मुहे तुवसें दीध्ये नॄनिन्द्रायेत्था तुवसे अतव्यान्।
यो अस्मै सुमतिं वाजसातौ स्तुतो जनें समुर्यश्चिकेत॥ १॥

१. **अतव्यान्**=अपनी दुर्बलता को जानता हुआ मैं **नॄन्**=अपने शत्रुभूत, मुझे इधर उधर ले जानेवाले (नृ नये) काम, क्रोध आदि शत्रुओं को **तवसे**=(तु-Strike) नष्ट करने के लिए **महे तवसे**=उस महान् शक्ति के पुञ्ज **इन्द्राय**=सब शत्रुओं के विदारक प्रभु के दर्शन के लिए **इत्था**=सचमुच **महि दीध्ये**=महान् ज्ञानदीप्ति को अपने अन्दर करने का प्रयत्न करता हूँ। ये प्रभु ही तो मुझे वह बल देंगे जो कि मुझे इन शत्रुओं को जीतने में समर्थ करेगा। २. उस प्रभु को मैं देखने का प्रयत्न करता हूँ **यः**=जो **अर्यः**=सबका स्वामी प्रभु **अस्मै**=इस **जने**=शक्तियों का विकास करनेवाले पुरुष के लिए **वाजसातौ**=संग्राम में **स्तुतः**=स्तुति किया हुआ **सुमतिं संचिकेत**=कल्याणी मति को सम्यक् ज्ञापित करता है। प्रभु से दी गयी इस शुभ मति से ही वस्तुतः हम अपने काम, क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित करते हैं। जीवन एक संग्राम है। इसमें हम प्रभु से दी गई कल्याणी मति से ही विजय प्राप्त कर पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का ध्यान करते हैं। इससे हमें शक्ति व सुमति प्राप्त होती है और हम शत्रुओं को जीतते हैं।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु रूप सारथि

स त्वं नं इन्द्र धियसानो अर्कैर्हरीणां वृषन्योक्त्रमश्रेः।
या इत्था मंघवन्ननु जोषं वक्षो अभि प्रार्यः संक्षि जनान्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **स त्वम्**=वे आप **अर्कैः धियसानः**=मन्त्रों द्वारा ध्यान किये जाते हुए, हे **वृषन्**=शक्तिशाली प्रभो! **नः**=हमारे **हरीणाम्**=इन इन्द्रियाश्वों के **योक्त्रम्**=(नियोजनरज्जु) लगाम को **अश्रेः**=ग्रहण करते हैं—(सेवन करते हैं), अर्थात् आप हमारे सारथि बनते हैं। २. **याः**=जिन प्रजाओं को **इत्थ**=इस प्रकार **अनु जोषम्**=प्रीतिपूर्वक उपासना के अनुसार, अर्थात् जितना-जितना उपासक आपके समीप होता है उतना उतना, हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **वक्षः**=उन्हें (अवहः) लक्ष्य की ओर ले-चलते हैं और **अर्यः**=स्वामी होते हुए आप **जनान्**=इन शक्ति का विकास करनेवाले लोगों के साथ **प्रसक्षि**=समवेत होते हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासक के इन्द्रियाश्वों की बागडोर सम्भालते हैं। उपासक को प्राप्त होते हैं।

उपासक उपास्य में प्रविष्ट हो जाता है।

ऋषिः—संवरणः प्राजापत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वे प्रभु के नहीं हैं, जोकि—

न ते त इन्द्राभ्य१स्मदृष्वायुक्तासो अब्रह्मता यदसन्।
तिष्ठा रथमधि तं वज्रहस्ता रश्मिं देव यमसे स्वश्वः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् **ऋष्व**=महान् प्रभो! **अस्मद् अभि**=हमारे से भिन्न वे लोग जो **अयुक्तासः**=उपासना द्वारा आपके साथ अपना मेल करनेवाले नहीं और **यद्**=कि वे **अब्रह्मता**=ज्ञानशून्यता में **असन्**=निवास करते हैं **ते न**=आपके नहीं है। प्रभु का प्रिय वही है जो कि उपासना व ज्ञान को अपनाता है। मस्तिष्क में ज्ञान और हृदय में उपासना ही हमें प्रभु का प्रिय बनाती है। २. हे **वज्रहस्त**=निरन्तर क्रियाशील हाथोंवाले 'विश्वतो बाहु' प्रभो! आप हम उपासना व ज्ञान को अपनानेवाले पुरुषों के **तं रथम्**=उस शरीररथ पर **अधितिष्ठ**=होइए और आरूढ़ **देव**=ऐ प्रकाशमय प्रभो! हमारे सब व्यवहारों के साधक प्रभो! **स्वश्वः**=उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले आप ही **रश्मिम्**=उस रथ की लगाम को **आयमसे**=काबू करते हैं।

भावार्थ—उपासना के द्वारा प्रभु से अपना मेल करनेवालों तथा ज्ञान को अपनानेवालों के शरीररथ में उत्तम इन्द्रियाश्वों को जोतते हुए प्रभु ही अधिष्ठित होते हैं और वे ही लगाम को काबू करते हैं।

ऋषिः—संवरणः प्राजापत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'उर्वरा बुद्धि' रूप क्षेत्र में ज्ञान धेनु का चरना

पुरु यत्त इन्द्र सन्त्युक्था गवे चकर्थोर्वरासु युध्यन्।
ततक्षे सूर्याय चिदोकसि स्वे वृषा समत्सु दासस्य नाम चित्॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुसंहारक प्रभो! **यत्**=जब **ते**=आपके **पुरु उक्था सन्ति**=खूब ही स्तोत्र होते हैं, अर्थात् जब एक व्यक्ति आपकी उपासना में तन्मय होता है तो आप **युध्यन्**=वासनारूप 'वृत्र' से युद्ध करते हुए, अर्थात् ज्ञान के गति बन्धक 'काम' को नष्ट करते हुए **उर्वरासु**=ज्ञानशस्य की उत्पत्ति के लिए उपजाऊ बुद्धियों में—बुद्धि रूप क्षेत्रों में—**गवे**=इन ज्ञानवाणियों रूप धेनुओं के लिए **चकर्थ**=स्थान बनाते हैं। उपासक की बुद्धि खूब ही ज्ञान को प्राप्त करनेवाली होती है। २. **वृषा**=शक्तिशाली आप **स्वे ओकसि**=इस उपासक के शरीर रूप अपने घर में **सूर्याय**=ज्ञान सूर्य के उदय के लिए **दासस्य**=ज्ञान को विनष्ट करनेवाले 'वृत्र' (काम) के **नाम चित्**=नाम को भी **समत्सु**=संग्रामों में **ततक्षे (विनाशयति)**=नष्ट कर देते हैं। वासना का विनाश करके ही तो ज्ञानसूर्य के प्रकाश की प्राप्ति का सम्भव है। प्रभु उपासक की वासना को विनष्ट करके उसके जीवन में ज्ञान के सूर्योदय को करते हैं।

भावार्थ—जब हम प्रभु की उपासना करते हैं, प्रभु हमारी बुद्धि को ज्ञानशस्य के लिए उर्वरा (fertile) बनाते हैं। वहाँ ज्ञानवाणी रूप धेनुएँ चरती है। वासना का विनाश होकर उपासक के जीवन में ज्ञानसूर्य का उदय होता है।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु के हैं, जो कि—

वयं ते त इन्द्र ये च नरः शर्धो जज्ञाना याताश्च रथाः।
आस्माञ्जगम्याददहिशुष्म सत्वा भगो न हव्यः प्रभृथेषु चारुः ॥ ५ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **वयं ते**=हम आपके हैं और **ते**=आपके ही हैं, **ये**-जो कि **नरः**=अपने को उन्नतिपथ पर ले-चलने के लिए यत्नशील हैं। **च**=और **शर्धः जज्ञानाः**=अपने अन्दर बल का सम्पादन करनेवाले हैं। **च**=और **याताः**=सदा आपके समीप प्राप्त होनेवाले—आपके उपासक हैं और **रथः**=खूब वेगयुक्त गतिवाले हैं (रंहणशील हैं)। २. 'हम ऐसे ही बन सकें' इसके लिए हमारी आपसे आराधना है कि हे **अहि शुष्म** (अह व्याप्तौ)=सर्वतोव्याप्त बलवाले प्रभो! **अस्मान्**=हमें वह पुरुष **आजगम्यात्**=प्राप्त हो—हमारा सम्पर्क सदा ऐसे ही आचार्य से हो जो कि (क) **सत्वा**=सात्त्विक बलवाला है। (ख) **भगः न**=ऐश्वर्यशाली आपके समान ही **हव्यः**=अर्पण के योग्य है—जिसके प्रति अपना अर्पण करके ही हम अपना कल्याण सिद्ध कर सकते हैं। २. **प्रभृथेषु चारुः**=प्रकृष्ट भरण के कार्यों में खूब गतिशील है, अर्थात् शरीर मन व बुद्धि के भरण में सदा क्रियाशील है।

भावार्थ—हे प्रभो! हम उत्तम पुरुषों के संग में उत्तम जीवनवाले बनकर आपके सच्चे उपासक बन पाएँ।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

बल+धन

पपृक्षेण्यमिन्द्र त्वे ह्योजो नृम्णानि च नृतमानो अमर्तः।
स न एनीं वसवानो रयिं दाः प्रार्यः स्तुषे तुविमघस्य दानम् ॥ ६ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वे हि**=आपमें ही **ओजः**=वह ओज है—बल है जो कि **पपृक्षेण्यम्**=सम्पर्क के योग्य है। **च**=और **नृम्णानि**=वे धन भी आपके ही समीप है, जो कि सचमुच पाने के योग्य है। आपका उपासक इस ओज (बल) को व इन धनों को प्राप्त किया करता है। आप ही **नृतमानः**=इस संपूर्ण संसारनृत्य को कर रहे हैं—आप ही सम्पूर्ण संसार को चला रहे हैं। **अमर्तः**=आप ही अमर हैं। आप का उपासक भी अमरता को प्राप्त करता है। २. **सः**-वे **आप नः**=हमारे लिए, **वसवानः**=हमें अपनी गोद में आच्छादित करते हुए, **एनीं रयिम्**=शुद्ध सम्पत्ति को (श्वेत-छल छिद्र से न कमायी गई सम्पत्ति को) **दा**=दीजिए। **प्र अर्यः**=आप ही प्रकृष्ट स्वामी हैं—सब धनों के स्वामी आप ही तो हैं। **तुविमघस्य**=अनन्त ऐश्वर्यवाले आपके **दानम्**=दान को मैं **स्तुषे**=स्तुत करता हूँ। आपके दान का स्तवन करता हुआ मैं आपने को उस दान का पात्र बनाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु ही सब बलों व धनों के स्वामी हैं। हमारा रक्षण करते हुए प्रभु हमें शुद्ध सम्पत्ति प्राप्त कराएँ। हम अपने को प्रभु के दानों का पात्र बनाएँ।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

गृणता कारुन् (क्रियाशील स्तोता)

एवा न इन्द्रोतिभिरव पाहि गृणतः शूर कारून्।
उत त्वचं ददतो वाजसातौ पिप्रीहि मध्वः सुषुतस्य चारोः ॥ ७ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **एवा**=गति के द्वारा **नः**=हमें **ऊतिभिः**=सब प्रकार के रक्षणों के द्वारा **अव**=रक्षित करिए। हमारे शरीरों को रोगों से बचाइए, मनों को मलिनता से दूर करिए, बुद्धियों को मन्दता का शिकार न होने दीजिए। २. हे **शूर**=वासनाओं का संहार करनेवाले प्रभो! आप **गृणतः**=स्तुति करते हुए **कारून्**=कुशलता से कार्यों को करनेवालों को **पाहि**=रक्षित करिए। यह स्तवन व क्रियाशीलता उन्हें वासनाओं से आक्रान्त न होने दे। २. **उत**=और **वाजसातौ**=शक्ति के संभजन (प्रापण) के निमित्त आप **मध्वः पिप्रीहि**=इस मधुर सोम (वीर्य का) हमारे में पूरण करिए जो कि **त्वचम् ददतः**=हमें रक्षक आवरण प्राप्त कराता है—त्वचा की तरह हमारा रक्षक बनाता है—हमें रोगों व वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देता **सुषुतस्य**=उत्तम भोजनों द्वारा उत्पन्न किया जा सकता तथा **चारोः**=जीवन को सुन्दर-ही-सुन्दर बना देता है।

भावार्थ—हम प्रभु के क्रियाशील स्तोता बनें। हमें प्रभु का रक्षण प्राप्त होगा और हम सोम का अपने अन्दर पान (रक्षण) करते हुए जीवन को सुरक्षित मधुर व सुन्दर बना पाएँगे।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गैरिक्षित के क्रतुओं से युक्त होना

उत त्ये मा पौरुकुत्स्यस्य सूरेस्त्रसदस्योर्हिरणिनो रराणाः।
वहन्तु मा दश श्येतासो अस्य गैरिक्षितस्य क्रतुभिर्नु सश्चे॥ ८॥

१. **उत**=और **त्ये**=वे **मा**=मुझे **दश**=दस **श्येतासः**=उज्ज्वल, विषय-पंक से अलिप्त इन्द्रियाश्व **वहन्तु**=जीवन यात्रा में आगे और आगे ले-चलें। वे इन्द्रियाश्व मुझे ले चलें, जो कि **पौरुकुत्स्यस्य**=खूब ही वासनाओं का संहार करनेवाले को **रराणाः**=दिये गये हैं। **सूरेः**=ज्ञानी पुरुष के लिए दिये गये हैं। **त्रसदस्योः**=जिससे दास्यववृत्तियाँ भयभीत होती हैं—उस त्रसदस्यु को जो दिये गये हैं तथा **हिरणिनः**=(हिरण्यवतः हिरण्यं वै वीर्यम्) वीर्यवान् पुरुष को दिये गये हैं। २. इन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करके **अस्य**=इस **गैरिक्षितस्य**=वेदवाणियों (ज्ञानवाणियों में) निवास करनेवाले के **क्रतुभिः**=प्रज्ञानों-शक्तियों व यज्ञात्मक कर्मों से **नु**=निश्चयपूर्वक **सश्चे**=युक्त व समवेत होता हूँ। वस्तुतः जो 'पुरुकुत्स-सूरि-त्रसदस्यु व हिरणी' बनेगा, उसके इन्द्रियाश्व अवश्य प्रशस्त होंगे। यह उन इन्द्रियों के द्वारा उत्तम कर्मों को करता हुआ प्रज्ञानों को प्राप्त करेगा ही। सदा ज्ञान में निवास करनेवाला बनकर यह वासनाओं से बचा रहेगा और शक्तिशाली होगा।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व शुद्ध हों। हम वासनाओं का संहार करनेवाले (पुरुकुत्स) ज्ञानी (सूरि) दास्यववृत्तियों से दूर (त्रसदस्यु) वीर्यवान् (हिरणी) व सदा ज्ञान में निवास करनेवाले (गैरिक्षित) बनें।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मारुताश्व के शोण अश्व

उत त्ये मा मारुताश्वस्य शोणाः क्रत्वामघासो विदथस्य रातौ।
सहस्रा मे च्यवतानो ददान आनूकमर्यो वपुषे नार्चत्॥ ९॥

१. **उत**=और **त्ये**=वे **मा**=मुझे **मारुताश्वस्य**=प्राणसाधना के द्वारा वायुवेगवाले इन्द्रियाश्वोंवाले 'मारुताश्व' के **शोणाः**=तेजस्वी **क्रत्वामघासः**=क्रियाशीलता-शक्ति व प्रज्ञान के द्वारा ऐश्वर्यों को सिद्ध करनेवाले इन्द्रियाश्व (वहन्तु) जीवन यात्रा में ले-चलनेवाले हों। 'वहन्तु' पिछले मन्त्र से अनुवृत्त है। २. **विदथस्य रातौ**=ज्ञानदान के निमित्त **च्यवतानः**=सब बुराइयों को मेरे से च्युत

करनेवाला **अर्यः**=स्वामी प्रभु **मे**=मेरे लिए **सहस्रा**-प्रसन्नता से परिपूर्ण (निर्मल) इन्द्रियाश्वों को **ददानः**=देता हुआ **वपुषे आनूकं न**=शरीर के लिए आभरणों के समान **आर्चत्**=दीप्त करता है। (अर्च् to shine, अन्तर्भावितार्थ)। ज्ञानप्राप्ति में प्रवृत्त निर्मल ज्ञानेन्द्रियाँ शरीर की प्रबल शोभा का कारण बनती हैं। पूर्वार्ध में कर्मेन्द्रियों का उल्लेख था। वे तेजस्वी होती हुई क्रियाशीलता के द्वारा ऐश्वर्य की वृद्धि का कारण बनती हैं। इस प्रकार इन कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों से शरीर सुशोभित हो उठता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हमारी कर्मेन्द्रियाँ तेजस्वी व ऐश्वर्य की साधक बनें। ज्ञानेन्द्रियाँ निर्मल होती हुई ज्ञानवृद्धि द्वारा शरीर को सुशोभित करें।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'ध्वन्य व लक्ष्मणय' के ऐश्वर्य

उत त्ये मा ध्वन्यस्य जुष्टा लक्ष्मण्यस्य सुरुचो यतानाः।
मह्ना रायः संवरणस्य ऋषेर्व्रजं न गावः प्रयता अपि ग्मन्॥ १०॥

१. प्रभु के नामों की ध्वनि में उत्तम यह 'ध्वन्य' है। प्रभु को ही अपना लक्ष्य बनानेवाला यह 'लक्ष्मण्य' है—यह उस लक्ष्यवेध में उत्तम है 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते'। **उत**=और **त्ये**=वे **मा**=मुझे **ध्वन्यस्य**=प्रभु नामस्मरण करनेवाले के **जुष्टाः**=प्रीतिपूर्वक कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले कर्मेन्द्रियरूप अश्व तथा **लक्ष्मणयस्य**=प्रभुरूप लक्ष्यवेध में उत्तम लक्ष्मण्य के **सुरुचः**-उत्तम दीप्तिवाले **यतानाः**=सतत यत्नशील ज्ञानेन्द्रियाश्व **अपिग्मन्**=प्राप्त हों। २. **मह्ना**=इन उत्कृष्ट कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों की महिमा से **संवरणस्य ऋषेः**=इस उत्तम वरणवाले प्रभु का (न कि प्रकृति का) वरण करनेवाले—ज्ञानी पुरुष के समीप **प्रयताः रायः**=पवित्र ऐश्वर्य **अपिग्मन्**=प्राप्त हों। इस प्रकार प्राप्त हों **न**=जैसे कि **गावः**=गौएँ **व्रजम्**=बाड़े में प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—हमें प्रभु स्मरण करनेवाले की कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त हो, अर्थात् हम प्रभु स्मरणपूर्वक कार्यों में प्रवृत्त रहें। प्रभुरूप लक्ष्य का वेध करनेवाले की ज्ञानेन्द्रियाँ प्राप्त हों, अर्थात् हम ज्ञानवृद्धि करते हुए प्रभुदर्शन करनेवाले बनें। इन इन्द्रियों की महिमा से हमें पवित्र ऐश्वर्य प्राप्त हों। हम प्रभु का वरण करें और तत्त्वद्रष्टा बनें।

'संवरण प्राजापत्य' का ही अगला भी सूक्त है—

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अजातशत्रु को स्वधा की प्राप्ति

अजातशत्रुमजरा स्वर्वत्यनु स्वधामिता दस्ममीयते।
सुनोतन पचत ब्रह्मवाहसे पुरुष्टुताय प्रतरं दधातन॥ १॥

१. **अजातशत्रुम्**=(अजाताः शत्रवः यस्य) जिसमें 'काम क्रोध-लोभ' रूप शत्रु उत्पन्न ही नहीं होते उस **दस्मम्**=शत्रुओं के विनाशक और अतएव दर्शनीय जीवनवाले पुरुष को **स्वधा**=आत्मधारण शक्ति **अनु ईयते**=अनुकूलता से प्राप्त होती है। जो आत्मधारणशक्ति **अजरा**=जीर्ण होनेवाली नहीं—अथवा हमें जीर्ण नहीं होने देती, **स्वर्वती**=प्रकाशवाली है—ज्ञान के प्रकाश का कारण बनती है और **अमिता**=असीम है, अर्थात् हमें असीम शक्ति को प्राप्त कराती है। २. इस आत्मधारणशक्ति की प्राप्ति के लिए ही **सुनोतन**=सोम का सम्पादन करो और **पचत**=ज्ञान के भोजन

का परिपाक करो—भृगु बनो (भ्रस्ज पाके)। भृगु को ही तो आत्मविद्या प्राप्त होती है। सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। **ब्रह्मवाहसे**=सब ज्ञानों को प्राप्त करानेवाले **पुरुष्टुताय**=खूब ही स्तुति किये जानेवाले उस प्रभु के लिए—उस प्रभु के आराधन के लिए **प्रतरम् दधातन**=अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों का खूब ही धारण करो।

भावार्थ—अजातशत्रु बनकर हम आत्मधारणशक्ति को प्राप्त करें। उसके लिए हम सोम का सम्पादन व ज्ञान का परिपाक करें। प्रभु के आराधन के लिए कर्तव्य-परायण हों।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

महावधः वधं यमत्

आ यः सोमेन जठरमपिप्रतामन्दत मघवा मध्वो अन्धसः।
यदीं मृगाय हन्तवे महावधः सहस्रभृष्टिमुशना वधं यमत्॥ २॥

१. **यः**=जो **सोमेन**=सोम के द्वारा (वीर्यशक्ति के द्वारा) **जठरम्**=अपने जठर को—शरीर मध्य को—**अपिप्रत्**=पूरित करता है, वह **मघवा**=ज्ञानैश्वर्यवाला होता हुआ **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **अन्धसः**=सोम से **अमन्दत**=आनन्दित होता है। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि का दीपन होकर ज्ञान बढ़ता है और शरीर की नीरोगता होकर आनन्द व उल्लास की प्राप्ति होती है। २. यह तब होता है, **यत्**=जब कि **ईम्**=निश्चय से **महावधः**=महान् क्रियाशीलता रूप वज्रायुधवाला **उशना**=प्रभु प्राप्ति की कामनावाला पुरुष **मृगाय हन्तवे**=(कामः पशुः, क्रोधः पशुः) काम, क्रोध रूप पशुओं को मारने के लिए **सहस्रभृष्टिम्**=हजारों शत्रुओं को भून डालनेवाले **वधम्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को **यमत्**=हाथ में ग्रहण करता है। क्रियाशील बनकर ही तो हम शत्रुओं का नाश कर पाते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करके हम आनन्द को प्राप्त करेंगे। सोमरक्षण के लिए हम क्रियाशीलता द्वारा वासना को दूर भगानेवाले हों। यह क्रियाशीलता ही सर्वमहान् वध (आयुध) है।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'ततनुष्टि-तनूशुभ्र व कवासख' न बनना

यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह।
अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः॥ ३॥

१. **यः**=जो **अस्मै**=इस प्रभु प्राप्ति के लिए **घ्रंसे**=दिन में **उत वा**=और **यः**=जो **ऊधनि**=रात्रि में **सोमं सुनोति**=अपने अन्दर सोम का सम्पादन करता है वह **अह**=निश्चय से **द्युमान् भवति**=ज्योतिर्मय जीवनवाला होता है सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और ज्ञानाग्नि की दीप्ति से प्रभु की प्राप्ति होती है। २. **शक्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **ततनुष्टिम्**=ततनुष्टि को—(ततं धर्मसन्ततिं नुदति, वष्टि कामयते कामान् सा०) धर्ममार्ग को छोड़कर कामात्मा बन जानेवाले को **अप अप ऊहति**=अपने से दूर और दूर ही करता है। उस व्यक्ति को अपने से दूर करता है, जो कि **तनूशुभ्रम्**=अपने शरीर को शोभित करने में लगा रहता है—जिसे मन व बुद्धि को परिष्कृत करने का ध्यान नहीं होता। प्रभु उसे दूर रखते हैं जोकि **मघवा**=ऐश्वर्यवाला होता हुआ **कवासखः**=कुत्सित पुरुषों का मित्र बनता है। ये मित्र उसे अवनत ही करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम ज्योतिर्मय जीवनवाले बनकर प्रभु को प्राप्त करेंगे। उस समय हम

'ततनुष्टि-तनूशुभ्र व कवासख' न बनेंगे—धर्ममार्ग को छोड़कर कामात्मा न बन जाएँगे, शरीर को ही सजाने में न लगे रहेंगे—कुत्सित पुरुषों के संग में रहनेवाले न होंगे।

सूचना—'गृह्यपन्तेऽस्मिन् रसाः इति घ्रंसः-दिन,' 'उद्धततरं भवति इति ऊधः रात्रिः'।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उभयतो वाहिनी चित् नदी

यस्यावधीत्पितरं यस्य मातरं यस्य शक्रो भ्रातरं नात ईषते।
वेतीद्वस्य प्रयता यतंकरो न किल्बिषादीषते वस्व आकरः॥ ४॥

१. 'पापवृत्ति' का **पिता** (जन्मदाता) लोभ है, इसका निर्माण करनेवाली **माता** कामवासना है, तथा इसका भरण करनेवाला भाई (भ्राता) क्रोध है। **यस्य**=जिस पापवृत्ति के **पितरम्**=जन्मदाता लोभ को तथा **यस्य**=जिस पापवृत्ति की **मातरम्**=मातृस्थानापन्न कामवासना को, और **यस्य**=जिस पापवृत्ति के **भ्रातरम्**=भ्रातृतुल्य—भरण करनेवाले—क्रोध को **शक्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **अवधीत्**=नष्ट करते हैं, वे प्रभु **अतः**=इस पाप से **न ईषते**=भयभीत नहीं होते, अपितु पाप को पराजित करनेवाले होते हैं। २. वे प्रभु **अस्य**=इस पापवृत्ति के **यतंकरः**=नियमनकर्त्ता होते हैं। वे अब इसे पुण्यवृत्ति के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। वे अब इसके द्वारा होनेवाली **प्रयता**=पवित्र हवियों का **इत् उ**=ही **वेति**=चाहते हैं (कामयते)। वे **वस्वः आकरः**=सब वसुओं (धनों) के निधान प्रभु **किल्बिषात्**=पाप से **न ईषते**=डर कर भाग नहीं जाते। उसे वश में करके पुण्य के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। इसीलिए वे वसुओं के कोश बनते हैं। वस्तुतः मनोवृत्ति ही 'काम-क्रोध-लोभ' से आक्रान्त होकर 'पापवृत्ति' बन जाती है। इन काम आदि के नष्ट होने पर यही 'पुण्यवृत्ति' में परिवर्तित हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु 'काम-क्रोध लोभ' को नष्ट करके हमारी मनोवृत्ति को पुण्य के प्रवाहवाली बनाएँ।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

नासुन्वता सचेत पुष्यता चन

न पञ्चभिर्दशभिर्वष्ट्यारभं नासुन्वता सचते पुष्यता चन।
जिनाति वेदमुया हन्ति वा धुनिरा देवयुं भजति गोमति व्रजे॥ ५॥

१. जो **पञ्चभिः**=अपने पाँचों प्राणों से तथा **दशभिः**=दसों इन्द्रियों से **आरभं न वष्टि**=कर्म करने की कामना नहीं करता, अर्थात् जो आलस्य में पड़ा रहता है, उस **असुन्वता**=यज्ञ आदि उत्तम कर्मों को न करनेवाले **पुष्यता चन**=धनसम्पत्ति के दृष्टिकोण से खूब पुष्ट मनुष्य के साथ प्रभु **न सचते**=समवाय-(मेल) वाले नहीं होते। प्रभु 'आलसी, धनी, परन्तु अयज्ञशील पुरुष के मित्र नहीं बनते'। २. मित्र बनना तो दूर रहा, प्रभु इन्हें **जिनाति वा**=निश्चय से क्षीण करते हैं। **इत्**=निश्चय से **अमुया हन्ति वा**=उसको तो नष्ट ही कर डालते हैं। **वा**=अथवा **धुनिः**=इन सबको कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं। इनके विपरीत **देवयुम्**=दिव्यगुणों की प्राप्ति की कामनावाले **जनम्**=मनुष्य को **गोमति व्रजे**=उत्तम ज्ञानधेनुओंवाले बाड़े में **भजति**=भागी बनाता है।

भावार्थ—प्रभु आलसी व अयज्ञशील व्यक्तियों को विनष्ट करते हैं। देवयु पुरुष को ही ज्ञानधेनुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

असुन्वतो विषुणः सुन्वतो वृधः

वित्वक्षणः समृतौ चक्रमासजोऽसुन्वतो विषुणः सुन्वतो वृधः।
इन्द्रो विश्वस्य दमिता विभीषणो यथावशं नयति दासमार्यः ॥ ६ ॥

१. वे प्रभु **समृतौ**=संग्राम में **वित्वक्षणः**=विशेषेण शत्रुओं को छील डालनेवाले हैं। **चक्रम् आसजः**=उस शत्रु के रथचक्र को (आसञ्जयिता, सञ्ज् Sink) पृथिवी में धंसा देनेवाले हैं। **असुन्वतः**=अयज्ञशील पुरुष से प्रभु **विषुणः**=पराङ्मुख हैं। **सुन्वतः वृधः**=यज्ञशील का वर्धन करनेवाले हैं। २. **इन्द्रः**=वे सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभु **विश्वस्य दमिता**=सबका दमन करनेवाले हैं। **विभीषणः**=शत्रुओं के लिए भयंकर है। वे **आर्यः**=श्रेष्ठ, सबके स्वामी प्रभु **दासम्**=उपक्षय करनेवाले 'काम' को भी **यथावशं नयति**=वश में करके कार्यों में प्रवृत्त करते हैं।

भावार्थ—अकामता तो व्यर्थ ही है। 'काम' आवश्यक है। इसका वशीभूत होना अत्यन्त आवश्यक है। अवश काम 'विलास' में फँसाकर हमारा नाश करना है वशीभूत हुआ-हुआ यह हमें यज्ञादि कर्मों में ले-चलता है।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'दाश्वान्', नवि 'पणि'

समीं पणेरजति भोजनं मुषे वि दाशुषे भजति सूनरं वसु।
दुर्गे चन ध्रियते विश्व आ पुरु जनो यो अस्य तविषीमचुक्रुधत् ॥ ७ ॥

१. वे प्रभु **पणेः**=वणिक्वृत्तिवाले—यज्ञादि न करके केवल धनसंग्रही पुरुष के **भोजनम्**=भोग-साधन धन को **ईम्**=निश्चय से **मुषे**=चुर जाने के लिए **सम्भजति**=गतिमय करता है। इस पणि का धन चोरी इत्यादि तामस मार्गों से विनष्ट होता है। **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुषों के लिए—दानशील के लिए—**सूनरम्**=उत्तम पुत्र-पौत्रोंवाले **वसु**=धन को **विभजति**=विभक्त करता है, अर्थात् इन्हें धन देता है और साथ ही उत्तम सन्तान प्राप्त कराता है, जो सन्तान इसके धन को जुआ व शराब आदि में अपव्ययित नहीं करतीं। पणि का धन उसके विकृताचरण सन्तान मिथ्याचरणों में उड़ा देते हैं। २. **यः**=जो विहिताचरण न करते हुए **पुरु जनः**=बहुसंख्यक लोग **अस्य**=इस प्रभु की **तविषीम् अचुक्रुधत्**=शक्ति को उत्तेजित करता है, अर्थात् प्रभु को अप्रसन्न करते हैं, वे **विश्वः**=सब **चन**=निश्चय से **दुर्गे**=दुर्गति में **आध्रियते**=धारण किये जाते हैं। धन को यज्ञादि में विनियुक्त करनेवाले ही प्रभु के प्रिय होते हैं।

भावार्थ—हमें पणि (कृपण) न बनकर दाश्वान् (दाता) बनना चाहिए। दाश्वान् ही प्रभु का प्रिय होता है।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सुधनौ विश्वशर्धसौ

सं यज्जनौ सुधनौ विश्वशर्धसाववेदिन्द्रो मघवा गोषु शुभ्रिषु।
युजं ह्य१न्यमकृत प्रवेपन्युदीं गव्यं सृजते सत्वभिर्धुनिः ॥ ८ ॥

१. **यत्**=जब **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **जनौ**=घर के मुख्य पति-पत्नीरूप व्यक्तियों को

सुधनौ=उत्तम मार्ग से कमाये धनवाला तथा **विश्वशर्धसौ**=अन्तः प्रविष्ट बलवाला **सम् अवेत्**=जानता है तो **मघवा**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **हि**=निश्चय से **अन्यम्**=अपने इस मित्र रूप जीव को **शुभ्रिषु गोषु**=ज्ञानदीप्त व तेजस्विता से चमकती हुई इन्द्रियों के होने पर **हि युजं अकृत**=निश्चय से अपने साथ मेलवाला बनाता है, अर्थात् प्रभु प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम 'सुधन व विश्वशर्धस्' बनें। उत्तम धन को विषयों में व्यथित न करते हुए हम सबल बने रहें। तृतीय मन्त्र के शब्दों में 'कवासख मघवा' न बन जाएँ। २. **प्रवेपनी**=प्रकृष्ट वेपनवाला—शत्रु कम्पक अस्त्रोंवाला (वेपन-Weapon) **धुनिः**=शत्रुकम्पक प्रभु इस अपने साथी के लिए **ईम्**=निश्चयपूर्वक **सत्वभिः**=शक्तियों के साथ **गव्यम्**=इन्द्रियों के समूह को **उत्सृजते**=देता है। यदि हम सुधन होकर प्रभु से दूर नहीं होंगे तो क्यों न उत्कृष्ट शक्तिशाली इन्द्रियों को प्राप्त करेंगे?

भावार्थ—हम उत्तम मार्ग से धनों को कमाएँ, अपने अन्दर शक्तियों को व्याप्त करें। शुद्ध इन्द्रियोंवाले बनकर प्रभु के मित्र बनें। प्रभु कृपा से इन्द्रियों को अधिकाधिक उत्कृष्ट बना पाएँ।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आपः पीपयन्त

सहस्रसामाग्निवेशिं गृणीषे शत्रिमग्न उपमां केतुमर्यः।
तस्मा आपः संयतः पीपयन्त तस्मिन्क्षत्रममवत्त्वेषमस्तु ॥ ९ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! मैं **सहस्रसाम्**=सहस्रशःधनों के दाता, **आग्निवेशिम्** (**अग्निं विशति**)=प्रगतिशील पुरुष में प्रवेश करनेवाले, **शत्रिम्**=शत्रुओं के संहारक, **उपमाम्**=हमारे समीप होकर हमारा निर्माण करनेवाले (उप-माम्), **केतुम्**=ज्ञानस्वरूप आप को **गृणीषे**=स्तुत करता हूँ। २. **तस्मा**=उक्त प्रकार से आपका स्तवन करनेवाले मेरे लिए **संयतः**=शरीर के अन्दर ही सम्यक् गतिवाले **आपः**=रेतःकण **पीपयन्त**=वृद्धि को प्राप्त हों। इस प्रकार इन रेतःकणों के रक्षक मुझ में **अभवत्**= स्थायी (constant) **त्वेषम्**=दीप्त **क्षत्रम्**=क्षत्रों से त्राण का सामर्थ्य **अस्तु**=हो।

भावार्थ—मैं शत्रुसंहारक प्रभु का स्मरण करूँ। इस स्मरण से वासनाशून्य मुझ में रेतःकणों का व्यापन हो। इन रेतःकणों की प्राप्ति से मेरा बल स्थायी व दीप्त हो।

इस स्थायी दीप्त बल को प्राप्त करनेवाला यह 'प्रभूवसु' बनता है। 'प्रभूः च असौ वसु च' शक्तिशाली और उत्तम निवासवाला। यह **आंगिरस**=अंग अंग में रसवाला होता है। इसकी आराधना है कि—

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

साधिष्ठः क्रतुः

यस्ते साधिष्ठोऽवस इन्द्र क्रतुष्टमा भर। अस्मभ्यं चर्षणीसहं सस्निं वाजेषु दुष्टरम् ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यः**=जो **ते**=आपका **साधिष्ठः**=हमारे सब कर्तव्यकर्मों को उत्तमता से सिद्ध करनेवाला **क्रतुः**=प्रज्ञान व बल है, **तम्**=उसे **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए **आभर**=हमारे में सर्वथा भर दीजिए। इस प्रज्ञान व बल के द्वारा हम अपने कर्त्तव्यों को सम्यक् पूर्ण करते हुए अपना रक्षण कर सकें। २. **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए आप उस क्रतु को भरनेवाले होइए, जो कि **चर्षणीसहम्**=(चर्षणी-a disloyal woman बन्धकी) बन्धकी स्त्रियों का पराभव

करनेवाला हो, अर्थात् जिस प्रज्ञान व बल के द्वारा हम इन बन्धकी स्त्रियों के कटाक्षों का शिकार न हो जाएँ। **सस्निम्**=जो हमारे जीवन को बड़ा शुद्ध बनाए और जो **वाजेषु दुष्टरम्**=संग्रामों में शत्रुओं से अभिभव के योग्य न हो।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें वह प्रज्ञान व बल प्राप्त कराइए। जिससे हम स्त्री व्यसन में न फंसकर जीवन को शुद्ध बनाएँ और काम-क्रोध-लोभ से पराजित न हों।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

चार-तीन-पाँच

यदिन्द्र ते चतस्रो यच्छूर सन्ति तिस्रः। यद्वा पञ्च क्षितीनामवस्तत्सु न आ भर॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **चतस्रः**=‘ज्ञान शक्ति धन व श्रम’ इन चारों का रक्षक **अवः**=रक्षण है, **तत्**=उस रक्षण को **नः**=हमारे लिए **सु आभर**=उत्तमता से दीजिए। आप से रक्षित होकर हम मस्तिष्क में ज्ञान को, भुजाओं में शक्ति को, उदर में सप्तधातुमय धन को व टाँगों में श्रम को धारण करनेवाले बनें। २. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जो आपके **तिस्रः**=‘ज्ञान कर्म व उपासना’ इन तीनों को हमारे में सुरक्षित करनेवाले रक्षण है, उन्हें हमारे लिए प्राप्त कराइए। हमारा हृदय उपासनावाला, हाथ कर्मोंवाले व मस्तिष्क ज्ञानवाला बने। २. **यद् वा**=और जो **पञ्च क्षितीनाम्**=‘ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र व निषाद’ इन पाँचों का रक्षक **अवः**=रक्षण है, उसे हमें प्राप्त कराइए। हम भी इन ‘पाँचों के रक्षण’ को अपना कर्त्तव्य समझें।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण में चलते हुए हम अपने में ‘ज्ञान शक्ति धन व श्रम’ चारों को भरनेवाले हों। हम ‘ज्ञान-कर्म-उपासना’ तीनों का अपने में समन्वय करें। हम ‘ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद’ पाँचों का ही कल्याण करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आभूभिः इन्द्र तुर्वणिः

आ तेऽवो वरेण्यं वृषन्तमस्य हूमहे। वृषजूतिर्हि जज्ञिष आभूभिरिन्द्र तुर्वणिः॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **वृषन्तमस्य ते**=अत्यन्त शक्तिशाली आपके **वरेण्यम्**=वरने के योग्य—श्रेष्ठ **अवः**=रक्षण को **आहूमहे**=हम पुकारते हैं। प्रभु का रक्षण ही वरेण्य है। सारा संसार हमारे प्रतिकूल हो, परन्तु प्रभु की अनुकूलता के होने पर कुछ बिगड़ता नहीं। प्रभु प्रतिकूल हों, सारा संसार अनुकूल हो तो भी कुछ सुधरता नहीं। २. हे प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **वृषजूतिः**=शक्तिशाली गमनवाले **जज्ञिषे**=होते हैं। आपकी क्रियाएँ सब बलसम्पन्न हैं। आप **आभूभिः**=शरीर में चारों ओर व्याप्त होनेवाले इन प्राणों के द्वारा **तुर्वणिः**=रोग व वासना रूप शत्रुओं के हिंसक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का रक्षण ही वरणीय है। प्राणों द्वारा प्रभु रोगों व वासनाओं का हिंसन करते हैं।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

स्वक्षत्रं मनः, सत्राहं पौंस्यम्

वृषा ह्यसि राधसे जज्ञिषे वृष्णि ते शवः। स्वक्षत्रं ते धृषन्मनः सत्राहमिन्द्र पौंस्यम्॥ ४ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **वृषा असि**=शक्तिशाली हैं। **राधसे**=हमारे

सब कार्यों की सफलता के लिए **जज्ञिषे**=होते हैं। **ते शवः**=आपका बल **वृष्णि**=हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाला है। २. हे प्रभो! **ते मनः**=आपमें एकाग्र किया हुआ—आपके लिए अर्पित किया हुआ—यह मन **स्व-क्षत्रम्**=आत्मिक बल से सम्पन्न होता है और **धृषत्**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाला होता है। उस समय **पौंस्यम्**=हमारा बल **सत्राहम्**=(संघहन्तृ) शत्रुओं के संघ को भी नष्ट करनेवाला होता है। प्रभु में मन को लगाने पर वह बल प्राप्त होता है, जोकि हमें शत्रुसैन्य को भी समाप्त करने में समर्थ करता है।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति देकर सफलता प्राप्त कराते हैं। प्रभु में लगाया हुआ मन आत्मिक बल सम्पन्न होता है और सम्पूर्ण शत्रुसैन्य को समाप्त करने में हमें समर्थ करता है।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

शत्रुओं का पराजय

त्वं तमिन्द्र मर्त्यममित्रयन्तमद्रिवः। सर्वरथा शतक्रतो नि याहि शवसस्पते॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **अद्रिवः**=हे वज्रवान् प्रभो! **त्वम्**=आप **तम्**=उस **अमित्रयन्तम्**=हमारे प्रति शत्रुता का आचरण करते हुए **मर्त्यम्**=मनुष्य को **नियाहि**=निश्चय से आक्रान्त करिए—उस पर वज्र प्रहार के लिए हमें प्रेरित कीजिये। आपको ही तो हमारे शत्रुओं का संहार करना है—आपकी सहायता के बिना हम इन शत्रुओं को जीत नहीं सकते। २. हे **शतक्रतो**=सैकड़ों प्रज्ञानों व शक्तियोंवाले **शवसस्पते**=सब बलों के स्वामिन् प्रभो! आप **सर्वरथा**=सम्पूर्ण शरीर रूप रथ से—अर्थात् पूर्ण स्वस्थ शरीर से (Whole) **नियाहि**=हमें प्राप्त होइए। इस स्वस्थ शरीर से हम सदा शत्रुओं के विजेता बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति दें ताकि हम अपने शत्रुओं का पराजय कर सकें।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

पूर्वीषु पूर्व्यम्

त्वामिद् वृत्रहन्तम जनासो वृक्तबर्हिषः। उग्रं पूर्वीषु पूर्व्यं हवन्ते वाजसातये॥ ६॥

१. हे **वृत्रहन्तम**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को अधिक-से-अधिक नष्ट करनेवाले प्रभो! **वृक्तबर्हिषः**=जिन्होंने हृदयक्षेत्र से वासनारूप घासफूस को उखाड़ दिया है, ऐसे **जनासः**=अपनी शक्तियों को प्रादुर्भाव करनेवाले पवित्रहृदय लोग **त्वाम् इत्**=आपको ही **हवन्ते**=पुकारते हैं। २. हे **उग्रम्**=तेजस्विन् प्रभो! **पूर्वीषु**=सर्वप्रथम स्थान पर पहुँचनेवाली प्रजाओं में **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम आपको ही **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए (हवन्ते) पुकारते हैं। आपके सम्पर्क से ही वह शक्ति प्राप्त होती है, जो कि हमें सब शत्रुओं का पराजय करने में समर्थ करती है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही हमारी वासना को विनष्ट करते हैं। आप ही हमें शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कैसा रथ?

अस्माकमिन्द्र दुष्टरं पुरोयावानमाजिषु। सयावानं धनेधने वाजयन्तमवा रथम्॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो? **अस्माकम्**=हमारे **दुष्टरम्**=शत्रुओं से आक्रान्त न होने योग्य **रथम्**=शरीर रथ को **अवा**=आप रक्षित कीजिए। उस रथ को, जो कि **आजिषु**=संग्रामों

में **पुरोयावानम्**=आगे चलनेवाला है। २. हमारे उस शरीररथ का आप रक्षण करिए जो कि **सयावानम्**=सबके साथ मिलकर चलनेवाला है, अर्थात् परस्पर विरुद्ध गतिवाला नहीं, अर्थात् परिवार में व समाज में सबके साथ मिलकर चलता है। **धने धने**=प्रत्येक ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त **वाजयन्तम्**=हमें शक्तिशाली बनाता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम रोगी न हों, जीवनसंग्राम में अग्रगतिवाले हों, सबके साथ मिलकर चलें और सब धनों का विजय करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

वार्यं श्रवः, दिवि स्तोमम्

अस्माकमिन्द्रेहि नो रथमवा पुरंध्या ।
वयं शविष्ठ वार्यं दिवि श्रवो दधीमहि दिवि स्तोमं मनामहे॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशत्रुसंहारक प्रभो! **अस्माकम्**=हमारे **रथम् इहि**=रथ को प्राप्त होइए। **नः**=(रथं)—हमारे इस शरीररथ को **पुरन्ध्या**=पालक बुद्धि के द्वारा **अवा**=सुरक्षित कीजिए। २. हे **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिशाली प्रभो! **वयम्**=हम **दिवि**=अपने मस्तिष्क रूप द्युलोक में **वार्यं श्रवः**=वरणीय (श्रेष्ठ) ज्ञान को **दधीमहि**=धारण करें तथा **दिवि**=इस ज्ञान के प्रकाश में **स्तोमं मनामहे**=आपके स्तोत्रों का मनन करनेवाले हैं—ज्ञानवर्धक स्तवन करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु बुद्धि देकर हमारा रक्षण करें। इस श्रेष्ठ ज्ञान को धारण करें—ज्ञानपूर्वक प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें।

'प्रभूवयु अंगिरस' ही कहते हैं—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दामनः रयीणाम्

स आ गमदिन्द्रो यो वसूनां चिकेतद्दातुं दामनो रयीणाम्।
धन्वचरो न वंसगस्तृषाणश्चकमानः पिबतु दुग्धमंशुम्॥ १॥

(१) **सः**=वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **आगमत्**=हमें प्राप्त हो। **यः**=जो प्रभु **वसूनां दातुम्**=धनों को देने के लिये **चिकेतत्**–जानता है और वस्तुतः **रयीणां दामनः**–सब ऐश्वर्यों को देनेवाला है। वस्तुतः प्रभु ही लक्ष्मी पति हैं, हम प्रभु के अतिथि बनते हैं, तो लक्ष्मी हमारा आतिथ्य करती ही है। (२) **न**=जैसे एक **धन्वचरः**–मरुस्थल में विचरनेवाला **वंसगः**=वननीय (प्रशंसनीय) गतिवाला, अकर्मण्य न होकर खूब तीव्रगति से चलता हुआ **तृषाणः**=प्यासा अतएव **चकमानः**=पानी की प्रबल कामनावाला होता है, उसी प्रकार यहां इस शरीर में **दुग्धं अंशुम्**=प्रभु से प्रपूरित इस सोम को **पिबतु**=पीनेवाला बने। सोमपान की उसमें प्रबल कामना हो। वैसी ही कामना जैसे कि उस रेगिस्तान में तीव्र गति से चलते हुए प्यासे यात्री को पानी की कामना होती है।

भावार्थ—प्रभु ही सब ऐश्वर्यों के दाता हैं। इन ऐश्वर्यों का पात्र वह बनता है, जो कि प्रभु से प्रपूरित सोम को पीने की प्रबल कामनावाला होता है।

ऋषिः—प्रभूवसुराङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सोम का शरीर में आरोहण

आ ते हनू हरिवः शूर शिप्रे रुहत्सोमो न पर्वतस्य पृष्ठे।
अनु त्वा राजन्नर्वतो न हिन्वन्गीर्भिर्मदेम पुरुहूत विश्वे॥ २॥

(१) हे **हरिवः**-प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **ते हनू**=आपके दिये हुए इन हनुओं में **सोमः आ सहत्** सोम का आरोहण हो। ये हनु (जबड़े) सदा सोम्य भोजनों का ही सेवन करें। इस सोम्य भोजन के परिणामस्वरूप सोम शरीर में सुरक्षित होकर सब इन्द्रियाश्वों को सशक्त बनाये। हे **शूर** शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! यह सोम **शिप्रे**-नासिका छिद्रों में (आढहत्) आरूढ़ हो। अर्थात् प्राणायाम द्वारा हम इस सोम की ऊर्ध्वगति करनेवाले हों। ऊर्ध्वरेता बनकर हम सब रोग व वासनारूप शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले बनें। **न**-और (न इति चार्थे) यह सोम **पर्वतस्य पृष्ठे**-मेरुदण्ड (मेरुपर्वत) के शिखर पर, अर्थात् मस्तिष्क में आरूढ़ हो। यहाँ यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे दीप्त बनानेवाला हो। (२) हे **राजन्**=हमारे जीवनों को इस सोम के द्वारा दीप्त बनानेवाले, **पुरुहूत**-बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **विश्वे** हम सब **त्वा**-आपके **अनु**-साथ, अर्थात् आपकी उपासना में स्थित हुए हुए **गीर्भिः**-इन ज्ञान वाणियों से **मदेम**-आनन्द का अनुभव करें। उसी प्रकार आनन्द का अनुभव करें **न**=जैसे कि **अर्वतः हिन्वन्**=घोड़ों को प्रेरित करता हुआ व्यक्ति लक्ष्य-स्थान पर पहुँचने पर आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण ही सम्पूर्ण आनन्दों के मूल में है। यह सोमी पुरुष ही प्रभु का उपासक बनता है और ज्ञान की वाणियों से आनन्द को प्राप्त करता है।

ऋषिः—प्रभूवसुराङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

अज्ञान का महाभय

चक्रं न वृत्तं पुरुहूत वेपते मनो भिया मे अमतेरिदद्रिवः।
रथादधि त्वा जरिता सदावृध कुविन्नु स्तोषन्मघवन्पुरूवसुः॥ ३॥

(१) हे **पुरुहूत**-पालक व पूरक है पुकार (आराधन) जिसका ऐसे प्रभो! हे **अद्रिवः**-वज्रवन् अथवा उपासनीय प्रभो (adore), **मे मनः**-मेरा मन **अमतेः** ज्ञानाभाव के कारण **भिया वेपते इत्**=भय से काँप ही उठता है, इस प्रकार काँप उठता है **न**-जैसे कि **वृत्तं चक्रम्**=परिवर्तित होता हुआ पहिया, चलते हुए पहिये के समान मेरा मन चलायमान हो जाता है। आपका आश्रय ही तो मेरे भय को दूर करेगा, आपका स्मरण ही तो मेरे मन को स्थिर करेगा। (२) सो हे **सदावृध**=सदा से बढ़े हुए **मघवन्**-ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **जरिता**-स्तोता मैं **रथाद् अधि**-इस रथ पर बैठा बैठा ही **कुवित् नु**=खूब ही **स्तोषत्** स्तुति करता हूँ। आप से ही मैं **पुरुवसुः**-पालक व पूरक ज्ञान धन को प्राप्त करके भयरहित होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से दूर हो जाने पर संसार में भय से मनुष्य काँप उठता है। प्रभु का उपासन ही अभय देता है।

ऋषिः—प्रभूवसुराङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

दायें-बायें हाथों से ऐश्वर्यों के दाता प्रभु

एष ग्रावेव जरिता त इन्द्रेयर्ति वाचं बृहदाशुषाणः।
प्र सव्येन मघवन्यंसि रायः प्र दक्षिणिद्धरिवो मा वि वेनः॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **एषः**=यह **ग्रावा इव**-(गृणाति) ज्ञानोपदेष्टा की तरह जरित आपका स्तोता **बृहत् आशुषाणः**-उत्कृष्ट ज्ञान का शीघ्रता से संभजन करता हुआ, खूब ज्ञान को प्राप्त करता हुआ **ते वाचं इयर्ति**=आपकी स्तुति वाणियों को अपने में प्रेरित करता है। वस्तुतः हमें प्रभु का 'ज्ञानी भक्त' बनने का प्रयत्न करना चाहिए। (२) हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **सव्येन**=बायें हाथ से **रायः प्रयंसि**=ऐश्वर्यों को देते हैं और **दक्षिणित् प्र (यंसि)**=दाहिने से भी धनों को देते हैं। हे **हरिवः**-प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को देनेवाले प्रभो! **मा विवेनः**=हमारे लिये ऐश्वर्यों को न देने की कामनावाले मत होइये। सदा हमारे लिये ऐश्वर्यों को आप प्राप्त कराइये ही।

भावार्थ—हम प्रभु के ज्ञानी भक्त बनें। प्रभु हमारे लिये सब ऐश्वर्यों की प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वृषा' प्रभु

वृषा त्वा वृषणं वर्धतु द्यौर्वृषा वृषभ्यां वहसे हरिभ्याम्।
स नो वृषा वृषरथः सुशिप्र वृषक्रतो वृषा वज्रिन्भरे धाः॥ ५॥

(१) हे **सुशिप्र**=हमारे लिये शोभन हनू व नासिकाओं को प्राप्त करानेवाले (शोभने शिप्रये स्मात्) **वृषक्रतो**=सुखों के वर्षक ज्ञानवाले **वज्रिन्**=क्रियाशीलतारूप वज्रवाले प्रभो! **सः**=वे आप ही **नः**=हमारे लिये **वृषा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **वृषरथः**-हमें इस शक्ति-सम्पन्न शरीर-रथ को देनेवाले हैं। **वृषा**-शक्तिशाली होते हुए आप **भरे धाः**=इस जीवन-संग्राम में हमारा धारण करिये। (२) यह **वृषा द्यौः**=हमारे लिये सब सुखों का वर्षण करनेवाला द्युलोक **वृषणं त्वा**=शक्तिशाली आपका **वर्धतु**=स्तुति द्वारा वर्धन करे। यह द्युलोक हमारे लिये आपकी महिमा को दर्शानेवाला हो। इस द्युलोक का सूर्य व तारे हमें आपका ही स्तवन करते प्रतीत हों। **वृषा**=शक्तिशाली आप **वृषभ्यां हरिभ्याम्**=इन शक्तिशाली ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के द्वारा **वहसे**-हमारी जीवन-यात्रा का वहन करते हैं। आपके दिये हुए इन साधनों से हम जीवन-यात्रा में आगे बढ़ पाते हैं।

भावार्थ—यह द्युलोक उस प्रभु की ही महिमा को प्रकट कर रहा है। प्रभु ही हमारे लिये उत्कृष्ट इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमारे लिये उत्तम जबड़ों या नासिका-छिद्रों को प्राप्त कराके हमें जीवन-संग्राम में विजयी बनाते हैं। उत्तम जबड़ों से सात्त्विक भोजन का सम्यक् चर्वण करते हुए हम नीरोग बनते हैं। नासिका-छिद्रों द्वारा प्राणायाम से निर्दोष।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'श्रुतरथ' प्रभु

यो रोहितौ वाजिनौ वाजिनीवान्त्रिभिः शतैः सचमानावदिष्ट।
यूने समस्मै क्षितयो नमन्तां श्रुतरथाय मरुतो दुवोया॥ ६॥

(१) **यः**=जो प्रभु **वाजिनीवान्**=उत्तम अन्नोंवाले होते हुए **त्रिभिः शतैः सचमानौ**=तीन सौ वर्षों के आयुष्य से युक्त होते हुए **रोहितौ**=बुद्धिशील **वाजिनौ**=इन्द्रियाश्वों को **अदिष्ट**=हमारे लिये देते हैं। **अस्मै**=इस **यूने**=हमारे साथ इन प्रशस्त इन्द्रियाश्वों का मेल करनेवाले प्रभु के लिये **क्षितयः**=सब मनुष्य **संनमन्ताम्**=प्रणत हों। (२) **श्रुतरथाय**=(श्रुतं अस्य अस्ति इति श्रुतः, श्रुतः रथो यस्मात्) ज्ञानयुक्त शरीर रथ को प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिये **मरुतः**=सब प्राणसाधक पुरुष

दुवोया=परिचर्या के द्वारा नमन्ताम्=नत हों। प्रभु हमें कितना सुन्दर शरीर-रथ प्राप्त कराते हैं, उस प्रभु ने हमें ये प्राणापान प्राप्त कराये हैं। इनकी साधना के द्वारा जीवन को निर्दोष बनाकर हम सदा प्रभु के प्रति प्रणत हों।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनें प्राणसाधना द्वारा जीवन को निर्दोष बनाकर प्रभु की परिचर्या करें। प्रभु हमें दीर्घ-जीवन व उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराते हैं।

उस प्रभु के प्रति परिचर्या से प्रणत होता हुआ यह व्यक्ति 'अत्रि' बनता है, सब त्रिविध कष्टों व वासनाओं से दूर। यह प्रभु की उपासना करता हुआ कहता है कि—

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अत्रि का सुन्दर जीवन

सं भानुना यतते सूर्य॑स्याजुह्वा॑नो घृतपृ॑ष्ठः स्वञ्चाः।
तस्मा अमृ॑ध्रा उषसो व्यु॑च्छान्य इन्द्रा॑य सुनवा॑मेत्याह॑॥ १॥

(१) मन्त्र का ऋषि 'अत्रि' (काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति) **सूर्यस्य भानुना**=सूर्य की किरण के साथ **संयतते**=सम्यक् यत्नशील होता है, सूर्योदय के साथ ही दैनिक कार्यक्रम में प्रवृत्त हो जाता है। **आजुह्वानः**-अग्निहोत्र के करने के स्वभाववाला होता है। **घृत पृष्ठः**=(घृतं पृष्ठं यस्य) ज्ञान को अपना आधार बनाता है। **स्वञ्चाः**=उत्तम कर्मों द्वारा प्रभु का पूजन करनेवाला होता है (अञ्चू गतिपूजनयोः) (२) **तस्मा**=उस अत्रि के लिये **अमृध्राः**=अहिंसित होते हुए **उषसः**=उषाकाल **व्युच्छान्**=उदित होते हैं, अन्धकार को दूर करनेवाले होते हैं। ये उषाकाल उसी के लिये अमृध्र होते हैं **यः**-जो कि **इन्द्राय**-उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **सुनवाम**= हम सोम का सवन (उत्पादन) करनेवाले बनें **इति आह**=यह बात बार-बार कहता है। जो अपने को इस सोम-सवन का ही निरन्तर सन्देश देता है। सोम के शरीर में उत्पादन का निश्चय होने पर ही वृत्ति उत्तम बनती है, मनुष्य उस समय वासनाओं से हिंसित नहीं होता।

भावार्थ—हमारा जीवन क्रियाशील हो। हम अग्निहोत्र स्वाध्याय व कर्मों द्वारा प्रभु-पूजन करनेवाले बनें। प्रभु प्राप्ति के लिये सोम के स्तवन का निश्चय करते हुए हम अपने को वासनाओं से हिंसित न होने दें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

समिद्धाग्निः वनवत्

समि॑द्धाग्निर्वनवत्स्ती॒र्णब॑र्हिर्यु॒क्तग्रा॑वा सु॒तसो॑मो जराते।
ग्रावा॑णो॒ यस्ये॑षि॒रं वद॒न्त्यय॑दध्व॒र्युर्ह॒विषाव॒ सिन्धु॑म्॥ २॥

(१) **समिद्धाग्नि**=अपने अन्दर उस अग्रणी प्रभु को समिद्ध करनेवाला **वनवत्**=विजयी होता है। **स्तीर्णबर्हिः**=वासनाशून्य हृदयासन को बिछानेवाला, **युक्तग्रावा**=(युक्तः च असौ ग्रावा च) चित्तवृत्ति का निरोध करनेवाला और प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाला (गृणाति) **सुतसोमः**=सोम का अपने अन्दर सम्पादन करनेवाला व्यक्ति ही **जराते**=(स्तौति) प्रभु का सच्चा स्तवन करता है। (२) **ग्रावाणः**=स्तोता लोग **यस्य**=जिस प्रभु के **इषिरे**=प्रेरणा देनेवाले इस ज्ञान को **वदन्ति**=अपने जीवन से कहने का प्रयत्न करते हैं, इसी **सिन्धुम्**=ज्ञान के समुद्र प्रभु को **अध्वर्युः**=यज्ञात्मक जीवनवाला पुरुष **हविषा**=हवि के द्वारा, त्यागपूर्वक अदन के द्वारा, **अवअयत्**-भोग-वृत्ति से दूर

होकर (away अब) प्राप्त होता है। वस्तुतः प्रभु का सच्चा स्तोता वही है जो कि हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को क्रिया में अन्वित करे और त्यागपूर्वक अदन करता हुआ भोगवृत्ति से ऊपर उठे।

भावार्थ—अपने अन्दर प्रभुरूप अग्नि को समिद्ध करनेवाला व्यक्ति विजयी बनता है। प्रभु की सच्ची उपासना यही है कि हम प्रभु के ज्ञान के अनुसार जीवन को बनायें और त्यागपूर्वक अदन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वधू का आगमन

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम्।
आस्य श्रवस्याद्रथ आ च घोषात्पुरू सहस्रा परि वर्तयाते॥ ३॥

(१) वेदवाणी के साथ परिणय का उल्लेख 'परीमे गामनेषत' इस मन्त्रभाग में स्पष्ट है। **इयं वधूः**=यह वहन करने योग्य वेदवाणी रूप युवति **पतिं इच्छन्ती**=अपने रक्षक को चाहती हुई **एति**=आती है। वह पुरुष पति होता है, यह वेदवाणी उसकी पत्नी। पुरुष 'वर' है, वेदवाणी 'वधू'। (२) **यः**=जो **महिषीम्**=अत्यन्त महनीय, आदरणीय **इषिराम्**=निरन्तर कर्मों की प्रेरणा देनेवाली इस वेदवाणी रूप वधू का **ईम्**=निश्चय से **वहाते**=वहन करता है **अस्य**=इसका **रथः**=यह शरीररूप रथ **श्रवस्यात्**=ज्ञान प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता है, **च**=और **आघोषात्**=प्रभु के नामों का खूब ही उच्चारण करता है। अर्थात् इसका मन प्रभु में लगा होता है, इसका मस्तिष्क स्वाध्याय द्वारा ज्ञानोज्ज्वल बनता है। इसका यह रथ इसे **पुरू**-पालक व पूरक **सहस्रा**=हजारों धनों को **परिवर्तयाते**=(प्रापयति) प्राप्त कराता है।

भावार्थ—वेदवाणीरूप वधू का हम वरण करें। जिससे कि हमारा यह शरीररूप रथ ज्ञान के प्रकाशवाला हो, प्रभु के नामों के उच्चारणवाला हो। पालक व पूरक धनों को यह हमें प्राप्त कराये।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हन्ति वृत्रे, क्षेति क्षितीः

न स राजा व्यथते यस्मिन्निन्द्रस्तीव्रं सोमं पिबति गोसखायम्।
आ सत्वनैरजति हन्ति वृत्रं क्षेति क्षितीः सुभगो नाम पुष्यन्॥ ४॥

(१) **सः**=वह **राजा**=दीप्त जीवनवाला पुरुष **न व्यथते**=कभी पीड़ित नहीं होता, **यस्मिन्**=जिस पुरुष के जीवन में **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **तीव्रम्**=इन शत्रुओं के संहार के लिये अत्यन्त तीव्र **गोसखायम्**=ज्ञान की वाणियों के मित्र **सोमम्**=सोम को **पिबति**=शरीर में पीता है, अर्थात् व्याप्त करता है। प्रभु की कृपा से ही सोम शरीर में सुरक्षित होता है, मानो प्रभु ही इसका पान करते हैं। (२) यह पुरुष **सत्वनैः**=सब शक्तियों के साथ **आ अजति**=समन्तात् गतिवाला होता है। अपने सब कर्त्तव्य कर्मों को शक्ति के साथ करता है। **वृत्रं हन्ति**=वासना को यह विनष्ट करता है। **क्षितीः क्षेति**=इन शरीरों में उत्तम निवासवाला होता है। **सुभगः**=सौभाग्यवाला होता हुआ **नाम पुष्यन्**=अपने जीवन में प्रभु के नाम का पोषण करता है। सदा प्रभु स्मरणपूर्वक चलता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से सोम का रक्षण होने पर हमारा जीवन दीप्त बनता है, यह सोम हमारे साथ ज्ञान की वाणियों के सम्पर्क को करता है। हमारे बल को यह सोम बढ़ाता है, वासना को विनष्ट करता है और हमें सौभाग्यशाली व प्रभु प्रवण बनाता है।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

योगक्षेम का ठीक साधन

पुष्यात्क्षेमे अभि योगे भवात्युभे वृतौ संयती सं जयाति।
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति य इन्द्राय सुतसोमो ददाशत् ॥ ५ ॥

(१) **यः**-जो **सुतसोमः**-सोम का (वीर्यशक्ति का) सम्पादन करता हुआ पुरुष **इन्द्राय**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **ददाशत्**-अपने को दे डालता है, वह **सूर्ये प्रियः**-ज्ञान सूर्योदय के होने पर प्रभु का प्रिय **भवाति**-होता है। यह व्यक्ति **अग्नौ**-शरीर में अग्नितत्त्व के ठीक विकास के कारण **प्रियः**-प्रभु का प्रिय होता है। प्रभु का प्रिय स्वस्थ पुरुष है। स्वस्थ वही है, जो कि मस्तिष्क में ज्ञान सूर्यवाला तथा शरीर में अग्नितत्त्ववाला है। (२) यह **क्षेमे पुष्यात्**-कल्याण में पोषित होता है, अर्थात् इस जन्म की समाप्ति पर मोक्ष को प्राप्त करनेवाला होता है और **योगे**-चित्तवृत्ति के निरोध के होने पर **अभिभवाति**-सब वासनाओं का अभिभव करनेवाला होता है। **उभे**-दोनों **वृतौ**-'अभ्युदय व निःश्रेयस' जिनका कि वरण किया गया है उन्हें **संयती**-मिलकर चलते हुओं को **सं जयाति**-सम्यक् जीतनेवाला होता है। इसके जीवन में अभ्युदय व निःश्रेयस का मेल होता है। यह केवल अभ्युदय व केवल निःश्रेयस को लेकर नहीं चलता।

भावार्थ—हम अपने जीवन में सोमरक्षण द्वारा 'योगक्षेम' को सिद्ध करें, अभ्युदय व निःश्रेयस का वरण करें सूर्य व अग्नि तत्त्व को सिद्ध करके प्रभु के प्रिय बनें।

कवि ही अगले सूक्त में आराधना करता है कि—

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'बल व ज्ञान' का वर्धक धन

उरोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वी रातिः शतक्रतो।
अधा नो विश्वचर्षणे द्युम्ना सुक्षत्र मंहय ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन्, **शतक्रतो**-अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो! **उरोः**-विशाल **ते**-आपके **राधसः**-कार्यसाधक धन की **राति विभ्वी**-राति भी, दान भी व्यापक है। अनन्त आपका ऐश्वर्य है, अनन्त ही आपके दान हैं। (२) हे **विश्वचर्षणे**-सब के द्रष्टा, सब का ध्यान करनेवाले, **सुक्षत्र**-उत्तम धनोंवाले प्रभो (क्षत्रं धनम्) **अधा**-अब **नः**-हमारे लिये **द्युम्ना**-ज्योतिर्मय धनों को **मंहय**-देने का अनुग्रह कीजिये। 'सुक्षत्र' सम्बोधन में 'क्षत्र' शब्द उस धन का संकेत कर रहा है जो कि बल से युक्त है। 'द्युम्ना' शब्द उस धन का संकेत करता है जो कि ज्योतिवाला है। हमें धन तो प्राप्त हो, पर वह धन जो कि बल व ज्योति से युक्त है, जिस धन के द्वारा हम सबल व ज्योतिर्मय जीवनवाले बनें। विलास का कारण बनकर धन हमारे ज्ञान व बल दोनों का ही विनाश करता है।

भावार्थ—अनन्त ऐश्वर्यवाले प्रभु के अनन्त ही दान हैं। प्रभु हमें वह धन दें, जो कि हमारे बल व ज्ञान का वर्धक हो।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'श्रवाय्य-दीर्घश्रुत्तम-दुष्टर' अन्न

यदीमिन्द्र श्रवाय्यमिषं शविष्ठ दधिषे। पप्रथे दीर्घश्रुत्तमं हिरण्यवर्ण दुष्टरम् ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **शविष्ठ**=सर्वाधिक बलशालिन् प्रभो! **यत्**=जो **ईम्**=निश्चय से **श्रवाय्यम्**=श्रवणीय अथवा ज्ञानवर्धन के लिये उत्तम **इषम्**-अन्न है, उसे आप हमारे लिये **दधिषे**=धारण करते हैं। (२) हे **हिरण्यवर्ण**=स्वर्ण के समान देदीप्यमान-ज्योतिर्मय रूपवाले प्रभो! वह **दीर्घश्रुत्तम्**=हमें अत्यधिक दीर्घश्रुत बनानेवाला, **दुष्टरम्**=शत्रुओं से अभिभूत न करने योग्य अन्न **पप्रथे**=हमारी शक्तियों के विस्तार का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें वह अन्न प्राप्त हो जो कि 'श्रवाय्य दीर्घश्रुत्तम व दुष्टर' है इस सात्त्विक अन्न के सेवन से हमारे ज्ञान में वृद्धि हो और हमारी शक्तियों का विस्तार हो।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

मेहना केतसापः

शुष्मासो ये ते अद्रिवो मेहना केतसापः। उभा देवावभिष्टये दिवश्च ग्मश्च राजथः ॥ ३ ॥

(१) हे **अद्रिवः**=वज्रवन् इन्द्र! **ये**=जो **ते**-आपके **शुष्मासः**=बल हैं, आपकी उपासना से प्राप्त होनेवाली शक्तियाँ हैं, वे **मेहना**=(मिह सेचने) सब सुखों का सेचन करनेवाली हैं तथा **केतसापः**=ज्ञान के साथ स्पर्श करनेवाली, अर्थात् ज्ञान को बढ़ानेवाली हैं। (२) **उभौ**=शरीर में बल तथा मस्तिष्क में ज्ञान **देवौ**=ये दोनों देव हमारे सब व्यवहारों के साधक हैं (दिव् व्यवहारे)। ये दोनों मिलकर **अभिष्टये**=हमारे सब इष्टों की प्राप्ति के लिये होते हैं तथा हमारे रोगों व वासनारूप शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले होते हैं। **दिवः**-मस्तिष्क के दृष्टिकोण से **च**=तथा **ग्मश्च**=शरीररूप पृथिवी के दृष्टिकोण से **राजथः**-ये दीप्त होते हैं। ज्ञान व बल हमारे मस्तिष्क व शरीर को उज्ज्वल बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से प्राप्त होनेवाले बल शरीर को सुखी व मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल बनाते हैं। ये बल व ज्ञान दोनों मिलकर हमारे सब अभीष्टों को सिद्ध करनेवाले हैं।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

दक्ष-नृम्ण

उतो नो अस्य कस्य चिद्दक्षस्य तव वृत्रहन्।
अस्मभ्यं नृम्णमा भरास्मभ्यं नृमणस्यसे ॥ ४ ॥

(१) हे **वृत्रहन्**=वासना को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **उतो**=और **नः**=हमारे लिये **अस्य**=इस **कस्यचित्**=अनिर्देश्य, शब्दों से पूरा-पूरा वर्णन न करने योग्य **तव**=आपके **दक्षस्य**=बल का **आभर**=भरण कीजिये। आपकी उपासना के द्वारा वासनाओं से ऊपर उठकर हम उन्नति के साधनभूत बल को प्राप्त करें। (२) **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये आप **नृम्णम्**=बल व धन को **आभर**=भरिये। आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये सदा ही **नृमणस्यसे**=धन व बल को देने की कामना करते हैं। आपके इस नृम्ण को पाने के लिये हम पात्र बनें।

भावार्थ—प्रभु हमारी वासनाओं को विनष्ट करके हमें बल व धन को प्राप्त करायें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सुगोपाः

नू त आभिरभिष्टिभिस्तव शर्मञ्छतक्रतो। इन्द्र स्याम सुगोपाः शूर स्याम सुगोपाः॥ ५॥

(१) हे **शतक्रतो**=सैंकड़ों ज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो! **नु**=अब **ते**=आपके **आभिः**=इन **अभिष्टिभिः**=शत्रुओं पर किये गये आक्रमणों से हम **तव शर्मणि**=आपकी शरण में प्राप्त हों। वस्तुतः वासनाओं पर आक्रमण ही हमें प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाता है। जितना-जितना हम वासनाओं को जीतने में सफल होते हैं, उतना-उतना प्रभु के समीप पहुँचते जाते हैं। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आपकी शरण में आकर हम **सुगोपाः**=अपनी इन्द्रियों के उत्तम रक्षक बनें। हे **शूर**=सब शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! हम आपकी शरण में अवश्य ही **सुगोपाः स्याम**=उत्तम गोप बनें, इन्द्रियाश्वों को अच्छी तरह सुरक्षित करनेवाले हों।

भावार्थ—वासनाओं पर आक्रमण हमें प्रभु के समीप करे। यह प्रभु का सान्निध्य हमें इन्द्रियों का उत्तम रक्षक बनाये।

अगले सूक्त में भी 'अत्रि' ही आराधना करते हैं—

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उभयाहस्त्य

यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः। राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **चित्र**=चायनीय-पूजनीय अथवा अद्भुत **अद्रिवः**=आदरणीय व वज्रवन् प्रभो! **यत्**=जो **त्वादातम्**=आप से देने योग्य धन है वह **मेहना अस्ति**=सब सुखों का सेचन करनेवाला है। (२) हे **विदद्वसो**=सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **नः**=हमारे लिये **तद् राधः**=उस धन को **उभयाहस्तिः**=दोनों हाथों से आभार प्राप्त कराइये। सब धनों के स्वामी आप ही हैं, आपकी कृपा से हमें जीवन के लिये आवश्यक वसुओं की प्राप्ति हो।

भावार्थ—प्रभु से प्राप्त होनेवाला धन महनीय है। प्रभु हमारे लिये इस धन को खूब ही दें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

द्युक्ष (दीप्त सोम)

यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्षं तदा भर। विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **यत्**=जिस **द्युक्षम्**=दीप्त सोम को **वरेण्यम्**=वरणीय व श्रेष्ठ **मन्यसे**=मानते हैं, **तद् आभर**=उसे हमारे लिये प्राप्त कराइये। (२) **वयम्**=हम **तस्य**=उस **अकूपारस्य**=अकुत्सित पारवाले, अत्यन्त प्रशस्त परिणामवाले, इस सोम के **ते दावने**=आपसे दिये जानेवाले दान में **विद्याम**=हों आपकी कृपा से हमें यह सोम प्राप्त हो, जो कि हमारे जीवन में सब शुभ परिणामों को पैदा करता है और जिस सोम के कारण हमारा निवास (क्षि) सदा ज्ञानदीप्ति (द्यु) में होता है।

भावार्थ—सोम हमारे जीवन में सब शुभ परिणामों को पैदा करता है, यह अकूपार है, अकुत्सित पार वाला, शुभ परिणामवाला।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'दित्सु-प्राध्य-बृहत् श्रुत' मन

यत्ते दित्सु प्राध्यं मनो अस्ति श्रुतं बृहत्। तेन दृळ्हा चिदद्रिव आ वाजं दर्षि सातये॥ ३॥

(१) हे **अद्रिवः**=वज्रवन् व आदरणीय प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **दित्सु**=सदा दान देने की कामनावाला, **प्राध्यम्**=प्रकृष्ट आराधना में उत्तम **मनः**=मन **अस्ति**=है, जो मन **बृहत् श्रुते**=खूब ही ज्ञानवाला है **तेन**=उस मन के द्वारा **दृळा चित्**-काम-क्रोध-लोभ के दृढ़ दुर्गों को भी **आदर्षि**=विदीर्ण कर देते हैं। दान देने की कामनावाला मन (दित्सु) 'लोभ' के दुर्ग को विनष्ट करता है। प्रभु की आराधनावाला मन 'काम' के दुर्ग को समाप्त करता है तथा श्रुत मन (खूब ज्ञानवाला मन) क्रोध के दुर्ग को विनष्ट करता है। (२) इन दुर्गों को विदीर्ण करके आप **वाजं सातये**=शक्ति को प्राप्त कराने के लिये होते हैं। काम-क्रोध-लोभ ही तो हमारी शक्तियों को विनष्ट करते हैं। इनको विनष्ट करके हम शक्ति-सम्पन्न बनते हैं।

भावार्थ—हमारा मन 'दित्सु-प्राध्य व बृहत् श्रुत' हो। इस मन से लोभ, काम व क्रोध को नष्ट करके हम शक्ति-सम्पन्न बनें।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

'दातृतम' व 'जीवन को दीप्त बनानेवाले' प्रभु

मंहिष्ठं वो मघोनां राजानं चर्षणीनाम्। इन्द्रमुप प्रशस्तये पूर्वीभिर्जुजुषे गिरः॥ ४॥

(१) **गिरः**=स्तोता लोग **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **प्रशस्तये**=जीवन को प्रशस्त बनाने के लिये **पूर्वीभिः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी गयी अथवा हमारा पालन व पूरण करनेवाली वाणियों से **उपजुजुषे**=सेवन करते हैं। इन वेदवाणियों का अध्ययन करते हुए वे अपने ज्ञान को बढ़ाते हैं, इस ज्ञानयज्ञ के द्वारा प्रभु का उपासन करते हैं। इस उपासना से सब वासनाओं का विनाश होकर जीवन प्रशस्त बनता है। (२) उस प्रभु का सेवन करते हैं, जो कि **मघोनाम्**=ऐश्वर्यशालियों में **वः**=तुम्हारे **मंहिष्ठम्**=दातृतम हैं, सर्वाधिक दान देनेवाले हैं। तथा **चर्षणीनां राजानम्**=सब मनुष्यों के जीवन को दीप्त करनेवाले हैं। जो भी श्रमशील बनता है, प्रभु उसको दीप्त जीवनवाला बनाते हैं। वस्तुतः जीवन को दीप्त बनाने के लिये सब आवश्यक चीजों को वे प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम वेदवाणियों द्वारा प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराते हैं और हमारे जीवनों को दीप्त बनाते हैं।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

गिरः शुम्भन्ति अत्रयः

अस्मा इत्काव्यं वच उक्थमिन्द्राय शंस्यम्।
तस्मा उ ब्रह्मवाहसे गिरो वर्धन्त्यत्रयो गिरः शुम्भन्त्यत्रयः॥ ५॥

(१) **अस्मै इन्द्राय इत्**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये ही **उक्थम्**=ऊँचे से उच्चारण के योग **काव्यं वचः**=वेदरूप अजरामर काव्य के स्तुतिवचन **शंस्यम्**=शंसित करने चाहिये। इन वेदवचनों के द्वारा प्रभु का स्तवन करना चाहिए। (२) **अत्रयः**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाले अत्रि **तस्मै**=उस **ब्रह्मवाहसे**=ज्ञान को प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिये **उ**=ही **गिरः वर्धन्ति**=ज्ञान की वाणियों का वर्धन करते हैं। ये **अत्रयः**=अत्रि लोग **गिरः**=इन ज्ञानवाणियों से ही जीवन को **शुम्भन्ति**=शोभित करते हैं। वस्तुतः प्रभु का सबसे उत्कृष्ट स्तवन यही है कि हम

अपने जीवन को ज्ञान की वाणियों से अलंकृत करें।

भावार्थ—उस प्रभु के लिये इन वेदवाणियों द्वारा शंसन करना चाहिए। उस प्रभु का सच्चा स्तवन यही है कि हम इन ज्ञानवाणियों से जीवन को अलंकृत करें, यही ज्ञानयज्ञ द्वारा प्रभु का उपासन है।

अगले सूक्त में भी अत्रि ही कहते हैं—

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'सोमपति' प्रभु

आ याह्यद्रिभिः सुतं सोमं सोमपते पिब। वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**-सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले प्रभो! **आयाहि** आप हमें प्राप्त होइये। हे **सोमपते**=सोम का (वीर्यशक्ति का) रक्षण करनेवाले प्रभो! **अद्रिभिः** उपासकों द्वारा **सुतं सोमम्**-शरीर में उत्पन्न किये गये सोम को **पिब**-आप हमारे शरीर में ही व्याप्त करिये। आप हमारे हृदयों में स्थित होंगे, तो वहाँ वासनाओं का प्रवेश न होना और वासनाओं के अभाव में ही सोमरक्षण का सम्भव होता है। (२) हे **वृषन्**-हमारे अन्दर सोम का सेचन करनेवाले, **वृत्रहन्तम**-सोमरक्षण के लिये ही वासनाओं को सर्वाधिक विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप **वृषभिः**-इन सोमों के हेतु से ही हमें प्राप्त होइये (वृषा-सोम)। आपने ही हमारे जीवन में सोम का रक्षण करना है।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें प्राप्त होंगे और वासना विनाश के द्वारा हमारे सोम का रक्षण करेंगे।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

स्तोता-प्रसन्न व सोमरक्षक

वृषा ग्रावा वृषा मदो वृषा सोमो अयं सुतः। वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम॥ २॥

(१) **ग्रावा**-प्रभु के लिये स्तुति वाणियों का उच्चारण करनेवाला **वृषा**=शक्तिशाली बनता है। **मदः**=सदा आनन्दित रहनेवाला **वृष**=शक्तिशाली होता है। **अयम्**-यह **सुतः सोमः**-उत्पन्न किया गया सोम **वृषा**-हमें शक्तिशाली बनानेवाला है सो हम 'सोता, प्रसन्न व सोमरक्षक' बनकर शक्तिशाली बनें। (२) हे **इन्द्र**-सब दस्युओं का संहार करनेवाले प्रभो! **वृषन्**-हमारे में सोम का सेचन करनेवाले प्रभो! और सोमरक्षण के लिये ही **वृत्रहन्तम**=सर्वाधिक वासना को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप **वृषभिः**-इन हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोमों के हेतु से ही हमें प्राप्त हों। आपने ही वासना को विनष्ट करके हमारे जीवन में सोम का रक्षण करना है।

भावार्थ—स्तोता-सदा प्रसन्न रहनेवाला व सोमरक्षक पुरुष ही शक्तिशाली बनता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'सोम का सेचन करनेवाले' प्रभु

वृषा त्वा वृषणं हुवे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः। वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम॥ ३॥

(१) **वृषा**-अपने अन्दर सोम का सेचन करनेवाला मैं **वृषणं त्वा**-शक्तिशाली आपको **हुवे**=पुकारता हूँ। **वज्रिन्**-वज्रहस्त प्रभो! क्रियाशीलतारूप वज्र से वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **चित्राभिः**-चायनीय (आदरणीय) व अद्भुत **ऊतिभिः**-रक्षणों के हेतु से मैं आपको

पुकारता हूँ। (२) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के संहार करनेवाले प्रभो! आप ही **वृषन्**=हमारे जीवनों में सोम का सेचन करनेवाले हैं। सोम सेचन के उद्देश्य से ही **वृत्रहन्तम**-अधिक से अधिक वासनाओं को विनष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—हमारे शरीरों में सोम के सेचन के द्वारा प्रभु अद्भुत प्रकार से हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ्माध्यन्दिने सवने मत्सदिन्द्रः ॥ ४ ॥

(१) **ऋजीषी**=(ऋजु-इष) सदा सरल मार्ग से चलनेवाला, **वज्री**=क्रियाशीलतारूप वज्रवाला, अर्थात् कभी अकर्मण्य न होनेवाला, अतएव **वृषभः**=शक्तिशाली, **तुराषाट्**=त्वरा से शत्रुओं का पराभव करनेवाला, **शुष्मी**=शत्रुशोषक बलवाला, **राजा**=जीवन को दीप्त बनानेवाला, **वृत्रहा**=वासना का विनाशक, **सोमपावा**=सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाला यह पुरुष **हरिभ्याम्**=इन्द्रियाश्वों से **युक्त्वा**=शरीर रथ को जोतकर **अर्वाङ् उपयासत्**=अन्तर्मुख यात्रावाला प्रभु के समीप प्राप्त हो। (२) **माध्यन्दिने सवने**=जीवन-यात्रा के इस माध्यन्दिन सवन में, गृहस्थाश्रम के काल में, इस प्रकार सोमपावा बनकर **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **मत्सत्**=आनन्द का अनुभव करे। ब्रह्मचर्याश्रम 'जीवन का प्रातःसवन' है। गृहस्थ 'माध्यन्दिन' तथा वानप्रस्थ-संन्यास 'तृतीय सवन' हैं। माध्यन्दिन सवन में भी सोमरक्षण करता हुआ पुरुष जीवन के वास्तविक आनन्द का अनुभव करे।

भावार्थ—हम ऋजुमार्ग से चलते हुए, सोमरक्षण के द्वारा जीवन के वास्तविक आनन्द को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्य पर स्वर्भानु का आक्रमण

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः। अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥ ५ ॥

(१) हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है। इस सूर्य की 'स्वर्भानु' (भानु=दीप्ति, वृ=to kill) दीप्ति को नष्ट करनेवाला 'वैषयिक रोग'। यह 'आसुर' है (असु क्षेपणे) हमारी चित्तवृत्ति को इधर-उधर फेंकनेवाला है। हे **सूर्य**=ज्ञानरूप सूर्य! **यत्**=जो **स्वर्भानुः**=दीप्ति को नष्ट करनेवाला **आसुरः**=हमारे चित्तों को विक्षिप्त करनेवाला यह वैषयिक राग **त्वा**=तुझे **तमसा**=अन्धकार से **अविध्यत्**=बींधता है, उस समय यह मनुष्य इस प्रकार मूढ़-सा बन जाता है **यथा**=जैसे एक **अक्षेत्रवित्**=अपने को, अपने ही शरीर रूप क्षेत्र को न समझनेवाला **मुग्धः**=मूढ़-सा होता है। विषय-वासना का पर्दा पड़ते ही मनुष्य अपने को भूल जाता है और कुछ पागलों-सा व्यवहार करने लगता है। (२) उस समय **भुवनानि**=सब लोग **अदीधयुः**=(दीधिति=a religious prayer of devotion) इस प्राणी की स्थिति को देखकर धर्मप्रवण होकर प्रार्थना में प्रवृत्त होते हैं। उस समय प्रार्थना का स्वरूप यही होता है कि इस 'स्वर्भानु' का आक्रमण हमारे जीवनों पर न हो। हमारा जीवन ज्ञान सूर्य से सदा दीप्त रहे हम भी इस अज्ञान के आक्रमण से पागल से न हो जाएँ।

भावार्थ—ज्ञानसूर्य को वैषयिक दागरूप अज्ञान ने ग्रसा तो चित्तवृत्ति अस्थिर हो जाती है, और हम पागल से हो जाते हैं। सो प्रभु से यही आराधना करना कि यह अज्ञान हमारे ज्ञानसूर्य को ग्रसनेवाला न हो।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अत्रिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वर्भानु की माया का विनाश

स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्।
गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र**-जितेन्द्रिय पुरुष! **अध**=अब **यद्**-जिस समय तू **स्वर्भानोः**-इस दीप्ति को नष्ट करनेवाले वैषयिक राग अज्ञान की **दिवः**-ज्ञान के **अवः**-नीचे **वर्तमानाः**-होती हुई, अर्थात् ज्ञान पर परदे के रूप आ जाती हुई **मायाः**=मायाओं को **अवाहन्** नष्ट कर डालता है तभी यह **अत्रिः**=काम क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **अविन्दत्**=प्राप्त करता है। (२) उस सूर्य को प्राप्त करता है जो कि **अपव्रतेन तमसा**-जिसमें सब उत्तम कर्म नष्ट हो गये हैं ऐसे अज्ञानान्धकार से **गूढम्**-छिप गया था। विषय-राग के प्रबल होने पर सब धर्म-कर्म लुप्त हो जाते हैं। यह विषय-रागान्धकार अपव्रत तो है ही। इस सूर्य को अत्रि-काम-क्रोध लोभ से ऊपर उठनेवाला, व्यक्ति **तुरीयेण ब्रह्मणा**=पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्युलोक के परे चतुर्थ लोक में स्थित ब्रह्म से **अविन्दत्**-प्राप्त करता है। प्रभु कृपा से ही माया का परदा हटता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से जब हम माया के परदे को दूर कर पाते हैं, तभी हमारा ज्ञानसूर्य चमकने लगता है। इसकी दीप्ति में ही सब उत्तम यज्ञादि कर्मों का सम्भव होता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अत्रिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

इरस्या-द्रुग्ध व भय से दूर

मा मामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा नि गारीत्।
त्वं मित्रो असि सत्यराधास्तौ मेहावतं वरुणश्च राजा ॥ ७ ॥

(१) गतमन्त्र का अत्रि प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अत्र**=यहाँ इस जीवन में **इमम्**=इस **तव सन्तम्**-तेरे होते हुए, अर्थात् तेरे उपासक **माम्**=मुझ को **इरस्या**-(ill-will) किसी के भी अशुभ की कामना **द्रुग्धः**-द्रोहवृत्ति (malevolent act) **भियसा**-भय के साथ **निगारीत्**-निगल न जाये। न मेरे में ईर्ष्या व अशुभ इच्छा हो, न द्रोहवृत्ति हो तथा मैं भय से ऊपर उठा रहूँ। (२) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **मित्रः असि**=मुझे प्रमीति से, पाप व मृत्यु से रक्षित करनेवाले हैं, आप मुझे पापों व मृत्यु से बचाते हैं। **सत्यराधाः**=सत्य को आप मेरे में सिद्ध करते हैं अथवा सत्यमार्ग से मुझे धन कमाने के लिये प्रेरित करते हैं। पापों से बचानेवाले आप 'मित्र' **च**=और **राजा**=मेरे जीवन को दीप्त (राज् दीप्तौ) व व्यवस्थित (regulated) करनेवाला **वरुणः**=(पाशी) व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाला 'वरुण' **तौ**=वे दोनों **मा**-मुझे **इह अवतम्**=यहाँ रक्षित करें। 'मित्र व वरुण' रूप में आपका स्मरण करता हुआ मैं अपने को प्रमीति से बचाऊँ तथा व्यवस्थित व दीप्त जीवनवाला बनूँ। गतमन्त्र के स्वर्भानु की माया का ही परिणाम 'इरस्या, द्रुग्ध व भय' होते हैं। 'मित्र वरुण' की कृपा से इस माया का विनाश होकर मैं इन 'इरस्या' आदि का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—मैं प्रभु का उपासक बनूँ। यह उपासना मुझे 'ईर्ष्या, द्रोह व भय' से दूर करेगी। मैं सब के साथ स्नेह करनेवाला व व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधकर चलनेवाला बनूँगा।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अत्रिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

माया का अपगोहन (निवारण)

ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन्कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन्।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरप माया अघुक्षत्॥ ८ ॥

(१) **ब्रह्मा**–'अत्यन्त सात्त्विक वृत्तिवाला' ज्ञानी पुरुष **ग्राव्णः**=ज्ञानोपदेष्टाओं के साथ (गृणाति इति) **युयुजानः**=सम्पर्क में आता हुआ, **कीरिणा**=(कीर्यते अनेन) वासनाओं को दूर फेंकनेवाले स्तोत्रों से **सपर्यन्**=प्रभु पूजन करता हुआ, **नमसा**=नम्रता के साथ **देवान् उपशिक्षन्**=देवों के समीप शिक्षा को प्राप्त करता हुआ **अत्रिः**=काम-क्रोध-लोभ से दूर रहनेवाला यह पुरुष **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **सूर्यस्य चक्षुः**=ज्ञान सूर्य के प्रकाश को **आधात्**=स्थापित करता है। ज्ञान के प्रकाश की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि (क) हम उपदेष्टाओं के सम्पर्क में रहें, (ख) प्रभु का स्तवन करें, (ग) नम्रता से ज्ञानियों के समीप शिक्षा को प्राप्त करें। (२) ऐसा करने पर ही यह 'अत्रि' **स्वर्भानोः**=ज्ञान विनाशक वैषयिक रागरूप अज्ञान की **मायाः**=मायाओं को **अप अधुक्षत्**=अपने से दूर करता है, अपने से माया को दूर संवृत करता है, इससे आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—उपदेष्टाओं के सम्पर्क में आना, प्रभु का स्तवन, नम्रता से ज्ञानियों से शिक्षा को प्राप्त करना। ये उपाय हैं जिनसे कि हम ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करते हैं और वैषयिक-रागरूप अज्ञान की माया से बच पाते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अत्रिः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

अत्रि का ज्ञानसूर्य को प्राप्त करना

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः। अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्य१न्ये अशक्नुवन्॥ ९ ॥

(१) **वै**=निश्चय से **यं सूर्यम्**=जिस ज्ञानसूर्य को **आसुरः**=चित्तवृत्ति को इधर-उधर फेंकनेवाला **स्वर्भानुः**=प्रकाश को नष्ट करनेवाला वैषयिक राग रूप अज्ञान **तमसा**=अन्धकार से **अविध्यत्**=विद्ध कर डालता है, **तम्**=उस ज्ञानसूर्य को **अत्रयः**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाले पुरुष ही **अन्वविन्दन्**=विषय-राग से ऊपर उठने के बाद (अनु) प्राप्त करते हैं। (२) ज्ञान को प्राप्त करने का अन्य मार्ग नहीं है। **अन्ये**=अत्रियों से भिन्न व्यक्ति **न हि अशक्नुवन्**=इस ज्ञानसूर्य को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुए।

भावार्थ—काम-क्रोध-लोभ में फँसा हुआ पुरुष ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकता।

'ज्ञान के द्वारा ही सब दिव्यगुणों का जीवन में स्थापन होता है' यह बात अगले सूक्त के देवता 'विश्वेदेवाः' से स्पष्ट हो रही है। अत्रि ही प्रार्थना करता है—

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिव्य व पार्थिव तेज की प्राप्ति

को नु वां मित्रावरुणावृतायन्दिवो वा महः पार्थिवस्य वा दे।
ऋतस्य वा सदसि त्रासीथां नो यज्ञायते वा पशुषो न वाजान्॥ १ ॥

(१) हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवताओ! **नु**=अब **कः**=कौन **ऋतायन्**=यज्ञ

को चाहता हुआ पुरुष **वाम्**=आपका होता है। कोई विरल पुरुष ही प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होता है। प्रभु की उपासना के लिये यज्ञों की कामनावाले पुरुषों की संख्या अत्यन्त विरल है। उस यज्ञशील पुरुष के लिये **दिवः**=द्युलोक के **महः**=तेज को **वा**=तथा **पार्थिवस्य**=पृथिवीलोक के तेज को **वा**=निश्चय से **दे**-देनेवाले होते हैं। मस्तिष्करूप द्युलोक का तेज ज्ञान है और शरीररूप पृथिवी का तेज शक्ति है। यज्ञों द्वारा उपासक के लिये मित्र और वरुण ज्ञान व शक्ति को प्राप्त कराते हैं। (२) हे मित्र और वरुण! आप **ऋतस्य सदसि**=उस शरीर गृह में जिसे कि हम यज्ञों का स्थान बनाते हैं, आप **नः**=हमें **त्रासीथाम्**=रक्षित करें। आप **वा**=निश्चय से **यज्ञायते**=इस यज्ञ की कामनावाले पुरुष के लिये **पशुषः**=(पशून् सा०) पशुओं को, गौ आदि पशुओं को **न**=और (न इति चार्थे) **वाजान्**-अन्नों को प्राप्त करायें। गौ इत्यादि पशुओं के कारण इसे घृत की कमी न रहे और अन्नों से सामग्री की कमी न रहे। इनको प्राप्त करके यह अपने घर को 'यज्ञों का घर' बनाने में समर्थ हो।

भावार्थ—हम यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमारे लिये ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करायें। साथ ही यज्ञों की पूर्ति के लिये घृत व अन्न की हमें कमी न हो।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

किनका संग?

ते नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो अ॒र्य॒मायुरिन्द्र॑ ऋ॒भु॒क्षा म॒रुतो॑ जुषन्त।

नमो॑भिर्वा॒ ये दध॑ते सुवृ॒क्तिं स्तोमं॑ रु॒द्राय॑ मी॒ळ्हुषे॑ स॒जोषाः॑ ॥ २ ॥

(१) **नः**=हमारे साथ **ते**=वे **जुषन्त**=प्रीतिवाले हों, अर्थात् हमारा उन लोगों के साथ प्रेमपूर्वक मित्रता का सम्बन्ध हो जो कि **मित्रः**=सबके मित्र हैं, सबके प्रति स्नेहवाले हैं, **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाले हैं, किसी के प्रति द्वेष भावना नहीं रखते, **अर्यमा**=काम क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का नियमन करते हैं, **आयुः**=(एति) गतिशील हैं, क्रियाशील, अकर्मण्य नहीं, **इन्द्रः**=जो जितेन्द्रिय हैं, **ऋभुक्षाः**=ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले हैं, **मरुतः**=प्राणसाधना में प्रवृत्त हैं। (२) **वा**=अथवा हमारा उनके साथ रहन-सहन व उठना-बैठना हो **ये**=जो कि **नमोभिः**=नमन के साथ **मीढुषे**=सर्व सुखों का सेचन करनेवाले **रुद्राय**=सब रोगों का द्रावण करनेवाले प्रभु के लिये **सजोषाः**-परस्पर प्रेमवाले होते हुए मिलकर **सुवृक्तिम्**=अच्छी प्रकार पापों के वर्जन के हेतुभूत **स्तोमम्**=स्तवन को **दधते**=धारण करते हैं। इन उपासकों के साथ हमारा मेल हो। इनके सम्पर्क में आकर हम भी इनके समान जीवनवाले बनें।

भावार्थ—हमारा सम्पर्क 'स्नेही, निर्द्वेष, शत्रुविजयी, गतिशील, जितेन्द्रिय, ज्ञानरुचि, प्राणसाधक व प्रभु के उपासक' पुरुषों के साथ हो। इस सम्पर्क से हम भी इन जैसे बन पायेंगे।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यन्तृतम अश्विनी देवों का आराधन

आ वां॒ येष्ठा॑श्विना हु॒वध्यै॒ वात॑स्य प॒त्मन्रथ्य॑स्य पु॒ष्टौ।

उ॒त वा॑ दि॒वो असु॑राय॒ मन्म॒ प्रान्धां॑सीव॒ यज्य॑वे भरध्वम् ॥ ३ ॥

(१) हे **येष्ठा**=यन्तृतम **अश्विना**=प्राणापानो! अधिक से अधिक चित्तवृत्ति का निरोध करनेवाले प्राणापानो! मैं **वाम्**=आप दोनों को **आहुवध्यै**=पुकारता हूँ, आप दोनों की आराधना करता हूँ, प्राणायाम द्वारा आपकी साधना में प्रवृत्त होता हूँ। ताकि **वातस्य**=वायुवत् क्रियाशील पुरुष

के **पत्मन्**=मार्ग में **रथ्यस्य पुष्टौ**=शरीर रथ में जुतनेवाले इन्द्रियाश्वों को हम पुष्ट कर सकें। इन इन्द्रियाश्वों की पुष्टि के निमित्त हम प्राणसाधना करते हैं। इस प्राणसाधना से (प्राणायामैर्दहेद् दोषान्) दोषों का दहन होकर इन इन्द्रियाश्वों का पोषण होता है। (२) **उत वा**=और निश्चय से **दिवः**=ज्ञान के द्वारा **असुराय**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु के लिये **मन्म**=मननपूर्वक किये जानेवाले स्तोत्रों का **प्रभरध्वम्**=भरण करो। इन स्तोत्रों से हमारे सामने जीवन का लक्ष्य सदा उपस्थित रहेगा। इस 'दिवः असुर' प्रभु के स्तवन में हम अपने जीवनों में ज्ञान व शक्ति के भरण को कभी भूलेंगे नहीं। इस प्रकार प्रभु के लिये स्तवनों को करो **इव**=जैसे कि **यज्यवे**=यज्ञशील प्रभु के लिये **अन्धांसि**=हविर्लक्षण अन्नों का भरण करते हैं। अर्थात् 'यज्यु' प्रभु की प्राप्ति के लिये यज्ञशील बनना आवश्यक है। हविर्लक्षण अन्नों के द्वारा ही हम उस प्रभु का स्तवन करते हैं '**कस्मै देवाय हविषा विधेम**'।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा क्रियाशील जीवन बिताते हुए हम इन्द्रियाश्वों को निर्दोष व पुष्ट बनायें। प्रभु हमें, प्रभु स्तवन के होने पर ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराते हैं। इस यज्यु प्रभु की प्राप्ति के लिये हम हविवाले बनें, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हों।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीवन संग्राम में चलनेवाले

प्र स॒क्षणो॑ दि॒व्यः कण्व॑होता त्रि॒तो दि॒वः स॒जोषा॒ वातो॑ अ॒ग्निः।
पू॒षा भगः॑ प्रभृ॒थे वि॒श्वभो॑जा आ॒जिं न ज॑ग्मुरा॒श्व॑श्वतमाः ॥ ४॥

(१) **प्र सक्षणः**=(प्रकर्षेण शत्रूणां सोढा) खूब ही काम-क्रोध आदि शत्रुओं का यह पराभव करनेवाला होता है। इस शत्रुओं के पराभव के लिये ही **दिव्यः**=सदा ज्ञान प्रकाश में निवास करनेवाला होता है **कण्वहोता**=(कण्वश्चासौ होता च) मेधावी बनकर दान देनेवाला बनता है। अदान व लोभ ही सब बुराइयों का मूल है। पर अपात्र में दिया हु दान समाज के लिये हानिकर भी तो होता है। सो यह बड़ी समझदारी से दान देनेवाला बनता है। (२) इस प्रकार यह **त्रितः**='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को तैरनेवाला और **दिवः**=ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बनता है अथवा (दिव् स्तुतौ) प्रभु स्तवन की वृत्तिवाला बनता है। **सजोषाः**=यह परिवार में व समाज में सब के साथ मिलकर काम करनेवाला तथा **वातः**=वायुवत् क्रियाशील **अग्निः**=प्रगतिशील होता है, सदा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता है। (३) इस जीवन-यात्रा में यह **पूषा**=उचित प्रकार से पोषण करनेवाला होता है, अपने 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी का ठीक प्रकार से विकास करता है। इस विकास के लिये ही **भगः**=ऐश्वर्यशाली बनता है, विकास के लिये आवश्यक धन को कमाता ही है। इस बात का ध्यान करता है कि इसका ऐश्वर्य इसके विलास का कारण न बन जाये और अतिरिक्त धन से **प्रभृथे**=प्रकृष्ट भरण के कार्यों में लगा हुआ यह **विश्वभोजाः**=सभी का पालन करता है, उस पालन के कार्य में संकुचित हृदयता के कारण यह 'भेदभाव' के दृष्टिकोण से न देखकर केवल मानवता के दृष्टिकोण से देखता है। (४) ये व्यक्ति इस जीवन-यात्रा में **न**=इस प्रकार चलते हैं जैसे कि **आजिम्**=संग्राम में चल रहे हों। जीवन इनके लिये संग्राम होता है। ये **आशु अश्वतमाः**=शीघ्र गतिवाले उत्कृष्ट इन्द्रियाश्वोंवाले बनते हैं। इन इन्द्रियाश्वों के द्वारा ही तो इन्होंने जीवन संग्राम में विजय पानी है।

भावार्थ—जीवन को संग्राम समझकर चलनेवाला व्यक्ति निज जीवन को सब तरह से उत्तम बनाकर समाज भरण के कार्यों में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

क्रियाशीलता का महत्त्व

प्र वो॑ र॒यिं यु॒क्ताश्वं॑ भरध्वं रा॒य एषेऽवसे दधीत॒ धीः।

सु॒शेव॒ एवै॑रौशि॒जस्य॒ होता॒ ये व॒ एवा॑ मरुतस्तु॒राणा॑म्॥ ५॥

(१) हे जीवो! तुम उस **रयिम्**=धन को **वः** अपने लिये **प्रभरध्वम्** प्रकर्षेण धारण करो जो कि **युक्ताश्वम्** इन्द्रियाश्वों को शरीर रथ में उत्तमता से जोतनेवाला है। जिस धन के कारण तुम आलसी न बनकर क्रियाशील बने रहते हो। इस **रायः**=धन की **एषे**-प्राप्ति के लिये तथा **अवसे**=इन प्राप्त धनों के रक्षण के लिये **धीः**=बुद्धियों को व कर्मों को **दधीत**-धारण करो, बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा ही तुम्हें इन धनों का अर्जन व रक्षण करना है। (२) **औशिजस्य**= (desirous) सबका भला चाहनेवाले प्रभु का **होता**-आह्वाता व उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला **एवैः**-क्रियाओं से सदा क्रियाशील बने रहने के कारण **सुशेवः**=उत्तम कल्याणवाला होता है। प्रभु स्मरणपूर्वक क्रियाशील व्यक्ति कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता। **वा**=और **ये**=जो व्यक्ति **एवाः**=गतिशील होते हैं वे **तुराणाम्**-हिंसक शत्रुओं के **मरुतः** (मरुद् द्रवन्ति इति वा)=प्रबल आक्रान्ता होते हैं।

भावार्थ—क्रियाशीलता हमें धन के अर्जन व रक्षण के योग्य बनाती है। प्रभु स्मरणपूर्वक क्रिया करनेवाला सदा सुखी रहता है। क्रियाशील पुरुष वासनाओं को आक्रान्त करता है। सो हम उन्हीं धनों को चाहें जो हमें अकर्मण्य न बना दें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अनुकूल पत्नी का होना

प्र वो॑ वा॒युं र॑थ॒युजं॑ कृणुध्व॒ं प्र दे॒वं विप्रं॑ पनि॒तार॑म॒र्कैः।

इ॒षु॒ध्यव॑ ऋ॒त॒साप॑ः पुर॑न्धी॒र्वस्वी॑र्नो॒ अत्र॒ पत्नी॒रा धि॒ये धुः॥ ६॥

(१) **वायुम्**=वायु देवता को **वः रथयुजम्**-तुम्हारे शरीर रथ से सम्पर्कवाला **प्रकृणुध्वम्**= प्रकर्षेण करो। वायु देवता का शरीर रथ से सम्पर्क का भाव यही है कि तुम निरन्तर क्रियाशील बनो। उस क्रियाशीलता के साथ **देवम्**=प्रकाशमय **विप्रम्**-विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाले (वि-प्रा) **पनितारम्**=स्तुति के योग्य प्रभु को **अर्कैः**-स्तुति साधनभूत मन्त्रों के द्वारा अपने शरीर रथ से युक्त करो। अर्थात् प्रभु का भी सदा स्मरण करो जिससे तुम्हारी क्रियाएँ पवित्र बनी रहें। (२) **इषुध्यवः**-प्रभु की प्रार्थना करनेवाली (implore), **ऋतसापः**-यज्ञों का सेवन करनेवाली, **पुरन्धीः**-पालक व पूरक बुद्धिवाली, **वस्वीः**=घर के निवास को उत्तम बनानेवाली **पत्नीः**-पत्नियाँ **अत्र**=यहां इस गृहस्थ जीवन में **नः**=हमें **धिये**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के लिये **आधुः**=स्थापित करें। पत्नियों की अनुकूलता पतियों के मस्तिष्क को स्वस्थ रखने में बड़ी सहायक होती है। पत्नी का जीवन प्रार्थनामय यज्ञशील होगा तथा यदि वे बुद्धिपूर्वक कर्मों को करती हुई घर को उत्तम बनायेंगी तो पुरुष स्वस्थ मस्तिष्क होते हुए उत्तम कर्मों को सम्पन्न कर पायेंगे।

भावार्थ—हम क्रियाशील हों, प्रभु की उपासनावाले हों। अनुकूल पत्नियों को पाकर स्वस्थ मस्तिष्क से उत्तम कर्मों को सम्पन्न करनेवाले हों।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

बल-ज्ञान-यज्ञ

उप॑ व॒ एषे॒ वन्द्ये॑भिः शूषैः प्र य॒ह्वी दि॒वश्चि॒तय॑द्भिर॒र्कैः।
उ॒षासा॒नक्ता॑ वि॒दुषी॑व॒ विश्व॒मा हा॑ वहतो॒ मर्त्या॑य य॒ज्ञम्॥ ७॥

(१) हे **यह्वी**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **उषासानक्ता**=दिन व रात! मैं **वः**=आपके **उप एषे**=समीप प्राप्त होता हूँ। दिन व रात दो हैं, पर प्रतिदिन आने से यहाँ 'वः' इस बहुवचन का प्रयोग है। मैं इन दिन-रात के समीप **वन्द्येभिः**=वन्दनीय **शूषैः**=बलों के हेतु से प्राप्त होता हूँ। तथा **दिवः**=प्रकाश की **चितयद्भिः**=चेतना देते हुए **अर्कैः**=स्तुति साधन मन्त्रों के हेतु से इन दिन-रात को प्राप्त होता हूँ। अर्थात् मेरा प्रयत्न दिन-रात यही होता है कि मैं प्रशंसनीय बल का सम्पादन कर सकूँ तथा उन स्तुति साधन मन्त्रों का उपासन करूँ जो मेरे जीवन को प्रकाशमय करनेवाले हों। संक्षेप में भाव यही है कि मैं दिन-रात बल व ज्ञान के सम्पादन में प्रसित रहूँ। (२) ये दिन व रात **विदुषी इव**=खूब समझदार युवतियों के समान **ह**=निश्चय से **विश्वं यज्ञम्**=सब यज्ञों को **मर्त्याय**=मनुष्य के लिये **आवहोतः**=प्राप्त कराती हैं। अर्थात् हम इन दिन-रातों में सदा यज्ञशील बनने का प्रयत्न करते हैं। यज्ञशीलता की वृत्ति के लिये ही निरन्तर स्वाध्याय को अपनाते हुए बुद्धि को परिष्कृत करते हैं। समझदार पुरुष अवश्य यज्ञशील होता है।

भावार्थ—हम दिन-रात बल व ज्ञान का सम्पादन करते हुए यज्ञशील बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यज्ञशीलता का स्वरूप

अ॒भि वो॑ अर्चे पो॒ष्याव॑तो॒ नॄन्वास्तो॒ष्पतिं॒ त्वष्टा॑रं॒ ररा॑णः।
धन्या॑ स॒जोषा॑ धि॒षणा॒ नमो॑भि॒र्वन॒स्पतीँ॒रोष॑धी रा॒य एषे॑॥ ८॥

(१) गतमन्त्र में संकेतित यज्ञशीलता को ही स्पष्ट करते हुए प्रभु कहते हैं कि मैं **वः**=तुम्हारे में से **पोष्यावतः नॄन्**=पोष्य व्यक्तियों का उत्तम पोषण करनेवाले व्यक्तियों को (मतुप् प्रशंसायाम्) **अभि अर्चे**=आदृत करता हूँ। जो केवल अपना भरण न करके औरों का भी भरण करते हैं वे ही मेरे प्रिय होते हैं। यह केवल अपने लिये न जीना ही वस्तुतः यज्ञशीलता है। इनके लिये **रराणः**=सब आवश्यक पदार्थों को देता हुआ मैं **वास्तोष्पतिम्**=घर के उत्तम रक्षक व **त्वष्टारम्**=निर्माण के कार्यों में लगे हुए पुरुष को मैं आदर देता हूँ। 'वास्तोष्पति व त्वष्टा' बनना ही यज्ञशीलता है। (२) **धन्या**=आवश्यक धनों को प्राप्त करानेवाली, **सजोषाः**=सब के साथ मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्यों को करनेवाली **धिषणा**=बुद्धि **नमोभिः**=नम्रताओं के साथ अथवा प्रभु के प्रति नमस्कार के साथ **वनस्पतीः**=वनस्पतियों को **ओषधीः**=ओषधियों को तथा **रायः**=धनों को **एषे**=प्राप्त करने के लिये होती है। यज्ञशील पुरुष इस बुद्धि को सिद्ध करके वनस्पतियों व ओषधियों का सेवन करता हुआ आवश्यक धनों को भी प्राप्त करता है और उनके द्वारा अपने यज्ञों में प्रगति करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम केवलादी बनकर पोष्य व्यक्तियोंवाले बनें, घर को प्रशस्त बनायें, सदा निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त हों। बुद्धि का सम्पादन करके वनस्पति व ओषधियों का सेवन करते हुए यज्ञसाधक धनों का भी अर्जन करें।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

किनका सम्पर्क ?

तुजे नस्तने पर्वताः सन्तु स्वैतवो ये वसवो न वीराः।
पनित आप्त्यो यजतः सदा नो वर्धान्नः शंसं नर्यो अभिष्टौ॥ ९॥

(१) यज्ञशीलता उत्पन्न तभी हो सकती है, यदि बाल्यकाल से ही हमें उत्तम पुरुषों का सम्पर्क प्राप्त हो। सो प्रार्थना करते हैं कि **नः**-हमारे **तुजे**=पुत्रों के लिये तथा **तने**=पौत्रों के लिये **पर्वताः**=(पर्व पूरणे) जीवन को उत्तमताओं से भरनेवाले आचार्य **स्वैतवः**=स्वयं प्राप्त होनेवाले **हों**। अर्थात् प्रभु कृपा से हमारे पुत्र-पौत्रों को उत्तम आचार्य प्राप्त हों। वे आचार्य जो कि **न**-जैसे **वे वसवः**=निवास को उत्तम बनानेवाले हैं, वैसे ही **वीराः**=वीर हैं। कायर के सम्पर्क में तो वे बालक कायर ही बनेंगे। (२) **पनितः**=(पनितं अस्य अस्तीति) सदा स्तुतिमय जीवनवाला, **आप्त्यः**-सब औचित्यों से युक्त (आप्ति-propriety) **यज्ञतः**-यज्ञशील पुरुष **सदा**-हमेशा **नः**=हमें **वर्धात्**=बढ़ानेवाला हो। इसके सम्पर्क में आकर हम भी ऐसे ही बनें। **नर्यः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला यह व्यक्ति **अभिष्टौ**-वासनारूप शत्रुओं पर आक्रमण के निमित्त **नः शंसम्**=हमारी स्तवन की वृत्ति को बढ़ानेवाला हो। इसके सम्पर्क में हम भी प्रभु के स्तवन करनेवाले बनें और इस प्रकार काम-क्रोध आदि को पराजित कर सकें।

भावार्थ—हमें उन मनुष्यों का सम्पर्क प्राप्त हो जो अपना पूरण करनेवाले हैं, निवास को उत्तम बनानेवाले हैं, वीर हैं, स्तुतिमय जीवनवाले, सब औचित्यों से युक्त व यज्ञशील हैं। इनके सम्पर्क में हम भी यज्ञशील व स्तोता बनें।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उपासना से शक्ति की प्राप्ति व वासना विनाश

वृष्णो अस्तोषि भूम्यस्य गर्भं त्रितो नपातमपां सुवृक्ति।
गृणीते अग्निरेतरी न शूषैः शोचिष्केशो नि रिणाति वना॥ १०॥

(१) मैं **वृष्णः**=उस शक्तिशाली **भूम्यस्य**=होनेवाले प्राणिमात्र के हितकारी (भवति इति भूमिः) प्रभु का **अस्तोषि**-स्तवन करता हूँ। **त्रितः**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का विकास करनेवाला (त्रीन् तनोति) **गर्भम्**-सब पदार्थों के गर्भ में विचरनेवाले व सब पदार्थों को अपने गर्भ में लेनेवाले प्रभु का **सुवृक्ति**-अच्छी प्रकार सब बुराइयों का वर्जन करनेवाले **गृणीते**-स्तवन को करता है। प्रभु स्तवन से हमारी सब बुराइयों का विनाश होता है। उस प्रभु का यह स्तवन करता है, जो **अपां नपातम्**=(आपः रेतो भूत्वा) इसकी शक्ति का नाश नहीं होने देते। प्रभु-स्तवन से हम वासनाओं को जीतते हैं और वासना-विनाश से शक्ति का संरक्षण होता है। (२) **अग्निः**-वे अग्रणी प्रभु **न**-जैसे **एतरी**=गतिशील पुरुष में **शूषैः**=शत्रुशोषक बलों के साथ प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार **शोचिष्केशः**-दीप्त ज्ञानरश्मियोंवाले ये प्रभु **वना**-वासनाओं के वनों को, झाड़ी झंकाड़ों को **निरिणाति**=निश्चय से नष्ट कर देते हैं। प्रभु क्रियामय जीवनवाले उपासकों को, स्वकर्मानुष्ठान द्वारा अर्चन करनेवालों को शक्ति प्राप्त कराते हैं और उनकी वासनाओं को विनष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें शक्तिशाली बनाती है और हमारी वासनाओं का विनाश करता है।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु-स्तवन व ज्ञानयुक्त ऐश्वर्य

कथा महे रुद्रियाय ब्रवाम कद्राये चिकितुषे भगाय।
आप ओषधीरुत नोऽवन्तु द्यौर्वना गिरयो वृक्षकेशाः॥ ११॥

(१) 'रोरुयमाणो द्रवति' इस व्युत्पत्ति से 'रुद्र' स्तोता है, प्रभु का स्मरण करता हुआ वासनाओं पर आक्रमण करता है। प्रभु इन रुद्रों का हित करनेवाले रुद्रिय हैं। **कथा**=कैसे उस **महे**=महान् **रुद्रियाय**=स्तोताओं का हित करनेवाले प्रभु के लिये **ब्रवाम**=हम स्तुति-वचनों का उच्चारण करें! और **कद्**=कब **चिकितुषे**-ज्ञानवाले **भगाय**=सेवनीय (भज सेवायाम्) **राये**=धन के लिये हों। एक भक्त यही कामना करता है कि मैं शीघ्रातिशीघ्र उस महान् प्रभु का स्तोता बनूँ और उस भजनीय ऐश्वर्य को प्राप्त करूँ जो मेरे ज्ञान के ह्रास का कारण न बनकर, ज्ञानवृद्धि का ही हेतु हो। (२) इस ज्ञानवृद्धिवाली सम्पत्ति के परिणामस्वरूप **आपः**=जल **उत**=और **ओषधीः**=ओषधियाँ **नः**=हमें **अवन्तु**=रक्षित करें। धन के द्वारा हम इन्हें प्राप्त कर सकें और ज्ञान के द्वारा हम इनका उचित ही प्रयोग करें। **द्यौः**=यह आकाश, **वना**=सब वन, तथा **वृक्षकेशाः**=वृक्षों को ही केशों के स्थान में धारण करनेवाले **गिरयः**=ये पर्वत-वृक्षों से आच्छादित अद्रि भी हमारा कल्याण करें। वस्तुतः ज्ञान के होने पर सारा संसार हितकर ही होता है। अज्ञान ही कष्ट का कारण बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन से उस ऐश्वर्य को प्राप्त करें जो हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण हो। इस ज्ञान से यह सारा संसार हमारे लिये हितकर हो।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'नीरोग निर्मल शुभ्र' जीवन

शृणोतु न ऊर्जां पतिर्गिरः स नभस्तरीयाँ इषिरः परिज्मा।
शृण्वन्त्वापः पुरो न शुभ्राः परि स्रुचो बबृहाणस्याद्रेः॥ १२॥

(१) **ऊर्जां पतिः**=सब बलों व प्राणशक्तियों का स्वामी वह प्रभु **नः**=हमारी **गिरः**=स्तुतिवाणियों को **शृणोतु**=सुने। हम उस प्रभु का स्तवन करें। **सः**=वे प्रभु ही **नभः**=(नह् बन्धने) हमारे साथ प्रकृति के बने इस शरीर को बाँधनेवाले हैं। **तरीयान्**=वे (अतिशयेन तारयिता) ही हमें इस भवसागर से तरानेवाले हैं। **इषिरः**=निरन्तर उत्तम मार्ग की प्रेरणा देनेवाले हैं और **परिज्मा**=सर्वत्र गतिवाले हैं। वे ही सब जगह हमारा रक्षण करते हैं। (२) **आपः** (आपो वै नरसूनवः)=सब प्रजाएँ उस **बवृहाणस्य**=सदा से बढ़े हुए, उपासकों का वर्धन करनेवाले, **अद्रेः**=आदरणीय प्रभु की **स्रुचः**=वाणियों को **परिशृण्वन्तु**=समन्तात् सुनें। (वाग्वै स्रुचः शत० ६।३।१।८) सदा प्रभु की प्रेरणाओं को सुननेवाले बनेंगे, तभी वे **पुरः न**=जैसे अपना पालन व पूरण करनेवाले होंगे, उसी प्रकार **शुभ्राः**=अत्यन्त शुद्ध जीवनवाले बन पायेंगे। (पृ पालनपूरणयोः, पिपर्ति इति पुर्) प्रभु की प्रेरणाओं के अनुसार चलते हुए ये शरीर का पालन व मन का पूरण करते हुए शुभ्र जीवनवाले होंगे।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें, प्रभु प्रेरणा को सुनें और अपने जीवन को नीरोग, निर्मल व शुभ्र बनायें।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दम-शम

विदा चिन्नु महान्तो ये व एवा ब्रवाम दस्मा वार्यं दधानाः।
वयश्चन सुभ्व१ आव यन्ति क्षुभा मर्तमनुयतं वधस्नैः॥ १३॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे मनुष्यो! ये **वः एवाः**-जो तुम्हारे में से गतिशील हैं, **महान्तः**-पूजा की वृत्तिवाले हैं (मह पूजायाम्), **दस्माः**=वासनाओं का उपक्षय करनेवाले हैं व दर्शनीय जीवनवाले हैं, **वार्यं दधानाः**-वरणीय गुणों को धारण करनेवाले हैं वे **ब्रवाम**-जो कुछ हम करते हैं उसे **चित् नु**=निश्चय से **विद्**-जानें। (२) प्रभु कहते हैं कि **क्षुभा**-(क्षुभ संचलने) क्षोभयुक्त मन से तथा **वधस्नैः**-वासनाओं द्वारा वध करनेवाली इन्द्रियों से **अनुयतम्** काबू किये हुए, अर्थात् मन व इन्द्रियों के दास बने हुए **मर्तम्**-मनुष्य को **सुभ्वः**=(सुष्ठुभवन्तः) उत्तम स्थिति के कारणभूत **वयः चन**-मार्ग भी **आ अवयन्ति**=सर्वथा छोड़ जाते हैं। (way-वय् गतौ) मन व इन्द्रियों की दासता सदा पतन का कारण बनती है। (२) प्रभु का सर्वमहान् उपदेश यही है कि इन्द्रियों व मन का दास न बनना। यही तुम्हें महान् बनायेगा। तभी दर्शनीय तुम्हारा जीवन होगा और तुम वरणीय वस्तुओं को धारण करनेवाले बनोगे।

भावार्थ—जो व्यक्ति प्रभु के इस उपदेश को सुनते हैं कि 'इन्द्रियों व मन का दास बननेवाला व्यक्ति मार्गभ्रष्ट हो जाता है' वे गतिशील, महान्, दर्शनीय व वरणीय गुणों को धारण करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु का आदेश

आ दैव्यानि पार्थिवानि जन्मापश्चाच्छा सुमखाय वोचम्।
वर्धन्तां द्यावो गिरश्चन्द्राग्रा उदा वर्धन्तामभिषाता अर्णाः॥ १४॥

(१) गतमन्त्र में प्रभु ने कहा था कि 'इन्द्रियों व मन का दास न बनना'। अब प्रभु कहते हैं कि मैं **सुमखाय**-इस उत्तम यज्ञशील पुरुष के लिये **आवोचम्**-सर्वथा कहता हूँ कि **दैव्यानि**=देव सम्बन्धी तथा **पार्थिवानि**-इस पृथिवी सम्बन्धी **जन्म**-शक्तियों के विकासों को तथा **अपः**-उत्तम कर्मों को **अच्छ**-(अभिप्राप्तुम्) प्राप्त करने के लिये यत्नशील हो। पार्थिव शक्तियों के विकास वे हैं जो इहलोक के साथ सम्बद्ध हैं, ये 'अभ्युदय' का कारण बनते हैं। दैव्य विकास वे हैं जो परलोक में निःश्रेयस का कारण होते हैं। दैव्य व पार्थिव विकास क्रमशः ज्ञानजनित पवित्रता व बल अथवा ब्रह्म व क्षत्र का विकास ही है। इस ब्रह्म व क्षत्र का विकास करके सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होना ही मानव जीवन का लक्ष्य है। (२) प्रभु कहते हैं कि तुम्हारे जीवनों में ये **द्यावः**=प्रकाशमय **गिरः**-ज्ञान की वाणियाँ **वर्धन्ताम्**=वृद्धि को प्राप्त करें, वे ज्ञान की वाणियाँ जो **चन्द्राग्राः**=(चदि आह्लादे) आह्लाद को अपने अग्रभाग में लिये हुए हैं। अर्थात् जिनका आगे चलकर आनन्द प्राप्ति ही परिणाम होता है। सो तुम्हारे जीवनों में **उदा अभिषाताः**-ज्ञानजल से परिपूर्ण (अभि सन्=संभक्त-सेवित युक्त) **अर्णाः** ज्ञान नदियाँ (सरस्वती) **वर्धन्ताम्** वृद्धि को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु का उपदेश है कि—(क) देव बनो, (ख) शक्ति का वर्धन करो, (ग) उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होवो तथा (घ) अपने जीवन में ज्ञान-नदी में स्नान करनेवाले बनो।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्तुति-वेदवाणी=(सरलता)

पदेपदे मे जरिमा नि धायि वरूत्री वा शक्रा या पायुभिश्च।
सिषक्तु माता मही रसा नः स्मत्सूरिभिर्ऋजुहस्त ऋजुवनिः ॥ १५ ॥

(१) प्रभु का उपदेश सुनकर जीव निश्चय करता है कि **पदे पदे**=पग-पग पर **मे**=मेरे से **जरिमा**=स्तुति **निधायि**=अपने में स्थापित की जाती है, मैं सतत स्तुति प्रवृत्त होता हूँ। सब कार्यों को प्रभु-स्तवन के साथ करता हूँ। उस स्तुति को करता हूँ जो **वा**=निश्चय से **वरुत्री**=मेरी सब बुराइओं का निवारण करनेवाली है, **च**=और **या**=जो **पायुभिः**=रक्षणों के द्वारा **शक्रा**=सब मुझे सब उत्तम कर्मों के करने की शक्ति प्राप्त कराती है। स्तुति से जीवन पवित्र होता है और शक्ति-सम्पन्न बनता है। (२) **नः**=हमें यह **माता**=जीवन का निर्माण करनेवाली वेदमाता **सिषक्तु**=प्राप्त हो जो **मही**=पूज्य है, हमारे जीवनों को महत्त्वपूर्ण बनानेवाली है तथा **रसा**=हमारे जीवनों में रस का सञ्चार करनेवाली है। जो **स्मत्सूरिभिः**=प्रशस्त विद्वानों से हमें प्राप्त होती है (स्मत्=प्रप्रास्तार्थे) तथा **ऋजुहस्ता**=हमारे हाथों को ऋजु बनाती है, अर्थात् जिसको प्राप्त करके हम सरलतायुक्त कर्मों को ही करते हैं, **ऋजुवनिः**=जो हमें आर्जव का सेवन करनेवाला बनाती है, इस वेदवाणी से हमारे हृदय निष्कपट होते हैं। यह आर्जव ही तो ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग है। 'आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'।

भावार्थ—हम सदा प्रभु-स्मरण के साथ कार्यों को करें, यही पवित्रता व शक्ति प्राप्ति का मार्ग है। हम प्रशस्त विद्वानों से वेदमाता का ज्ञान प्राप्त करें, यह ज्ञान हमें सरल वृत्ति व निष्कपट कर्मोंवाला बनायेगा।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ज्ञान प्राप्ति व प्रभु-स्मरण

कथा दाशेम नमसा सुदानूनेवया मरुतो अच्छोक्तौ प्रश्रवसो मरुतो अच्छोक्तौ।
मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धादस्माकं भूदुपमातिवनिः ॥ १६ ॥

(१) **कथा**=किसी प्रकार हम **नमसा**=नम्रतापूर्वक तथा **एवया**=क्रियाशीलता के साथ (श्रम की वृत्ति के साथ) **सुदानून्**=उत्तम ज्ञानों के देनेवाले **मरुतः अच्छ**=प्राणसाधक पुरुषों के प्रति **उक्तौ**=ज्ञान प्रवचन के निमित्त **दाशेम**=अपने को दे डालें। **प्रश्रवसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **मरुतः अच्छ**=प्राणसाधक पुरुषों के प्रति **उक्तौ**=ज्ञान-प्रवचन के निमित्त अपने को दे डालें। इन पुरुषों के समीप नम्रता व पुरुषार्थ वृत्ति से हम पहुँचेंगे, तो ये हमारे लिये उत्कृष्ट ज्ञान को देनेवाले होंगे। (२) **अहिर्बुध्न्यः**=(बुध्नं=अन्तरिक्षं तत्र भवः, आहन्ति) हृदयान्तरिक्ष में स्थित वासनाओं का विनाशक प्रभु **नः**=ज्ञान प्राप्ति में पूर्ण पुरुषार्थवाले हमको **रिषे**=हिंसा के लिये **मा धात्**=मत धारण करें। ज्ञान को प्राप्त करके हम प्रभु का उपासन करेंगे, तो हम वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचा सकेंगे। ये प्रभु **अस्माकम्**=हमारे **उपमातिवनिः**=शत्रुओं के हिंसक **भूत्**=हों। प्रभु-स्मरण से हम अभिमान आदि शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—हम नम्रतापूर्वक ज्ञानियों के चरणों में उपस्थित होकर श्रम से ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त हों। प्रभु-स्मरण द्वारा वासनाओं व शत्रुओं का संहार कर सकें।

ऋषिः—अत्रिः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

वानप्रस्थ बनना

इति चिन्नु प्रजायै पशुमत्यै देवासो वनते मर्त्यो व आ देवासो वनते मर्त्यो वः।
अत्रा शिवां तन्वो धासिमस्या जरां चिन्मे निर्ऋतिर्जग्रसीत ॥१७॥

(१) हे **देवासः**-देवो! **मर्त्यः**-मनुष्य **नु**-शीघ्र ही **इति चित्**=इस प्रकार **पशुमत्यै**=प्रशस्त गवादि पशुओंवाली **प्रजायै**-उत्तम प्रजा के लिये **वः वनते**=आपका आराधन करता है। **मर्त्यः**=मनुष्य **आ**=समन्तात्, **देवासः**=हे देवो! **वः वनते**=आपका उपासन करता है। सामान्यतः मनुष्य धार्मिक प्रवृत्तिवाला होने पर भी प्रजा व पशुओं में ही उलझा रह जाता है। और प्रभु की उपासना का स्थान उसके जीवन में भिन्न-भिन्न देवों का उपासन ही ले-लेता है। चाहिये तो यह कि हम जीवन-यात्रा में गृहस्थ में उत्तम प्रजाओं का निर्माण करके अब उससे ऊपर उठने का प्रयत्न करें। हमारी वृद्धावस्था भी इस गृहस्थ में ही न समाप्त हो जाये। (२) **अत्रा**=इन पशुओं व प्रजाओं में **अस्याः**=इस **तन्वः**=शरीर के **शिवां धासिम्**=कल्याणकर धारण को तथा **मे जरां चित्**=मेरी प्रभु स्तुति को भी (जरा-स्तुति नि० १०।८) **निर्ऋतिः**=दुर्गति ने ग्रस लिया है। हम जीवन के अन्त तक पुत्र-पौत्रों में ही उलझे रहेंगे तो यह कल्याण का मार्ग नहीं है। गृहस्थ से ऊपर उठकर हमें वनस्थ होना ही चाहिए और सतत प्रभु स्मरण के आनन्द को लेने का प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रभु-स्मरण हमें सशक्त व स्वस्थ शरीरवाला बनाकर लोकहित के कार्यों को करने के योग्य बनायेगा।

भावार्थ—हम देवों से प्रजा व पशु ही जन्म भर न माँगते रह जायें। गृहस्थ को भली-भान्ति निभाकर वनस्थ हों। प्रभु-स्मरण से अपने को सशक्त बनाकर लोकहित में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—अत्रिः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुमति व वेदवाणी की ओर

तां वो देवाः सुमतिमूर्जयन्तीमिषमश्याम वसवः शसा गोः।
सा नः सुदानुर्मृळयन्ती देवी प्रति द्रवन्ती सुविताय गम्याः॥१८॥

(१) हे **देवाः**=ज्ञानी पुरुषो! हम **वः**=आपकी **ताम्**=उस **सुमतिम्**=कल्याणीमति को **अश्याम**=प्राप्त करें तथा **वसवः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले देवो! **गोः शसा**=इस वेदवाणी के शंसन के साथ प्रतिदिन इसके अध्ययन के साथ **ऊर्जयन्तीम्**=हमारे में बल व प्राणशक्ति का संचार करनेवाली **इषम्**-प्रेरणा को प्राप्त करें (अश्याम)। (२) **सा**=वह वेदवाणीरूप गौ **नः**=हमारे लिये **सुदानुः**-अच्छी प्रकार बुराइयों का नाश करनेवाली हो (दाप् लवने), **मृडयन्ती**=यह हमारे जीवनों को सुखी करनेवाली हो **देवी**=यह सब प्रकाशों को प्राप्त करानेवाली वेदवाणी **प्रतिद्रवन्ती**=प्रतिदिन हमारी ओर आती हुई अथवा वासनाओं पर आक्रमण करती हुई **सुविताय**=सुवित के लिये, सदाचरण के लिये, सदा शुभ मार्ग पर चलाने के लिये **गम्याः**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—हम देवों की कल्याणी मति को प्राप्त करें। ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त होकर प्रभु प्रेरणा से बल प्राप्त करें। यह ज्ञानवाणी हमें अशुभ से हटाकर शुभ में प्रवृत्त करे और इस प्रकार हमारे लिये कल्याणकर हो।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

बृहद्दिवा उर्वशी

अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः॥ १९॥

(१) **इडा**=यह वेदवाणी **नः**=हमारे लिये **अभिगृणातु**=प्रातः-सायं ज्ञानोपदेश करनेवाली हो। हम दोनों समय स्वाध्याय को अवश्य करें। यह **यूथस्य माता**=हमारे इन्द्रिय समूह का निर्माण करनेवाली है। हमारी सब इन्द्रियों को **स्मत् नदीभिः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियों से **वा उर्वशी**=निश्चय से खूब ही वश में करनेवाली है। (२) यह **उर्वशी**=हमारी इन्द्रियों को वश में करनेवाली वेदवाणी **वा**=निश्चय से **बृहद्दिवा**=वृद्धि के कारणभूत ज्ञान के प्रकाशवाली है। **गृणाना**=हमारे लिये ज्ञानोपदेश करती हुई यह **प्रभृथस्य**=गृहस्थ से ऊपर उठकर, वनस्थ की साधना करके, सन्यस्त होकर, प्रकृष्ट भरण के कार्य में लगे हुए **आयोः**=निरन्तर गतिशील इस परिव्राजक की **अभ्यूर्ण्वाना**=आच्छादन करनेवाली यह वेदवाणी है। यह वेदवाणी ही संन्यस्त पुरुष का रक्षण करती है।

भावार्थ—वेदवाणी हमारी इन्द्रियों का उत्तम निर्माण करती है। यह हमारा आच्छादन करती हुई बुराइयों से हमें आक्रान्त नहीं होने देती। इसके द्वारा हम इन्द्रियों को वशीभूत कर पाते हैं।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—याजुषीपङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ऊर्जव्य पुष्टि

सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः॥ २०॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित वेदवाणी **नः**-हमारे साथ **ऊर्जव्यस्य**=बल व प्राणशक्ति सम्पन्न **पुष्टेः**=पोषण का **सिषक्तु**=मेल करनेवाली हो। निरन्तर वेदवाणी को अपनाने से विषय वासनाओं से बचे रहकर हम 'स्वस्थ, सबल व सुन्दर' जीवनवाले बने रहें। (२) गतमन्त्र के अनुसार यह हमारे सब यूथों का निर्माण करनेवाली हो। अन्नमयकोश के पंचतत्त्वों को ठीक रखे, प्राणमयकोश के पंच प्राणों को प्रबल बनाये। पाँचों कर्मेन्द्रियों, व पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को कार्यक्षम करे। तथा 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' सब को निर्मल करनेवाली हो। इस प्रकार यह हमारा ठीक पोषण करनेवाली, वास्तविक माता हो।

भावार्थ—हम वेदमाता का उपासन करें। यह हमारा उत्तम पोषण क्यों न करेगी?

अगले सूक्त में भी अत्रि ही प्रार्थना करते हैं कि—

४२. [द्विचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदवाणी का जीवन पर क्या प्रभाव है?

प्र शन्तमा वरुणं दीधिती गीर्मित्रं भगमदितिं नूनमश्याः।
पृषद्योनिः पञ्चहोता शृणोत्वतूर्तपन्था असुरो मयोभुः॥ १॥

(१) यह **शन्तमा**=अत्यन्त शान्ति को देनेवाली **दीधिती**=(bodily lustre, strength) तेजस्विता के साथ **गीः**=ज्ञान की वाणी **नूनम्**=निश्चय से **वरुणम्**=द्वेष के निवारण करनेवाले पुरुष को **प्र अश्याः**=प्रकर्षेण प्राप्त हो। **मित्रम्**=सब के प्रति स्नेहवाले को यह प्राप्त हो। **भगम्**=भजनीय

(सेवनीय) धनवाले को यह प्राप्त हो। **अदितिम्** (अ-दिति) व्रतों के न तोड़नेवाले, व्रतों का पालन करनेवाले को यह प्राप्त हो। यदि हम ज्ञान की वाणी को प्राप्त करना चाहते हैं तो जीवन में 'निर्द्वेष्यता, मित्रता, पवित्र धन तथा व्रतपालन' की साधना करें। ये बातें हमें अधिकाधिक ज्ञान का पात्र बनायेंगी। (२) **पृषद्योनिः**-(पृषु सेचने) सोम के उत्पत्ति स्थान (योनि) इस शरीर को जो इस सोम से सिक्त करता है, इस सोम को विनष्ट नहीं होने देता, **पञ्चहोता**-जो पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानयज्ञ को करता है, **अतूर्तपन्थाः**-जो मार्ग को हिंसित नहीं करता, अर्थात् सदा मार्ग पर चलता है **असुरः**=(असु क्षेपणे) वासनाओं को अपने से परे फेंकता है, **मयोभुः**-सब के कल्याण को करनेवाला बनता है, वह इस वेदवाणी को **शृणोतु**=सुने। ज्ञान की वाणियों को सुननेवाला इस प्रकार का बनता है, यह सोम का रक्षण करता है, इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानयज्ञ में प्रवृत्त रहती हैं, मार्ग से यह विचलित नहीं होता, प्राणशक्ति-सम्पन्न व वासनाओं को परे फेंकनेवाला बनता है और सभी के कल्याण में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—वेदवाणी हमारे जीवन को शान्त व शक्तिमय बनाती है। यह हमें 'निर्द्वेषता, मित्रता, पवित्र धन व व्रतपालन' वाला करती है। इससे हम सोमरक्षण करते हुए, ज्ञान में प्रवृत्त होकर, मार्ग पर चलते हुए, शक्ति-सम्पन्न व सबका कल्याण करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'स्तोम व ब्रह्म' का अदिति द्वारा ग्रहण

प्रति मे स्तोममदितिर्जगृभ्यात्सूनुं न माता हृद्यं सुशेवम्।
ब्रह्म प्रियं देवहितं यदस्त्यहं मित्रे वरुणे यन्मयोभु॥ २॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **मे स्तोमम्**=मेरे स्तवन को **अदितिः**-(अ-दिति) व्रतों को न तोड़नेवाला, व्रतपालन करनेवाला व्यक्ति **प्रति जगृभ्यात्**=प्रतिदिन ग्रहण करे। इस प्रकार ग्रहण करे, **न**=जैसे कि **माता सूनुम्** माता पुत्र को प्रेम से ग्रहण करती है। यह स्तोम उसके लिये **हृद्यम्**-हृदय के लिये प्रीतिकर हो तथा **सुशेवम्**-उत्तम कल्याण करनेवाला हो। वस्तुतः व्रतमय जीवनवाला पुरुष प्रतिदिन प्रभु-स्तवन करता है और अपने अन्दर आनन्द का अनुभव करता है। (२) **यत्**-जो **प्रियम्**-प्रीति को करनेवाला, प्रसन्नता को जन्म देनेवाला, **देवहितम्**=देवों के लिये हितकर, **अहम्**-व्यापक, (सब लोकों में इसी वेदज्ञान का प्रकाश प्रभु ने किया है, सो यह व्यापक तो है ही) यह वेदज्ञान **अस्ति**-है, और **यत्**=जो **मित्रे वरुणे**-सब के प्रति स्नेहवाले निर्द्वेष पुरुष में **मयोभु**-कल्याण को उत्पन्न करनेवाला है, उस वेदज्ञान को यह व्रतमय जीवनवाला पुरुष ग्रहण करे।

भावार्थ—हम व्रतमय जीवनवाले बनकर प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु स्तवन करें और ज्ञान को ग्रहण करनेवाले बनें। स्तवन व ज्ञान ही हमारे लिये सुख व कल्याण को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्मरण-माधुर्य व ज्ञानदीप्ति

उदीरय कवितमं कवीनामुनत्तैनमभि मध्वा घृतेन।
स नो वसूनि प्रयता हितानि चन्द्राणि देवः सविता सुवाति॥ ३॥

(१) **कवीनां कवितमम्** (गुरूणां गुरुं)=ज्ञानियों में सर्वातिशायी ज्ञानवाले प्रभु को **उदीरय**-उच्चारित करो। प्रभु के नामों का उच्चारण करो, उन्हीं के अर्थ का भावन करो। **एनम्**-इस

शरीर को **मध्वा**=माधुर्य से तथा **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति से **अभि उनत्त**=अच्छी प्रकार सिक्त करो। संक्षेप में, प्रभु का स्मरण करो और जीवन को मधुर व ज्ञानदीप्त बनाओ। (२) ऐसा करने पर **सः**=वह **सविता देवः**=सब का प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **नः**=हमारे लिये **वसूनि**=उन धनों को **सुवाति**=उत्पन्न करते हैं, जो **प्रयता**=पवित्र हैं, पवित्र साधनों से कमाये गये हैं, **हितानि**=हितकर हैं, **चन्द्राणि**=आह्लाद को देनेवाले हैं। ये धन हमारे जीवन में उन्नति के लिये साधनभूत होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरणपूर्वक जीवन को मधुर व ज्ञानदीप्त बनाने के लिये यत्नशील हों प्रभु हमारे लिये आवश्यक धनों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रशस्त मन व इन्द्रियाँ तथा ज्ञानियों का संग

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सं सूरिभिर्हरिवः सं स्वस्ति।
सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमत्या यज्ञियानाम्॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमें **मनसा**=उत्तम मननशील अन्तःकरण से **संनेषि**=संगत करते हैं, **गोभिः**=ज्ञानेन्द्रियों से युक्त करते हैं। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **सूरिभिः**=ज्ञानी पुरुषों से **सम्**=हमें संगत करते हैं और इस प्रकार उनके द्वारा ज्ञान को प्राप्त कराके **स्वस्ति**=कल्याणों से **सम्**=हमें संगत करते हैं। मन व इन्द्रियाँ उत्तम हों तथा ज्ञानियों का सम्पर्क प्राप्त हो जाए, तो ज्ञान प्राप्त होकर हमारा कल्याण क्यों न होगा? (२) हे प्रभो! हमें उस **ब्रह्मणा**=वेदज्ञान से **सम्**=संगत करिये **यत्**=जो **देवहितं अस्ति**=देवों के लिये हितकर है अथवा सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि, वायु, रवि व अंगिरा' नाम ऋषियों के हृदय में आपके द्वारा स्थापित किया गया है। हमें **यज्ञियानाम्**=यज्ञशील **देवानाम्**=विद्वानों की **सुमत्या**=कल्याणीमति से **सम्**=संगत करिये। इस शुभ बुद्धि को प्राप्त करके ही हम वेदज्ञान को प्राप्त करेंगे और तदनुकूल जीवन बिताते हुए कल्याण को प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारा मन उत्तम हो, इन्द्रियाँ प्रशस्त हों। विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हो। यज्ञशील विद्वानों की सुमति को प्राप्त करके हम ज्ञानयुक्त बनें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों का धारण

देवो भगः सविता रायो अंश इन्द्रो वृत्रस्य संजितो धनानाम्।
ऋभुक्षा वाज उत वा पुरन्धिरवन्तु नो अमृतासस्तुरासः॥ ५॥

(१) **देवः**=प्रकाशमय जीवनवाला **भगः**=सेवनीय धन का स्वामी, **सविता**=उत्पादक, **रायः अंशः**=धन का विभक्ता, **वृत्रस्य इन्द्रः**=वासना का संहार करनेवाला (इनः सन् द्रावयति) ये सब **नः**=हमारे लिये **धनानां सञ्जितः**=धनों के विजेता हों, अर्थात् हम 'देव' आदि को अपने में धारण करके धनों का विजय करें। इन धनों को हम विभक्त करनेवाले हों, ताकि ये धन हमें वासनाओं में फँसाकर हमारा विनाश का कारण न बन जायें। सदा उत्तम मार्ग से ही, पुरुषार्थ से ही, धनों को कमायें। (२) **ऋभुक्षाः**=ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाला **वाजः**=शक्तिशाली, **उत वा**=तथा **पुरन्धिः**=पालक व पूरक बुद्धिवाला ये सब **नः अवन्तु**=हमारा रक्षण करें। **अमृतासः**=ये हमारे अमृतत्त्व (नीरोगता) का कारण बनें और **तुरासः**=हमारे वासनारूप शत्रुओं का संहार करनेवाले हों। हम 'ऋभुक्षा, वाज व पुरन्धि' बनकर अपने को नीरोग व वासना शून्य हृदयोंवाला

बना पायें।

भावार्थ—हम 'प्रकाशमयता, ऐश्वर्य, निर्माण, धन संविभाग व वासना विनाश' आदि गुणों का धारण करें। सदा ज्ञानदीप्ति में निवास करें, शक्तिशाली बनें, पालक व पूरक बुद्धिवाले हों। नीरोग व वासना रहित बनें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अद्वितीय प्रभु' का स्मरण

मरुत्वतो अप्रतीतस्य जिष्णोरजूर्यतः प्र ब्रवामा कृतानि।
न ते पूर्वे मघवन्नापरासो न वीर्यं१ नूतनः कश्चनाप॥ ६॥

(१) **मरुत्वतः**=(मरुतः प्राणाः) सब प्राणों की शक्ति के स्वामी, **अप्रतीतस्य**=कभी भी शत्रुओं से अनाक्रान्त, **जिष्णोः**=सदा जयशील, **अजूर्यतः**=कभी जीर्ण न होनेवाले, हे प्रभो! आपके **कृतानि**=लोक निर्माण आदि कार्यों का **प्रब्रवाम**=हम सदा परिपादन करें। आपके इन महान् कार्यों का स्मरण करते हुए हम आपकी महिमा को सर्वत्र देखने का प्रयत्न करें और आपके प्रति श्रद्धान्वित हो आपका उपासन करें। (२) हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् **न**=न तो **पूर्वे**=पूर्वकालीन सृष्टि में होनेवाले कोई व्यक्ति **न अपरासः**=नां ही इस अपर सृष्टि में होनेवाले कोई व्यक्ति **न**=नां ही **नूतनः कश्चन**=आगे आनेवाली सृष्टियों में होनेवाला नया कोई व्यक्ति **ते वीर्यं आप**=आपके पराक्रम को पा सकता है। अर्थात् आपके समान पराक्रमवाला न कोई हुआ, न है और न होगा।

भावार्थ—प्रभु के कर्म महान् हैं। वे अनुपम पराक्रमवाले हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तुवते शंभविष्ठः

उप स्तुहि प्रथमं रत्नधेयं बृहस्पतिं सनितारं धनानाम्।
यः शंसते स्तुवते शंभविष्ठः पुरूवसुरागमज्जोहुवानम्॥ ७॥

(१) हे उपासक! तू **उपस्तुहि**=उस प्रभु का स्तवन कर। जो **प्रथमम्**=(प्रथविस्तारे) निरतिशय विस्तारवाले सर्वव्यापक हैं, **रत्नधेयम्**=सब रमणीय पदार्थों के धारण करनेवाले हैं, **बृहस्पतिम्**-ज्ञान के स्वामी हैं तथा **धनानां सनितारम्**=सब धनों के देनेवाले हैं। (२) उस प्रभु का तू स्तवन कर जो **शंसते**-(शंस् to hurt) वासनाओं का विनाश करनेवाले और अतएव **स्तुवते**=प्रभु-स्तवन करनेवाले के लिये **शम्भविष्ठः**=अधिक से अधिक शान्ति को देनेवाले हैं। ये **पुरुवसुः**=पालक व पूरक धनोंवाले प्रभु **जोहुवानम्**=निरन्तर पुकारनेवाले को **आगमत्**-प्राप्त होते ही हैं। प्रभु अपने उपासक को सब पालक व पूरक धनों की प्राप्ति कराते हैं। प्रभु का उपासक योगक्षेम की कमीवाला नहीं होता।

भावार्थ—हम अपने कर्मों के द्वारा प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें सब आवश्यक धन व शान्ति प्राप्त करायेंगे। प्रभु से दूर होने पर इन धनों में शान्ति नहीं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दानशीलता व धन्यता

तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः।
ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तेषु रायः॥ ८॥

(१) हे **बृहस्पते**=सब आकाशादि बड़े-बड़े लोकों के स्वामिन् (बृहतां पतिः) प्रभो! **तव ऊतिभिः**=आपके रक्षणों से **सचमानाः**=संगत हुए-हुए पुरुष **अरिष्टाः**=रोगों व वासनाओं से हिंसित नहीं होते, **मघवानः**=(मघ, मख) ये यज्ञशील होते हैं, **सुवीराः**=उत्तम वीर होते हैं। (२) आपकी उपासना के परिणामस्वरूप **ये**=जो पुरुष यज्ञशील बनकर **अश्वदाः**=अश्वों के देनेवाले होते हैं, **उत वा**=अथवा **गोदाः**=प्रशस्त गौवों को देनेवाले होते हैं, **ये**=जो **वस्त्रदाः**=वस्त्रों का दान करते हैं, **तेषु**=उन पुरुषों में **रायः**=ऐश्वर्य **सुभगाः**=उत्तम भाग्य का कारण बनते हैं। इन दानशील पुरुषों के जीवन धनों से धन्य बनते हैं। धन इनके सौभाग्य को बढ़ानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर अश्व, गो, वस्त्र दान कर सौभाग्यशाली बनें

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्रह्मद्विष की दुर्गति

विसर्माणं कृणुहि वित्तमेषां ये भुञ्जते अपृणन्तो न उक्थैः।
अपव्रतान्प्रसवे वावृधानान् ब्रह्मद्विषः सूर्याद्यावयस्व॥ ९॥

ये=जो मनुष्य **नः**=हमारे **उक्थैः**=स्तुति वचनों से प्रेरित होकर भी **अपृणन्तः**=सन्तुष्ट न होते हुये स्वयं ही **भुञ्जते**=भोगते हैं। **एषाम्**=ऐसे मनुष्यों के **वित्तम्**=धन को **विसर्माणम्**=विनाश **कृणुहि**=कर। **प्रसवे**=तेरे शासन में भी **अपव्रतान्**=व्रत से रहितों को **वावृधानान्**=बढ़ते हुओं को **ब्रह्मद्विषः**=वेद विरोधियों को **सूर्यात्**=सूर्य प्रकाश ज्ञान से **यवयस्व**=दूर कर।

भावार्थ—हम व्रती बनकर बाँटकर खायें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देववीत बनें

य ओहते रक्षसो देववीतावचक्रेभिस्तं मरुतो नि यात।
यो वः शमीं शशमानस्य निन्दात्तुच्छ्यान्कामान्करते सिष्विदानः॥ १०॥

हे **मरुतः**=मनुष्यो! **यः**=जो **देववीतौ**=विद्वानों से व्याप्त किया **रक्षसः**=दुष्ट प्रवृति के मनुष्यों को **ओहते**=प्राप्त करता है **यः**=जो **वः**=तुम्हारी **शशमानस्य**=प्रशंसित **शमीम्**=कामों की **निन्दात्**=निन्दा करे **सिष्विदान**=व्यर्थ संलग्न हुआ **तुच्छ्यान्**=तुच्छ विचारवालों के **कामान्**=कामनाओं को **करते**=करे **तम्**=उसके **अचक्रेभिः**=चक्र (पदक) से रहित **नि यात**=निश्चित प्राप्त करे।

भावार्थ—जो विद्वानों के कामों की निन्दा करे उसको पद से हटा देना चाहिए।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'स्विषुः सुधन्वा' प्रभु

तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य।
यक्ष्वा महे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य॥ ११॥

(१) **तं उ**=उस प्रभु को ही **ष्टुहि**=तू स्तुत कर, उस प्रभु का ही स्तवन करनेवाला बन, **यः**=जो **स्विषुः**=उत्तम वाणोंवाला व **सुधन्वा**=उत्तम धनुष्वाला है। जो उत्कृष्ट अस्त्रों को प्राप्त कराके हमें शत्रुओं के विजय के योग्य बनाता है। वस्तुतः हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणाएँ ही उत्तम बाण हैं, प्रभु का 'ओ३म्' नाम ही धनुष् है 'प्रणवो धनुः'। इनके द्वारा ही हम सब वासनारूप शत्रुओं

का पराजय कर पाते हैं। (२) उस प्रभु का स्तवन कर **यः**-जो **विश्वस्य**-सब **भेषजस्य**-रोगों के औषध के **क्षयति**-ऐश्वर्यवाले हैं। वस्तुतः प्रभु नाम-स्मरण ही सब रोगों का औषध बन जाता है। जिस समय एकाग्रता से प्रभु नाम-स्मरण चलता है उस समय रोग तो भाग ही जाते हैं। (३) **महे सौमनसाय**-महान् सौमनस्य के लिये मनः प्रसाद की प्राप्ति के लिये **रुद्रं यक्ष्वा**-उस सब रोगों का द्रावण करनेवाले प्रभु की उपासना कर। प्रभु का सम्पर्क चित्तशुद्धि के द्वारा सौमनस्य का साधन बनता है। **नमोभिः**=नमन के द्वारा **असुरम्**-(असु क्षेपणे) सब वासनाओं का विक्षेपण करनेवाले **देवम्**-प्रकाशमय प्रभु को **दुवस्य**-तू पूजनेवाला बन। प्रभु का पूजन तेरे समीप वासनाओं को न आने देगा।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन ही हमें सब रोगों व वासनाओं से बचाकर मनःप्रसाद प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के यथार्थ पूजक

दमू॑नसो अ॒पसो॒ ये सु॒हस्ता॒ वृष्णः॒ पत्नी॑र्न॒द्यो॑ विभ्वत॒ष्टाः।
सर॑स्वती बृहद्दि॒वोत रा॒का द॑श॒स्यन्ती॑र्वरिवस्यन्तु शु॒भ्राः॥ १२॥

(१) **वरिवस्यन्तु**-प्रभु का पूजन तो ये करते हैं जो (क) **दमूनसः**=दान्त मनवाले हैं या दमनयुक्त मनवाले हैं, (ख) **अपसः**=कर्मशील हैं, **सुहस्ताः**=कर्मों को कुशलता से करनेवाले हैं, अनाड़ीपन से करनेवाले नहीं। (ग) **वृष्णः पत्नीः**=जो शक्तिशाली पुरुष की पत्नी हैं, अर्थात् जो अपने अवासनात्मक व्यवहार से पति को सशक्त बनाये रखती हैं। **नद्यः**=स्तवन की वृत्तिवाली हैं (नद् शब्दे) **विभ्वतष्टाः**-कुछ उदार हृदय से कार्यों को करनेवाली हैं (तक्ष् धातु से तष्टं) संकुचित हृदयवाली नहीं हैं। (२) वे पत्नियाँ प्रभु की पूजिका हैं जो (घ) **बृहद् दिवः**-बहुत प्रकाशवाली **सरस्वती**-वाग्देवी ही हैं, अर्थात् जिनके सब शब्द समझदारी का परिचय देते हैं। **उत**-और (ङ) **राका**=पूर्ण चन्द्रवाणी रात्रि के समान सदा **दशस्यन्तीः**-प्रकाश को देनेवाली हैं और **शुभ्राः**=अत्यन्त शुभ्र जीवनवाली हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमारे जीवन को दान्तमनवाला व कुशलता से कार्यों को करनेवाला बनाती है। उपासना करनेवाली पत्नी का जीवन वासनाशून्य, उदार, प्रकाशमय व शुभ्र होता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मेधा-ज्ञान की वाणी

प्र सू म॒हे सु॑शर॒णाय॑ मे॒धां गिरं॑ भरे॒ नव्य॑सीं॒ जाय॑मानाम्।
य आ॑ह॒ना दु॑हि॒तुर्व॒क्षणा॑सु रू॒पा मि॑ना॒नो अकृ॑णोदि॒दं नः॑॥ १३॥

(१) उस **महे**=महान् **सुशरणाय**-उत्तम रक्षक प्रभु की प्राप्ति के लिये मैं **मेधाम्**-बुद्धि को जो **नव्यसी जायमानाम्**-दिन ब दिन अधिक स्तुत्य होती जाती हैं अथवा 'नव नव उन्मेषशालिनी' है तथा **गिरे**=इस वेदवाणीरूप ज्ञानवाणी को **प्र सु भरे**=खूब अच्छी प्रकार अपने अन्दर भरता हूँ। इस मेधा व इन ज्ञानवाणियों से ही तो मैं प्रभु का दर्शन कर पाऊँगा। (२) उस प्रभु की प्राप्ति के लिये मैं अपने में मेधा का धारण करता हूँ **यः**-जो **आहनाः**-वासनाओं के आहन्ता (विनाशक) होते हुए **दुहितुः**=इस प्रपूरिका वेदवाणी की **वक्षणासु**=वृद्धि की होने पर **रूपा मिनानः**=हमारे

उत्तम रूपों का निर्माण करने के हेतु से **इदं**=इस जगत् को **नः**=हमारे लिये **अकृणोत्**=करते हैं। प्रभु ने यह सृष्टि इसी उद्देश्य से बनायी है कि जीव इसमें आकर, सब साधनों से सम्पन्न होकर, वासनाओं में न फँसे और वेदज्ञान का अपने में वर्धन करता हुआ उत्कृष्टरूपवाले जीवन का निर्माण करे।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम बुद्धि का सम्पादन करके ज्ञान को प्राप्त करें। प्रभु यह संसार इसीलिए बनाते हैं कि हम वेदज्ञान को अपने अन्दर भरते हुए दिन ब दिन उत्कृष्टरूप युक्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अन्तर्जगत् व बाह्यजगत्' में प्रभु की गर्जना

प्र सुष्टुतिः स्तनयन्तं रुवन्तमिळस्पतिं जरितर्नूनमश्याः।
यो अब्दिमाँ उदनिमाँ इयर्ति प्र विद्युता रोदसी उक्षमाणः॥ १४॥

(१) हे **जरितः**=स्तोतः! **नूनम्**=निश्चय से तेरी **सुष्टुतिः**=उत्तम स्तुति उस प्रभु को **प्र अश्याः**=प्रकर्षेण व्याप्त करे, अर्थात् तू उस प्रभु का स्तवन करनेवाला बन जो **स्तनयन्तम्**=तेरे हृदयान्तरिक्ष में 'ऋग्, यजु, सामरूप' तीन वाणियों का गर्जन कर रहे हैं 'तिस्रो वाच उदीरते हरिरेति कनिक्रदत्'। **रुवन्तम्**=जो तुझे निरन्तर ज्ञानोपदेश दे रहे हैं (रु शब्दे) **इडस्पतिम्**=जो ज्ञान की वाणियों के स्वामी हैं। (२) **यः**=जो प्रभु **अब्दिमान्**=इस बाह्य अन्तरिक्ष में मेघोंवाले हैं, **उदनिमान्**=जलोंवाले हैं तथा **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **विद्युता**=विशिष्ट दीप्ति से **उक्षमाणः**=सिक्त से करते हुए **प्र इयर्ति**=प्रकर्षेण गति कर रहे हैं। प्रभु हृदयान्तरिक्ष को ज्ञान की वाणियों से दीप्त करते हैं और बाह्य अन्तरिक्ष को सूर्य आदि की दीप्ति से दीप्त कर रहे हैं। क्या अन्दर क्या बाहिर है सर्वत्र प्रभु की दीप्ति। इस दीप्ति को इस रूप में देखनेवाला ही प्रभु का सच्चा उपासक है।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयान्तरिक्ष में ज्ञान की वाणियों का गर्जन कर रहे हैं। बाह्य अन्तरिक्ष में बादलों व विद्युत् की गर्जना को करा रहे हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना का महत्त्व

एष स्तोमो मारुतं शर्धो अच्छा रुद्रस्य सूनूँर्युवन्यूँरुदश्याः।
कामो राये हवते मा स्वस्त्युप स्तुहि पृषदश्वाँ अयासः॥ १५॥

(१) **एषः**=यह **स्तोमः**=मेरे से किये जानेवाला स्तुति समूह **मारुतं शर्धः अच्छा**=प्राणों के बल की ओर **उदश्याः**=उत्कर्षेण प्राप्त हो। 'मरुत्' प्राण हैं, 'प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान' आदि नामों से प्रसिद्ध इन प्राणों का सैन्य है। मैं इनका स्तवन करूँ, अर्थात् प्राणसाधना करनेवाला बनूँ। उन प्राणों की साधना करूँ जो **रुद्रस्य सूनून्**=उस रुद्र के पुत्र हैं, वस्तुतः सब रोगों की चिकित्सा करनेवाले प्रभु (रुद्र) इन प्राणरूप पुत्रों के द्वारा ही हमारे रोगों का द्रावण करते हैं। **युवन्यून्**=ये प्राण सब बुराइयों को हमारे से पृथक् करनेवाले हैं और अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले हैं। (२) **कामः**=यह इच्छा, **मा**=मुझे राये **हवते**=धन के लिये पुकारती है, अर्थात् मेरा मन बारम्बार इस धन की ओर ही भागता है। **स्वस्ति**=मेरा कल्याण हो। सो हे मेरे मन! तू **पृषदश्वान्**=(पृषु सेचने) शक्ति के द्वारा इन्द्रियाश्वों को सिक्त करनेवाले **अयासः**=निरन्तर गतिशील इन मरुतों को ही **उपस्तुहि**=स्तुत कर। इनकी साधना ही अन्ततः कल्याण करनेवाली

है। सांसारिक धन्धों में उलझकर हम प्राणसाधना रूप अध्यात्म उन्नति के मार्ग से विचलित न हो जाएँ।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करते हुए (क) इन्द्रियों को सशक्त बनाएँ, (ख) खूब स्फूर्तिमय जीवनवाले हों, (ग) बुराइयों को दूर कर अच्छाइयों से अपने को युक्त करें कहीं धन के धन्धे में उलझकर प्राणसाधना को न छोड़ दें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दुर्मति से दूर

प्रैष स्तोमः पृथिवीमन्तरिक्षं वनस्पतीँरोषधी राये अश्याः।
देवोदेवः सुहवो भूतु मह्यं मा नो माता पृथिवी दुर्मतौ धात्॥ १६॥

(१) **एषः स्तोमः**-यह मेरा स्तवन **पृथिवीं अन्तरिक्षम्**=पृथिवी व अन्तरिक्ष को **प्र अश्याः**=प्रकर्षेण व्याप्त करे। मैं सब अन्नों की दात्री इस पृथिवी के महत्त्व को समझूँ। जलवर्षण के द्वारा अन्नों के उत्पादक अन्तरिक्ष के महत्त्व को भी समझूँ। मेरा यह स्तोम **वनस्पतीन्**-वनस्पतियों को और **ओषधीः**=ओषधियों को व्याप्त करे। मैं इन वनस्पतियों व ओषधियों के महत्त्व को समझकर, इनका ठीक प्रयोग करता हुआ **रथे**=ऐश्वर्य के लिये होऊँ। इन सब चीजों के ठीक प्रयोग पर ही स्वास्थ्यरूप आन्तर सम्पत्ति व बाह्य सम्पत्ति निर्भर है। (२) **देवः देवः**-सृष्टि का प्रत्येक देव **मह्यम्**=मेरे लिये **सुहवः भूतु**=सुगमता से पुकारने योग्य हो। इन देवों की उचित आराधना से मेरा जीवन 'सत्य, शिव व सुन्दर' बने। यह **माता पृथिवी**=सब अन्नों के देनेवाली मातृस्थानापन्न पृथिवी **नः**-हमें **दुर्मतौ**-दुर्मति में **मा धात्**=मत धारण करे। इससे प्राप्त अन्नों का ठीक प्रयोग करते हुए हम सुमतिवाले ही हों।

भावार्थ—हम पृथिवी अन्तरिक्ष, वनस्पति, ओषधि व अन्य सब सृष्टि के देवों की महिमा को समझते हुए इनके ठीक प्रयोग से ऐश्वर्यशाली बनें व सुमति सम्पन्न हों।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**याजुषीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विशाल अनिबाध जीवन

उरौ देवा अनिबाधे स्याम॥ १७॥

(१) हे **देवाः**-सृष्टि के सब देवो! गतमन्त्र के अनुसार हम सब देवों का स्तवन करते हुए **उरौ**=विशाल **अनिबाधे**-बाधारहित जीवनमार्ग में **स्याम**=हों। इस 'उरु अनिर्बाध' मार्ग पर आगे और आगे बढ़ते हुए हम लक्ष्य स्थान पर पहुँचे। (२) 'वासनाओं की बाधा का न होना' ही उन्नति का मार्ग है।

भावार्थ—हमारा जीवन विशालता को लिये हुए हो, वासनाओं की बाधा से रहित हो।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना के लाभ

समश्विनोरवसा नूतनेन मयोभुवा सुप्रणीती गमेम।
आ नो रयिं वहतमोत वीराना विश्वान्यमृता सौभगानि॥ १८॥

(१) प्राणसाधना को करते हुए हम **अश्विनोः**-प्राणापान के **अवसा**-रक्षण से **संगमेम**-संगत हों, हमें प्राणापान द्वारा किया जानेवाला रक्षण प्राप्त हो। जो रक्षण **नूतनेन** अत्यन्त नवीन व स्तुत्य

है (नु स्तुतौ), **मयोभुवा**=कल्याण को उत्पन्न करनेवाला है तथा **सुप्रणीती**=उत्तम मार्ग से हमें ले चलनेवाला है। प्राणसाधक पुरुष कुमार्ग से न गति करके सदा सुमार्ग से चलता है। (२) हे प्राणापानो! आप हमारा सुप्रणयन करते हुए **नः**=हमारे लिये **रयिम्**=धन को **आवहतम्**=प्राप्त कराइये। **उत**=और **वीरान्**=वीर सन्तानों को **आ** (वहतम्)=प्राप्त कराइये। **विश्वानि**=सब **अमृता**=नीरोगताओं को **आ**=प्राप्त कराइये तथा **सौभगानि**=सब सौभाग्यों से हमारे जीवनों को युक्त करिये।

भावार्थ—प्राणसाधना के फलस्वरूप हम सुमार्ग से चलते हुए 'धन, उत्तम सन्तान, नीरोगता व सौभाग्य' को प्राप्त करेंगे।

'अत्रि' ही प्रार्थना करते हैं—

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान धेनुएँ

आ धेनवः पयसा तूर्ण्यर्था अमर्धन्तीरुप नो यन्तु मध्वा।
महो राये बृहतीः सप्त विप्रो मयोभुवो जरिता जोहवीति॥ १॥

(१) ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणियाँ ही यहाँ धेनुएँ हैं। सात छन्दों में इनके मन्त्र हैं, सो इन्हें **'सप्त'**=सात संख्यावाला कहा है। ये **मध्वा पयसा**=मधुर ज्ञानदुग्ध से **तूर्ण्यर्थाः**=शीघ्रता से हमारे प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाली **अमर्धन्तीः**=न हिंसित करती हुईं **धेनवः**=वेदवाणी रूप गौवें **आ**=सर्वथा **नः**=हमें **उपयन्तु**=समीपता से प्राप्त हों। ज्ञान के द्वारा ही हमारे 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' सब प्रयोजन सिद्ध होते हैं और यह ज्ञान ही हमें वासनाओं से हिंसित होने से बचाता है। (२) **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला **जरिता**=स्तोता **महः राये**=महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये इन **बृहतीः**=वृद्धि की कारणभूत, **सप्त**=सात छन्दों में प्रतिपादित **मयोभुवः**=कल्याण को उत्पन्न करनेवाली वाणियों को, वेदधेनुओं को **जोहवीति**=पुकारता है। इन वेद धेनुएँ के ज्ञानदुग्ध से ही उसकी सब शक्तियों का आप्यायन होना है।

भावार्थ—वेदवाणियों से दिया गया ज्ञान हमारे सब पुरुषार्थों को सिद्ध करता है, वासनाओं से हिंसित होने से हमें बचाता है, महान् ऐश्वर्य को प्राप्त कराता है और इस प्रकार कल्याणकर होता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पिता-माता व द्यावापृथिवी

आ सुष्टुती नमसा वर्तयध्यै द्यावा वाजाय पृथिवी अमृध्रे।
पिता माता मधुवचाः सुहस्ता भरेभरे नो यशसावविष्टाम्॥ २॥

(१) मैं **सुष्टुती**=प्रभु की उत्तम स्तुति के द्वारा तथा **नमसा**=प्रभु के प्रति नमन के द्वारा **अमृध्रे**=अहिंसित **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर को **वाजाय**=इस जीवन-संग्राम में सशक्त बनने के लिये **आवर्तयध्यै**=अपनी ओर आवृत्त करना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि मेरा मस्तिष्क व शरीर दोनों ही अहिंसित हों, बड़े ठीक होने के लिये **पिता माता**=पिता और माता **मधुवचाः**=अत्यन्त मधुर वचनोंवाले (भद्र वद पुत्रैः), **सुहस्ता**=सदा शोभन कर्मोंवाले, **यशसौ**=यशोयुक्त जीवनवाले होते हुए **भरे भरे**=प्रत्येक संग्राम में, इस प्रारम्भिक जीवन में

चलनेवाले वासना-संग्राम में **नः**=हमारा **अविष्टाम्**=रक्षण करें। मधुर शब्दों से समझते हुए, स्वयं अपने कर्मों से उदाहरण को पेश करते हुए, यशोयुक्त जीवन से हमें भी यशस्वी बनने की प्रेरणा देते हुए वे माता-पिता हमारा रक्षण करते हैं, हमें वासनाओं में फँसने नहीं देते।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन व प्रभु नमन से हमारा मस्तिष्क व शरीर उत्तम हो। उत्तम माता-पिता मधुर शब्दों से प्रेरणा देते हुए हमारे जीवन को उत्तम बनायें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण से आत्मदर्शन व आनन्द प्राप्ति

अध्वर्यवश्चकृवांसो मधूनि प्र वायवे भरत चारु शुक्रम्।
होतेव नः प्रथमः पाह्यस्य देव मध्वो ररिमा ते मदाय॥ ३॥

(१) **अध्वर्यवः**=यज्ञशील पुरुषो! **मधूनि चकृवांसः**=सब मधुर कार्यों को करनेवाले तुम ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध को छोड़कर कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले तुम **वायवे**=आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये (वा गतौ से 'वायु', अत गतौ से 'आत्मा') **चारु शुक्रम्**-इस सुन्दर वीर्यशक्ति को **प्रभरत**=प्रकर्षेण अपने में धारण करनेवाले बनो। इसके शरीर में भरण से ही 'शरीर नीरोग, मन निर्मल तथा बुद्धि तीव्र' बनेगी और तुम आत्मतत्त्व दर्शन के लिये अपने को पात्र बना पाओगे। (२) प्रभु कहते हैं कि **होता इव**=होता की तरह बनकर, जीवन को सतत यज्ञशील बनाकर **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करता हुआ तू **नः**=हमारे से पैदा किये **अस्य**=इस सोम का, शुक्र का **पाहि**=रक्षण कर, इसे शरीर में सुरक्षित करनेवाला हो। हे **देवः**=दिव्य वृत्तिवाले आत्मन् इस **मध्वः**=सोम को **मदाय**=आनन्द की प्राप्ति के लिये **ते ररिम**=तेरे लिये देते हैं। इसे रक्षित करके तू अपने जीवन को उल्लासमय बना पायेगा।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर, अर्थात् भोगवृत्ति से ऊपर उठकर, सोम का रक्षण करें। यह सुरक्षित सोम हमें आत्मदर्शन में सहायक होगा और जीवन में हमें उल्लासमय बनायेगा।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण के साधन व फल

दश क्षिपो युञ्जते बाहू अद्रिं सोमस्य या शमितारा सुहस्ता।
मध्वो रसं सुगभस्तिर्गिरिष्ठां चनिश्चदद्दुदुहे शुक्रमंशुः॥ ४॥

(१) **दश क्षिपः**-दसों इन्द्रियों के विषयों को अपने से परे फेंकनेवाले, इन्द्रियों को विषयों में न फँसने देनेवाले, पुरुष **बाहू**-अपनी दोनों भुजाओं को **युञ्जते**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगाते हैं। उन भुजाओं को जो **सोमस्य शमितारा**-सोम शक्ति को शान्त रखनेवाली हैं, कार्यों में लगे रहने से सोम शक्ति में वासनाओं का उबाल नहीं आता और जो भुजाएँ **सुहस्ता**=कुशलता से कार्यों को करनेवाली हैं, अनाड़ीपन से नहीं। ये विषयों को अपने से परे फेंकनेवाले पुरुष **अद्रिम्** (युञ्जते)=उस आदरणीय प्रभु का अपने साथ मेल करते हैं, प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होते हैं। यह 'प्रभु का उपासन' व 'कर्मों में लगे रहना' ही इन्हें सोमरक्षण के योग्य बनाता है। (२) **सुगभस्तिः**=यह उत्तम बाहुओंवाला, उत्तमता से कार्यों में प्रवृत्त पुरुष **अंशुः**=ज्ञानरश्मियों का पुञ्ज बनता हुआ, निरन्तर स्वाध्याय में प्रवृत्त होता हुआ **गिरिष्ठाम्**=ज्ञान की वाणियों में स्थित होनेवाले, ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर, ज्ञानाग्नि की दीप्ति से इन ज्ञान वाणियों को प्राप्त करानेवाले, **मध्वः रसम्**=मधुरता के रस **भूत**=मधुरता को जन्म देनेवाले **शुक्रम्**=सोम को (वीर्य को) **चनिश्चदत्**=

आह्लादित होता हुआ **दुदुहे**=अपने में प्रपूरित करता है। शरीर में पूरित यह शुक्र जीवन को 'ज्ञानदीप्त, मधुर व आनन्दयुक्त' करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण का साधन है 'प्रभु स्मरणपूर्वक कार्यों में लगे रहना'। सोमरक्षण का फल है 'ज्ञानदीप्ति, मधुरता, उल्लास व आनन्द'।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति उन्नति व उल्लास

असा॑वि ते जुजुषा॒णाय॒ सोमः॒ क्रत्वे॒ दक्षा॑य बृह॒ते मदा॑य।
हरी॒ रथे॑ सु॒धुरा॒ योगे॑ अ॒र्वागि॑न्द्र प्रि॒या कृ॑णुहि हू॒यमा॑नः ॥ ५ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **जुजुषाणाय**=प्रीतिपूर्वक कर्त्तव्य कर्मों को सेवन करनेवाले **ते**=तेरे लिये **सोमः असावि**=यह सोम उत्पन्न किया गया है। यह तेरी **क्रत्वे**=शक्ति के लिये, **दक्षाय**=(growth) उन्नति के लिये तथा **बृहते मदाय**=महान् उल्लास के लिये होता है। (२) इस सोमरक्षण के लिये **हूयमानः**=पुकार-पुकार कर कहा जाता हुआ तू, हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **रथे**=शरीर रथ में **योगे**=मेल के होने पर **सुधुरा**=उत्तमता से धुराओं का वहन करनेवाले **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **अर्वाक्**=अन्तर्मुखी वृत्तिवाला **कृणुहि**=कर। ये इन्द्रियाश्व सदा बाहिर ही न भटकते रहें। बाहिर भटकते हुए ये तुम्हें विषयों में फँसाकर सोमरक्षण के अयोग्य कर देंगे।

भावार्थ—प्रीतिपूर्वक कर्मों में लगे रहकर व इन्द्रियाश्वों को इधर-उधर न भटकने देकर हम सोम का रक्षण करें। यह हमारी 'शक्ति, उन्नति व उल्लास' का कारण बनेगा।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निरन्तर स्वाध्याय द्वारा सोमरक्षण

आ नो॑ म॒हीम॒रम॑तिं स॒जोषा॒ ग्नां दे॒वीं नम॑सा रा॒तह॑व्याम्।
मधो॒र्मदा॑य बृह॒तीमृ॑त॒ज्ञामाग्ने॒ वह॑ प॒थिभि॑र्देव॒यानैः॑ ॥ ६ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **सजोषाः**=प्रीतिपूर्वक उपासित हुए-हुए **नः**=हमारे लिये **देवीं ग्नाम्**=(ग्ना=वाक् नि० १।११) इस प्रकाशमयी वेदवाणी को **देवयानैः पथिभिः**=देवताओं से चलने योग्य मार्गों के हेतु से **आवह**=प्राप्त कराइये। इस वेदवाणी को प्राप्त करके हम शुभ मार्गों पर ही चलनेवाले बनेंगे। इसके 'छन्द' हमारा छादन करते हैं और हमें अशुभ वासनाओं के आक्रमण से बचाते हैं। आप उस वेदवाणी को हमें प्राप्त कराइये जो **महीम्**=अत्यन्त महनीय है, जीवन को महत्त्वपूर्ण बनाती है। **अ-रमतिम्**=विषयों में रण से हमें दूर करती है। **नमसा रातहव्याम्**=प्रभु के प्रति नमन के साथ सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाली है, हमें यह प्रभु के प्रति झुकाववाला बनाती है और सब यज्ञिय पदार्थों को, पवित्र पदार्थों को प्राप्त कराती है। (२) हे प्रभो! **मधोः मदाय**=सोम के उल्लास के लिये, सोमरक्षण से प्राप्त होनेवाले आनन्द के लिये, आप हमें इस वेदवाणी को प्राप्त कराइये। जो **बृहतीम्**=सदा हमारी वृद्धि की कारणभूत है (बृहि वृद्धौ) तथा **ऋतज्ञाम्**=ऋत को जाननेवाली है, अर्थात् जिसके होने पर अनृत रहता ही नहीं, जो अनृत को तो जानती ही नहीं। इस वेदवाणी से ऋतमय जीवनवाले बनकर ही हम, हे अग्ने! आपको प्राप्त कर पायेंगे।

भावार्थ—हम निरन्तर स्वाध्याय की वृत्ति को अपनाएँ। यह ज्ञान प्राप्ति हमें देवयान मार्ग से चलने के लिये प्रेरित करेगी और सोमरक्षण करते हुए हम जीवन को उल्लासमय बना पायेंगे।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु प्राप्ति के साधन

अञ्जन्ति यं प्रथयन्तो न विप्रा वपावन्तं नाग्निना तपन्तः ।
पितुर्न पुत्र उपसि प्रेष्ठ आ घर्मो अग्निमृतयन्नसादि॥ ७॥

(१) **वपावन्तं न**=शक्ति व ज्ञान के बीज को हमारे में बोनेवाले के समान **यम्** जिस प्रभु को **न** अब (अस्युपमार्धस्य संप्रत्यर्थे प्रयोग: सा०) **प्रथयन्तः** अपनी शक्तियों का विस्तार करते हुए, **विप्राः**=अपना पूरण करनेवाले, न्यूनताओं को दूर करनेवाले, **अग्निना तपन्तः**=ज्ञानाग्नि से अपने को दीप्त करते हुए लोग **अञ्जन्ति**-प्राप्त होते हैं। प्रभु प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम (क) अपनी शक्तियों का विस्तार करें, (ख) अपने पूरण में प्रवृत्त हों, (ग) ज्ञानाग्नि से अपने को दीप्त करें। (२) **न**-जैसे **पितुः**=पिता का **प्रेष्ठः**=प्रियतम **पुत्रः**-पुत्र **उपसि**-उसकी गोद में स्थित होता है, उसी प्रकार उस परम पिता की उपासना में स्थित हुआ हुआ **घर्मः**=सोम के रक्षण के द्वारा शक्ति का पुञ्ज बना हुआ, **ऋतयन्**-यज्ञों की ही कामना करता हुआ पुरुष **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **आ असादि**-सब प्रकार से अपने हृदयासन पर आसीन करता है। प्रभु की प्राप्ति के लिये हम (क) उपासनामय जीवनवाले हों, (ख) सोमरक्षण द्वारा शक्ति के पुञ्ज बनें, (ग) यज्ञों की सदा कामनावाले हों।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का मार्ग है, (क) शक्तियों का विस्तार करना, (ख) अपनी न्यूनताओं को दूर करना, (ग) ज्ञानाग्नि से अपने को दीप्त करना, (घ) उपासना, (ङ) सोमरक्षण, (च) यज्ञों में प्रवृत्त रहना।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'शरीर रथ की नाभि के कील-भूत' प्राणापान

अच्छा मही बृहती शन्तमा गीर्दूतो न गन्त्वश्विना हुवध्यै ।
मयोभुवा सरथा यातमर्वाग्गन्तं निधिं धुरमाणिर्न नाभिम्॥ ८॥

(१) **मही**-महनीय, हमारे जीवनों को महत्त्वपूर्ण बनानेवाली, **बृहती**-वृद्धि की कारणभूत, **शन्तमा**=अत्यन्त शान्ति को देनेवाली **गाः**-ज्ञान की वाणी **दूतः न**=दूत के समान **अश्विनौ अच्छा**=प्राणापान के प्रति **हुवध्यै**-पुकारने के लिये **गन्तु**=जाये। 'ज्ञान की वाणी' का 'प्राणापान को पुकारने के लिये जाने' का भाव यह है कि यह वाणी मानो यह कह रही है कि हे प्राणापानो! तुम्हारी साधना पर ही हमारा जीवन आश्रित है। प्राणसाधना शक्ति की ऊर्ध्वगति को करती है। यह शक्ति ज्ञानाग्नि का ईंधन बनती है। ज्ञानाग्नि की दीप्ति के होने पर ही इस वेदवाणी का प्रकाश होता है। (२) सो वेदवाणी कहती है कि **सरथा**-मेरे साथ एक ही शरीर रथ पर आरूढ़ होनेवाले आप दोनों **मयोभुवा**=सब कल्याण का भावन करनेवाले हो। **अर्वाग् यातम्**-आप दोनों यहाँ शरीर रथ के अन्दर प्राप्त होवो। वहाँ शरीर रथ में प्राप्त होकर **निधिम्**=ज्ञान के कोश को **गन्तम्**=प्राप्त होवो। **न**-जैसे कि **धुरं नाभिम्**=सब शकटभार का वहन करनेवाली चक्रनाभि को **आणिः**=कील प्राप्त होता है। कील के बिना नाभि रथ वहन नहीं कर पाती। इसी प्रकार आपकी साधना के बिना ज्ञाननिधि की प्राप्ति होना सम्भव नहीं। आपके द्वारा ही सोम का रक्षण व ज्ञानाग्नि का दीपन होकर यह ज्ञाननिधि प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ही यह शरीररथ सुन्दर गतिवाला होता है। यह प्राणसाधना शरीर

रथ की धुरा का वहन करनेवाली चक्रनाभि में कील के समान है। इस प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पूषा व वायु का आराधन

प्र तव्यसो नमउक्तिं तुरस्याहं पूष्ण उत वायोरदिक्षि।
या राधसा चोदितारा मतीनां या वाजस्य द्रविणोदा उत त्मन्॥ ९॥

(१) **अहम्**=मैं **तव्यसः**=अत्यन्त बलशाली **तुरस्य**=शत्रुओं के विनाशक **पूष्णः**=पूषा के, सूर्य के तथा **वायोः**=वायु के **नम उक्तिम्**=नमन के साथ स्तोत्र को **अदिक्षि**=(आदिशामि) करता हूँ। मैं पूषा व वायु का आराधन करता हूँ। पूषा का आराधन यही है कि यथासम्भव सूर्य सम्पर्क में जीवन को बिताते हुए सूर्य की तरह ही क्रियाशील होते हुए, अपनी प्राणशक्ति को बढ़ाना। वायु के आराधन का भाव है कि वायु की तरह निरन्तर गतिवाला होना, अकर्मण्यता व आलस्य से सदा परे रहना। एवं पूषा व वायु का आराधन करता हुआ व्यक्ति 'तव्यान् व तुर्' बनता है, शक्तिशाली व शत्रुओं का संहार करनेवाला। (२) मैं उन 'पूषा व वायु' का आराधन करता हूँ **या**=जो **राधसा**=मुझे जीवन में सफल बनानेवाले हैं (राध सिद्धौ), **मतीनां चोदितारौ**=मेरे अन्दर सद्बुद्धियों को प्रेरित करनेवाले हैं। **उत**=और **त्मन्**=स्वयं **वाजस्य द्रविणोदौ**=शक्ति के धन को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—हम यथासम्भव सूर्य सम्पर्क में जीवन को बिताते हुए शक्तियों के पोषण का पूर्ण ध्यान करें। यही 'पूषा' का उपासन है। हम निरन्तर गतिशील होते हुए 'वायु' की आराधना करें। यह आराधना हमें सफलता, सद्बुद्धि व शक्ति को देगी। सूर्य सम्पर्क से दूर व अकर्मण्य पुरुष 'असफल, मूर्ख व निर्बल' हो जाता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ज्ञानी स्तोता' का 'सर्वदेवमय' जीवन

आ नामभिर्मरुतो वक्षि विश्वाना रूपेभिर्जातवेदो हुवानः।
यज्ञं गिरो जरितुः सुष्टुतिं च विश्वे गन्त मरुतो विश्व ऊती॥ १०॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **नामभिः आहुवानः**='सत् चित् आनन्द' आदि नामों से सदा पुकारे जाते हुए आप **विश्वान्**=सब **मरुतः**=देवों को **रूपेभिः**=प्रत्यक्ष रूपों से **आवक्षि**=आप हमारे लिये प्राप्त कराते हैं। देवों का प्रत्यक्षरूप से प्राप्त होने का भाव है, 'उस-उस देव के गुण का जीवन में स्थापन'। आप उन-उन देवों के गुणों को हमारे जीवन में स्थापित करते हुए हमारे जीवन को सर्वदेवमय कर डालते हैं। (२) **गिरः**=इस ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले पुरुष के **यज्ञम्**=जीवनयज्ञ को **विश्वे मरुतः**=सब देव **गन्त**=प्राप्त हों। यह ज्ञानी ज्ञानयज्ञ को करता हुआ दिव्य जीवनवाला बने। **च**-और **जरितुः**=इस स्तोता की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **विश्वे**=सब देव **ऊती**=रक्षण के साथ **गन्त**=प्राप्त हों। स्तवन के होने पर सब देव इस स्तोता का रक्षण करनेवाले हों और यह उनसे रक्षित हुआ-हुआ वासनाओं से पराभूत न हो।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा जीवन सर्वदेवमय बने। हम ज्ञान व स्तुति में प्रवृत्त होकर देवों से आभिगमनीय व रक्षणीय हों।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पर्वत से सरस्वती का प्रवाह

आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम्।
हवं देवी जुजुषाणा घृताची शग्मां नो वाचमुशती शृणोतु॥ ११ ॥

(१) **नः**=हमारे **यज्ञम्**=इस जीवनयज्ञ में **दिवः**=प्रकाशमय, **बृहतः**=गुण प्रवृद्ध, **पर्वतात्**=अपना पूरण करनेवाले आचार्य से **सरस्वती**=यह वाग्देवी, ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता **आगन्तु**=सर्वथा प्राप्त हो। हम ज्ञानी गुरुओं से ज्ञान को प्राप्त करें। यह सरस्वती सचमुच **यजता**=उपासनीय है। सरस्वती की आराधना ही हमें प्रभु का प्रिय बनाती है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः'। यह **देवी**=प्रकाशमय सरस्वती **हवम्**=हमारी पुकार को **जुजुषाणा**=प्रीतिपूर्वक सेवन करती हुई **नः**=हमारे लिये **घृताची**=ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करानेवाली है यह **उशती**=हमारे हित को चाहती हुई **शग्माम्**=सुखकारी **वाचम्**=इस प्रभु की वाणीरूप वेदवाणी को **शृणोतु**=सुने। अर्थात् सरस्वती की कृपा से सदा हम ज्ञान की वाणियों को सुनने में प्रवृत्त हों। ये ज्ञानवाणियाँ ही अन्ततः हमारा कल्याण करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—हम ज्ञानी आचार्यों से ज्ञान का प्राप्त करें। सदा ज्ञान की वाणियों का श्रवण करें। यह श्रवण ही हमारे लिये सुखकर होगा। आचार्य 'पर्वत' है, ज्ञान का पूरण करनेवाला है। उससे विद्यार्थी की ओर ज्ञान का प्रवाह ही 'सरस्वती का प्रवाह' है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बृहस्पति की पूजा

आ वेधसं नीलपृष्ठं बृहन्तं बृहस्पतिं सदने सादयध्वम्।
सादद्योनिं दम आ दीदिवांसं हिरण्यवर्णमरुषं सपेम॥ १२ ॥

(१) उस प्रभु को **सदने**=इस शरीर गृह में, हृदयरूप आसन पर **आसादयध्वम्**=बिठाओ। जो प्रभु **वेधसम्**=सारे ब्रह्माण्ड के निर्माता हैं। **नीलपृष्ठम्**=(नीडपृष्ठं) जिनकी पीठ सारे प्राणियों को आधार देनेवाली है, सारे प्राणी इस प्रभु रूप 'नीड' में ही आश्रय पाते हैं। **बृहन्तम्**=जो अत्यन्त बढ़े हुए है। **बृहस्पतिम्**=सब ज्ञानों के स्वामी हैं। (२) हम **अरुषम्**=उस आरोचमान प्रभु का **सपेम**=पूजन करें, जो **सादद् योनिम्**=इस शरीर गृह में निवास करते हैं 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः'। **दमे**=इस शरीर गृह में **आदीदिवांसम्**=सर्वतः दीप्ति को करनेवाले हैं और **हिरण्यवर्णम्**=ज्योतिर्मय वर्णवाले हैं (आदित्यवर्णम्) सूर्य की तरह दीप्त रूपवाले हैं, वस्तुतः प्रकाश ही प्रकाश हैं।

भावार्थ—प्रभु का हमें सदा इस रूप में उपासन करना चाहिये कि वे ही निर्माता हैं, धारण करनेवाले हैं, महान् हैं, ज्ञान के स्वामी हैं। शरीरों में स्थित हुए हुए हमें दीप्ति को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'धर्णसि' प्रभु (ग्राः ओषधीः वसानः)

आ धर्णसिबृहद्दिवो रराणो विश्वेभिर्गन्त्वोमभिर्हुवानः।
ग्रा वसान ओषधीरमृध्रस्त्रिधातुशृङ्गो वृषभो वयोधाः॥ १३ ॥

(१) वे प्रभु **धर्णसिः**=सब के धारक हैं। **बृहद्दिवः**=अत्यन्त प्रवृद्ध दीप्तिवाले हैं। **रराणः**=सर्वत्र

रममाण हैं व हमारे लिये सब कुछ देनेवाले हैं। **हुवानः**=पुकारे जाते हुए वे प्रभु **विश्वेभिः**=सब **ओमभिः**=रक्षणों से **आगन्तु**=हमें प्राप्त हों। (२) वे प्रभु हमें **ग्राः**=वेदवाणियों से **वसानः**=आच्छादित करते हैं तथा **ओषधीः**=ओषधियों को हमारे लिये प्राप्त कराते हैं। **अमृध्रः**=अहिंसित हैं। वस्तुतः जो भी मनुष्य इन वेदवाणियों के ज्ञान को प्राप्त करता है तथा ओषधियों का सेवन करता है, वह अहिंसित ही होता है। **त्रिधातु शृंगः**='धन, शक्ति व ज्ञान' तीनों धारणीय वस्तुओं के वे प्रभु शृंग हैं। तीनों की दृष्टिकोण से सर्वोन्नत है। 'सर्वैश्वर्यवाले सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ हैं। **वृषभः**=शक्तिशाली हैं व सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **वयोधा**=उत्कृष्ट जीवन का हमारे लिये धारण करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासन करने से ही हमारा जीवन उत्कृष्ट बनता है। प्रभु ही धारक हैं, प्रकाशक हैं, सर्वप्रद हैं, सब प्रकार से रक्षा करनेवाले हैं। हमारे लिये वेदवाणियों को (मस्तिष्क के लिये) व ओषधियों को (शरीर के लिये) प्राप्त कराते हैं। शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से हमें उन्नत करके सुखी व सुन्दर जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विपन्यवः-रास्पिरासः

मातुष्पदे परमे शुक्र आयोर्विपन्यवो रास्पिरासो अग्मन्।
सुशेव्यं नमसा रातहव्याः शिशुं मृजन्त्यायवो न वासे॥ १४॥

(१) **आयोः**=गतिशील पुरुष के **मातुः**=निर्माण करनेवाले प्रभु के **परमे**=सर्वोत्कृष्ट **शुक्रे**=निर्मल-शुद्ध **पदे**=स्थान में **विपन्यवः**=स्तुति करनेवाले व **रास्पिरासः**=(रा=धन, स्पृ=give) धनों का दान करनेवाले लोग **अग्मन्**=जाते हैं। निर्माता प्रभु हैं, प्रभु उसी के जीवन का निर्माण करते हैं जो स्वयं भी गतिशील हो। इस प्रभु के सर्वोत्कृष्ट पद को दान देनेवाले स्तोता लोग ही प्राप्त करते हैं। (२) **नमसा**=नमन के साथ **रात हव्याः**=हव्य पदार्थों का दान करनेवाले लोग **सुशेव्यम्**=उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाले **शिशुम्**=हमारी बुद्धियों को सूक्ष्म बनानेवाले प्रभु का **मृजन्ति**=शोधन करते हैं, हृदयस्थ प्रभु को हृदय में आ जानेवाले राग-द्वेष के मल को हटाकर देखने का प्रयत्न करते हैं। यही प्रभु का शोधन है। इसी प्रकार प्रभु का परिमार्जन करते हैं **न**=जैसे कि **आयवः**=गतिशील मनुष्य **वासे**=गृह में **शिशुम्**=बच्चे को। मणि के ऊपर आवरण आ जाने से हम मणि को नहीं देख पाते, हृदय पर राग-द्वेष का परदा पड़ जाने से हम हृदयस्थ प्रभु को नहीं देख पाते। जिस प्रकार माता-पिता प्रेम से बच्चे के शरीर को परिमार्जित करते हैं, उसी प्रकार हम प्रभु के शरीरभूत इस हृदय को पवित्र करें। इसके पवित्र होने पर ही प्रभु का दर्शन होगा।

भावार्थ—दानशील स्तोता लोग ही प्रभु के परम पद पर पहुँचते हैं, प्रभु दर्शन के लिये बड़ी प्रीति से हृदय का शोधन करना आवश्यक है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'धियाजुरः मिथुनासः सचन्त'

बृहद्वयो बृहते तुभ्यमग्ने धियाजुरो मिथुनासः सचन्त।
देवोदेवः सुहवो भूतु मह्यं मा नो माता पृथिवी दुर्मतौ धात्॥ १५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **धियाजुरः**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा आपका उपासन करनेवाले **मिथुनासः**=पति-पत्नी **बृहते तुभ्यम्**=सदा से बढ़े हुए आपकी प्राप्ति के लिये **बृहद वयः**=दीर्घ

जीवन को अपने साथ **सचन्त**-समवेत करते हैं, अर्थात् सदा इस दीर्घ जीवन में बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा आपकी उपासना के लिये यत्नशील होते हैं। (२) इस प्रकार का जीवन बीतने पर **देवः देवः**=प्रत्येक देव **मह्यम्**=मेरे लिये **सुहवः**=सुगमता से पुकारने योग्य **भूतु**=हो। वस्तुतः माता-पिता का सुन्दर प्रभु परायण जीवन सन्तानों में सब सद्गुणों को जन्म देता ही है। यह **पृथिवी माता**=हमारे लिये माता के समान सब भोजनों को प्राप्त करानेवाली यह भूमि माता **नः**=हमें **दुर्मतौ मा धात**=दुर्बुद्धि में मत स्थापित करे। भूमि माता से प्राप्त होनेवाले वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करता हुआ मैं सदा सद्बुद्धि से युक्त रहूँ, मेरे अन्दर औरों के विनाश की भावना पैदा ही न हो।

भावार्थ—बुद्धिपूर्वक कर्म करते हुए माता-पिता प्रभु के उपासक हों। ऐसा होने पर सन्तान दिव्यगुणोंवाले व सद्बुद्धि-सम्पन्न होंगे।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**याजुषीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विशाल अनिबाध जीवन

उ॒रौ दे॑वा अनिबा॒धे स्या॑म ॥ १६ ॥

४२.१७ पर अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्राणसाधना के लाभ

सम॒श्विनो॒रव॑सा॒ नूत॑नेन मयो॒भुवा॑ सु॒प्रणी॑ती गमेम।
आ नो॑ र॒यिं व॑हत॒मोत वी॒राना विश्वा॑न्यामृता॒ सौभ॑गानि ॥ १७ ॥

४२.१८ पर अर्थ द्रष्टव्य है।

अगला सूक्त 'अवत्सार' ऋषि का है जो कि अपने सार (बल, वीर्यशक्ति) का रक्षण करते हैं। अतएव काश्यप ज्ञानी हैं। बीच-बीच में अन्य ऋषियों का भी स्थान है। मुख्यतया 'अवत्सार काश्यप' प्रार्थना करते हैं—

४४. [चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु स्तवन व विजय

तं प्र॒त्नथा॑ पू॒र्वथा॑ वि॒श्वथे॒मथा॑ ज्ये॒ष्ठता॑तिं बर्हि॒षदं॑ स्व॒र्विद॑म्।
प्र॒ती॒ची॒नं वृ॒जनं॑ दोहसे॒ गि॒राशुं॒ जय॑न्त॒मनु॒ यासु॒ वर्ध॑से ॥ १ ॥

(१) **तम्**=उस प्रभु को **प्रत्नथा**=पुराण सनातन पुरुष के रूप में (=पुराण पुरुष की तरह), **पूर्वथा**=पालन व पूरण करनेवाले के रूप में, **विश्वथा**=सर्वत्र प्रविष्ट-सर्वव्यापक के रूप में, **इमथा**=सदा वर्तमान के रूप में (प्रभु के लिये सब वर्तमानकाल ही है, वस्तुतः प्रभु ही 'काल' हैं) **गिरा**=स्तुति के द्वारा **दोहसे**=अपने अन्दर प्रपूरित करता है। उन स्तुतियों के द्वारा **यासु**=जिनमें **अनुवर्धसे**=तू दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। अधिकाधिक स्तुति करता हुआ तू प्रभु को अपने अन्दर प्रपूरित कर रहा है। यह प्रभु को अपने अन्दर भरना ही स्तुति का सच्चा लाभ है, प्रभु जैसा बनना। (२) उस प्रभु को जो **ज्येष्ठतातिम्**=सर्वश्रेष्ठ हैं। **बर्हिषदम्**=वासनाशून्य हृदय में आसीन होते हैं। वही स्थित होकर **स्वर्विदम्**=सम्पूर्ण प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं।

प्रतीचीनं=हमारी ओर आनेवाले हैं, जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ता है, उतना-उतना हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। **वृजनम्**=बल के पुञ्ज हैं। जो प्रभु को प्राप्त करता है, वह प्रभु के बल से बलवान् होता है। **आशुम्**=सर्वत्र व्याप्त होनेवाले व शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हैं, सदा **जयन्तम्**=विजयशील हैं। उपासक को वह-वह विजय इस उपास्य प्रभु से ही प्राप्त होती है। उपासक के शत्रुओं को ये प्रभु ही पराजित करते हैं।

भावार्थ—हम सदा प्रभु-स्तवन करें। यही ज्ञान शक्ति व विजय प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सोमरक्षण व ज्योतिर्मय जीवन

श्रिये सुदृशीरुपरस्य याः स्वर्विरोचमानः ककुभामचोदते।
सुगोपा असि न दभाय सुक्रतो परो मायाभिर्ऋत आस नाम ते॥ २॥

(१) **अचोदते**=(अप्रेरयते) शरीर में सोम को सुरक्षित रखनेवाले के लिये, सोम को विलासमय जीवन के द्वारा बाहिर न प्रेरित करनेवाले के लिये, हे प्रभो! आप **ककुभाम्**=शिखरों के **स्वः**=प्रकाश को **विरोचमानः**=दीप्त करनेवाले होते हैं। इन सोमी पुरुषों का जीवन इस प्रकार प्रकाशमय होता है जैसे कि बादलों से घिरे मध्यभाग से ऊपर पर्वत शिखर सूर्य की चमक से चमक रहा होता है। इन व्यक्तियों के जीवन में आप उन ज्योतियों को दीप्त करते हैं, **याः**=जो **उपरस्य**=(nearer) आपके उपासक की **सुदृशीः**=सुन्दर दर्शनवाली ज्योतियाँ **श्रिये**=शोभा के लिये होती हैं। जो ज्योतियाँ उपासक के जीवन को अलंकृत करती हैं, उन्हीं से इस सोमरक्षक पुरुष का जीवन शोभावाला होता है। (२) हे **सुक्रतो**=उत्तम 'प्रज्ञान, कर्म व शक्ति' वाले प्रभो! आप **सुगोपाः असि**=हमारे उत्तम रक्षक हैं। **न दभाय**=आप इन सोमरक्षक पुरुषों को हिंसित नहीं होने देते। **मायाभिः**=सब मायाओं से आप **परः**=परे हैं। **ऋते**=ऋत में, सत्य में **ते**=आपका **नाम आस**=शत्रुओं को झुकानेवाला (नामकं बलम्) बल है। आप सत्यस्वरूप हैं, आप कभी शत्रुओं से पराजित नहीं होते। शत्रुओं की माया प्रभु को आक्रान्त नहीं कर पाती। प्रभु का उपासक भी इस माया का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—सोमरक्षण के होने पर उपासक के जीवन को प्रभु ज्योतिर्मय करते हैं। प्रभु से रक्षित हुआ-हुआ यह संसार की मायाओं से आक्रान्त नहीं होता।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सोमरक्षक का सुन्दर जीवन

अत्यं हविः सचते सच्च धातु चारिष्टगातुः स होता सहोभरिः।
प्रसर्स्राणो अनु बर्हिर्वृषा शिशुर्मध्ये युवाजरो विस्रुहा हितः॥ ३॥

(१) गतमन्त्र का सोमरक्षक पुरुष **अत्यं हविः**=निरन्तर गतिशील हवि का **सचते**=सेवन करता है, अर्थात् सदा अग्निहोत्र आदि यज्ञों का करनेवाला होता है। यह हवि **सत् च**=सत्य तो है ही, यह जीवन को सत्यमय बनाती है, **धातु च**=और धारण करनेवाली होती हैं। वृष्टि के द्वारा अन्न को पैदा करके यह हमारा धारण करती है। यह **अरिष्टगातुः**=अहिंसित मार्गवाला है, सदा मार्ग पर चलता है। **सः होता**=यह यज्ञशील पुरुष **सहोभरिः**=अपने में शत्रुओं को कुचलनेवाले

बल को धारण करता है। (२) **बर्हिः अनु**=वासनाशून्य हृदय के अनुसार **प्रसर्स्राणः**=यह खूब ही क्रियाशील होता है। इसकी सब क्रियाएँ वासनाओं से प्रेरित होकर नहीं होती। सदा क्रियाशीलता के कारण यह **वृषा**-शक्तिशाली है। **शिशुः**=अपनी बुद्धि को तीव्र करनेवाला है। **मध्ये**=जीवन के माध्यन्दिन सवन में **युवा**-यह बुराइयों का अपने से अमिश्रण व अच्छाइयों का अपने से मेल करनेवाला है। **अजरः**-जीर्ण नहीं होता। **विस्रुहाहितः**=(ओषधीनां मध्ये निहितः सा०) यह ओषधियों में स्थापित होता है, अर्थात् सदा ओषधियों का ही सेवन करता है।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष 'यज्ञशील, अपने में शक्ति को भरनेवाला, वासनाशून्य क्रियाओंवाला, युवा, अजर व वानस्पतिक भोजन का सेवन करनेवाला' बनता है।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'क्रिविः नामानि प्रवणे मुषायति'

प्र व एते सुयुजो यामन्निष्टये नीचीरमुष्मै यम्य ऋतावृधः।
सुयन्तुभिः सर्वशासैरभीशुभिः क्रिविर्नामानि प्रवणे मुषायति॥ ४॥

(१) **वः एते**-गतमन्त्र में वर्णित तुम्हारे में से ये सोमरक्षक पुरुष **सुयुजः**-अच्छी प्रकार इन्द्रियाश्वों को शरीर रथ में जोतनेवाले होते हैं। **यामन्**=ये जीवनमार्ग में **इष्टये**=यज्ञों के लिये होते हैं। **अमुष्मै**-उस सोमरक्षक के लिये **नीचीः**-नम्रता से युक्त **यम्यः**=संयमवाली चित्तवृत्तियाँ **ऋतावृधः**-ऋत व सत्य का वर्धन करनेवाली होती हैं। (२) **सुयन्तुभिः**=उत्तम नियमनवाली, **सर्वशासैः**=सबका शासन करनेवाली **अभीशुभिः**-लगाम रूप चित्तवृत्तियों से **क्रिविः**-सदा उत्तम कर्मों में तत्पर यह सोमी पुरुष **प्रवणे**=(modestly, humble) नम्र हृदय में **नामानि**=प्रभु के नामों को **मुषायति**=चुपके-चुपके ग्रहण करता है, बिलकुल मौनरूप से वह इन नामों का जप करता है।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष इन्द्रियों व चित्तवृत्तियों को वशीभूत करके कार्यों में लगता है। वह कार्यों में प्रवृत्त हुआ हुआ चुपके चुपके ही प्रभु के नामों का स्मरण करता है।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सुस्वरुः

संजर्भुराणस्तरुभिः सुतेगृभं वयाकिनं चित्तगर्भासु सुस्वरुः।
धारवाकेष्वृजुगाथ शोभसे वर्धस्व पत्नीरभि जीवो अध्वरे॥ ५॥

(१) **तरुभिः**-वनस्पतियों के द्वारा **सुतेगृभम्**=शक्तियों की उत्पत्ति के निमित्त (सुते) ग्रहणीय (गृभं) **वयाकिनम्**-(वयाकः=a creeper) बेलोंवाले, अर्थात् लताओं से उत्पन्न पदार्थों के सेवन से पैदा हुए-हुए सोम को **संजर्भुराणः**=धारण करता हुआ व्यक्ति **चित्तगर्भासु**-(चित्तग्राहिणीषु) मन को आकृष्ट करनेवाली अतएव मन को एकाग्र करनेवाली स्तुतियों के होने पर **सुस्वरुः**-(स्वृ-to kill) अच्छी प्रकार रोग व वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाला होता है। हम वृक्षों व लताओं से उत्पन्न पदार्थों का सेवन करते हुए, उत्पन्न सोम को प्रभु-स्तवन द्वारा अपने में सुरक्षित करते हुए, रोगों व वासनाओं का संहार करनेवाले बनें। (२) ऐसा करने पर **धारवाकेषु**=ज्ञानवाणियों को धारण करनेवालों में **ऋजुगाथ**=ऋजुमार्ग से गमन करनेवाले जीव!

शोभसे=तू शोभा को पाता है। **जीवः**=जीवन शक्ति से परिपूर्ण हुआ-हुआ तू **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **पत्नी अभिवर्धस्व**=इन वेदवाणीरूप पत्नियों की ओर बढ़नेवाला हो। इनके साथ ही तेरा परिणय हो और तू इनके द्वारा अपने ज्ञान के प्रकाश को निरन्तर बढ़ानेवाला बन।

भावार्थ—हम तरु व लताओं से उत्पन्न पदार्थों का सेवन करते हुए, उनसे उत्पन्न सोम का रक्षण करते हुए, प्रभु स्तवन में प्रवृत्त हुए-हुए रोगों व वासनाओं का विनाश करें। ज्ञान की वाणियों की ओर निरन्तर गतिवाले हों।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

सिध्रया छायया

यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते सं छायया दधिरे सिध्रयाप्स्वा।
महीमस्मभ्यमुरुषामुरु ज्रयो बृहत्सुवीरमनपच्युतं सहः ॥ ६ ॥

(१) **यादृग्**=जैसा **एव**-ही **ददृशे**-देखा जाता है, **तादृग्**=वैसा **उच्यते**=कहा जाता है। प्रभु को हम जिस रूप में अनुभव करते हैं, वैसा ही उसका स्तवन करते हैं। **अप्सु**=कर्मों में **सिध्रया**=सफलता (सिद्धि) को प्रदान करनेवाली **छायया** (छो छेदने)=शत्रुओं का छेदन-भेदन करनेवाली शक्ति से **संदधिरे**=उस प्रभु का ये उपासक धारण करते हैं। वस्तुतः प्रभु की उपासना यही है कि हम सदा कर्मों में प्रवृत्त रहते हुए काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश करें। (२) उपासित प्रभु **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **महीम्**=महनीय **उरुषाम्**=सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विशाल सामग्री को देनेवाली (बहुदात्री) संपत्ति को देते हैं। **उरुज्रयः**=खूब ही वेग, क्रियाशीलता को देते हैं। **बृहत्**=सदा वृद्धि को प्राप्त होनेवाले **सुवीरम्**=उत्तम वीर सन्तान को प्राप्त कराते हैं तथा **अनपच्युतं सहः**=शत्रुओं से आक्रान्त न किये जा सकनेवाले बल को देते हैं।

भावार्थ—हम कर्त्तव्य कर्मों में तत्पर होकर, काम-क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट करते हुए, प्रभु की सच्ची उपासना करें। प्रभु हमें महनीय ऐश्वर्य, स्फूर्ति, उत्तम सन्तान तथा शत्रु-विनाशक बल प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्य-कवि

वेत्यग्रुर्जनिवान्वा अति स्पृधः समर्यता मनसा सूर्यः कविः।
घ्रंसं रक्षन्तं परि विश्वतो गयमस्माकं शर्म वनवत्स्वावसुः ॥ ७ ॥

(१) **अग्रुः**=आगे और आगे बढ़ने की वृत्तिवाला **जनिवान्**=शक्तियों के विकासवाला यह **वा**=निश्चय से **स्पृधः**=शत्रुओं को **अतिवेति**=लाँघ जाता है। काम-क्रोध आदि शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता। यह **समर्यता**=इन शत्रुओं के साथ संग्राम की कामनावाले **मनसा**=मन से **सूर्यः**=निरन्तर गतिवाला व **कविः**=क्रान्तदर्शी बनता है। काम-क्रोध आदि के विनाश से ही शरीर में शक्ति के कारण गति बनी रहती है और मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति हो पाती है। (२) **अस्माकम्**=हमारे में से जो भी व्यक्ति **स्वावसुः**=आत्मधनवाला बनता है वह **घ्रंसं परि रक्षन्तम्**=दिनों का परि रक्षण करते हुए, अर्थात् दीर्घायुष्य का कारण बनते हुए, **विश्वतः गयम्**=सब ओर से प्राणशक्ति के साधक **शर्म**=गृह को **वनवत्**=प्राप्त करता है (गयाः प्राणाः श० १४।८।१५।७) आत्मा को ही

हम मुख्य धन समझेंगे तो भौतिकवृत्ति से बचेंगे। इस वैषयिक वृत्ति से बचने का यह परिणाम होगा कि हम (क) दीर्घायुष्य को प्राप्त करेंगे, (ख) हमारी प्राणशक्ति क्षीण न होगी।

भावार्थ—हम वासनाओं के साथ संग्राम करते हुए गतिशील व ज्ञानी (सूर्य-कवि) बनें। 'आत्मा' को मुख्य धन समझें। परिणामतः 'दीर्घ व प्राणशक्ति-सम्पन्न' जीवनवाले होंगे।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

क्रियाशील ज्ञानी पुरुष द्वारा प्रभु स्तवन

ज्यायांसमस्य यतुनस्य केतुन ऋषिस्वरं चरति यासु नाम ते।
यादृश्मिन्धायि तमपस्यया विदद्य उ स्वयं वहते सो अरं करत्॥ ८॥

(१) **अस्य**-इस **यतुनस्य**=यत्नशील पुरुष के **केतुना**-ज्ञान से, अर्थात् यत्नशील व ज्ञानी बनकर यह **ज्यायांसम्**=अतिप्रशस्त (प्रशस्य को ज्य आदेश है) **ऋषिस्वरम्**=ऋषियों-सी की जानेवाली स्तुति को **चरति**-करता है। उन ऋषि स्तुतियों को यह करता है **यासु**-जिन में **ते नाम**-तेरे प्रति नमन होता है। नम्रता की भावना से युक्त स्तुतियों में यह प्रवृत्त होता है। (२) इस स्तोता का मन **यादृश्मिन् धायि**-जैसी कामना में स्थापित होता है, **तम्**-जो **अपस्यया**-कर्मों में लगने की वृत्ति से **विदत्**-प्राप्त करता है। यह स्तोता उस-उस कामना को क्रियाशील बनकर पूर्ण कर पाता है। इस प्रकार **यः**=जो **उ**-निश्चय से **स्वयं वहते**-अपने कर्त्तव्य कर्मों का अपने आप धारण करता है, **सः**=वही **अरं करत्**=अपने को अलंकृत करनेवाला होता है। अर्थात् क्रियाशीलता ही जीवन को सद्गुणों से सुभूषित करती है।

भावार्थ—यत्नशील व ज्ञानी बनकर हम नम्रता से प्रभु का स्तवन करें। पुरुषार्थ से सब कामनाओं को सिद्ध करनेवाले हों। क्रियाशील बनकर जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करें।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पूतबन्धनी मति

समुद्रमासामव तस्थे अग्रिमा न रिष्यति सवनं यस्मिन्नायता।
अत्रा न हार्दि क्रवणस्य रेजते यत्रा मतिर्विद्यते पूतबन्धनी॥ ९॥

(१) **आसाम्**=गतमन्त्र में संकेतित स्तुतियों में **अग्रिमा**-(अल्पेतं श्रेष्ठा) अतिशयेन श्रेष्ठ स्तुति **समुद्रम्**=उस आनन्दमय प्रभु के समीप **अवतस्थे**=स्थित होती है। **यस्मिन्**=जिस भी पुरुष में **आयता**=इस स्तुति का विस्तार होता है, उसमें **सवनम्**-यज्ञ **न रिष्यति**=हिंसित नहीं होता। अर्थात् प्रभु का स्तवन करनेवाला व्यक्ति सदा यज्ञशील होता है। वस्तुतः इन यज्ञादि कर्मों का करना ही सच्चा स्तवन होता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। (२) **अत्रा** इस स्तुति के होने पर **श्रवणस्य**-इस स्तुतिकर्ता का **हार्दि**=हृदयगत प्रभु प्राप्ति का भाव **न रेजते**-विचलित नहीं होता। इसे प्रभु प्राप्ति की कामना सदा बनी ही रहती है। **यत्रा**=जिस प्रभु प्राप्ति की कामना में **मतिः**=बुद्धि **पूतबन्धनी**=सदा पवित्र विचारों को अपने में बाँधनेवाली **विद्यते**=होती है। प्रभु प्राप्ति की कामना बनी रहने पर बुद्धि सदा पवित्र विचारों को ही करनेवाली होती है इसका झुकाव वैषयिक बातों की ओर नहीं रहता।

भावार्थ—हम सदा प्रभु स्तवन की वृत्तिवाले बनें। ऐसा बनने पर हम यज्ञों के प्रति रुचिवाले व बुद्धि से पवित्र विचारों को करनेवाले होंगे।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

'क्षत्र-मनस-एवावद-यजत-सध्रि-अवत्सार'

स हि क्षत्रस्य मनसस्य चित्तिभिरेवावदस्य यजतस्य सध्रेः।
अवत्सारस्य स्पृणवाम रण्वभिः शविष्ठं वाजं विदुषा चिदर्ध्यम्॥ १०॥

(१) **सः**=वह प्रभु **हि**=ही **विदुषा चित्**=ज्ञानी पुरुषों से भी **अर्ध्यम्**=अपने अन्दर समृद्ध करने योग्य **शविष्ठं वाजम्**=खूब क्रियाशील (शवतिर्गतिकर्मा) शक्ति को उपासक में (स्पृणोति=grant, bestow) भरता है। प्रभु उपासक को ज्ञानी व शक्ति सम्पन्न बनाता है। (२) हम सब इस प्रकार प्रभु उपासना के द्वारा **क्षत्रस्य**=क्षतों से त्राण करनेवाले रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले, **मनसस्य**=विचारशील, **एवावदस्य**=सदा सत्य बोलनेवाले, जैसी चीज है वैसा ही कहनेवाले, **यजतस्य**=यज्ञशील, **सध्रेः**=सब के साथ मिलकर चलनेवाले, **अवत्सारस्य**=सारभूत सोम शक्ति का रक्षण करनेवाले पुरुष के **रण्वभिः**=रमणीय **चित्तिभिः**=विचारों के साथ उस बल को (शविष्ठं वाजम्) **स्पृणवाम**=अपने में पूरित करें (पूरयाम सा०)। हम रमणीय विचारोंवाले व बलशाली बनकर 'क्षत्र, मनस, एवावद, यजत, सध्रि व अवत्सार' बनें। ऐसा बनना ही हमारे जीवन का लक्ष्य हो। यदि हम प्रभु स्तवन करते हुए ऐसा नहीं बनते, तो अवश्य हमारे स्तवन में कहीं न कहीं त्रुटि है।

भावार्थ—हम प्रभु स्तवन से शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करके (क) सबका रक्षण करनेवाले हों, (ख) विचारशील हों, (ग) सत्य बोलें, (घ) यज्ञशील हों, (ङ) सब के साथ मिलकर चलें, (च) शक्ति का रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

'विषाण-परिवान' प्रभु

श्येन आसामदितिः कक्ष्यो३ मदो विश्ववारस्य यजतस्य मायिनः।
समन्यमन्यमर्थयन्त्येतवे विदुर्विषाणं परिपानमन्ति ते॥ ११॥

(१) **आसाम्**=इन प्रजाओं में **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला पुरुष **अदितिः**=(अ-दिति) अखण्डित स्वास्थ्यवाला होता है। **कक्ष्यः**=उत्तम कटिबन्धनवाला, अर्थात् दृढ़ निश्चयी होता है। (one who has girded up to one's loins) **मदः**=आनन्दमय जीवनवाला होता है। (२) ये व्यक्ति **विश्ववारस्य**=सब से वरने के योग्य **यजतस्य**=पूज्य **मायिनः**=प्रज्ञावाले प्रभु के **एतवे**=प्राप्त करने के लिये **अन्यं अन्यम्**=एक दूसरे को **समर्थयन्ति**=समर्थित करते हैं। प्रेरणा आदि के द्वारा परस्पर प्रभु प्राप्ति के लिये सहायक होते हैं। **ते**=वे परस्पर प्रभु प्रेरणा को देनेवाले व्यक्ति **विषाणम्**=(वि-सन्) उस सब सुखों के दाता **परिपानम्**=सर्वतः रक्षक प्रभु को **अन्तिविदुः**=समीप ही, हृदयों में, जान पाते हैं।

भावार्थ—हम शंसनीय गतिवाले, स्वस्थ, दृढ़ निश्चयी व प्रसन्न वृत्तिवाले बनकर परस्पर प्रभु प्राप्ति के लिये एक दूसरे को प्रेरित करनेवाले हों। प्रभु हमें सब सुखों के देनेवाले हैं तथा हमारे रक्षक होते हुए हमारे ही हृदयों में ही स्थित हैं।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥
स्वरः—निषादः ॥

उभा स वरा प्रत्येति

सदापृणो यजतो वि द्विषो वधीद्बाहुवृक्तः श्रुतवित्तर्यो वः सचा।
उभा स वरा प्रत्येति भाति च यदीं गणं भजते सुप्रयावभिः॥ १२॥

(१) **सदापृणः**=हमेशा दान की वृत्तिवाला, **यजतः**=यज्ञशील पुरुष **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **विवधीत्**=सुदूर विनष्ट करता है। **बाहुवृक्तः**=(बाह प्रयत्ने) भुजाओं से कर्मों में व्यापृत हुआ-हुआ वासनाओं को छिन्न करनेवाला होता है। **श्रुतवित्**=ज्ञान का वेत्ता, अतएव **तर्यः**=वासनाओं को तैर जानेवाला, **वः सचा**=तुम सबके साथ मिलकर चलनेवाला होता है। (२) **सः**=वह **उभा वरा**=दोनों 'अभ्युदय व निःश्रेयस' रूप श्रेष्ठ वस्तुओं की ओर **प्रत्येति**=आता है **च**=और **भाति**=दीप्त होता है। 'इहलोक व परलोक' दोनों का समन्वय उसके जीवन को दीप्त बना देता है। **यद्**=जब कि यह **ईम्**=निश्चय से **सुप्रयावभिः**=उत्तम कर्मों के द्वारा **गणम्** इन्द्रियादि के गणों का **भजते**=सेवन करता है। उत्तम कर्मों से अपनी सब इन्द्रियों को ठीक बनाते हुए ये लोग इहलोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयस को सिद्ध करते हैं।

भावार्थ—हम दानशील, यज्ञशील, पुरुषार्थी व ज्ञानी बनकर इन्द्रियों को प्रशस्त बनाते हुए 'अभ्युदय व निःश्रेयस' को सिद्ध करें।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥
स्वरः—निषादः ॥

सुतम्भरः-सत्पतिः

सुतंभरो यजमानस्य सत्पतिर्विश्वासामूधः स धियामुदञ्चनः।
भरद्धेनू रसवच्छिश्रिये पयोऽनुब्रुवाणो अध्येति न स्वपन्॥ १३॥

(१) जो व्यक्ति **यजमानस्य**=सृष्टि यज्ञ के प्रवर्तक उस महान् प्रभु के **सुतम्भरः**=यज्ञों का भरण करता है और **सत्पतिः**=उत्तम कर्मों का रक्षक है, **सः**=वह **विश्वासाम्**=सब **धियाम्**=बुद्धियों का **ऊधः**=उसी प्रकार आधार बनता है, जैसे कि गौ का **ऊधस्**=दुग्ध का आधार है। यह इन बुद्धियों का **उदञ्चनः**=(ऊर्ध्वं उद् गमयिता सा०) उद्गमन करनेवाला होता है। (२) **धेनुः**=ज्ञानदुग्धदात्री इस वेदवाणीरूप गौ का यह **भरत्**=भरण करता है। यह उस धेनु के **रसवत् पयः**=रसयुक्त दूध का **शिश्रिये**=सेवन करता है ज्ञानदुग्ध का पान करता है। **अनुब्रुवाणः**=सदा इसका उच्चारण करता हुआ **अध्येति**=इसका स्मरण करता है। **न स्वपन्**=इस अध्ययन कार्य में यह कभी सोता नहीं, अप्रमत्त होकर नियमपूर्वक इसका अध्ययन करता है।

भावार्थ—प्रभु भक्त यज्ञों को करता हुआ अपनी बुद्धियों को उत्कृष्ट करने का प्रयत्न करता है। वेदवाणी के अध्ययन में कभी प्रमाद नहीं करता।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः ॥

यो जागार

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥ १४॥

(१) **यः जागार**=जो गतमन्त्र के अनुसार इन ज्ञान की वाणियों के अध्ययन में 'न स्वपन्' न प्रमाद करता हुआ सदा जागरित होता है, सदा सावधान (जागरूक) होता है, **तम्**=उसको **ऋचः**=सब विज्ञान की वाणियाँ **कामयन्ते**=चाहती हैं, वही सब विज्ञानों को प्राप्त करता है। **यः जागार**=जो जागता है, **तं उ**=उसको ही **सामानि यन्ति**=सब उपासनाएँ प्राप्त होती हैं (सामवेद=उपासना वेद), अर्थात् जागरूक होकर अपने कर्त्तव्य कर्मों को करनेवाला व्यक्ति ही सच्चा उपासक होता है। (२) **यः जागार**=जो जागता है **तम्**=उसे **अयं सोमः**=ये शान्त प्रभु **आह**=कहते हैं कि **अहम्**=मैं **तव सख्ये**=तेरी मित्रता में **न्योकाः**=निश्चित निवासवाला हूँ। आलसी के प्रभु मित्र नहीं होते।

भावार्थ—जागरूकता में ही विज्ञान की प्राप्ति है, इसी में सच्ची उपासना है। जागरूक के ही प्रभु मित्र होते हैं।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्निः जागार

अ॒ग्निर्जा॑गार॒ तमृचः॑ कामयन्ते॒ऽग्निर्जा॑गार॒ तमु॒ सामा॑नि यन्ति।
अ॒ग्निर्जा॑गार॒ तम॒यं सोम॑ आह॒ तवा॒हम॑स्मि स॒ख्ये न्यो॑काः॥ १५॥

(१) **अग्निः जागार**=प्रगतिशील जीव ही जागरित है। संसार का नियम है या उन्नति अथवा अवनति (either progress or regress) जागरूक पुरुष अवनति के मार्ग पर न जाकर सदा उन्नति के मार्ग पर चलेगा। एवं यह अग्नि होगा। यह अग्नि सदा जागता है। **तम्**=उस अग्नि को **ऋचः**=सब विज्ञान **कामयन्ते**=चाहते हैं, इस अग्नि को ही सब विज्ञान प्राप्त होते हैं। (२) **अग्निः जागार**=यह अग्नि ही जागता है, प्रमत्त ही अवनति के मार्ग पर जाया करता है। **तम्**=उस अग्नि को **उ**=ही **सामानि**=सब उपासनाएं **यन्ति**=प्राप्त होती हैं। अग्नि ही प्रभु का सच्चा उपासक होता है। (३) **अग्निः जागार**=प्रगतिशील जीव ही जागरित है। **तम्**=उसे **अयं सोमः**=ये शान्त प्रभु **आह**=कहते हैं कि **अहम्**=मैं तब **सख्ये**=तेरी मित्रता में **न्योकाः**=निश्चित निवासवाला **अस्मि**=हूँ तेरा ही मैं स्थिर मित्र हूँ।

भावार्थ—जो जागरूक होता है वह अवश्य उन्नतिपथ पर बढ़ता हुआ विज्ञान, उपासना व प्रभु की मित्रता को प्राप्त करता है।

यह प्रभु का मित्र सदापृण=सदा देनेवाला बनता है। इस निरन्तर त्याग से पवित्र जीवनवाला बना हुआ यह 'आत्रेय' होता है, त्रिविध कष्टों से दूर। यह प्रार्थना करता है कि—

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

४५. [पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सनया व स्वाध्या

वि॒दा दि॒वो वि॒ष्यन्नद्रि॑मु॒क्थैरा॑य॒त्या उ॒षसो॑ अ॒र्चिनो॑ गुः।
अपा॑वृत व्र॒जिनी॒रुत्स्व॑र्गा॒द्वि दुरो॒ मानु॑षी॒र्दे॒व आ॑वः॥ १॥

(१) **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **अद्रिम्**=अविद्या पर्वत को **विष्यन्**=दूर फेंकता हुआ (अस्यति)

अथवा अविद्या पर्वत का अन्त करता हुआ (षोऽन्तकर्मणि) **दिवः विदा**-ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करता है। **आयत्याः उषसः**=प्रत्येक आनेवाली उषा की **अर्चिनः**-रश्मियाँ **गुः**=उस स्वाध्यायशील व्यक्ति को प्राप्त होती हैं। प्रति दिन प्रातः उठकर स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए, उससे ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करने के लिये यत्नशील होना आवश्यक है। (२) यह व्यक्ति **व्रजिनीः**=तमः पुञ्जवाली, अर्थात् अज्ञाननिद्रावृत इन्द्रियों को **अपावृत**=अज्ञान के आवरण से पृथक् करता है। इसके जीवन में **स्वः**-प्रकाश **उद्गात**-उदित होता है। यह **देवः**=प्रकाशमय जीवनवाला बनकर **मानुषीः दुरः**-मनुष्य सम्बन्धी इन इन्द्रिय द्वारों को **वि आवः**=अन्धकार के घेरे से बाहिर करता है, अज्ञान के परदों से बाहिर ले आता है।

भावार्थ—हमें प्रातः उठकर उपासना से अविद्या पर्वत को विनष्ट करने के लिये यत्न करना चाहिये। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करना चाहिए।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अमति-श्री (रूप-ऐश्वर्य)

वि सूर्यो अमतिं न श्रियं सादोर्वाद् गवां माता जानती गात्।

धन्वर्णसो नद्य१ः खादोअर्णाः स्थूणेव सुमिता दृंहत द्यौः ॥ २ ॥

(१) **सूर्यः**=निरन्तर गतिशील पुरुष **अमतिं न**-रूप की तरह **श्रियम्**=ज्ञानैश्वर्य को **वि सात्**=विशेषरूप से सेवित करता है। तेजस्विता से सम्पन्न शरीर रूप वाला प्रतीत होता है और इसका मस्तिष्क ज्ञान सम्पन्न होता है। **ऊर्वात्**-इन्द्रिय समूह से **गवां माता**=ये ज्ञान की वाणियों का निर्माण करनेवाली वेदवाणी **जानती**=इसे ज्ञान सम्पन्न करती हुई **आगात्**-प्राप्त होती है। अर्थात् इसकी इन्द्रियाँ निरन्तर स्वाध्याय प्रवृत्त होकर इसके ज्ञान को बढ़ानेवाली होती हैं। (२) **धन्वर्णसः**-(धन्वन्ति गच्छन्ति) ज्ञान-जलों के प्रवाहवाली **नद्यः**=ज्ञान-नदियाँ **खादो अर्णाः**-शत्रुभक्षक ज्ञानजलवाली होती हैं। ज्ञान से वासनारूप शत्रुओं का विनाश तो होता ही है। इस प्रकार ज्ञान नदियों के प्रवाहों के होने पर **स्थूणा इव**-गृह के आधारभूत स्तम्भ की तरह **सुमिता**=अच्छी प्रकार निर्मित हुआ-हुआ **द्यौः**=मस्तिष्करूप द्युलोक **दृंहत**=दृढ़ होता है। यह मस्तिष्क जीवन का आधार बनता है।

भावार्थ—हम निरन्तर गतिशील बनकर तेजस्विता व ज्ञानैश्वर्य का सम्पादन करें। यह ज्ञान वासनाओं का विनाश करेगा और हमारे मस्तिष्क रूप द्युलोक को दृढ़ बनायेगा।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अविद्या पर्वत का विचलन

अस्मा उक्थाय पर्वतस्य गर्भो महीनां जनुषे पूर्व्याय।

वि पर्वतो जिहीत साधत द्यौराविवासन्तो दसयन्त भूम ॥ ३ ॥

(१) **अस्मै**=इस **महीनां जनुषे**=महनीय स्तुतियों के उत्पन्न करनेवाले **उक्थाय**=स्तोता के लिये **पर्वतस्य**=अविद्या पर्वत का **गर्भः**=मध्य भाग, मध्य भाग ही क्या? **पर्वतः**=अविद्या पर्वत ही **विजिहीत**=विचलित हो जाता है। **पूर्व्याय**=पूर्व विद्वानों के उपदेश से इस स्तोता का अज्ञान नष्ट हो जाता है। जब हम प्रभु की स्तुति की वृत्तिवाले बनते हैं तो हमारा अज्ञान नष्ट होने लगता है और प्रकाश की वृद्धि होती चलती है। यह अज्ञान के नष्ट होने का प्रारम्भ ही यहाँ 'अविद्या पर्वत के गर्भ का हिलना' कहलाया है तथा धीमे-धीमे यह पर्वत ही विचलित हो जाता है। (२)

इस स्तोता के लिये **द्यौः साधत**=प्रकाश सिद्ध होता है। **आविवासन्तः**=सदा प्रभु की परिचर्या करते हुए ये लोग **भूम**=खूब ही **दसयन्त**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का विनाश करते हैं।

भावार्थ—स्तोता के लिये अविद्या पर्वत का विनाश होकर प्रकाश प्राप्त होता है। इस प्रकाश में काम-क्रोध आदि का विलोप हो जाता है।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'इन्द्र-अग्नि' का स्तवन

सूक्तेभिर्वो वचोभिर्देवजुष्टैरिन्द्रा न्वग्नी अवसे हुवध्यै।
उक्थेभिर्हि ष्मा कवयः सुयज्ञा आविवासन्तो मरुतो यजन्ति ॥ ४ ॥

(१) 'इन्द्र' बल का प्रतीक है, 'अग्नि' प्रकाश था। मैं **नु**=अब **इन्द्रा अग्नी**=इन्द्र व अग्नि को **देवजुष्टैः**=देवों से सेवित **वः**=आपके, इन्द्राग्नी के **सूक्तेभिः वचोभिः**=उत्तम स्तुति-वचनों से **हुवध्यै**=पुकारता हूँ। **अवसे**=अपने रक्षण के लिये मैं इन्द्र और अग्नि का आराधन करता हूँ। शक्ति व प्रकाश ही जीवन की रक्षा के लिये आवश्यक तत्त्व हैं। (२) **उक्थेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा **आविवासन्तः**=परिचर्या करते हुए **कवयः**=ज्ञानी, **सुयज्ञाः**=उत्तम यज्ञोंवाले लोग **मरुतः**=प्राणसाधक अथवा मितरावी पुरुष **हि ष्मा**=निश्चय से **जयन्ति**=इन्द्र और अग्नि का अपने साथ सम्पर्क करते हैं। मस्तिष्क को ज्ञान प्राप्ति में लगाना, हाथों का यज्ञों में प्रवृत्त रखना, मन को प्राणसाधना से स्थिर करना ही मार्ग है जिससे कि हम अपने जीवनों में शक्ति व प्रकाश को भरते हैं।

भावार्थ—'हम 'कवि, सुयज्ञ व मरुत्' बनकर अपने जीवनों को शक्ति व प्रकाश से परिपूर्ण करते चलें' यही अपने रक्षण का मार्ग है।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

क्या करें, किधर चलें?

एतो न्वद्य सुध्योे भवाम प्र दुच्छुना मिनवामा वरीयः।
आरे द्वेषांसि सनुतर्दधामायाम प्राञ्चो यजमानमच्छ ॥ ५ ॥

(१) **नु**=अब, **अद्य**=आज **एत उ**=आओ ही, **सुध्यः**=उत्तम ध्यानवाले व उत्तम बुद्धियोंवाले **भवाम**=हों **दुच्छुना**=दुरितों को (इ=शुन=गतौ) दुष्ट आचरणों को **वरीयः**=अत्यन्त **प्र मिनवाम**=नष्ट कर डालें। दुरितों को अपने से दूर भगा दें। (२) **द्वेषांसि**=द्वेष की भावनाओं को **आरे**=सुदूर **सनुतः**=अन्तर्हित रूप में **दधाम**=स्थापित करें, ये हमारे तक लौट ही न सकें। इस प्रकार निर्द्वेष होकर **यजमानं अच्छ**=उस सृष्टि यज्ञ के महान् होता प्रभु की ओर **प्राञ्चः**=आगे और आगे बढ़ते हुए **अयाम**=गतिवाले हों।

भावार्थ—सुधी बनकर बुराइयों को दूर करें। द्वेषों को परे फेंक कर प्रभु की ओर चलें।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य

एता धियं कृणवामा सखायोऽप या मातॉं ऋणुत व्रजं गोः।
यया मनुर्विशिशिप्रं जिगाय यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम् ॥ ६ ॥

(१) हे **सखायः**=मित्रो! **एता**=आओ, **धियं कृणवाम**=हम बुद्धि का सम्पादन करें।

या जो बुद्धि **मातान्** ज्ञान का निर्माण करनेवाले **गोः व्रजम्**-ज्ञानेन्द्रिय समूह को **अप ऋणुत** वासना के आवरण से दूर करती है। वासना के आवरण के हटने पर ही इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति का साधन बनती हैं। (२) हम उस बुद्धि का सम्पादन करें **यया**-जिससे कि **मनुः**-ज्ञानी पुरुष **विशिशिप्रम्**-वृत्र को, सदा हनुओं में, जबड़ों में ही प्रविष्ट, हर समय खान पान की वृत्तिवाली इस वासना को **जिगाय**-पराजित करता है। **यया**=जिस बुद्धि से **वङ्कुः**-गतिशील **वणिक्**=व्यवहारी पुरुष **पुरीषम्** पालक व पूरक धन को **आप**-प्राप्त करता है।

भावार्थ—उस बुद्धि का हम सम्पादन करें जिससे कि ब्राह्मण बनकर ज्ञानेन्द्रिय समूह को वासना के आवरण से रहित करके हम ज्ञानवृद्धि को करें, क्षत्रिय होते हुए वासनारूप शत्रुओं को पराजित करें, तथा वैश्य होते हुए पुरुषार्थ से धन का सम्पादन करें।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हस्त-यतः अद्रिः अनूनोत्

अनूनोदत्र हस्तयतो अद्रिरार्चन्येन दश मासो नवग्वाः।
ऋतं यती सरमा गा अविन्दद्विश्वानि सत्याङ्गिराश्चकार॥ ७॥

(१) **अत्र**-यहाँ इस जीवन में **हस्तयतः**-संयत हाथोंवाला, अर्थात् संयमपूर्वक कर्मों को करनेवाला **अद्रिः**-उपासक (one who adores) **अनूनोत्**=प्रभु का स्तवन करता है। स्तोता के सब कार्य बड़े संयमपूर्वक किये जाते हैं। यह संयमपूर्वक कार्यों को करना वह मार्ग है **येन**-जिससे **नवग्वाः**-स्तुत्य गतियोंवाले **दश मासः**-दसों इन्द्रियों से उस उस कर्त्तव्य को मापनेवाले, नपे-तुले कार्यों को करनेवाले, **आर्चन्**-प्रभु की अर्चना करते हैं। (२) इन उपासकों की **सरमा**=सब ज्ञानों में विचरण करनेवाली बुद्धि **ऋतं यती**-सत्यमार्ग पर चलती हुई, सत्य की ओर जाती हुई, **गाः अविन्दत्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करती है। **अंगिराः**=यह अंग प्रत्यंग में रसवाला उपासक **विश्वानि सत्या चकार**=अपने सब कर्मों को इस बुद्धि के द्वारा सत्ययुक्त करता है, इसका कोई कर्म असत्य नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु की उपासना संयमयुक्त कर्मों द्वारा होती है। इन उपासकों की बुद्धि सत्यज्ञान को प्राप्त करती हुई, इनके सब कर्मों को भी सत्य कर देती है।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उषा का उदय व स्वाध्याय

विश्वे अस्या व्युषि माहिनायाः सं यद् गोभिरङ्गिरसो नवन्त।
उत्स आसां परमे सधस्थ ऋतस्य पथा सरमा विदद् गाः॥ ८॥

(१) **विश्वे**=सब **अंगिरसः**-गतिशील पुरुष (अगि गतौ) **अस्याः** इस **माहिनायाः**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उषा के **व्युषि**-उदित होने पर अन्धकार को दूर करने पर **यद्** जब **गोभिः**-ज्ञान की वाणियों से **सं नवन्त**-संगत होते हैं, तो **आसाम्**-इन ज्ञानवाणियों का **उत्सः**-ज्ञानदुग्ध का उत्स्राव (बहाव) इन अंगिरसों को **परमे सधस्थे**-सर्वोत्कृष्ट सहस्थान में, परमात्मा व जीवात्मा के मिलकर रहने के स्थान में ले जानेवाला होता है। अंगिरा लोग प्रातः उठकर स्वाध्याय में प्रवृत्त होते हैं। यह स्वाध्याय उन्हें प्रभु के समीप प्राप्ति में सहायक होता है। (२) इन अंगिरसों की **सरमा**=बुद्धि **ऋतस्य पथा**-ऋत के मार्ग से **गाः**-इन ज्ञानवाणियों को **विदत्**-प्राप्त करती है। 'ऋत का पथ' यही है कि सब कार्यों को सूर्य व चन्द्रमा की गति के अनुसार नियम से करना।

यह नियमितता हमारी बुद्धि को तीव्र बनाती है और हमें ज्ञान के उपादान में क्षम करती है।

भावार्थ—हम उषा के होते ही स्वाध्याय प्रवृत्त होकर, सब कार्यों को नियमित गति से करते हुए, ज्ञान प्राप्ति में लगें।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'स्वाध्याय व सोमरक्षण' द्वारा दीप्त जीवन

आ सूर्यो यातु सप्ताश्वः क्षेत्रं यदस्योर्विया दीर्घयाथे ।
रघुः श्येन पतयदन्धो अच्छा युवा कविर्दीदयद् गोषु गच्छन् ॥ ९ ॥

(१) **सप्ताश्वः**=सर्पणशील (क्रियाशील) इन्द्रियाश्वोंवाला **सूर्यः**=यह गतिशील पुरुष **आयातु**=प्रभु के समीप प्राप्तिवाला हो। **यद्**=जब **अस्य**=इसका **क्षेत्रम्**=ज्ञान का क्षेत्र **उर्विया**=विस्तृत और विस्तृत होता जाता है। **दीर्घयाथे**=इस लम्बी जीवन-यात्रा में, दीर्घजीवन में यह **रघुः**=शीघ्रगतिवाला होता है और **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला होता है। यह स्फूर्तिमयी उत्तम गति उसे प्रभु के समीप प्राप्त कराती है। (२) **अन्धः अच्छा**=शरीरस्थ सोमशक्ति की ओर **पतयत्**=गतिवाला होता हुआ यह **युवा**=दोषों को अपने से दूर करनेवाला व अच्छाइयों को अपने से मिलानेवाला होता है। **कविः**=क्रान्तदर्शी होता हुआ, **गोषु गच्छन्**=ज्ञान की वाणियों में गति करता हुआ, स्वाध्याय में प्रवृत्त होता हुआ यह **दीदयत्**=दीप्त होता है। दीप्त जीवनवाला बनकर ही तो यह उस दीप्त प्रभु को प्राप्त करेगा।

भावार्थ—हम स्वाध्याय द्वारा उत्तरोत्तर अपने ज्ञान को बढ़ायें। सोमरक्षण द्वारा उत्तम बुद्धि व गतिवाले होकर दीप्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः:** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'क्रियाशीलता व अन्तर्मुखी वृत्ति' द्वारा ज्ञान प्राप्ति

आ सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णोऽयुक्त यद्धरितो वीतपृष्ठाः ।
उद्ना न नावमनयन्त धीरा आशृण्वतीरापो अर्वागतिष्ठन् ॥ १० ॥

(१) **सूर्यः**=यह गतिशील पुरुष **शुक्रम्**=शुद्ध **अर्णः**=ज्ञानजल पर **आ अरुहत्**=आरूढ़ होता है, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान का अधिष्ठाता बनता है। इसलिये ज्ञान को प्राप्त कर पाता है, **यत्**=क्योंकि **वीतपृष्ठाः**=कान्त पृष्ठवाले, तेजस्वी, **हरितः**=इन्द्रियाश्वों को **अयुक्त**=यह शरीर-रथ में जोतता है। इन्द्रियों को निर्मल बनाकर क्रियाशील बने रहें, तो ज्ञानेन्द्रियाँ हमें उत्कृष्ट ज्ञान को क्यों न प्राप्त करायेंगी? (२) **उद्ना न नावम्**=जैसे उदक के हेतु से, पानी को पार करने के हेतु से **नावम्**=नाव को **अनयन्त**=प्राप्त कराते हैं, इसी प्रकार **धीराः**=ज्ञान में रमण करनेवाले लोग (धिवि रमते) तेजस्वी इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में प्राप्त कराते हैं। इनके द्वारा ही वे ज्ञान को प्राप्त करनेवाले होते हैं। इस प्रकार ज्ञान प्रवृत्तिवाले **आपः**=लोग (आपो वै नरसूनवः) **आशृण्वतीः**=हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणाओं को सुनते हुए, **अर्वाग् अतिष्ठन्**=अन्तर्मुख वृत्तिवाले होकर ठहरते हैं। ये सदा ध्यान की वृत्तिवाले बनकर ही तो वस्तुतः ज्ञान को प्राप्त कर पाते हैं।

भावार्थ—हम गतिशील बनकर निर्मल इन्द्रियों को शरीर-रथ में जोतनेवाले बनें। इस प्रकार क्रियाशील बनकर ही हम ज्ञान को प्राप्त कर पायेंगे। अन्तर्मुखी वृत्ति भी इस ज्ञान प्राप्ति में सहायक होती है।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उत्कृष्ट बुद्धि

धियं वो अप्सु दधिषे स्वर्षां ययातरन्दश मासो नवग्वाः।
अया धिया स्याम देवगोपा अया धिया तुतुर्यामात्यंहः॥ ११॥

(१) मैं **वः**-तुम्हारे लिये **अप्सु**=कर्मों में **स्वर्षाम्**-प्रकाश को देनेवाली **धियम्**=बुद्धि को **दधिषे**-धारण करता हूँ उस बुद्धि को देता हूँ जो कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक करने में समर्थ होती है। उस बुद्धि को मैं तुम्हारे लिये देता हूँ **यया**=जिससे कि **नवग्वाः**-स्तुत्य गतिवाले (नु स्तुतौ) **दशमासः**=दस इन्द्रियों को (मीयन्ते विषयाः यैः) **अतरन्**-तैर जाते हैं। इस बुद्धि के द्वारा, मनीषा के द्वारा मन का शासन करते हुए वे इन्द्रियों का दमन कर पाते हैं। (२) **अया धिया**=इस बुद्धि के द्वारा हम **देवगोपाः**-दिव्यगुणों के रक्षक हों और **अया धिया**=इस बुद्धि के द्वारा **अंहः**-पाप को **अतितुतुर्याम**-तैर जाएँ। बुद्धि हमें दिव्य गुणों के रक्षण के योग्य बनायेगी और पापों से हमें पार करेगी।

भावार्थ—प्रभु हमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेकक्षम बुद्धि देते हैं। इससे हम (क) इन्द्रियों को वश में कर पाते हैं, (ख) दिव्य गुणों का रक्षण करते हैं और (ग) पाप से पार हो जाते हैं।

इस बुद्धि के द्वारा सब पापों से मोर्चा लेनेवाले व उनसे मुकाबिला करनेवाले हम 'प्रतिक्षत्र' बनते हैं। 'प्रतिक्षत्र' बनकर 'आत्रेय' तो होते ही हैं, 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों से दूर। इस प्रतिक्षत्र का जीवन इस प्रकार का होता है—

४६. [षट्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषि—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

निरन्तर क्रियाशीलता

हयो न विद्वाँ अयुजि स्वयं धुरि तां वहामि प्रतरणीमवस्युवम्।
नास्या वश्मि विमुचं नावृतं पुनर्विद्वान्पथः पुरएत ऋजु नेषति॥ १॥

(१) **विद्वान्**-ज्ञानी पुरुष **हयः न**=गतिशील अश्व के समान स्वयं **धुरि अयुजि**=अपने आप प्रसन्नता से कार्य में युक्त होता है। कार्यधुरा में अपने को प्रसन्नतापूर्वक जोतता है। मैं भी **ताम्**=उस कार्यधुरा को **वहामि**=धारण करता हूँ। यह **प्रतरणीम्**=मुझे तरानेवाली है और **अवस्युवम्**=मेरे रक्षण की कामनावाली है। (२) मैं **अस्याः**-इस कर्त्तव्य धुरा के **न विमुचम्**=न तो खोलने को व न पुनः **आपृतम्**-नां ही फिर -फिर धारण करने को **वश्मि**-चाहता हूँ। बारम्बार कार्य को छोड़ देना व फिर शुरु करना मैं नहीं चाहता। मैं तो कर्त्तव्यकर्म को करता ही हूँ। **विद्वान्**-वह ज्ञानी प्रभु **पुरः एता**=हमारा पुरतो गन्ता होता है, मार्गदर्शक होता है और वह **पथः**-मार्गों को **अजु**-(अकुटिलं यथा स्यात्तथा) अकुटिलता के साथ **नेषति**=प्राप्त कराता है। अर्थात् हमें सरल मार्गों से ले चलता है।

भावार्थ—निरन्तर कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहना ही विषय-वासनाओं के समुद्र से तैरने व अपना रक्षण करने का मार्ग है। प्रभु ही हमारे मार्ग-दर्शक हों, हमें छलछिद्र शून्य सरल जीवन को प्राप्त करायें।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'सबल व ज्ञान प्रधान' जीवन

अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः शर्धः प्र यन्त मारुतोत विष्णो।
उभा नासत्या रुद्रो अध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप, **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्, **वरुण**=पापनिवारक, **मित्र**=प्रमीति (मृत्यु) से बचानेवाले प्रभो! **देवाः**=हे दिव्य वृत्तिवाले पुरुषो! **शर्धः**=बल को **प्रयन्त**-(प्रापयत) प्राप्त कराओ। **मारुत**=हे प्राणसमूह, **उत**=और **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! आप हमारे लिये बल को दीजिये। वास्तविक शक्ति लाभ के लिये 'अग्नि' आदि नामों से सूचित भावनाओं को अपने में धारण करना आवश्यक है। हम आगे बढ़ने की वृत्तिवाले हों दिन व दिन अपने प्रकाश को बढ़ायें (अग्नि), जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र), पापों से दूर हों (वरुण), नीरोग बनें (मित्र) दिव्य भावनाओंवाले हों (देवाः), प्राणसाधना करें (मारुत) और हृदय को कुछ विशाल बनायें (विष्णु)। यही शक्ति प्राप्ति का मार्ग है। (२) **उभा नासत्या**=दोनों अश्विनी देव, प्राण और अपान **जुषन्त**=हमारे साथ प्रीतिवाले हों, अर्थात् हम प्राणसाधना करें। **रुद्रः**=सब रोगों का दूर भगानेवाला प्रभु हमारे साथ प्रीतिवाला हो, हम पूर्ण नीरोग बनें। **अध**=अब **ग्नाः**=ये छन्दोमयी वेदवाणियाँ हमारे लिये प्रीतिवाली हों, हम इनके स्वाध्याय में रुचिवाले हों। **पूषा भगः**=पोषक ऐश्वर्य हमारे प्रति प्रीतिवाला हो, अर्थात् हम उतना धन अवश्य प्राप्त करें जो हमारे पोषण के लिये आवश्यक हो। **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता हमारे प्रति प्रीतिवाली हो। हमारा जीवन ज्ञान प्रधान हो।

भावार्थ—हम अग्नि आदि देवों की भावना को जीवन में धारण करते हुए सबल बनें। प्राणायाम के द्वारा नीरोग व ज्ञान-सम्पन्न बनें। पोषण के लिये पर्याप्त धन का अर्जन करते हुए ज्ञानप्रधान जीवनवाले हों।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सत्रह देवों का आह्वान

इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिं स्वः पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वताँ अपः।
हुवे विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं नु शंसं सवितारमूतये॥ ३॥

(१) मैं **उतये**=अपने रक्षण के लिये **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवों को **हुवे**=पुकारता हूँ। इन्द्र की उपासन करता हुआ अपने को सबल बनाता हूँ, अग्नि की उपासना से अपने जीवन को प्रकाशमय। इन्द्राग्नी की उपासना के बाद मैं **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण को पुकारता हूँ। सामाजिक जीवन में 'मित्र' की उपासना करता हुआ सब के प्रति प्रेमवाला होता हूँ और 'वरुण' की आराधना करता हुआ द्वेष का निवारण करता हूँ। 'स्नेह व निर्द्वेषता' मेरे सामाजिक जीवन का सूत्र बन जाता है। **अदितिं**=मैं अदिति, स्वास्थ्य को अखण्डन का उपासक बनता हूँ और **स्वः**=प्रकाश का आराधक होता हूँ। 'शरीर स्वस्थ व मस्तिष्क प्रकाशमय' यही तो आदर्श पुरुष का लक्षण है। **पृथिवीं द्याम्**=शरीर रूप पृथिवी को मैं पुकारता हूँ, तो मस्तिष्क रूप द्युलोक का भी पूरा ध्यान करता हूँ। (२) **मरुतः**=प्राणों को **पर्वतान्**=अंग-प्रत्यंग में शक्ति के पूरण को (पर्व to fill) तथा **अपः**=रेतःकणों को पुकारता हूँ। प्राणसाधना से ही रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है और सब अंग शक्ति से परिपूर्ण बनते हैं। अपने को शक्ति से परिपूर्ण बनाकर **विष्णुम्**=उस सर्वव्यापक प्रभु को पुकारता हूँ। व्यापक प्रभु की उपासना करते हुए व्यापक बनने का प्रयत्न करता

हूँ। **पूषणम्**-सर्वपोषक प्रभु का उपासन करता हुआ पोषण करनेवाला होता हूँ। **ब्रह्मणस्पतिम्**-ज्ञान के स्वामी को पुकारता हुआ ऊँचे से ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करता हूँ। **भगम्**-ऐश्वर्यवाले प्रभु का उपासन करता हुआ सत्पथ से धनार्जन करता हूँ। **नु**-और निश्चय से **शंसम्**=उस स्तुत्य प्रभु का शंसन करता हूँ। यह शंसन ही मुझे अवद्य उपायों से धनार्जन से रोकेगा। अन्ततः इन सोलह देवों के आराधन के बाद मैं **सवितारम्**-उस प्रेरक प्रभु को पुकारता हूँ। यह प्रभु की प्रेरणा ही वस्तुतः मेरा रक्षण करेगी।

भावार्थ—हम सत्रह देवों का आह्वान करते हुए यजमान के रूप में अठारहवीं संख्या को पूरा करते हुए, जीवन यज्ञ का प्रणयन करें।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

कल्याण प्राप्ति व धनार्जन

उत नो विष्णुरुत वातो अस्रिधो द्रविणोदा उत सोमो मयस्करत्।
उत ऋभव उत राये नो अश्विनोत त्वष्टोत विभ्वानु मंसते ॥ ४ ॥

(१) **उत**-और **विष्णु**-यह सर्वव्यापक प्रभु **नः**-हमारे लिये **मयः करत्** कल्याण को करें। **उत**=और **वातः**-निरन्तर क्रियाशील वायु **अस्रिधः**=अहिंसक होती हुई हमारा कल्याण करे। **द्रविणोदाः**=धन का दाता वह प्रभु कल्याण करें। **उत**=और **सोमः**-शान्त प्रभु हमारा कल्याण करे। वस्तुतः कल्याण के लिये 'हृदय की उदारता (विष्णु) क्रियाशीलता (वात) दानवृत्ति (द्रविणोदा) तथा शान्त स्वभाव (सोमः)' की आवश्यकता है। (२) **उत**=और **ऋभवः**-ऋत के द्वारा दीप्त होनेवाले देव **राये**=ऐश्वर्य के लिये **नः**-हमें **अनुमंसते**=(अनुमन्यन्ताम्) अनुकूल मति दें। ऋभु बनकर हम धनार्जन करें। **उत**=और **अश्विना**-प्राणापान हमें धन के लिये अनुकूल बुद्धि प्राप्त करायें। प्राणसाधना हमें धनार्जन के योग्य करे। **उत** और **त्वष्टा**-निर्माण की देवता हमें धन के लिये अनुमति दे। निर्माण करते हुए हम धन कमायें। **उत**=और **विभ्वा**-विशिष्ट सामर्थ्यवाला देव हमें धनार्जन के लिये क्षम करे।

भावार्थ—हम 'व्यापक, क्रियाशील, त्यागवृत्ति व शान्त' बनकर कल्याम को प्राप्त करें। 'ऋत से दीप्त=व्यवस्थित जीवनवाले, प्राणसाधक, निर्माता या विशिष्ट सामर्थ्यवाले बनकर धनार्जन करें।'

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

बृहस्पति-पूषा

उत त्यन्नो मारुतं शर्ध आ गमद्दिविक्षयं यजतं बर्हिरासदे।
बृहस्पतिः शर्म पूषोत नो यमद्वरूथ्यं१ वरुणो मित्रो अर्यमा ॥ ५ ॥

(१) **उत**-और **नः**-हमारे लिये **त्यत्**-वह प्रसिद्ध **मारुतं शर्धः**-प्राणसम्बन्धी बल **आगमत्**=प्राप्त हो। प्राणसाधना द्वारा प्राप्त होनेवाला बल हमें मिले। वह बल जो **दिविक्षयम्**-ज्ञान के प्रकाश में निवास करनेवाला है, अर्थात् जो बल ज्ञान के प्रकाश से युक्त है और अतएव **यजतम्**=आदरणीय व संगतिकरण योग्य है। जो बल **बर्हिः आसदे**=वासना शून्य हृदय में निवास के लिये होता है। (२) **बृहस्पतिः**-ज्ञान के स्वामी प्रभु **नः**-हमारे लिये **वरूथ्यम्**=सब कष्टों के निवारण में उत्तम **शर्म**=कल्याण को **यमत्**=दें **उत**=और **पूषा**=पोषण की देवता हमारे लिये कल्याण को प्राप्त कराये। अर्थात् उस कल्याणयुक्त स्थिति में हम सदा रहें जहाँ मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण है और शरीर के सब अंग-प्रत्यंग उचित पोषणवाले हैं। अब **वरुणः मित्रः अर्यमा**-द्वेष निवारण की

देवता, स्नेह की देवता तथा शत्रुओं के नियमन (अरीन् यच्छति) की देवता हमारा कल्याण करे। हम 'निर्द्वेष, स्नेहपूर्ण व संयमी' बनकर सुखी हों।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम ज्ञान व पवित्रता से युक्त बल को प्राप्त करें। हमारा मस्तिष्क ज्ञान से तथा शरीर उचित पोषण से युक्त हो। हमारा जीवन 'स्नेह, निर्द्वेषता व संयम' वाला हो।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पर्वतासः-नद्यः

उत त्ये नः पर्वतासः सुशस्तयः सुदीतयो नद्य१स्त्रामणे भुवन्।
भगो विभक्ता शवसावसा गमदुरुव्यचा अदितिः श्रोतु मे हवम्॥ ६॥

(१) **उतः**-और **त्ये**=वे **पर्वतासः**=अपने में ज्ञान का पूरण करनेवाले आचार्य **नः**=हमारे लिये **सुशस्तयः**=ज्ञानों का उत्तम शंसन करनेवाले हों। **सुदीतयः**=उत्तम ज्ञान को देनेवाली **नद्यः**=ज्ञान-नदियाँ **स्त्रामणे**-हमारे रक्षण के लिये **भुवन्**=हों। उत्कृष्ट आचार्यों से उत्कृष्ट ज्ञान को हम प्राप्त करें। (२) **विभक्ता**=संविभाग को करनेवाला **भगः**=ऐश्वर्य का अधिष्ठातृदेव **शवसा**=बल के साथ व **अवसा**-रक्षण के साथ **आगमत्**-हमें प्राप्त हो। अर्थात् हमें ऐश्वर्य मिले। उस ऐश्वर्य का हम संविभागपूर्वक सेचन करनेवाले हों और इस प्रकार हमारा बल बढ़े और हम विषयों से बचे रहें। (३) **उरुव्यचाः**-सब अंगों की शक्ति के खूब (उरु) विस्तारवाली (व्यचस्) **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता **मे हवम्**=मेरी पुकार को **श्रोतु**=सुने, अर्थात् मैं खूब स्वस्थ बनूँ।

भावार्थ—हम ज्ञानी आचार्यों से ज्ञान को प्राप्त करें। संविभागपूर्वक धनों का सेवन करें। स्वस्थ रहें।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**देवपत्न्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तुजये वाजसातये

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत॥ ७॥

(१) **उशतीः**=हमारे हित की कामना करती हुईं **देवानां पत्नीः**=देवों की पत्नियाँ **नः अवन्तु**=हमारा रक्षण करें। देवों की पत्नियाँ 'देवशक्तियाँ' ही हैं, ये हमारा कल्याण करें। ये **नः**=हमारा **प्रावन्तु**=प्रकर्षेण रक्षण करें और **तुजये**=वासनाओं के संहार के लिये हों तथा **वाजसातये**=शक्ति के लाभ के लिये हों। (२) **याः**=जो भी **देवीः**=देवपत्नियाँ **पार्थिवासः**=पृथिवी के साथ सम्बद्ध हैं, इस स्थूल शरीररूप पृथिवी के भिन्न-भिन्न भुवनों (अंगों) में कार्य करनेवाली हैं, **याः**=वे **नः**=हमारे लिये **सुहवाः**=सुगमता से पुकारने के योग्य हों। **याः**=जो **देवीः**=दिव्यशक्तियाँ **अपाम्**=रेतःकणों के **व्रते अपि**=रक्षणात्मक व्रत में निवास करनेवाली हैं, वे हमारे लिये **शर्म यच्छत**=सुख को दें। रेतःकणों का रक्षण करती हुई वे हमें सुखी बनायें।

भावार्थ—दिव्य गुणों का धारण हमारे जीवन में वासनाओं का संहार करे और हमें शक्ति-सम्पन्न बनाये। हम शरीर के अंग-प्रत्यंगों को ठीक रखते हुए रेतःकणों का रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**देवपत्न्यः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

देवपत्नियों का आगमन

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट्।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥ ८॥

(१) **उत**-और **ग्राः**=छन्दोमयी वेदवाणियाँ जो **देवपत्नीः**=देव पुरुषों की पत्नियों के समान हैं, वे **व्यन्तु**-हमारे जीवन में दीप्त हों (वी to shine)। **इन्द्राणी**-इन्द्र पत्नी, **अग्नायी**-अग्निपत्नी, **अश्विनी**=अश्विदेवों की पत्नी **राट्**-राजमाना हो। इन्द्र, अग्नि, अश्विदेवों की शक्ति हमारे जीवन में दीप्त हो। इन्द्र बनकर हम बल के कर्मों को करनेवाले हों, सब आसुरभावों का संहार कर सकें। अग्नि बनकर अपने जीवन को प्रकाशमय बनायें। अश्विदेवों की आराधना से हम प्राणशक्ति-सम्पन्न हों। (२) **रोदसी**-रुद्र पत्नी, **वरुणानी**=वरुण की पत्नी **आशृणोतु**-हमारी पुकार को सुनो। 'रुद्र' रोगों का द्रावण करनेवाला है तथा 'वरुण' पापों का निवारण करनेवाला है। हमारे जीवन में न रोग हों, न पाप हों। इस प्रकार **देवीः**-ये सब देवपत्नियाँ **व्यन्तु**-हमारे जीवनों में दीप्त हों। हमारे जीवन में **जनीनाम्**=इन देवपत्नियाँ का **यः ऋतुः**=जो काल है, वह दीप्त हो। अर्थात् हमारे जीवन में वह समय आये जब ये सब देवपत्नियाँ हमारे जीवन को शोभायमान करें।

भावार्थ—हमारा जीवन छन्दोमयी वेदवाणियों से तथा दिव्यशक्तियों से सुशोभित हो।

देवपत्नियों से जीवन को अलंकृत करके यह 'प्रतिरथ' बनता है, सब शत्रुओं से मुकाबिला करने में समर्थ होता है। शत्रुओं को जीतकर यह 'आत्रेय' होता है। यह वेदमाता को पुकारता हुआ कहता है कि—

अथ चतुर्थाष्टके तृतीयोऽध्यायः

४७. [सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रतिरथ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उषा का आगमन

प्रयुञ्जती दिव एति ब्रुवाणा मही माता दुहितुर्बोधयन्ती।
आविवासन्ती युवतिर्मनीषा पितृभ्य आ सदने जोहुवाना॥ १॥

(१) हमारे जीवनों में यह उषा **एति**=आती है। **प्रयुञ्जती**-हमें यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगाती हुई, **दिवः ब्रुवाणा**-ज्ञान का उपदेश करती हुई, **मही**=उपासनामयी (मह पूजायाम्), **माता**=हमारे जीवन का निर्माण करनेवाली, **दुहितुः**=प्रभु की दुहिता इस वेदवाणी का **बोधयन्ती**=बोध प्राप्त कराती हुई यह उषा आती है। अर्थात् हम उषा में जागरित होकर यज्ञ आदि उत्तम कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, स्वाध्याय करते हैं, प्रभु की उपासना में लगते हैं। (२) **आविवासन्ती**-हमारे जीवनों से अन्धकार को दूर करती हुई, यह उषा **युवतिः**=बुराइयों को पृथक् करती है और अच्छाइयों को हमारे साथ मिलाती है। यह उषा **मनीषा**=मननपूर्वक प्रभु स्तवन करती हुई (स्तुतिमती सा०) **पितृभ्यः**=कर्मों के पालक पुरुषों के लिये **सदने**=गृह में **आजोहुवाना**=पुकारी जाती है। इस उषा के आने पर ही ये रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले लोग कर्मप्रवृत्त हुआ करते हैं।

भावार्थ—उषा होते ही हम उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों, प्रभु की उपासना में लगें, स्वाध्याय का आरम्भ करें। इस प्रकार प्रवृत्त होने पर ही हम पितृकोटि में प्रविष्ट होनेवाले होंगे।

ऋषिः—**प्रतिरथ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पितृकोटि के पुरुषों का लक्षण

अजिरासस्तदप ईयमाना आतस्थिवांसो अमृतस्य नाभिम्।
अनन्तास उरवो विश्वतः सीं परि द्यावापृथिवी यन्ति पन्थाः॥ २॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार पितृकोटि में पहुँचनेवाले लोग **अजिरासः**=(agile) क्रियाशील होते हैं। **तद् अपः ईयमाना**:=उस-उस कर्म के प्रति गतिवाले होते हैं, समयानुसार प्राप्त कर्म को करनेवाले होते हैं। **अमृतस्य नाभिम्**=अमृत के केन्द्र प्रभु में **आतस्थिवांसः**=स्थित होनेवाले होते हैं। प्रभु स्मरणपूर्वक कर्मों को करते हैं। (२) **अनन्तासः**-कर्मों को बीच में ही समाप्त नहीं कर देते, सदा कर्म प्रवृत्त रहते हैं। **उरवः**=विशाल हृदय होते हैं। कर्मों को उदार हृदय से करते हैं। 'उदार धर्ममित्याहुः' इस बात को भूलते नहीं कि संकोच में अपवित्रता है, उदारता ही धर्म है। ये **पन्थाः**=पतनशील-क्रियाशील होते हुए **सीम्**=निश्चय से **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीर रूप पृथिवी के **परियन्ति**=चारों ओर गति करनेवाले होते हैं। इस बात का सदा ध्यान करते हैं कि उनके किसी कर्म का उनके मस्तिष्क व शरीर पर अवाञ्छनीय प्रभाव न हो। उनके सब कार्य शरीर को तेजस्वी व मस्तिष्क को दीप्त बनानेवाले होते हैं। संक्षेप में, इन पितरों का जीवन क्रियाशील कर्त्तव्यपरायण होता है, प्रभु का इन्हें विस्मरण नहीं होता। कार्यों को बीच में छोड़ देनेवाले नहीं होते। विशाल हृदयता से कर्म करते हुए ये शरीर व मस्तिष्क दोनों को तेज व ज्ञान से दीप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु स्मरणपूर्वक अपने कर्त्तव्य कर्मों को सदा करनेवाले बनें। हमारे कर्म इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए हों कि उनसे हमारा शरीर तेजस्वी व मस्तिष्क ज्ञानदीप्त बने।

ऋषिः—**प्रतिरथ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आदर्श पुरुष

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार पितृकोटि में प्रवेश करनेवाला और ऊँचा उठ करके 'देव' बनता है। यह **उक्षा**=शक्ति का शरीर में सेचन करनेवाला होता है। यह शरीर में शक्ति का रक्षण ही इसकी सम्पूर्ण उन्नति का मूल है। इस शक्ति रक्षण के कारण यह **समुद्रः**=ज्ञान का समुद्र बनता है अथवा 'स-मुद्' सदा आनन्दमयी वृत्तिवाला होता है। **अरुषः**=क्रोध रहित होता है। **सुपर्णः**=उत्तमता से अपना पालन व पूरण करता है। **पूर्वस्य पितुः**=परमपिता-सर्वमुख्य पिता, प्रभु के **योनिं आविवेश**=गृह में प्रवेश करनेवाला होता है, अर्थात् सब ब्रह्म में निवास करता है। (२) **दिवः मध्ये निहितः**=यह सदा ज्ञान के प्रकाश के मध्य में स्थित होता है, प्रतिक्षण ज्ञान प्राप्ति में लगा होता है। **पृश्निः**-(संस्पृष्टो मासा नि० २।१४) ज्ञान ज्योति से संस्पृष्ट होता है और **अश्मा**=शरीर में पत्थर के समान दृढ़ होता है। **विचक्रमे**=विशिष्ट गतिवाला होता है, सदा विक्रम के कार्यों को करनेवाला होता है। **रजसः**=रजोगुण के **अन्तौ**=सिरों को **पाति**=बचाता है, अर्थात् रजोगुण की एक सीमा तो वह है जहाँ से इसका प्रारम्भ होता है, नहीं अभी क्रिया न्यूनतम रूप में है। इसका दूसरा सिरा वह है जहाँ क्रिया अति उग्ररूप में है। यह क्रिया के न्यूनतम व उग्रतम दोनों रूपों को छोड़कर, दोनों से अपने को बचाकर, नपी-तुली क्रियावाला होता है। प्रत्येक कार्य को यह युक्तरूप में करता है।

भावार्थ—हम शक्ति का रक्षण करते हुए सदा ज्ञान की वृद्धि करें और शरीर को दृढ़ बनायें। आदर्श पुरुष का यही लक्षण है 'ज्ञानी-सुदृढ़'। हमारी सब क्रियाएँ नपी-तुली हों।

ऋषिः—**प्रतिरथ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रिधातवः गावः

च॒त्वार॑ ईं बिभ्रति क्षे॒म॒यन्तो॒ दश॒ गर्भं॑ च॒रसे॑ धापयन्ते।

त्रि॒धात॑वः पर॒मा अ॑स्य॒ गावो॑ दि॒वश्च॑रन्ति॒ परि॑ स॒द्यो अन्ता॑न्॥ ४॥

(१) **ईम्**-निश्चय से **चत्वारः**-चारों वेदों के मन्त्र (विचार) **क्षेमयन्तः** कल्याण करते हुए इसका **बिभ्रति** धारण करते हैं। **गर्भम्**-'दिवः मध्येनिहितः' ज्ञान के बीच में गर्भरूप से रहनेवाले इस पुरुष को **चरसे** संसार में ठीक विचरण के लिये **दश धापयन्ते** दसों दिशाओं में स्थित पदार्थों के ज्ञानदुग्ध का पान कराते हैं। इन पदार्थों के ठीक ज्ञान से इसकी क्रियाएँ उत्तम होती हैं। (२) **परमाः गावः**-ये उत्कृष्ट वेदवाणियाँ या प्रभु का ज्ञान देनेवाली (परः मीयते याभिः) वेदवाणियाँ **अस्य**-इस गतमन्त्र के आदर्श पुरुष के **त्रिधातवः** 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का धारण करनेवाली होती हैं। इसके जीवन में **सद्यः**-शीघ्र ही ये **दिवः अन्तान्**-ज्ञान के अन्तिम तत्त्वों को **परिचरन्ति** प्राप्त करानेवाली होती हैं। इसे ये वेदवाणियाँ तत्त्वज्ञानी बना देती हैं।

भावार्थ—चारों वेद पुरुष का धारण करते हैं। ये दसों दिशाओं का ज्ञान देकर उसको ठीक रूप में क्रियाशील बनाते हैं। ये वेदवाणियाँ 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का धारण करनेवाली होती हैं और ज्ञान के अन्तिम तत्त्वों को प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**प्रतिरथ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

नद्यः-आपः

इ॒दं वपु॑र्नि॒वच॑नं जना॒सश्चर॑न्ति॒ यन्न॒द्य॑स्त॒स्थुराप॑ः।

द्वे यदीं॑ बिभृ॒तो मा॒तुर॒न्ये इ॒हेह॑ जा॒ते य॒म्या॒३॒॑ सब॑न्धू॥ ५॥

(१) **जनासः**-लोग **इदम्**-इस **निवचनम्**-स्तुत्य **वपुः**-शरीर की ओर **चरन्ति**-गतिवाले होते हैं। **यत्**-जिस शरीर को **नद्यः**-ज्ञान की नदियाँ तथा **आपः**-रेतःकण **तस्थुः**-अधिष्ठित करते हैं। वह शरीर ही वस्तुतः स्तुत्य है जिसमें कि ज्ञान व रेतःकणों की स्थिति होती है। (२) **द्वे**-ज्ञान व रेतःकण ये दोनों **यद्**-जब **ईम्**-निश्चय से **बिभृतः** धारण करते हैं तो **मातुः**-उस निर्माता के ये दोनों ही **अन्ये**-विलक्षण पदार्थ हैं **इह इह जाते**-ये दोनों शरीर व मस्तिष्क में (इस इस स्थान में) विकसित होते हैं। **यम्या**-हैं ये युगल इकट्ठे ही रहनेवाले और **सबन्धू** समानरूप से शरीर को बाँधनेवाले। इन दोनों के होने पर ही जीवन उत्तम होता है। जिस समय शरीर में ज्ञान व शक्ति मिलकर बन्धुभाव से रहते हैं, तो यह शरीर बड़ा स्तुत्य हो जाता है।

भावार्थ—हमारे शरीर में ज्ञान-नदियों के प्रवाह बहें और रेतःकण सुरक्षित हों तभी हमारा यह शरीर प्रशंसनीय रूपवाला होगा।

ऋषिः—**प्रतिरथ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृषणो मोदमानाः

वि त॑न्वते॒ धियो॑ अस्मा॒ अपां॑सि॒ वस्त्रा॑ पु॒त्राय॑ मा॒तरो॑ वयन्ति।

उ॒प॒प्र॒क्षे वृष॑णो॒ मोद॑माना दि॒वस्प॒था व॒ध्वो॑ य॒न्त्यच्छ॑॥ ६॥

(१) **अस्मा**-इस प्रभु की प्राप्ति के लिये **धियः**-बुद्धियों को **अपांसि**-और कर्मों को **वितन्वते**-विस्तृत करते हैं, बुद्धिपूर्वक किये गये कर्म प्रभु-पूजन का साधन बनते हैं। जिस प्रकार

मातरः=माताएँ **पुत्राय**=पुत्र के लिये **वस्त्रा**=वस्त्रों को **वयन्ति** बुनती हैं, उसी प्रकार उपासक प्रभु प्राप्ति के लिये बुद्धियों व कर्मों का विस्तार करता है। (२) **उपप्रक्षे**=उस प्रभु के सम्पर्क में ये **वृषणः**=शक्तिशाली बनते हैं और **मोदमानाः**=आनन्द का अनुभव करते हैं। **वध्वः**=कर्मों का वहन करनेवाले **दिवस्पथा**=ज्ञान के मार्ग से गति करते हुए **अच्छ यन्ति**=उस प्रभु की ओर जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये उपासक का मार्ग यही है कि बुद्धियों व कर्मों का विस्तार करे। बुद्धिपूर्वक कर्मों से ही प्रभु-पूजन होता है। प्रभु सम्पर्क से शक्ति व आनन्द की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**प्रतिरथ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शं योः गाधं प्रतिष्ठाम्

तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शं योरस्मभ्यमिदमस्तु शस्तम्।
अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठां नमो दिवे बृहते सादनाय॥ ७॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवताओ! **तत्**=वह **शम्**=शान्ति **अस्तु**=हो। हमें स्नेह व निर्द्वेषता के धारण से शान्ति का लाभ हो। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तद्**=वह **योः**=भयों का यावन (अमिश्रण) **अस्तु**=हो। **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **इदम्**=यह शान्ति व निर्भयता का जीवन **शस्तं अस्तु**=प्रशंसनीय हो। (२) हम 'मित्र, वरुण व अग्नि' की आराधना करते हुए **गाधम्**=(प्रतिष्ठा) स्थिति को प्राप्त करें अथवा (लिप्सा) प्राप्त करने के लिये इष्ट वस्तु को **अशीमहि**=प्राप्त करनेवाले हों। **उत**=और **प्रतिष्ठाम्**=यश व कीर्ति को प्राप्त करें। इस प्रकार का जीवन बनाकर उस **दिवे**=प्रकाशमय **बृहते**=महान् **सादनाय**=आश्रय के लिये **नमः**=नमस्कार करें। यह प्रभु का स्मरण ही हमें निरभिमान बनायेगा।

भावार्थ—हम 'स्नेह, निर्द्वेषता व प्रगति की भावना' को धारण करें। इससे हमें शान्ति, निर्भयता, इष्टवस्तुलाभ व प्रतिष्ठा की प्राप्ति होगी। ऐसा होने पर निरभिमान बने रहने के लिये हम प्रभु के प्रति नतमस्तक हों।

यह प्रभु की उपासना से दीप्ति को प्राप्त करके 'प्रतिभानु' बनता है, दीप्त प्रत्येक इन्द्रियवाला। यह आत्रेय तो होता ही है, 'काम-क्रोध-लोभ' से दूर। यह प्रार्थना करता है—

४८. [अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रतिभानुरात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तेजस्विता व प्रज्ञा

कदु प्रियाय धाम्ने मनामहे स्वक्षत्राय स्वयशसे महे वयम्।
आमेन्यस्य रजसो यदभ्र आँ अपो वृणाना वितनोति मायिनी॥ १ ॥

(१) **कत् उ**=वह शुभ दिन कब होगा जब कि **वयम्**=हम **धाम्ने**=तेजस्विता के लिये **मनामहे**=स्तवन करेंगे? जो तेजस्विता **प्रियाय**=प्रीतिजनक है, **स्वक्षत्राय**=स्वयं क्षतों से त्राण करने में समर्थ है तथा **स्वयशसे**=अपने यश का कारण बनती है और **महे**=महनीय व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। (२) वह समय कब होगा **यत्**=जब **अभ्रे**=बादल के होने पर भी वासनारूप मेघों के प्रज्ञान सूर्य को आच्छादित करने पर भी **मायिनी**=यह प्रज्ञावती बुद्धि (मायाः प्रज्ञा) **आमेन्यस्य**=समन्तात् मातव्य, जिसका अच्छी प्रकार ज्ञान प्राप्त करना चाहिए उस **रजसः**=लोक समूह के **अपः**=ज्ञान जलों को **आवृणाना**=सर्वथा वरण करती हुई हमारे जीवनों में **वितनोति**=प्रकाश को फैलाती है। इस

लोक समूह का बुद्धि से ज्ञान प्राप्त करके, इसके यथायोग से ही कल्याण सम्भव है।

भावार्थ—हमारे जीवन का लक्ष्य यही हो कि हम 'तेजस्विता व प्रज्ञा' का सम्पादन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**प्रतिभानुरात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वयुनं वीर वक्षणम्

ता अत्नत वयुनं वीरवक्षणं समान्या वृतया विश्वमा रजः।
अपो अपाचीरपरा अपेजते प्र पूर्वाभिस्तिरते देवयुर्जनः॥ २॥

(१) गतमन्त्र में 'मायिनी'=प्रज्ञावती मेधा का उल्लेख था। **ताः**-वे मेधा बुद्धियाँ **वयुनम्**=प्रज्ञान को **अत्नत**=विस्तृत करती हैं, जो प्रज्ञान **वीरवक्षणम्**-वीरों की उन्नति का साधन बनता है (वक्ष्=to grow)। ये बुद्धियाँ **विश्वं रजः**=सम्पूर्ण लोक को **समान्या**=समानरूप से **वृतया**=आच्छादित करनेवाली दीप्ति से **आ** (अत्नत)=विस्तृत करती हैं। बुद्धि के द्वारा प्रज्ञान प्राप्त होता है और हम सब लोकपदार्थों को ठीक रूप में देखने लगते हैं। (२) यह **देवयुः जनः**-प्रभु प्राप्ति की कामनावाला मनुष्य **अपराः**=(अ-पराः) जो वस्तुतः पराये नहीं है अथवा (अ-प्रभु) प्रभु प्राप्ति के साधनभूत हैं उन **अपाचीः**=सामान्यतः हमारे से दूर जानेवाले **अपः**=रेतःकणों को **अपेजते**=फिर वापिस प्रेरित करता है। नीचे जाने के स्वभाववाले इन रेतःकणों को ऊर्ध्वमुख करके ऊर्ध्वरेता बनाता है। तथा **पूर्वाभिः**-इन पालन व पूरण करनेवाले रेतःकणों से **प्रतिरते**=जीवन को दीर्घ बनाता है।

भावार्थ—हम बुद्धि के द्वारा वीरतायुक्त प्रज्ञान को प्राप्त करें। रेतःकणों का रक्षण करते हुए दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—**प्रतिभानुरात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृत्र पर वज्र प्रहार

आ ग्रावभिरहन्येभिरक्तुभिर्वरिष्ठं वज्रमा जिघर्ति मायिनि।
शतं वा यस्य प्रचरन्त्स्वे दमे संवर्तयन्तो वि च वर्तयन्नहा॥ ३॥

(१) 'माया' का अर्थ है छल-कपट। 'मायी' वृत्र का नाम है, जो अद्भुत छली है। इस **मायिनि**-मायावाले वृत्र पर **ग्रावभिः**-स्तुतियों के द्वारा, **अहन्येभिः**=(अ-हन्) एक एक क्षण को न नष्ट करने के द्वारा, एतत उत्तम क्रियाओं के द्वारा तथा **अक्तुभिः**=प्रकाश की किरणों के द्वारा **वरिष्ठम्**=श्रेष्ठ **वज्रम्**-वज्र को **आजिघर्ति**=दीप्त करता है (brandishes, waives his sword brilliantly)। वृत्र, अर्थात् वासना को नष्ट करने का उपाय यही है कि (क) प्रभु के स्तवन में प्रवृत्त होना, (ख) सतत यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में लगे रहना, (ग) तथा स्वाध्याय द्वारा प्रकाश को प्राप्त करना। (२) उस **मायी**=वृत्र पर वज्र का प्रहार करना है, **यस्य**-जिस वृत्र के, वासना के **शतम्**=सैकड़ों रूप **स्वे दमे**=इस अपने शरीररूप गृह में **संवर्तयन्तः**-प्रलय मचाते हुए (संवर्तः=प्रलयः) **च**=तथा **अहा**=दिनों को **विवर्तयन्**-विरुद्ध मार्गों पर ले जाते हुए **प्रचरन्**=गतिवाले होते हैं। वासना नानारूपों में प्रकट होती है और जीवन में प्रलय-सा मचा देती है तथा दिनों को उलट-पुलट बातों में ही बरबाद कर देती है। इस वासना को नष्ट करना आवश्यक ही है।

भावार्थ—जीवन को विनष्ट करनेवाली वासना पर हम उस वज्र का प्रहार करें जो 'प्रभु स्तवन, उत्तम कर्म व स्वाध्याय' द्वारा बना हुआ है।

ऋषिः—प्रतिभानुरात्रेयः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

रमणीय वस्तुओं का धारण

तामस्य रीतिं परशोरिव प्रत्यनीकमख्यं भुजे अस्य वर्पसः।
सचा यदि पितुमन्तमिव क्षयं रत्नं दधाति भरहूतये विशे॥ ४॥

(१) **अस्य**=गतमन्त्र में वर्णित इस वज्र की **तां रीतिम्**=उस गति को **परशोः इव**=कुल्हाड़े की गति की तरह **प्रत्यनीकम्**=वासनारूप शत्रुसैन्य के प्रति **अख्यम्**=देखता हूँ। जैसे कुल्हाड़ा झाड़ी झंकाड़ों का सफाया कर देता है, उसी प्रकार यह वज्र वासनाओं का विनाश करता है। इस प्रकार यह वज्र **अस्य वर्पसः**=इसके तेजस्वीरूप के **भुजे**=पालन के लिये होता है। (२) वासनाओं के विनष्ट होने पर यह तेजस्वी पुरुष प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है। और **यदि**=अगर **सचा**=यह उपासक प्रभु के साथ अपने को समवेत कर पाता है, जो प्रभु इस **भरहूतये**=संग्राम में वासनारूप शत्रुओं को ललकारनेवाले **विशे**=मनुष्य के लिये **पितुमन्तं क्षयं इव**=रक्षक अन्न से परिपूर्ण घर की तरह **रत्नं दधाति**=रमणीय वस्तुओं का धारण करता है।

भावार्थ—हम क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा वासनाओं का विनाश करें। प्रभु हमारे मित्र होंगे और हमारे लिये रमणीय वस्तुओं का धारण करेंगे।

ऋषिः—प्रतिभानुरात्रेयः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

चारु वसानः

स जिह्वया चतुरनीक ऋञ्जते चारु वसानो वरुणो यतन्नरिम्।
न तस्य विद्म पुरुषत्वता वयं यतो भगः सविता दाति वार्यम्॥ ५॥

(१) **सः**=गतमन्त्र के अनुसार वज्र के द्वारा वासनाओं का विनाश करनेवाला वह उपासक **जिह्वया**=वाणी के द्वारा **चतुरनीकः**=चतुर्मुख, चारों वेदों के ज्ञानरूप बलवाला होकर **ऋञ्जते**=अपने जीवन को प्रसाधित करता है **चारु वसानः**=यह सब सुन्दर गुणों व ज्ञानों को धारण करता है। **वरुणः**=सब पापों का निवारण करता हुआ **अरिं यतन्**=वासनारूप शत्रुओं को (उद्धरन्) उखाड़ फेंकता है। (२) **वयम्**=हम **तस्य**=उस प्रभु के **पुरुषत्वता**=पौरुष को **न विद्म**=पूरा-पूरा ज्ञान नहीं पाते **अतः**=क्योंकि वह **भगः**=ऐश्वर्य का पुञ्ज **सविता**=सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक प्रभु **वार्यं दाति**=सब वरणीय पदार्थों को देता है। अनन्त प्राणियों के लिये अनन्त वरणीय वस्तुओं की प्राप्ति को कराते हुए उस प्रभु के पौरुष की कल्पना करनी कठिन है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान प्राप्त करें, वरणीय बातों का ग्रहण व त्याज्य का परित्याग करें। वे अनन्त दानोंवाले प्रभु हमें सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करायेंगे।

शत्रुओं को उखाड़कर फेंकता हुआ यह व्यक्ति प्रत्येक इन्द्रिय को प्रभा सम्पन्न बना पाता है सो 'प्रतिप्रभ' कहलाता है। यह आत्रेय है, काम-क्रोध-लोभ से परे। यह प्रार्थना करता है—

४९. [एकोनपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रतिप्रभ आत्रेयः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सवितादेव, भग व अश्विनीदेवों' का आराधन

देवं वो अद्य सवितारमेषे भगं च रत्नं विभजन्तमायोः।
आ वां नरा पुरुभुजा ववृत्यां दिवेदिवे चिदश्विना सखीयन्॥ १॥

(१) **अद्य** आज **वः सवितारम्**-तुम सब के प्रेरक **देवम्**-प्रकाशमय प्रभु को **आ ईषे**-(उपगच्छामि) समीपता से प्राप्त होता हूँ, प्रेरक प्रभु की उपासना करता हूँ। **च** और प्रभु की उपासना के साथ **भगम्**=ऐश्वर्य की देवता का भी आराधन करता हूँ, जो **आयोः**-गतिशील पुरुषों को **रत्नं विभजन्तम्**=रमणीय वस्तुओं को विभागपूर्वक प्राप्त कराते हैं। 'सवितादेव' का उपासन मुझे अध्यात्म दृष्टिकोण से उन्नत करता है और 'भग' की उपासना मेरी भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करती है। 'सवितादेव' की उपासना ही परमात्मा की अर्चना है। (२) हे **नरा**=मुझे उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले, **पुरुभुजा**-खूब ही मेरा पालन करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! मैं **सखीयन्**-प्रभु की मित्रता की कामना करता हुआ **वाम्**-आप दोनों को **दिवे दिवे चित्** प्रतिदिन ही **आ ववृत्याम्**=अपने अभिमुख करने का प्रयत्न करूँ। यह प्राणापान की साधना ही वस्तुतः हमें प्रभु की मित्रता को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—हम सवितादेव, भग व अश्विनीदेवों की आराधना करनेवाले बनें।

ऋषिः—**प्रतिप्रभ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सब धनों के विजेता' प्रभु

प्रति॑ प्र॒याण॑मसु॒रस्य॑ वि॒द्वान्त्सू॒क्तैर्दे॒वं स॑वि॒तारं॑ दुवस्य।

उप॑ ब्रुवीत॒ नम॑सा विजा॒नञ्ज्ये॒ष्ठं च॒ रत्नं॑ वि॒भज॑न्तमा॒योः॥ २॥

(१) **प्रति प्रयाणम्**-जीवन यात्रा की प्रत्येक मंजिल में अथवा प्रत्येक कार्य में (गति में) **असुरस्य विद्वान्** उस प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु को जानता हुआ तू **सूक्तैः**=उत्तम कथनों से, गुणकीर्तन से **देवम्**-प्रकाशमय **सवितारम्** प्रेरक प्रभु की **दुवस्य**=परिचर्या कर। प्रभु स्मरण के साथ ही प्रत्येक कार्य को करनेवाला हो। (२) **विजानन्**=ज्ञानी पुरुष **नमसा**=नमन के साथ **ज्येष्ठम्**-उस सर्वश्रेष्ठ प्रभु के **उपब्रुवीत**=नामों का व स्तोत्रों का उच्चारण करे। उस प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करे जो **आयोः**=गतिशील पुरुष के लिये **रत्नं विभजन्तम्**-रमणीय धन को प्राप्त कराते हैं। 'हमारे लिये सब धनों का विजय प्रभु ही तो करते हैं, ऐसा स्मरण रहने पर मनुष्य धनाभिमान से बचा रहता है।

भावार्थ—हम सब कार्यों को प्रभु स्मरण के साथ करें। इस बात को न भूलें कि हमारे लिये धनों का विजय भी प्रभु ही करते हैं।

ऋषिः—**प्रतिप्रभ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सब दिनों की भद्रता

अ॒द॒त्रया॑ दयते॒ वार्या॑णि पू॒षा भगो॒ अदि॑ति॒र्वस्त॑ उ॒स्रः।

इन्द्रो॒ विष्णु॒र्वरु॑णो मि॒त्रो अ॒ग्निरहा॑नि भ॒द्रा ज॑नयन्त द॒स्माः॥ ३॥

(१) **पूषा**=वह सबका पोषण करनेवाला, **भगः** ऐश्वर्यशाली **अदितिः**-स्वास्थ्य को नष्ट न होने देनेवाला प्रभु **अदत्रया**=(अदनीदाति) खाने के योग्य **वार्याणि**-वरणीय वस्तुओं को **दयते**=देता है। इन वरणीय वस्तुओं को देकर ही वे प्रभु हमारा पोषण करते हैं और हमें स्वस्थ बनाते हैं। **उस्त्रः**-प्रकाश की किरणों के पुञ्ज वे प्रभु **वस्ते**=हमें इन प्रकाश की किरणों से आच्छादित करते हैं। यह प्रकाश की किरणें ही हमारे कवच के रूप में होती हैं और हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाती हैं। (२) **इन्द्रः**-जितेन्द्रियता, **विष्णुः**=व्यापकता, **मित्रः**-स्नेह, **वरुणः**=निर्द्वेषता (द्वेष का निवारण) **अग्निः**=प्रगतिशीलता व प्रकाश ये सब दिव्य भाव **दस्माः**=दर्शनीय

हैं व हमारे कष्टों का उपक्षय करनेवाले हैं। ये **अहानि**=हमारे जीवन के दिनों को **भद्रा**=कल्याणकर व उत्तम **जनयन्त**=बनाते हैं। 'जितेन्द्रियता' से शरीर की शक्ति स्थिर रहती है, 'उदारता, स्नेह व निर्द्वेषता' मन को पवित्र रखती हैं। 'प्रकाश' मस्तिष्क को दीप्त बनाता है। एवं 'शरीर, मन व बुद्धि' का स्वास्थ्य हमारे सब दिनों को शुभ बना देता है।

भावार्थ—प्रभु हमें पोषण के लिये आवश्यक वरणीय धनों को देते हैं। हमें प्रकाश का वस्त्र धारण कराते हैं। जितेन्द्रियता आदि के द्वारा हमारे सब दिनों को शुभ बना देते हैं।

ऋषिः—**प्रतिप्रभ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रायः पतयः-वाजरत्नाः

तन्नो॑ अन॒र्वा स॑वि॒ता वरू॑थं॒ तत्सिन्ध॑व इ॒षय॑न्तो॒ अनु॑ ग्मन्।
उप॒ यद्वोचे॑ अध्व॒रस्य॒ होता॑ रा॒यः स्या॑म॒ पत॑यो॒ वाज॑रत्नाः ॥ ४ ॥

(१) **अनर्वा**=किसी से भी हिंसित न होनेवाला **सविता**=सबका प्रेरक प्रभु **नः**=हमारे लिये **तत्**=उस **वरूथम्**=कष्टों के निवारक धन (wealth) को दे। **इषयन्तः**=हमारे लिये उत्तम प्रेरणा को देती हुई **सिन्धवः**=ज्ञान की नदियाँ **तत्**=उस धन को **अनुग्मन्**=अनुकूलता से प्राप्त करायें। (२) **यत्**=जब मैं **अध्वरस्य होता**=इस जीवन यज्ञ का होता बनता हूँ, तो **उप वोचे**=यही प्रार्थना करता हूँ कि हम सब **रायः पतय स्याम**=धनों की स्वामी हों। धनों के दास न बन जाएँ। धन के दास बनते ही सब यज्ञ समाप्त हो जायेंगे और हमारा जीवन पापमय हो जाएगा। **वाजरत्नाः**=हम शक्तिरूप रमणीय धनवाले हों। धन के स्वामी बनकर विषयों में न फँसेंगे तो यह शक्तिरूप धन भी हमारे जीवन को रमणीय बनायेगा ही।

भावार्थ—हमें प्रभु आवश्यक धन प्राप्त करायें। कर्मों में प्रेरक ज्ञान भी हमें धन दे, अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्मों को करते हुए हम धनार्जन करें। इस जीवन यज्ञ में हम धनों के दास न बन जाएँ और शक्तिरूप रमणीय धनवाले हों।

ऋषिः—**प्रतिप्रभ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

क्या करें, क्या पायें?

प्र ये वसु॑भ्य॒ ईव॒दा नमो॒ दुर्ये मि॒त्रे वरु॑णे सू॒क्तवा॑चः।
अवै॒त्वभ्वं॑ कृणु॒ता वरी॑यो दि॒वस्पृ॑थि॒व्योरव॑सा मदेम ॥ ५ ॥

(१) हम वे बनें, **ये**=जो **वसुभ्यः**=निवास के लिये आवश्यक धनों की प्राप्ति के लिये **ईवत्**=(गमनवत्) क्रियायुक्त **प्रनमः**=प्रकृष्ट नमस्कार को करनेवाले हैं। हम प्रभु की उपासना करें, पर वह उपासना स्वकर्म-पालन के द्वारा हो रही हो। प्रभु की सर्वोत्कृष्ट उपासना प्रभु के आदेश के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त होना ही तो है। (२) हम **मित्रे**=स्नेह की देवता में अथवा प्रमीति (मृत्यु) से त्राण करनेवाली देवता में तथा **वरुणे**=निर्द्वेषता की देवता में, पाप-निवारण की देवता में **सूक्तवाचः**=मधुरवाणियोंवाले हों। सब के प्रति स्नेह व निर्द्वेषतावाले होकर सदा मधुर ही शब्द बोलें। (२) इस प्रकार हमें **अभ्वम्**=महान् तेज **अवैतु**=प्राप्त हो। हे देवो! आप हमारे लिये **वरीयः**=उत्कृष्ट धन को **कृणुता**=करिये। हम **दिवस्पृथिव्योः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के **अवसा**=रक्षण से **मदेम**=हर्ष का अनुभव करें। मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीरूप पृथिवीलोक का रक्षण हमारे लिये आनन्द का कारण बने। सर्वोत्तम जीवन यही है कि 'मस्तिष्क व शरीर दोनों स्वस्थ हों'।

भावार्थ—धन प्राप्ति के लिये हम ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा प्रभु के उपासक बनें। स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाकर मधुर ही शब्द बोलें। इस प्रकार हम तेजस्वी हों, उत्कृष्ट धनवाले हों, स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाले हों।

गतमन्त्र के अनुसार जीवन को बनाकर हम 'स्वस्ति'=जीवन में उत्तम स्थितिवाले हों, 'आत्रेय'-त्रिविध कष्टों से दूर हों। इस 'स्वस्ति' का कथन है कि—

५०. [पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रभु की मित्रता का वरण

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्। विश्वो॑ रा॒य इ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॑॥ १ ॥

(१) **विश्वः मर्तः**=इस संसार में प्रविष्ट हुआ-हुआ प्रत्येक मनुष्य **नेतुः देवस्य**=संसार के प्रणेता, सब व्यवहारों के साधकर (दिव् व्यवहारे) प्रभु की **सख्यम्**=मित्रता को **वुरीत**=वरे। इसी में कल्याण है। जब प्रभु को भूलकर प्रकृति की ओर झुकते हैं, तो उस प्रकृति के पाँव तले रौंदे जाते हैं। (२) पर यह बात है बड़ी विचित्र कि **विश्वः**=सब कोई **राये**=धन के लिये **इषुध्यति**=याचना करता है। धन आवश्यक है, पर इस धन में ही तो आनन्द नहीं रखा। यह धनासक्ति ही हमारे सब कष्टों का कारण बनती है। इसलिए **द्युम्नम्**=ज्ञानधन का ही **वृणीत**=वरण करो, **पुष्यसे**=यदि अपना ठीक पोषण करना है तो अपने उत्तम पोषण के लिये हमें ज्ञान का ही वरण करना चाहिए, जीवन-यात्रा के लिये आवश्यक धन तो प्राप्त हो ही जायेगा।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता का वरण करें। अपने ठीक पोषण के लिये ज्ञान-धन का वरण करें। आवश्यक बाह्य धन तो प्राप्त हो ही जाता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

धन-प्रभु सम्पर्क व उत्तम मित्र

ते ते॑ देव नेत॒र्ये चे॒माँ अ॑नु॒शसे॑। ते रा॒या ते ह्या॒३॒॑पृचे॒ सचे॑महि सच॒थ्यैः॑॥ २ ॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय **नेतः**=सारे संसार के संचालक प्रभो! **ते**=हम तेरे हैं और **ते**=तेरे ही हैं। **च**=और **ये**=जो हम **इमान् अनुशसे**=इन आधि-व्याधियों को नष्ट करने के लिये होते हैं (शसति to kill, to destroy) वस्तुतः प्रभु के बनने पर हम प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होते हैं और वासनाओं को विनष्ट कर पाते हैं। (२) **ते**=वे हम **राया**=जीवन-यात्रा के लिये आवश्यक धन से **सचेमहि**=संयुक्त हों। **ते**=वे हम **हि**=निश्चय से **आपृचे**=आपके सम्पर्क के लिये हों और **सचथ्यैः**=मेल में उत्तम मित्रों के साथ (सचेमहिः) मेलवाले हैं। हमारा साथ सदा उत्तम मित्रों के साथ हो। इस साथ का ही तो हमारे जीवन पर महान् प्रभाव होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के बनकर रोग व वासनाओं को विनष्ट करें। हम धन को प्राप्त करें, प्रभु के साथ सम्पर्कवाले हों, उत्तम मित्रों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

नृन् अथिथीन् पत्नीः

अतो॑ न॒ आ नॄनति॑थी॒नतः॒ पत्नी॑र्दशस्यत। आ॒रे विश्वं॑ पथे॒ष्ठां द्वि॒षो यु॑योतु॒ यूयु॑विः॥ ३ ॥

(१) **अतः**=इस जीवन के निर्माण के हेतु से **नः**=हमारे लिये **नॄन्**=आगे ले चलनेवाले 'माता,

पिता व आचार्यों' को **दशस्यत**=दो। **अतिथीन्**=उत्तम अतिथियों को प्राप्त कराओ। **अतः**=इस जीवन के निर्माण के हेतु से **पत्नीः**=उत्तम पत्नियों को प्राप्त कराओ। माता, पिता, आचार्य व अतिथि तो हमारे जीवन निर्माण में हिस्सा लेते ही हैं, सब से महत्त्वपूर्ण भाग पत्नियों का होता है। (३) **यूयुविः**=वह सब बुराइयों से हमें पृथक् करनेवाला प्रभु **विश्वम्**=सब **पथेष्ठाम्**=मार्ग में प्रतिबन्धक रूप से स्थित **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **आरे**=दूर **युयोतु**=पृथक् करे। द्वेष से ऊपर उठकर ही अध्यात्म उन्नति होना सम्भव होता है।

भावार्थ—हमें उत्तम माता, पिता, आचार्य व अतिथियों का सम्पर्क मिले। पत्नी उत्तम हो। प्रभु हमारे से द्वेष को दूर करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कैसा घर?

यत्र वह्निरभिहितो दुद्रवद् द्रोण्यः पशुः। नृमणा वीरपस्त्योऽर्णा धीरेव सनिता॥ ४॥

(१) **यत्र**=जहाँ **वह्निः**=यज्ञ की अग्नि **अभिहितः**=दिन में दोनों बार, प्रारम्भ व अन्त में प्रातः व सायं स्थापित हुई है। जिस घर में यज्ञ नियमपूर्वक होते हैं। (२) जहाँ **द्रोण्यः**=द्रोण भर दूध देनेवाले। (३२ सेर) **पशुः**=गवादिक पशु **दुद्रवत्**=खूब दौड़ता फिरता है। जहां उत्तम गौ स्वतन्त्रता से विचरती है। (३) **नृमणा**=जिसका मनुष्यों में मन है, अर्थात् जहाँ सब सन्तानों के निर्माण का पूरा ध्यान होता है। व्यर्थ की चीजों की जहाँ झुकाव नहीं। अतएव **वीरपस्त्यः**=जहाँ वीरों का ही निवास है। (४) **अर्णा**=अरण कुशल गति में कुशल, कर्मों को कुशलता से करनेवाली **धीरा इव**=एक धैर्यवाली स्त्री की तरह सब कोई **सनिता**=संभक्ता होता है, प्रभु का भजन करनेवाला व संविभागपूर्वक खानेवाला होता है।

भावार्थ—उत्तम घर वह है जहाँ कि (क) यज्ञ नियम से होता है, (ख) खूब दूध देनेवाला पशु (गौ) विद्यमान है, (ग) जहाँ मनुष्यों के निर्माण का ध्यान है, (घ) जहाँ सब वीर हैं, (ङ) और संविभागपूर्वक सब खाते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शं राये, शं स्वस्तये

एष ते देव नेता रथस्पतिः शं रयिः ।
शं राये शं स्वस्तय इषः स्तुतो मनामहे देवस्तुतो मनामहे॥ ५॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **एषः**=यह मैं **ते**=तेरा ही हूँ। आप ही **नेता**=मेरा नेतृत्व करनेवाले हैं **रथस्पतिः**=मेरे रथ के रक्षक हैं। **रयिः**=आपसे दिया हुआ धन **शम्**=हमारे लिये शान्तिकर हो। (२) हम **इषः स्तुतः**=उस एषणीय (चाहने योग्य) प्रभु के स्तोता बनकर **राये**=धन के लिये व **शम्**=शान्ति के लिये **मनामहे**=याचना करते हैं। **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिये व शम्=शान्ति के लिये **देवस्तुतः**=उस प्रकाशमय प्रभु के स्तोता हम **मनामहे**=याचना करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के स्तोता बनने पर ही हम सुखकर धन को व शान्तिमय उत्तम स्थिति को प्राप्त कर पाते हैं।

अगला सूक्त भी 'स्वस्ति आत्रेय' का ही है—

५१. [एकपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु द्वारा रक्षित होकर 'सोमपान' करना

अग्ने॑ सु॒तस्य॑ पी॒तये॒ विश्वै॒रूमे॑भि॒रा ग॑हि। दे॒वेभि॑र्ह॒व्यदा॑तये॥ १॥

(१) हे **अग्ने**-अग्रणी प्रभो! **सुतस्य पीतये**=शरीर में उत्पन्न सोम के पान (=रक्षण) के लिये आप **विश्वैः**=सब **ऊमेभिः**-रक्षणों के साथ **आगहि**-हमें प्राप्त होइये। आप ही हमें वासनाओं से बचायेंगे और तब ही सोम का शरीर में रक्षण होगा। (२) **देवेभिः**=दिव्यगुणों के हेतु से आप हमारे लिये **हव्यदातये**=सब हव्य पदार्थ को देने के लिये होइये। ये हव्य पदार्थ ही हमारे जीवन में दिव्यता का वर्धन करेंगे।

भावार्थ—परमात्म स्मरण के द्वारा वासनाओं से बचते हुए हम सोम का शरीर में रक्षण करनेवाले हों। हव्य पदार्थों के सेवन से दिव्य गुणों का वर्धन करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ऋतधीतयः-सत्यधर्माणः

ऋत॑धीतय॒ आ ग॑त॒ सत्य॑धर्माणो अध्व॒रम्। अ॒ग्नेः पि॑बत जि॒ह्वया॑॥ २॥

(१) **ऋतधीतयः**=ऋत की regularity (व्यवस्था) का धारण करनेवाले व **सत्यधर्माणः**=सत्य का पोषण करनेवाले तुम **अध्वरं आगत**=इस हिंसारहित यज्ञात्मक कर्म को प्राप्त होवो। हम अपने जीवनों में 'ऋत और सत्य' का पोषण करते हुए जीवन को यज्ञमय बनायें। (२) और जीवनयज्ञ में **अग्नेः जिह्वया**=अग्नि की जिह्वा से, अर्थात् उस अग्रणी प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाली जिह्वा से **पिबत**=सोम का पान करो। प्रभु का स्मरण करेंगे तो वासनाओं से आक्रान्त न होंगे। यह वासनाओं का अनाक्रमण हमें सोम का पान करने के योग्य बनायेगा।

भावार्थ—ऋत व सत्य का धारण करते हुए हम जीवन को यज्ञमय बनायें। प्रभु का स्मरण करते हुए सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विप्र-सन्त्य

विप्रे॑भिर्विप्र सन्त्य प्रात॒र्याव॑भि॒रा ग॑हि। दे॒वेभि॒: सोम॑पीतये॥ ३॥

(१) प्रभु कहते हैं कि—हे **विप्र**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **सन्त्य**=सम्भजन में उत्तम पुरुष! तू **प्रातः यावभिः**-प्रातः काल से ही कर्त्तव्यकर्मों में गतिवाले **विप्रेभिः**=ज्ञानी अपना पूरण करनेवाले **देवेभिः**=देव वृत्तिवाले पुरुषों के साथ **सोमपीतये**-सोम के रक्षण के लिये **आगहि**=हमारे समीप आनेवाला हो। (२) सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि (क) हमारे में न्यूनताओं को दूर करने की भावना हो, (ख) प्रभु भक्ति की ओर हमारा झुकाव हो, (ग) क्रियाशील, ज्ञानी पुरुषों के साथ हमारा संग हो।

भावार्थ—हम सोमरक्षण के लिये कटिबद्ध हों। विप्र बनें, सन्त्य बनें तथा देवों के संगवाले हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्द्राय वायवे प्रियः

अ॒यं सोम॑श्च॒मू सु॒तोऽम॑त्रे॒ परि॑ षिच्यते। प्रि॒य इन्द्रा॑य वा॒यवे॑॥ ४॥

(१) **अयं सोमः**=यह सोम (वीर्य) **चमू सुतः**=द्यावापृथिवी के **निमित्त**=मस्तिष्क व शरीर के रक्षण के निमित्त उत्पन्न किया गया है। यह **अमत्रे**=इस शरीररूप पात्र में ही **परिषिच्यते**=चारों ओर सिक्त किया जाता है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ ही यह सोम शरीर को शक्तिशाली व मस्तिष्क को दीप्त बनाता है। (२) यह सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये तथा **वायवे**=गतिशील पुरुष के लिये **प्रियः**=प्रीति का जनक होता है। जितेन्द्रियता व गतिशीलता ही सोम रक्षण का साधन बनती हैं। सुरक्षित सोम प्रीति को पैदा करता है।

भावार्थ—सोम का उत्पादन शरीर को तेजस्वी व मस्तिष्क को दीप्त बनाने के लिये हुआ है। जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता द्वारा सोम का रक्षण होता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

आनन्द की ओर

वायवा याहि वीतये जुषाणो हव्यदातये। पिबा सुतस्यान्धसो अभि प्रयः॥ ५॥

(१) प्रभु कहते हैं कि—**वायो**=हे क्रियाशील जीव! तू **वीतये**=(वी-असने) अन्धकार को परे फेंकने के लिये **आयाहि**=हमारे समीप प्राप्त हो। यह उपासना तेरे अज्ञानान्धकार को विनष्ट करेगी। (२) **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यकर्मों का सेवन करता हुआ तू **हव्यदातये**=उत्तम पदार्थों के दान के लिये हो। (३) **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **अन्धसा**=इस सोम का तू **पिबा**=पान करनेवाला बन, सोम को अपने अन्दर सुरक्षित कर और **प्रयः अभि**=(delight) आनन्द की ओर गतिवाला हो।

भावार्थ—प्रभु उपासना से ही अन्धकार नष्ट होता है। प्रीतिपूर्वक कर्मों को करते हुए हम सदा दानशील हों। भोगवृत्ति से ऊपर उठकर सोम का पान करें, यही आनन्द प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

इन्द्र और वायु

इन्द्रश्च वायवेषां सुतानां पीतिमर्हथः। ताञ्जुषेथामरेपसावभि प्रयः॥ ६॥

(१) हे **वायो**=क्रियाशील जीव! तू **च**=और **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **एषाम्**=इन **सुतानाम्**=उत्पन्न हुए सोमकणों के **पीतिं अर्हथः**=पान के योग्य हो। वस्तुतः सोमपान के दो ही मुख्य साधन हैं, (क) क्रियाशीलता व (ख) जितेन्द्रियता। (२) **अरेपसौ**=क्रियाशीलता व जितेन्द्रियता से निर्दोष बने हुए तुम **तान्**=उन सोमकणों को **जुषेथाम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करो। और **प्रयः अभि**=आनन्द की ओर चलनेवाले होवो।

भावार्थ—क्रियाशीलता व जितेन्द्रियता से जीवन निर्दोष बनता है, तभी हम सोम का रक्षण कर पाते हैं और जीवन को आनन्दमय बना पाते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

निम्नं न यन्ति सिन्धवः

सुता इन्द्राय वायवे सोमासो दध्याशिरः। निम्नं न यन्ति सिन्धवोऽभि प्रयः॥ ७॥

(१) **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमासः**=सोमकण **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये तथा **वायवे**=क्रियाशील पुरुष के लिये **दध्याशिरः**=धारण करनेवाले (दधि) व चारों ओर बुराई को शीर्ण करनेवाले हैं। सुरक्षित सोम रोगकृमियों को नष्ट करके हमारा धारण करते हैं और वासनाओं को शीर्ण करके हमें पवित्र बनाते हैं। (२) ये सोमकण **निम्नम्**=नम्रतायुक्त पुरुष को **यन्ति**=प्राप्त

होते हैं, **न**-जैसे कि **सिन्धवः**-बहनेवाले जल निम्न प्रदेश की ओर गतिवाले होते हैं। ये सोमरक्षक पुरुष **अभि प्रयः**=आनन्द की ओर गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय व क्रियाशील पुरुष में सुरक्षित हुए हुए सोमकण बल का धारण करनेवाले व वासनाओं को शीर्ण करनेवाले होते हैं। ये नम्रतायुक्त पुरुष को प्राप्त होते हैं और उसके जीवन को आनन्दित करते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'देवेभिः, अश्विभ्यां, उषसा' सजूः

स॒जूर्विश्वे॑भिर्दे॒वेभि॑र॒श्विभ्या॑मु॒षसा॑ स॒जूः। आ या॑ह्यग्ने अत्रि॒वत्सु॒ते र॑ण॥ ८॥

(१) **विश्वेभिः देवेभिः सजूः**=सब दिव्यगुणों से संगत हुआ-हुआ तथा **अश्विभ्याम्**=प्राणापान से संगत हुआ-हुआ तथा **उषसा**-उषाकाल से संगत हुआ-हुआ तू **आयाहि**-अपने कर्त्तव्यकर्मों में गतिवाला हो। दिव्यगुणों को धारण करने का प्रयत्न कर, प्राणसाधना में प्रवृत्त हो और उषाकाल में जाग। (२) इस प्रकार हे **अग्ने**-प्रगतिशील जीव! तू कर्त्तव्यकर्मों को कर और **अत्रिवत्**-काम-क्रोध लोभ से ऊपर उठा हुआ (प्रातः जागरण 'काम' को पराजित करता है, प्राणसाधना 'क्रोध' को तथा दिव्यवृत्ति 'लोभ' को विनष्ट करती है) तू **सुते**=इस सोम के सम्पादित होने पर **रण**=आनन्द का अनुभव कर।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये 'देववृत्ति, प्राणसाधना तथा प्रातः जागरण' सहायक हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'मित्र वरुण सोम विष्णु' से मैत्री

स॒जूर्मि॒त्रावरु॑णाभ्यां स॒जूः सोमे॑न॒ विष्णु॑ना। आ या॑ह्यग्ने अत्रि॒वत्सु॒ते र॑ण॥ ९॥

(१) **मित्रावरुणाभ्याम्**=स्नेह की देवता व निर्द्वेषता की देवता से **सजूः**=संगत हुआ-हुआ तथा **सोमेन**-सौम्यत-शान्तवृत्ति से तथा **विष्णुना**=व्यापकता व उदारता से **सजूः**=संगत हुआ-हुआ **आयाहि**=तू समन्तात कर्त्तव्यकर्मों में गतिवाला हो। (२) इस प्रकार 'प्रेय, निर्द्वेषता, शान्ति व उदारता' से युक्त होकर, हे **अग्ने**-प्रगतिशील जीव! तू **अत्रिवत्**-काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठे हुए पुरुष की तरह **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **रण**-आनन्द का अनुभव कर।

भावार्थ—'मित्रता, निर्द्वेषता, सौम्यता व उदारता' सोमरक्षण में सहायक हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'आदित्य वसु इन्द्र व वायु' बनना

स॒जूरा॑दि॒त्यैर्वसु॑भिः स॒जूरिन्द्रे॑ण वा॒युना॑। आ या॑ह्यग्ने अत्रि॒वत्सु॒ते र॑ण॥ १०॥

(१) **आदित्यैः**-सब स्थानों से अच्छाई का आदान करनेवाले **वसुभिः**=उत्तम निवासवाले पुरुषों से **सजूः**=संगत हुआ-हुआ तथा **इन्द्रेण**-जितेन्द्रियता तथा **वायुना** क्रियाशीलता से संगत हुआ-हुआ आप **हि**-तू समन्तात् गतिवाला हो। (२) इस प्रकार 'आदित्य, वसु, इन्द्र और वायु' के गुणों से युक्त होकर, हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **अत्रिवत्**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठे हुए पुरुष के समान **सुते**=उत्पन्न-उत्पन्न हुए-हुए सोम में **रण**=आनन्द का अनुभव कर।

भावार्थ—'आदित्य, वसु, इन्द्र व वायु' का आराधन हमें सोमरक्षण में समर्थ करता है। अच्छाइयों का आदान-निवास को उत्तम बनाना, जितेन्द्रिय बनना व क्रियाशील होना ही सोमरक्षण के लिये आवश्यक है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः ।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना ॥ ११ ॥

(१) **नः**=हमारे लिये **अश्विना**=प्राणापान **स्वस्ति**=कल्याण व क्षेम को **मिमीताम्**=निर्मित करें। प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना करते हुए हम दोषों को दग्ध करके जीवन को कल्याणमय बनायें। **भगः**=ऐश्वर्य **स्वस्ति**=हमारा कल्याण करे। जीवन-यात्रा की आवश्यक सामग्री को जुटाने में सहायक होता हुआ यह ऐश्वर्य हमारा क्षेम-कारक हो। **देवी अदितिः**=यह प्रकाशमयी स्वास्थ्य की देवता **स्वस्ति**=क्षेम करनेवाली हो। स्वास्थ्य व प्रकाश हमें आनन्द प्राप्त करायें। **अनर्वणः**=(अ प्रति ऋतः) शत्रुओं से आक्रान्त न होनेवाला, वासनारूप शत्रुओं से पराजित न होनेवाला, **असुरः**=शत्रुओं का निरसिता (परे फेंकनेवाला) अथवा प्राणशक्ति का संचार करनेवाला **पूषा**=पोषण का देव **नः**=हमारे लिये **स्वस्ति दधातु**=कल्याण को धारण करे। (२) **द्यावापृथिवीम्**=द्युलोक से पृथिवीलोक तक सब पदार्थ **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान के द्वारा **स्वस्ति**=हमारा कल्याण करनेवाले हों। प्रभु ने वस्तुतः सब पदार्थ हमारे हित के लिये ही बनाये हैं। उनका हमें जब ठीक ज्ञान नहीं होता, तभी उनके अयोग व अतियोग से हम अकल्याण के भागी होते हैं। उन सब पदार्थों का ठीक ज्ञान हमें उनके यथायोग के द्वारा कल्याण प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—हमारे लिये 'प्राणापान, ऐश्वर्य, स्वास्थ्य व पोषण' सुख को देनेवाले हों। सब पदार्थ ज्ञानपूर्वक यथोपयुक्त हुए-हुए कल्याण को करनेवाले हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कैसे आचार्य?

स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः ।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः ॥ १२ ॥

(१) हम **स्वस्तये**=कल्याण के लिये **वायुम्**=वायुवत् क्रियाशील आचार्य को **उपब्रवामहै**=पुकारते हैं। **सोमम्**=सोम स्वभाववाले को अथवा 'स उमा' ब्रह्मविद्या से युक्त आचार्य को। यह आचार्य **स्वस्ति**=हमारे कल्याण के लिये हो, **यः**=जो **भुवनस्य पतिः**=ब्रह्माण्ड की सब विद्याओं का पति (master) है। (२) **बृहस्पतिम्**=इस वेदज्ञान के पति 'ब्रह्मणस्पति', **सर्वगणम्**= पूर्ण स्वस्थ गणोंवाले (whole स्वस्थ=सर्व) जिसके पञ्चभूत, पञ्चप्राण, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ व 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और हृदय' का पञ्चक सब स्वस्थ हैं, उस आचार्य को **स्वस्तये**-कल्याण के लिये पुकारते हैं। **आदित्यासः**='प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञान का आदान करनेवाले आदित्य विद्वान् **नः**=हमारे **स्वस्तये**=कल्याण के लिये **भवन्तु**=हों।

भावार्थ—आचार्य 'वायु, सोम, भुवनपति, बृहस्पति, सर्वगण व आदित्य' हों। ऐसे ही आचार्य राष्ट्र का कल्याण करते हैं।

सूचना—'भुवनपति' अपराविद्या के पति हैं, 'बृहस्पति' पराविद्या के पति हैं। आचार्य 'ज्ञान-विज्ञान' दोनों में निपुण होने ही चाहिएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कैसा जीवन?

विश्वे॑ दे॒वा नो॑ अ॒द्या स्व॒स्तये॑ वैश्वान॒रो वसु॑र॒ग्निः स्व॒स्तये॑।
दे॒वा अ॑वन्त्वृ॒भवः॑ स्व॒स्तये॑ स्व॒स्ति नो॑ रु॒द्रः पा॒त्वंह॑सः॥ १३॥

(१) **विश्वेदेवाः**=सब दिव्यगुण **अद्या**-आज **नः**=हमारे **स्वस्तये**-कल्याण के लिये हों। **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला **वसुः**-निवास को उत्तम बनानेवाला **अग्निः**-अग्नितत्त्व (जाठराग्नि) **स्वस्तये**-हमारे कल्याण के लिये हो। वैश्वानर अग्नि पाचन क्रिया को ठीक से करती हुई हमें नीरोग बनाती है और सब दिव्यगुण हमें मानस स्वास्थ्य प्राप्त कराते हैं। (२) **ऋभवः**=(ऋतेन भान्ति) सत्य ज्ञान से दीप्त होनेवाले **देवाः**-देववृत्ति के पुरुष **अवन्तु**-हमारा रक्षण करें और **स्वस्तये**=हमारे क्षेम के लिये हों। और अन्त में, **रुद्रः**=सब रोगों का द्रावण करनेवाला (रुत् द्र) अथवा पाप कर्मों का दण्ड देकर रुलानेवाला (रोदयति) प्रभु **नः**-हमारे लिये **स्वस्ति**=कल्याण करे। इस कल्याण के लिये वह हमें **अंहसः पातु**=सब कष्टों से बचाये।

भावार्थ—हमारे मनों में दिव्यगुण हों, शरीर में वैश्वानर अग्नि स्वास्थ्य का कारण बने। हमें ज्ञानी देव पुरुषों का सम्पर्क प्राप्त हो। रुद्ररूप में प्रभु का स्मरण पापों से बचाये।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'स्नेह निर्द्वेषता सुधन बल प्रकाश व स्वास्थ्य'

स्व॒स्ति मि॑त्रावरुणा स्व॒स्ति प॑थ्ये रेवति।
स्व॒स्ति न॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॑ स्व॒स्ति नो॑ अदिते कृधि॥ १४॥

(१) **मित्रावरुणा**-स्नेह व निर्द्वेषता (द्वेष निवारण) की देवताएँ **स्वस्तिः**-हमारा कल्याण करें। हम सबके प्रति स्नेहवाले हों और किसी से द्वेष न करें। हे **रेवति**-उत्तम ऐश्वर्यवाली **पथ्ये**=मार्ग की देवते! तू **स्वस्ति**=हमारा कल्याण कर। उत्तम मार्ग से धन को कमाते हुए हम अपना कल्याण सिद्ध करें। (२) **नः** हमारे लिये **इन्द्रः च**-बल की देवता **अग्निः च**=और प्रकाश की देवता **स्वस्ति**=कल्याण करे। हमारा जीवन बल व प्रकाश के समन्वयवाला हो। हे **अदिते**=स्वास्थ्य की देवते! तू **नः**=हमारे लिये **स्वस्ति कृधि**=कल्याण को कर। स्वस्थ पुरुष ही आनन्द का अनुभव कर पाता है।

भावार्थ—हम 'स्नेह, निर्द्वेषता, उत्तम मार्ग से धन प्राप्ति, बल प्रकाश व स्वास्थ्य' को प्राप्त करके आनन्दलाभ करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

नियमितता व सत्संग

स्व॒स्ति पन्था॒मनु॑ चरेम सूर्याचन्द्र॒मसा॑विव। पुन॒र्दद॒ताघ्न॑ता जान॒ता सं ग॑मेमहि॥ १५॥

(१) जीवन दो भागों में बटा हुआ है। शरीर संबद्ध जीवन 'भौतिक' जीवन है, आत्मसम्बद्ध जीवन ही अध्यात्म जीवन है। 'द्वौ इमौ (द्वा विमौ) पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च, क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते' क्षरांश से सम्बद्ध जीवन ही भौतिक जीवन है। इस जीवन में हम स्वस्ति पन्थां अनुचरेम=कल्याण के मार्ग का अनुसरण करें, **सूर्याचन्द्रमसौ इव**=सूर्य और चन्द्रमा की तरह सब भौतिक क्रियाओं को नियमित गति से करें। जैसे सूर्य और चन्द्रमा की गति पूर्ण ऋत को लिये हुए होती है, इसी प्रकार हमारी सब भौतिक क्रियाएं नियमित गति को लिये हुए हों।

यह नियमितता ही स्वास्थ्य का कारण बनती है। (२) अध्यात्म जीवन में उन्नति के लिये हम **पुनः**=फिर **संगमेमहि**=उन्हीं पुरुषों के संग में आएँ, जो **ददता**=देने की वृत्तिवाले हों, जिनमें कृपणता न हो, **अघ्नता**=जो शक्ति के मद में औरों का हनन न करते हों तथा **जानता**=ज्ञानी हों। दानी वैश्य, वीरता से रक्षण करनेवाले क्षत्रिय, तथा उत्कृष्ट ज्ञानी ब्राह्मण ही हमारे संगी-साथी हों। इनके संग में हम अपने जीवन को भी 'दान, उत्कृष्ट वीरता व ज्ञान' वाला बनाएँ।

भावार्थ—नियमितता हमारे भौतिक जीवन को स्वस्थ बनाये। उत्तम संग हमारे अध्यात्म जीवन को परिष्कृत करे।

इस स्वस्थ व सद्गुणोंवाले जीवन के लिये ही हम 'श्यावाश्व' बनें, गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले बनें। आत्रेय हों, 'काम-क्रोध-लोभ' से दूर। ऐसा बनने के लिये हम 'मरुतों' की, प्राणों की, साधना में प्रवृत्त हों—

५२. [द्विपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्राणसाधना व शत्रुधर्षण

प्र श्यावाश्व धृष्णुयार्चा मरुद्भिर्ऋक्वभिः। ये अद्रोघमनुष्वधं श्रवो मदन्ति यज्ञियाः ॥ १ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **श्यावाश्व**=गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तू **धृष्णुया**=शत्रुओं के धर्षण के दृष्टिकोण से **ऋक्वभिः**=इन स्तुति के योग्य **मरुद्भिः**=प्राणों से **प्र अर्चा**=खूब ही प्रभु की अर्चना करनेवाला बन। प्राणसाधना ही सब अध्यात्म उन्नति का मूल है, सो प्राण अतिशयेन स्तुत्य हैं। प्राणायाम के होने पर चित्तवृत्ति का निरोध होकर हम प्रभु के उपासक बन पाते हैं। यह उपासना हमारे सब अध्यात्म शत्रुओं का संहार करती हैं। (२) उन प्राणों से तू अर्चना करनेवाला बन, **ये**=जो प्राण **अद्रोघम्**=द्रोहशून्य **अनुष्वधम्**=आत्मधारण के अनुकूल **श्रवः**=ज्ञान को प्राप्त करके **मदन्ति**=आनन्द का लाभ करते हैं। अतएव जो प्राण **यज्ञियाः**=यज्ञिय हैं, आदरणीय हैं। प्राणसाधना से अशुद्धियों का क्षय होकर वह ज्ञान प्राप्त होता है, जो ज्ञान हमें द्रोहशून्य बनाता है तथा आत्मतत्त्व का धारण कराता है।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना के होने पर हमारे दोष दूर होते हैं, हिंसावृत्ति नष्ट होती है, हम आत्मतत्त्व की ओर झुकते हैं। इस प्रकार जीवन वास्तविक आनन्द को प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

स्थिरस्य शवसः सखायः

ते हि स्थिरस्य शवसः सखायः सन्ति धृष्णुया।
ते यामन्ना धृषद्विनस्त्मना पान्ति शश्वतः ॥ २ ॥

(१) **ते**=वे प्राण **हि**=निश्चय से **स्थिरस्य**=स्थिर **शवसः**=बल के **सखायः**=मित्र **सन्ति**=हैं। प्राणसाधना से सोमशक्ति का रक्षण होकर हमें स्थिर बल की प्राप्ति होती है। **धृष्णुया**=ये प्राण शत्रुधर्षण के दृष्टिकोण से हमारे लिये इस स्थिर बल को प्राप्त कराते हैं। (२) **ते**=वे प्राण **यामन्**=इस जीवनमार्ग में **आ**=समन्तात् **धृषद्विनः**=शत्रुओं को कुचलनेवाले होते हैं। ये **त्मना**=स्वयं ही **शश्वतः**=(शश प्लुतगतौ) क्रियाशील पुरुषों का **पान्ति**=रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से स्थिर बल की प्राप्ति होती है, जीवन-यात्रा में हमारे शत्रुओं का

धर्षण करते हुए ये प्राण हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'स्पन्द्रासः न उक्षणः' मरुतः

ते स्पन्द्रासो नोक्षणोऽति ष्कन्दन्ति शर्वरीः।
मरुतामधा महो दिवि क्षमा च मन्महे॥ ३॥

(१) **ते**=वे प्राण **न**=जैसे **स्पन्द्रासः**=शरीर में गतिवाले होते हैं, (स्पदि किञ्चिच्चलने) जितनी-जितनी इनकी गति सूक्ष्म होती है उतना-उतना ही ये **उक्षणः**=हमारे जीवनों में शक्ति का सेचन करनेवाले होते हैं। ये प्राण **शर्वरीः**=अन्धकार रूप रात्रियों को **अतिस्कन्दन्ति**=लाँघ जाते हैं, अर्थात् जीवन में से अन्धकार को दूर भगा देते हैं। (२) **अधा**=अब हम **मरुताम्**=इन प्राणों के **महः**=तेज को **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **च**=और **क्षमा**=इस शरीररूप पृथिवी में **मन्महे**=स्तुत करते हैं। इन प्राणों के कारण ही मस्तिष्क ज्ञान सूर्य से दीप्त हो उठता है और इन्हीं के कारण शरीर तेजस्विता से दृढ़ बन जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा प्राणों की गति सूक्ष्म होने पर सब अन्धकार दूर हो जाएगा। तब मस्तिष्क दीप्त बनेगा, शरीर शक्ति सिक्त होकर दृढ़ होगा।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

स्तोमं यज्ञं च धृष्णुया

मरुत्सु वो दधीमहि स्तोमं यज्ञं च धृष्णुया।
विश्वे ये मानुषा युगा पान्ति मर्त्यं रिषः॥ ४॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुम्हें हम **मरुत्सु**=इन प्राणों में **दधीमहि**=धारण करते हैं। ये प्राण ही तुम्हारी जीवन-यात्रा के मुख्य आधार हैं। इन प्राणों के शक्तिशाली होने पर **धृष्णुया**=शत्रुओं के धर्षण के द्वारा **स्तोमम्**=प्रभु स्तवन को **यज्ञं च**=और श्रेष्ठतम कर्मों को हम तुम्हारे अन्दर स्थापित करते हैं। (२) उन प्राणों में हम तुम्हें स्थापित करते हैं **ये**=जो **विश्वे मानुषा युगा**=सब मानुष युगों में, अर्थात् जीवन के 'प्रातः, मध्याह्न व तृतीय' सवन में, **मर्त्यम्**=मनुष्य को **रिषः पान्ति**=हिंसा से बचाते हैं। ये प्राण न तो रोगों से और नां ही वासनाओं से मनुष्य को हिंसित होने देते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर हम प्रभु स्तवन में व श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। ये प्राण मनुष्य को सदा रोगों व वासनाओं से हिंसित होने से बचाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्राणशक्ति के लिये प्रभु का अर्चन

अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामिशवसः।
प्र यज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भ्यः॥ ५॥

(१) **ये**=जो प्राण **अर्हन्तः**=पूजा के योग्य हैं, **सुदानवः**=सब उत्तमताओं को देनेवाले हैं अथवा अच्छी तरह (सु) बुराइयों को काटनेवाले हैं (दाप् लवने), **नरः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हैं, **असामिशवसः**=पूर्ण बलवाले हैं, **दिवः**=प्रकाशमय हैं, ज्ञान वृद्धि के कारणभूत हैं, उन **यज्ञियेभ्यः**=संगतिकरण योग्य **मरुद्भ्यः**=प्राणों के लिये **यज्ञम्**=उस उपासनीय प्रभु को

प्र अर्चा=प्रकर्षेण पूज। (२) यह प्रभु-पूजन तेरी प्राणशक्ति की वृद्धि का कारण होगा। बढ़ी हुई प्राणशक्ति तेरी सब प्रकार की उन्नति को सिद्ध करेगी।

भावार्थ—प्रभु अर्चना से हम प्राणशक्ति का वर्धन करें। ये हमें पूर्ण बल व ज्ञान प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उत्तम आयुधों की प्राप्ति

आ रुक्मैरा युधा नर ऋष्वा ऋष्टीरसृक्षत ।
अन्वेनाँ अह विद्युतो मरुतो जज्झतीरिव भानुरर्त त्मना दिवः ॥ ६ ॥

(१) **ऋष्वाः**=महान् ये मरुत (प्राण) **नरः**=हमें जीवन-यात्रा में आगे और आगे ले चलनेवाले हैं। ये मरुत् **रुक्मैः**=देदीप्यमान ज्ञान-ज्योतियों के द्वारा तथा **युधा**=रोगों के साथ युद्ध के द्वारा **ऋष्टीः**=आयुध विशेषों को, जीवन-यात्रा के लिये आवश्यक इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि रूप अस्त्रों को **आ असृक्षत**=सर्वत्र उत्पन्न करते हैं। प्राणसाधना के द्वारा ये अस्त्र शक्तिशाली व दीप्त बनते हैं। (२) **अह**=निश्चय से **एनान् मरुतः अनु**=इन प्राणों के अनुसार ही **जज्झतीः इव**=जलों की तरह, रेतःकणों की तरह **विद्युतः**=विशिष्ट दीप्तियाँ तथा **दिवः भानुः**=ज्ञान का प्रकाश **त्मना अर्त**=स्वयं प्राप्त होता है। प्राणसाधना के परिणामस्वरूप रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है तथा ज्ञानदीप्ति बढ़ती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' निर्दोष बनते हैं। रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होकर ज्ञानाग्नि दीप्त होती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

त्रिलोकी व नाड़ी संस्थान का स्वास्थ्य

ये वावृधन्त पार्थिवा य उरावन्तरिक्ष आ। वृजने वा नदीनां सधस्थे वा महो दिवः ॥ ७ ॥

(१) शरीर में प्राण ४९ भागों में विभक्त होकर विविध कार्यों को करते हैं। उनमें कई शरीररूप पृथिवीलोक में, कई अन्तरिक्ष स्थानीय हृदय में तथा कई मस्तिष्करूप द्युलोक में कार्य करते हैं। इनके अतिरिक्त कई नाड़ी संस्थान में गतिवाले होते हैं। इनमें **ये**=जो प्राण **पार्थिवाः**=शरीररूप पृथिवी में स्थित हैं वे **वावृधन्त**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त करते हैं। **ये**=जो **उरौ**=विशाल **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में हैं वे भी **आ** (आवृधन्त)=समन्तात् वृद्धि का कारण होते हैं। (२) **वा**=अथवा जो प्राण **नदीनाम्**=इस नाड़ी संस्थान के **वृजने**=बल के निमित्त होते हैं अथवा **महः दिवः**=महान् मस्तिष्क रूप द्युलोक के **सधस्थे**=उस प्रभु के साथ मिलकर बैठने के स्थान में होते हैं, वे प्राण (वावृधन्तः) खूब ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्राण ही इस शरीर की त्रिलोकी को शरीर, हृदय व मस्तिष्क को तथा नाड़ी संस्थान को ठीक रखते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'सत्यशवस्' मरुद्गण

शर्धो मारुतमुच्छंस सत्यशवसमृभ्वसम्। उत स्म ते शुभे नरः प्र स्पन्द्रा युजत त्मना ॥ ८ ॥

(१) हे मनुष्य! तू **मारुतम्**=प्राणसम्बन्धी **शर्धः**=बल का **उत् शंस**=उत्कर्षेण शंसन कर। यह प्राणों का बल **सत्यशवसम्**=सत्य के बलवाला है, मनों में सत्य का संचार करता है। प्राणसाधक असत्य नहीं बोलता। **ऋभ्वसम्**=यह बल महान् है अथवा ऋत से दीप्त होता है। यह

प्राणसाधक ऋतमय जीवनवाला होता है। (२) **उत**=और **ते**=वे **स्पन्द्राः**=शरीर में सूक्ष्म गतिवाले प्राण **शुभे**-शुभ कार्यों में **स्म**-निश्च से **प्र युजत**-प्रकर्षेण युक्त करते हैं और अन्ततः **त्मना**=आत्मा से हमारा योग करानेवाले होते हैं। 'शुभ्' शब्द का अर्थ 'दीप्ति, आनन्द व रेतःकणरूप जल' भी है। ये प्राण 'ज्ञानदीप्ति, नीरोगता के आनन्द व उर्ध्वरेतस्कता' को भी प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्राणों का बल हमें सत्यवादी व महान् बनाता है। ये प्रवण 'ज्ञानदीप्ति, आनन्द व ऊर्ध्वरेतस्कता' को प्राप्त कराके हमें प्रभु सम्पर्क को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

परुष्णी में स्नान

उत स्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः। उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा॥ ९॥

(१) **उत स्म**=और निश्चय से **ते**-वे प्राणसाधना करनेवाले मनुष्य **परुष्ण्याम्**=पालन व पूरण करनेवाली इस ज्ञान नदी में **शुन्ध्यवः** अपने जीवन का शोधन करनेवाले, निष्णात बननेवाले **ऊर्णाः**=आच्छादक कवचों को **वसत**-धारण करते हैं 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'। यह ज्ञानकवच उन्हें संसार की विषय वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देता। (२) ऐसी स्थिति में ये **मरुत्**=प्राणसाधक पुरुष **ओजसा**-ओजस्विता के द्वारा **रथानां पव्या**=इन शरीर रथों की पवि, नेमि व चक्र से **अद्रिं भिन्दन्ति**-पर्वत तुल्य दृढ़ शत्रुओं को भी विदीर्ण कर देते हैं। अर्थात् प्रबल रोगों के भी विनाशक होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके वह साधक परुष्णी (पालन व पूरण करनेवाली ज्ञान नदी) में स्नान करता है। इस स्नान से वह शुद्ध जीवनवाला बनता है। शरीर में ओजस्विता को धारण कराके प्रबल रोगों को भी विदीर्ण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'जीवन-यज्ञ के वाहक' प्राण

आपथयो विपथयोऽन्तस्पथा अनुपथाः। एतेभिर्मह्यं नामभिर्यज्ञं विष्टार ओहते॥ १०॥

(१) शरीर में प्राण विविध रूपों में गति कर रहे हैं। उनमें 'व्यान' 'सर्वशरीरग' कहलाता है। इन व्यान के प्रकार के मरुतों को यहाँ '**आपथयः**' समन्तात् पथवाले, शरीर में चारों ओर गतिवाले। 'उदान' विविध मार्गों से जीव को ले जाता है। इस उदान के प्रकार के मरुतों को '**विपथयः**' कहा है, विविध मार्गोंवाले। 'समान' वायु शरीर के अन्दर स्थित हुआ-हुआ समगति का कारण होता है, ये '**अन्तस्पथाः**' हैं, शरीर के मध्य में गतिवाले। 'प्राण और अपान' '**अनुपथाः**' कहे गये हैं, अनुकूल मार्गोंवाले। इनमें अपान शोधन करता है और प्राण शक्ति का संचार करता है। (२) **एनेभिः नामभिः**=इन नामों से प्रसिद्धि को प्राप्त हुए-हुए **विष्टारः**=विविध कार्यों को विस्तार करनेवाले मरुत् **मह्यम्**=मेरे लिये **यज्ञम्**=इस जीवन-यज्ञ को **ओहते**=वहन करते हैं।

भावार्थ—विविध रूपों में कार्यों को करते हुए ये मरुत्-प्राणभेद हमारे जीवन यज्ञ का वहन करते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

चित्रारूपाणि दर्श्या

अधा नरो न्योहतेऽधा नियुत ओहते। अधा पारावता इति चित्रा रूपाणि दर्श्या॥ ११॥

(१) **अध**=अब **नरः**=शरीर-यज्ञ का प्रणयन करनेवाले ये प्राण **नि ओहते**=निश्चय से जीवन भर का वहन करते हैं। **अधा**=और **नियुतः**=सब इन्द्रियाश्वों का **ओहते**=ये ही वहन करते हैं, सब इन्द्रियों में ये ही शक्ति का स्थापन करते हैं। (२) **अधा**=अब ये **पारावताः**=दूर दूर देश में ले जानेवाले होते हैं, इस शरीर को छोड़ने पर ये ही जीव को सुदूर देश में किसी अन्य शरीर में प्राप्त कराते हैं। 'उदान' वायु का तो कार्य यह ही माना गया है। **इति**=इस प्रकार इन प्राणों के **रूपाणि**=रूप **चित्रा**=अद्भुत हैं और **दर्श्या**=दर्शनीय हैं।

भावार्थ—प्राण हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले हैं, ये ही इन्द्रियों को शक्ति देते हैं, ये ही सुदूर देशों में ले जाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

न तायवः

छन्दः स्तुभः कुभन्यव उत्समा कीरिणो नृतुः।
ते मे के चित्र तायव ऊमा आसन्दृशि त्विषे॥ १२॥

(१) **छन्दः स्तुभः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा सब वासनारूप शत्रुओं को रोक देनेवाले (स्तुभ्=stop) **कुभन्यवः**=शरीर को शक्ति से सिक्त करनेवाले (कुभिरुन्दवकर्मा), **उत्सं कीरिणः**=स्तवन करनेवाले ये मरुत् उत्सम्=उस ज्ञान व आनन्द के स्रोत प्रभु को **आनृतुः**=हमारे जीवन में (आनीतवन्तः सा०) लाते हैं। हम इन मरुतों की कृपा से प्रभु का दर्शन करनेवाले होते हैं। (२) **ते**=वे प्राण **मे**=मेरे लिये **केचित्**=अवर्णनीय-अद्भुत **ऊमाः**=रक्षक हैं। **न तायवः**=ये चोर नहीं हैं, हमारे जीवन के प्रहरी हैं। ये प्राण **दृशि**=ज्ञान के निमित्त होते हैं, प्रभु दर्शन करानेवाले होते हैं तथा **त्विषे आसन्**=दीप्ति के लिये, तेजस्विता के लिये होते हैं।

भावार्थ—प्राण ज्ञान वृद्धि द्वारा वासनाओं को रोकते हैं। शरीर को ये शक्ति से सिक्त करते हैं। हमें स्तवन की वृत्तिवाला बनाते हैं। इस प्रकार ये हमें ज्ञानी व तेजस्वी बनानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्राणोपासना

य ऋष्वा ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति वेधसः। तमृषे मारुतं गणं नमस्या रमया गिरा॥ १३॥

(१) **ये**=जो मरुत (प्राण) **ऋष्वाः**=दर्शनीय है, **ऋष्टि विद्युतः**='इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप आयुधों से द्योतमान हैं, **कवयः**=क्रान्तदर्शी हैं तथा **वेधसः**=शरीर के अंग-प्रत्यंगों का सुन्दर निर्माण करनेवाले हैं, हे **ऋषे**=तत्त्वद्रष्टः पुरुष! **तं मारुतं गणम्**=उस प्राणों के गण को **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **रमया**=शरीर में क्रीडा करा और **नमस्य**=पूजित कर। (२) प्राणों की शक्ति अद्भुत है, वे अपनी शक्ति के कारण दर्शनीय हैं। ये 'इन्द्रिय, मन, बुद्धि' रूप आयुधों को विद्योतित करते हैं। बुद्धि को तीव्र बनाते हैं। सब अंगों की शक्ति के विधाता हैं। ज्ञान प्रधान जीवन बिताने से प्राणशक्ति का पोषण होता है। यही प्राणों का पूजन है। भोग-विलास का जीवन बिताना ही प्राणों का निरादर है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन दर्शनीय-सूक्ष्म बुद्धिवाला व पुष्ट अंगोंवाला बनता है। हम ज्ञान प्रधान जीवन बिताते हुए प्राणों का पोषण व पूजन करें।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

दाना-योषणा

अच्छ॑ ऋषे॒ मारु॑तं ग॒णं दा॒ना मि॒त्रं न यो॒षणा॑।
दि॒वो वा॑ धृष्णव॒ ओज॑सा स्तु॒ता धी॒भिरि॑षण्यत ॥ १४ ॥

(१) हे **ऋषे**-तत्त्वद्रष्टः पुरुष! **दाना**=दान के द्वारा, त्यागवृत्ति को अपनाने के द्वारा तथा **योषणा**-स्तुति के द्वारा **मित्रं न**=मित्र के समान **मारुतं गणम्**-इन प्राणों के समूह की **अच्छ**-ओर आनेवाला हो। हम प्राणों की आराधना करें। इस आराधना के लिये आवश्यक है कि (क) त्यागवृत्ति को अपनाएँ और (ख) प्रभु की स्तुतिवाले हों। (२) हे **दिवः**=प्रकाशमय **वा**=तथा **ओजसा धृष्णवः**=ओज से (बल से) शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्राणो! **स्तुताः**=स्तुति किये गये आप **धीभिः**=बुद्धियों के साथ **इषण्यत**=हमारे इस जीवन-यज्ञ में प्राप्त होवो।

भावार्थ—प्राणसाधना में त्यागवृत्ति व प्रभु-स्तवन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्तुति किये गये प्राण हमारे जीवन को प्रकाशमय-शत्रुधर्षणवाला तथा बुद्धि-सम्पन्न बनाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

दाना-नवक्षणा

नू म॑न्वा॒न ए॑षां दे॒वाँ अच्छा॒ न व॒क्षणा॑। दा॒ना स॑चेत सू॒रिभि॒र्याम॑श्रुतेभिर॒ञ्जिभिः॑ ॥ १५ ॥

(१) **नु**=अब **एषां**=इन प्राणों का **मन्वानः**=स्तवन करता हुआ **देवान् अच्छा**=दिव्य गुणों की ओर चलता है, प्राणस्तवन हमारे अन्दर दिव्य गुणों का वर्धन करता है। (२) **न वक्षणा**=(by not waxing in riches) धनों में न बढ़ते हुए, अपितु **दाना**=दानवृत्ति से, अर्थात् दानवृत्ति के द्वारा धनों का ढेर न लगाते हुए इन प्राणों के साथ **सचेत**=संगत हो। उन प्राणों के साथ जो **सूरिभिः**=विद्वान् हैं, हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाले हैं। **यामश्रुतेभिः**=अपने वेग के कारण प्रसिद्ध हैं, स्फूर्ति को पैदा करनेवाले हैं और **अञ्जिभिः**=हमारे जीवनों को दिव्यगुणों से अलंकृत करनेवाले हैं।

भावार्थ—दानवृत्ति व धनसंग्रह की वृत्ति का न होना प्राणसाधना में सहायक है। ये प्राण हमारे 'ज्ञान-वेग तथा सद्गुणालंकृति' का वर्धन करते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

गां, मातरं, पितरम्

प्र ये मे॑ बन्ध्वे॒षे गां वोच॑न्त सू॒रयः॒ पृश्निं॑ वोचन्त मा॒तर॑म्।
अधा॑ पि॒तर॑मि॒ष्मिणं॑ रु॒द्रं वो॑चन्त॒ शिक्व॑सः ॥ १६ ॥

(१) **ये**=जो प्राण **मे**=मेरे लिये **बन्धु एषे**=बन्धु उस मित्रभूत प्रभु के अन्वेषण के लिये **गाम्**=इस ज्ञान की वाणी का **प्रवोचन्त**=उपदेश करते हैं। जो प्राण हैं, वे **सूरयः**=ज्ञान को प्रेरित करनेवाले होते हुए इस **पृश्निम्**=ज्योतियों के स्पर्शवाली **मातरम्**=मातृभूत वेदवाणी का **प्रवोचन्त**-उपदेश करते हैं। (२) **अधा**=अब **शिक्वसः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले ये प्राण **इष्मिणम्**=हृदयस्थरूपेण प्रेरणा को देनेवाले **रुद्रम्**=सब रोगों के द्रावक उस प्रभु का जो **पितरम्**=हमारे रक्षक हैं, उनका **वोचन्त**=प्रतिपादन करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर हमारा ज्ञान बढ़ता है (गाम्), हमारा वेद माता से परिचय

होता है (मातरं), हम हृदयस्थ प्रेरक पिता प्रभु को जान पाते हैं (पितरं)। इस प्रकार ये प्राण हमारी शक्ति को बढ़ाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'गव्यं अश्वयं' राधः

सप्त मे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः।
यमुनायामधि श्रुतमुद्राधो गव्यं मृजे नि राधो अश्व्यं मृजे॥ १७॥

(१) शरीर में प्राण ४९ भागों में विभक्त होकर कार्य कर रहे हैं। ये **सप्त सप्त**=सात गुणा सात, अर्थात् ४९ प्राण **मे**=मेरे लिये **शाकिनः**=शक्ति का संचार करनेवाले हैं। **एकं एका**=इनमें से एक-एक **शता ददुः**=मेरे लिये सौ वर्ष के आयुष्य को देनेवाले होते हैं। सब प्राण ठीक हों, तभी सौ वर्ष का जीवन प्राप्त होता है। (२) **यमुनायां अधि**=संयम नदी के प्रवाह के होने पर, अर्थात् ठीक संयम के होने पर मैं **श्रुतम्**=ज्ञान को, जो **गव्यम्**=ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी **उद्राधः**=उत्कृष्ट धन है, **मृजे**=शुद्ध करता हूँ। प्राण संयम के होने पर ज्ञानाग्नि दीप्त होती ही है। मैं इस प्राण संयम के होने पर **अश्व्यं राधः**=कर्मेन्द्रिय सम्बन्धी ऐश्वर्य को भी **मृजे**=शुद्ध करता हूँ। अर्थात् प्राणसाधना से परिमार्जित हुई-हुई कर्मेन्द्रियाँ भी उत्कृष्ट कर्मोंवाली होती हैं।

भावार्थ—प्राण हमें शक्तिशाली बनाते हैं। शतवर्ष के जीवन को प्राप्त कराते हैं। ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को परिमार्जित कर ज्ञान व यज्ञों को प्राप्त कराते हैं।

अगला सूक्त भी इन्हीं मरुतों का उल्लेख करता है—

५३. [त्रिपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्राणायामैर्दहेद् दोषान्

को वेद जानमेषां को वा पुरा सुम्नेष्वास मरुताम्। यद्युयुज्रे किलास्यः॥ १॥

(१) **कः**=कोई विरला पुरुष ही **एषां जानं वेद**=इन प्राणों के प्रादुर्भाव व विकास को जानता है। अर्थात् विरला व्यक्ति ही प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं और प्राणशक्ति का विकास करते हैं। **वा**=अथवा **कः**=कोई ही **पुरा**=सब से प्रथम **मरुताम्**=इन प्राणों के **सुम्नेषु**=स्तवनों में **आस**=स्थित होता है। अर्थात् विरला व्यक्ति ही प्राणसाधना को सर्वप्राथमिकता देते हैं। सामान्यतः इस प्राणसाधना में प्रवृत्त ही नहीं होते और यदि कोई प्रवृत्त होते भी हैं, तो वे इस प्राणसाधना को सर्वमहत्त्वपूर्ण कार्य नहीं समझते। (२) **यद्**=जब कोई विरला पुरुष इस प्राणसाधना को महत्त्व देता है, तो **किलास्यः**=ये इन्द्रियरूप वडवायें (घोड़ियाँ) **युयुज्रे**=इस शरीर-रथ में जोती जाती हैं, कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ सदा ज्ञानप्राप्ति में लगी रहती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना में विरले ही मनुष्य प्रवृत्त होते हैं। जब प्रवृत्त होते हैं, तो उनके इन्द्रियाश्व यज्ञों व ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त रहते हैं। एवं प्राणायाम से इन्द्रियदोषों का दहन हो जाता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्राणों के गति-विज्ञान की चर्चा को सुनना

ऐतान्रथेषु तस्थुषः कः शुश्राव कथा ययुः।
कस्मै सस्रुः सुदासे अन्वापय इळाभिर्वृष्टयः सह॥ २॥

(१) **रथेषु**-शरीर रथों में **आतस्थुषः**=स्थित हुए-हुए **एतान्**-इन प्राणों को **कः शुश्राव**-कौन सुनता है? कोई विरले पुरुष ही इन प्राणों की कथा को सुनने का प्रयत्न करता है कि **कथा ययुः**=ये किस प्रकार शरीर में गति करते हैं? प्राणों के गति विज्ञान को समझकर ही इन प्राणों की साधना से कोई पुरुष उन्नति को प्राप्त होता है। (२) **सुदासे**=उत्तम दान की वृत्तिवाले अथवा (दसु उपक्षये) वासनाओं का क्षय करनेवाले पुरुष में **आपयः**=बन्धुभूत ये प्राण **इडाभिः सह** ज्ञान की वाणियों के साथ **वृष्टयः**-सुखों की वर्षा करनेवाले होते हुए **कस्मै**-उस आनन्दस्वरूप प्रभु की प्राप्ति के लिये **अनुसस्त्रुः**=अनुकूलता से गतिवाले होते हैं। प्राणसाधना ज्ञान को बढ़ाती है, नीरोगता के द्वारा आनन्द का कारण बनती है और हमें प्रभु की ओर ले चलती है।

भावार्थ—विरल पुरुष ही प्राणों के गति विज्ञान की बात को सुनता है। ये प्राण वासनाओं को विनष्ट करनेवाले पुरुष के लिये बन्धुभूत होते हैं, उसे ज्ञान व स्वास्थ्य का आनन्द प्राप्त कराते हैं और प्रभु की ओर ले चलते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्राण क्या कहते हैं?

ते म आहुर्य आययुरुप द्युभिर्विभिर्मदे। नरो मर्या अरेपस इमान्पश्यन्निति ष्टुहि ॥ ३ ॥

(१) **ये**-जो प्राण **द्युभिः**=ज्ञान-ज्योतियों के द्वारा तथा **विभिः**=गतिमय इन्द्रियाश्वों के द्वारा **मदे**-हमारे उल्लास के निमित्त **उपाययुः**=हमें समीपता से प्राप्त होते हैं, **ते**=वे प्राण **मे आहुः**=मुझे कहते हैं कि (क) **नरः**-ये प्राण आगे और आगे ले चलनेवाले हैं, (ख) **मर्याः**=मनुष्यों का हित करनेवाले हैं तथा (ग) **अरेपसः**=निर्दोष हैं, सब दोषों को हमारे जीवन से दूर करनेवाले हैं। **इमान्**=हम इन प्राणों को **इति पश्यन्**-इस प्रकार देखते हुए **स्तुहि**=स्तुत करें। प्राणों के इन गुणों का स्मरण करते हुए प्राणसाधना में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—प्राण हमें ज्ञान व उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराके आनन्दित करते हैं। ये हमें आगे ले चलनेवाले हैं, मनुष्यों का हित करनेवाले हैं तथा निर्दोष हैं।

उन प्राणों का स्तवन कर, जो—

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

हम ज्ञानवान का स्तवन करें

ये अञ्जिषु ये वाशीषु स्वभानवः स्त्रक्षु रुक्मेषु खादिषु। श्राया रथेषु धन्वसु ॥ ४ ॥

(१) **ये**=जो प्राण **अञ्जिषु**=(अञ्जू गतौ) यज्ञादि कर्मों की प्रवृत्तियों में **स्वभानवः**=आत्म दीप्तिवाले **श्रायाः**-आश्रयणीय होते हैं, उन प्राणों का तू स्तवन कर। **ये**-जो **वाशीषु**=ज्ञान की वाणियों में आश्रयणीय होते हैं उनका स्तवन कर। (२) **स्त्रक्षु**=(सृज्) निर्माणात्मक कार्यों में, **रुक्मेषु**-ज्ञान दीप्तियों में (रुच् दीप्तौ) तथा **खादिषु**=शस्त्रों में व वासनाओं को विनष्ट करने में **श्रायाः**-आश्रयणीय होते हैं। इनकी साधना से ही मनुष्य निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है, वह ज्ञान को दीप्त कर पाता है और शत्रुओं का विनाश करने में समर्थ होता है। ये प्राण **रथेषु**=इन शरीर रथों को उत्तम रखने के निमित्त आश्रयणीय होते हैं तथा **धन्वसु**='प्रणव' रूप धनुष को प्राप्त करने के निमित्त आश्रयणीय होते हैं। अर्थात् हमारे शरीरों को ठीक रखते हुए ये प्राण हमें प्रभु-प्रवण करते हैं।

भावार्थ—प्राण हमें गतिशील व ज्ञानदीप्त बनाते हैं। वे हमें निर्माणात्मक कार्यों में, ज्ञान प्राप्ति

में व वासनाविनाश में प्रवृत्त करते हैं। इनके कारण शरीर रथ दृढ़ बनता है और मनुष्य प्रभु के नाम का जप करनेवाला होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

मरुतः जीरदानवः

युष्माकं स्मा रथाँ अनु मुदे दधे मरुतो जीरदानवः। वृष्टी द्यावो यतीरिव॥ ५॥

(१) हे **जीरदानवः**=उत्तम जीवन का प्रदान करनेवाले प्राणो! **मुदे**=आनन्द प्राप्ति के लिये **युष्माकम्**=तुम्हारे **रथान्**=शरीर-रथों को **अनुदधे स्म**=अनुकूलता से धारण करता हूँ। (२) उन प्राणों को मैं धारण करता हूँ जो **वृष्टी** (वृष्ट्यां)=वृष्टि के होने के समय **यतीः द्यावः इव**=गतिशील ज्योतियों के समान हैं। वस्तुतः प्राणसाधन के होने पर आनन्द की वृष्टि होती है और साथ ही ज्ञानदीप्ति का प्रसार होता है।

भावार्थ—प्राण हमें जीवन देते हैं। प्राणसाधनावाला शरीर रथ हमारे आनन्द के लिये होता है। आनन्द की वृष्टि में वे प्राण ज्ञानदीप्ति का संचार करते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वृष्टिवाहक वायुएँ

आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्यवुः।
वि पर्जन्यं सृजन्ति रोदसी अनु धन्वना यन्ति वृष्टयः॥ ६॥

(१) आधिदैविक क्षेत्र में 'मरुतः' का अर्थ है 'वृष्टिप्रद वायुयें'। ये वृष्टिवाहक वायुयें **नरः**=मेघों को आगे और आगे ले चलनेवाली हैं। **सुदानवः**=ये वृष्टि द्वारा उत्तम अन्नादि पदार्थों को देनेवाली हैं। ये **ददाशुषे**=हवि को देनेवाले, यज्ञशील-प्रजावर्ग के लिये **यम्**=जिस **कोशम्**=जल के कोशभूत मेघ को **दिवः**=अन्तरिक्षलोक से **आचुच्यवुः**=क्षरित करते हैं, उस **पर्जन्यम्**=मेघ को **रोदसी**=द्यावापृथिवी की **अनु**=अनुकूलता से **विसृजन्ति**=उत्पन्न करते हैं। पृथिवीस्थ जल जब द्युलोकस्थ सूर्य की किरणों से वाष्पीभूत होकर ऊपर जाता है, तभी पर्जन्य का निर्माण होता है। उसी समय **धन्वना**=उदक के साथ **वृष्टयः**=वृष्टि को करनेवाले ये मरुत् **यन्ति**=गति करते हैं (गच्छता उदकेन सह वृष्टि प्रद मरुतो यन्ति सा०)। इन मरुतों से उस-उस स्थान में प्राप्त कराये गये ये मेघ वृष्टि को करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—मरुत्, अर्थात् वृष्टिवाहक वायुयें मेघों से वृष्टि को कराके यज्ञशील प्रजावर्ग के लिये उत्तम अन्नों को देनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

धेनवः यथा-अश्वाः इव

ततृदानाः सिन्धवः क्षोदसा रजः प्र सस्रुर्धेनवो यथा।
स्यन्ना अश्वाइवाध्वनो विमोचने वि यद्वर्तन्त एन्यः॥ ७॥

(१) **ततृदानाः**=मेघों का विदारण करते हुए **सिन्धवः**=वहनेवाले ये वृष्टिवाहक वायु **क्षोदसा**=उदक से, पानी से **रजः**=अन्तरिक्ष में **प्रसस्रुः**=गतिवाले होते हैं, अन्तरिक्ष में आगे और आगे बढ़ते हैं। यथा जैसे **धेनवः**=गौवें दूध के साथ बछड़े की ओर बढ़ती हैं। उस दूध से जैसे बछड़े का आप्यायन होता है, इसी प्रकार इन वृष्टिजलों से प्राणियों का आप्यायन होता है। (२)

स्यन्ना अश्वाः-शीघ्र गतिवाले अश्व **इव**=जैसे **अध्वनः विमोचने**=प्राणियों के मार्गविमोक के लिये, रास्ते को तय करने के लिये, होते हैं, इसी प्रकार **यद्**-जब **एन्यः**=नदियाँ **विवर्तन्ते**=विविध मार्गों में चलती हैं तो प्राणियों की जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिये होती हैं। मरुत् ही वृष्टि द्वारा इन नदियों को प्रवाहित करते हैं और इस प्रकार हमारी जीवन-यात्रा की पूर्ति करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—मरुतों से बरसाये गये वृष्टिजल हमारा आप्यायन करते हैं और नदियों के प्रवाहों से अन्नादि को देकर ये हमारी जीवन यात्रा को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'द्युलोक-अन्तरिक्षलोक व पृथिवीलोक'

आ यात मरुतो दिव आन्तरिक्षादमादुत। मावं स्थात परावतः ॥ ८ ॥

(१) हे **मरुतः**-प्राणो! **दिवः**=द्युलोक के हेतु से, मस्तिष्करूप द्युलोक को ठीक रखने के लिये **आयात**-प्राप्त होवो। प्राणसाधना से मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति होती ही है 'योगाङ्गानुष्ठानाद् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिः'। **अन्तरिक्षाद् आ** (यात)-इस हृदयान्तरिक्ष के हेतु से तुम प्राप्त होवो। प्राणसाधना ही दोषों का उपक्षय करता है। **उत**=और **अमात्**-इस हमारे गृहभूत पार्थिव शरीर के हेतु से तुम हमें प्राप्त होवो। इस शरीर में होनेवाले सब रोग कृमियों को प्राणों ने ही तो नष्ट करना है। (२) हे प्राणो! **परावतः**-दूरदेश में **मा अवस्थात** हमारे से परे मत ठहरो। अर्थात् हम सदा प्राणसाधना करनेवाले बनें। प्राणसाधना से हम दूर न हों।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे मस्तिष्क हृदय व शरीर तीनों को स्वस्थ बनायेगी।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

रसा-सिन्धु-सरयुः

मा वो रसानितभा कुभा क्रुमुर्मा वः सिन्धुर्नि रीरमत्।
मा वः परि ष्ठात्सरयुः पुरीषिण्यस्मे इत्सुम्नमस्तु वः ॥ ९ ॥

(१) हे मरुतो प्राणो! **वः**-तुम्हें यह **रसा**=अंग-प्रत्यंग में रसवाला, लोचलचकवाला, खूब स्वस्थ शरीर, जो **अनितभा**=(न+इत+भा) अप्राप्त ज्ञानदीप्तिवाला है अथवा **कुभा**=कुत्सित ज्ञानदीप्तिवाला अथवा अत्यल्प ज्ञानदीप्तिवाला है, वह शरीर **मा निरीरमत्**=मत आनन्दित करे। अर्थात् ये प्राण केवल शरीर को ही स्वस्थ बनानेवाले न हों। (२) **वः**=तुम्हें यह **क्रुमुः**=अत्यन्त श्रमशील इधर-उधर गतिवाला **सिन्धुः**=हृदयान्तरिक्ष भी **मा**=मत रोक ले। तुम केवल हृदय को ही निरुद्ध करने में न लगे रहो। (२) और हे प्राणो! यह **पुरीषिणी**-ज्ञान-जल से परिपूर्ण **सरयुः**=सब विषयों में गतिवाली, सब विषयों का ज्ञान देनेवाली, ज्ञान-नदी भी, बुद्धि भी **मा**=मत **वः**=तुम्हें **परिष्ठात्**-चारों ओर से घेर ले। अर्थात् तुम केवल बुद्धि के चारों ओर ही न लगे रहो। तुम्हारे द्वारा होनेवाला परिमार्जन का काम 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों को ही अपना विषय बनाएँ। तुम्हारी साधना से जहाँ शरीर स्वस्थ व नीरोग बने, वहाँ मन संयत व निर्दोष हो तथा बुद्धि ज्ञानजल से परिपूर्ण व सब विषयों में गतिवाली हो। इस प्रकार हे प्राणो! **अस्मे**-हमारे लिये **वः**=तुम्हारे से दिया जानेवाला **सुम्नम्**=आनन्द **अस्तु**-हो। हमारा जीवन त्रिविध उन्नति से पूर्ण आनन्द को प्राप्त करे।

भावार्थ—हमारी प्राणसाधना 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का व्यापन करती हुई हमें सुख व आनन्द प्राप्त कराये।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'स्वास्थ्य और इन्द्रिय दीप्ति' से प्राप्य आनन्द

तं वः शर्धं रथानां त्वेषं गणं मारुतं नव्यसीनाम्। अनु प्र यन्ति वृष्टयः ॥ १० ॥

(१) हे प्राणो! **वः**-आपके **नव्यसीनाम्**=स्तुति के योग्य (नु स्तुतौ) **रथानाम्**=शरीर-रथों के **तं मारुतं शर्धम्**=उस प्राण सम्बन्धी बल को तथा **त्वेषं गणम्**=दीप्त इन्द्रिय समूह को **अनु**-लक्ष्य करके, अर्थात् उसके अनुसार **वृष्टयः** आनन्द की वर्षाएँ **प्रयन्ति**-प्रकर्षेण प्राप्त होती हैं। (२) प्राणसाधना से शरीर-रथ सबल व दृढ़ बनता है तथा इन्द्रिय समूह खूब दीप्त होता है। ऐसी स्थिति में ही आनन्द की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीर शक्ति-सम्पन्न हो, इन्द्रियाँ दीप्त हों। तभी आनन्द होगा।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

शर्ध-व्रात-गण

शर्धंशर्धं व एषां व्रातंव्रातं गणंगणं सुशस्तिभिः। अनु क्रामेम धीतिभिः ॥ ११ ॥

(१) हम **एषाम्**=इन प्राणों के **शर्धं शर्धम्**=अंग-प्रत्यंग में होनेवाले उस-उस बल को **अनुक्रामेम**=अनुक्रमेण प्राप्त हों। इन प्राणों के द्वारा हमारे सब अंग सबल हो। (२) हम इन प्राणों के **व्रातं व्रातम्**-प्रत्येक व्रतसमूह को **सुशस्तिभिः**=उत्तम शंसनों स्तुतियों के साथ प्राप्त हों। प्रभु स्तवन करते हुए हम प्राणसाधना के द्वारा व्रतमय जीवनवाले हों। (३) **गणं गणम्**=प्रत्येक गण को (group) 'कर्मेन्द्रिय पञ्चक, ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, प्राण पञ्चक व अन्तःकरण पञ्चक' (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, हृदय) आदि गणों को **धीतिभिः**=उत्तम कर्मों के द्वारा (अनुक्रामेम) अनुकूलता से प्राप्त करें।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हमारा जीवन 'सबल, व्रती व उत्तम इन्द्रियादिगणोंवाला' हो।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आनन्दमय-उत्तम प्रादुर्भाववाला-त्यागमय जीवन

कस्मा अद्य सुजाताय रातहव्याय प्र ययुः। एना यामेन मरुतः ॥ १२ ॥

(१) गतमन्त्र में कहा था कि हम प्राणसाधना के द्वारा जहाँ बल को प्राप्त करते हैं, वहाँ हमारा जीवन व्रतमय होता है और हमारे इन्द्रियादि के गण उत्तम बनते हैं। **एना**=इस 'बल, व्रत व उत्तम इन्द्रिय आदि के गणोंवाले' **यामेन**=मार्ग से **मरुतः**=प्राण-प्राणसाधना करनेवाले पुरुष, **अद्य**=आज **कस्मै**=उस आनन्दस्वरूप, **सुजाताय**=उत्तम प्रादुर्भाववाले, **रातहव्याय**=सब हव्य पदार्थों को देनेवाले प्रभु के लिये **प्रययुः**=प्रकर्षेण गतिवाले होते हैं। (२) प्राणसाधना से अन्ततः 'विवेकख्याति' प्राप्त होती है, यह विवेकख्याति प्रभु-दर्शन का साधन बनती है।

भावार्थ—प्राण हमें आनन्दस्वरूप, उत्तम प्रादुर्भाववाले, हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभु की ओर ले चलते हैं। हमारे जीवनों को भी ये आनन्दमय, उत्तम प्रादुर्भाववाला व त्यागमय व यज्ञशील बनाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'विश्वायु सौभग' धन

येन तोकाय तनयाय धान्यं१ बीजं वहध्वे अक्षितम्।
अस्मभ्यं तद्धत्तन यद्व ईमहे राधो विश्वायु सौभगम्॥ १३॥

(१) हे मरुतो-प्राणो! आप **येन**=जिस धन के द्वारा **तोकाय तनयाय**=हमारे पुत्र पौत्रों के लिये **अक्षितम्**=न क्षीण होनेवाले **धान्यम्**=धान्य व **बीजम्**=बीजों को **वहध्वे**=प्राप्त कराते हो, **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **तत्**=उस **राधः**=धन को **धत्तन**=धारण करो। (२) **वः**=आपके **यद्**=जिस धन को **ईमहे**=हम माँगते हैं वह हमारे लिये **विश्वायु**=पूर्ण जीवन को प्राप्त करानेवाला हो, हमारे 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों को ठीक करनेवाला हो तथा **सौभगम्**=यह हमारे सौभाग्य का कारण हो। यह हमें उन धान्यों व बीजों को प्राप्त करने के सक्षम करे, जिनसे कि हमारे पुत्र-पौत्रों का धारण हो पाये।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें उस धन को प्राप्त करने के योग्य बनाये, जो हमारे लिये 'विश्वायु व सौभग' हो तथा परिवार पालन के लिये धान्य व बीज की कमी न होने दे।

सूचना—यहाँ 'धान्य बीज' शब्द का प्रयोग 'अमांसाहार' का स्पष्ट निर्देश कर रहा है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

अनिष्ट परिहार-इष्ट प्राप्ति

अतीयाम निदस्तिरः स्वस्तिभिर्हित्वावद्यमरातीः।
वृष्ट्वी शं योरापं उस्रि भेषजं स्याम मरुतः सह॥ १४॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! हम **अवद्यम्**=पापों को **अरातीः**=काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं को **हित्वा**=छोड़कर **स्वस्तिभिः**=कल्याणकर मार्गों से चलते हुए **तिरः**=अन्तर्हित रूप में प्राप्त, अन्दर ही अन्दर उत्पन्न हो जानेवाले, **निदः**=निन्दनीय भावों को **अनीयाम**=लाँघ जाएँ। प्राणसाधना द्वारा हम अशुभों का परिहार कर सकें। (२) **वृष्ट्वी**=प्राणसाधना से प्रेरित आनन्द की वर्षा के होने पर अथवा सर्वत्र शरीर में शक्ति का सेचन होने पर **शम्**=शान्ति को, **योः**=भयों के यावन को, **आपः**=रेतःकणों को **उस्रि**=प्रकाश की किरणों को व **भेषजम्**=रोगनिवारक परम औषध को (वीर्य को) **सह स्याम**=साथ-साथ प्राप्त हों। ये शान्ति आदि इष्ट बातें हमें मिलें।

भावार्थ—प्राणसाधना से अनिष्ट परिहार व इष्ट प्राप्ति होती है, सब निन्दनीय दूर होकर प्रशंसनीय प्राप्त होता है। अशुभ से दूर शुभ के हम समीप होते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

सुदेवः सुवीरः

सुदेवः समहासति सुवीरो नरो मरुतः स मर्त्यः। यं त्रायध्वे स्याम ते॥ १५॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **यं त्रायध्वे**=आप जिसका रक्षण करते हैं, **ते स्याम**=हम वे बनें। अर्थात् हम सदा प्राणसाधना करते हुए इन प्राणों के द्वारा रक्षणीय हों। (२) हे **नरः**=हमें उन्नति-पथ पर ले चलनेवाले मनुष्यो! **स मर्त्यः**=आप से रक्षणीय मनुष्य **सुदेवः**=उत्तम देववृत्तिवाला, **समह**=तेजस्विता से सम्पन्न ('समह' में विभक्ति का लुक् है) व **सुवीरः**=उत्तम वीर **असति**=होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना करनेवाला प्राणों से रक्षित पुरुष 'उत्तम देव' व तेजस्विता सम्पन्न 'सुवीर' बनता है। प्राण शरीर को नीरोग बनाकर साधक को 'वीर' बनाते हैं। मन को नीरोग बनाकर उसे 'सुदेव' बनाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

पूर्व सखा

स्तुहि भोजान्त्स्तुवतो अस्य यामनि रणन्गावो न यवसे।
यतः पूर्वाँइव सखीँरनु ह्वय गिरा गृणीहि कामिनः॥ १६ ॥

(१) इन **भोजान्**=पालन करनेवाले, शरीर, मन व बुद्धि का रक्षण करनेवाले तथा **स्तुवतः**=प्रभु का स्तवन करनेवाले प्रभु की ओर हमारा झुकाव करनेवाले, प्राणों का **स्तुहि**=प्रशंसन करो। इन प्राणों की महिमा का स्मरण करो। **अस्य**=इस प्राणगण के **यामनि**=मार्ग में **गावः रणन्**=ज्ञान की वाणियाँ रमण करती हैं **न**=जैसे गौवें **यवसे**=घास में रमण करती हैं। प्राणसाधक के जीवन में ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। (२) **यतः**=इन गतिशील मरुतों को **पूर्वान्**=पालन व पूरण करनेवाले **सखीन् इव**=मित्रों के समान **अनु ह्वयः**=पुकार से प्राण ही सर्वप्रथम मित्र हैं। इन **कामिनः**=सदा भला चाहनेवाले प्राणों को **गिरा**=इन ज्ञानवाणियों से **गृणीहि**=स्तुत कर। प्राणसाधना करते हुए हम ज्ञान को बढ़ायें, इस ज्ञान को देकर ही ये प्राण हमारा उत्कृष्ट हित करते हैं।

भावार्थ—प्राण (क) हमारा पालन करते हैं, (ख) हमें प्रभु स्तवन की ओर झुकाते हैं, (ग) हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं। एवं ये प्राण ही हमारे सर्वप्रथम मित्र हैं।

अगले सूक्त में भी श्यावाश्व मरुतों का आराधन करता है—

५४. [चतुःपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'मरुत शर्ध' का स्तवन

प्र शर्धाय मारुताय स्वभानव इमां वाचमनजा पर्वतच्युते।
घर्मस्तुभे दिव आ पृष्ठयज्वने द्युम्नश्रवसे महि नृम्णमर्चत॥ १ ॥

(१) **मारुताय**=प्राण-सम्बन्धी **शर्धाय**=बल के लिये **इमां वाचम्**=इस स्तुतिवाणी को **प्र अनज**=प्रकर्षेण प्राप्त कराओ जो मारुत बल **स्वभानवे**=आत्म दीप्तिवाला है और **पर्वतच्युते**=अविद्या पर्वत को विनष्ट करनेवाला है। (२) उस प्राणों के बल के लिये तुम स्तवन करो जो **घर्मस्तुभे**=शरीर में गर्मी को, उचित शक्ति की उष्णता को, थामनेवाला है और **दिवः**=ज्ञान के द्वारा **पृष्ठयज्वने**=यज्ञशील पुरुषों के लिये पृष्ठ (back bone) के समान बनते हैं। ये प्राणसाधना करनेवाले पुरुष यज्ञशील होते हैं, भोगवृत्ति से दूर होकर ये यज्ञियवृत्तिवाले होते हैं। (३) **द्युम्नश्रवसे**=देदीप्यमान ज्ञान के प्रकाश की प्राप्ति के लिये **महि नृम्णम्**=प्राणों के इस महान् बल की **अर्चत**=अर्चना करो। प्राण-सम्बन्धी बल बुद्धि को सूक्ष्म बनायेगा और देदीप्यमान ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करायेगा।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) आत्मज्ञान की दीप्ति प्राप्त होती है, (ख) अविद्या नष्ट होती है, (ग) शरीर में शक्ति का उचित संरक्षण होता है, (घ) जीवन यज्ञमय बनता है और (ङ) देदीप्यमान ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'वयोवृधः-अश्वयुजः' मरुतः

प्र वो मरुतस्तविषा उदन्यवो वयोवृधो अश्वयुजः परिज्रयः।
सं विद्युता दधति वाशति त्रितः स्वरन्त्यापोऽवना परिज्रयः॥ २ ॥

(१) हे **मरुतः**-प्राणो! **वः**=तुम्हारे **तविषाः**-बल **उदन्यवः**-इन रेतःकण रूप जलों की कामनावाले होते हैं प्राणसाधना से इन रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है। ये रेतःकणों के रक्षण के द्वारा **वयोवृधः**-आयुष्य को बढ़ानेवाले हैं। **अश्वयुजः**-इन्द्रियाश्वों को शरीर रथ में जोतनेवाले हैं, अर्थात् हमें सदा क्रियाशील बनानेवाले हैं और **परिज्रयः** उन उन कार्यों में चारों ओर गतिवाले होते हैं। (२) ये प्राणों को बल **प्र विद्युता** विशिष्ट ज्ञानदीप्ति के साथ **संदधति**-हमारा मेल करते हैं। इन प्राणों के बल से ही **आपः**-रेतःकण (आपः रेतो भूत्वा०) **अवना**=इस शरीरूप पृथिवी में **परिज्रयः**=परितः गतिवाले होते हैं और **स्वरन्ति**=रोगकृमिरूप शत्रुओं का संहार करते हैं (स्वृ to kill)। इन प्राणों के बल से ही **चितः**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का विकास करनेवाला यह प्राणसाधक पुरुष **वाशति**=प्रभु को पुकारता है (to call), प्रभु का स्तवन करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में शक्तिकणों का रक्षण होता है, आयुष्य की वृद्धि होती है, गतिशीलता आती है, ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'रभसा उदोजसः' मरुतः

विद्युन्महसो नरो अश्मदिद्यवो वातत्विषो मरुतः पर्वतच्युतः।
अब्दया चिन्मुहुरा ह्रादुनीवृतः स्तनयदमा रभसा उदोजसः॥ ३॥

(१) हे **मरुतः**-प्राण **विद्युन्महसः**-अत्यन्त दीप्त तेजवाले हैं, **नरः**-हमें तेजस्विता के द्वारा उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हैं। **अश्मदिद्यवः**-पाषाणवत् दृढ़ आयुधोंवाले हैं, 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप जीवन-संग्राम के आयुधों को दृढ़ बनानेवाले हैं। **वातत्विषः**-प्राप्त दीप्तिवाले हैं और **पर्वतच्युतः**=अविद्या पर्वत को विनष्ट करनेवाले हैं। (२) **अब्दया चित्**=(अप् दा) ये प्राण निश्चय से रेतःकणरूप जलों को देनेवाले हैं। इन रेतःकणों के द्वारा ही **ह्रादुनीवृतः**=ज्ञान की वाणीरूप अशनियों के प्रवर्तक हैं। रेतःकण ही तो ज्ञानाग्नि के ईंधन बनते हैं। **स्तनयदमाः**=(अम-बल) गर्जना करते हुए बलवाले हैं। इन प्राणों के द्वारा मनुष्य शक्ति-सम्पन्न बनता है और प्रभु-स्तवन करता है। **रभसाः**=ये प्राण राभस्यवाले, वेगयुक्त बलवाले व **उदोजसः**=उत्कृष्ट ओजस्वी हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें ज्ञान, बल व वेग को बढ़ाकर उन्नतिपथ पर ले चलती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'रुद्राः शिक्वसः' मरुतः

व्य१क्तून्रुद्रा व्यहानि शिक्वसो व्य१न्तरिक्षं वि रजांसि धूतयः।
वि यदज्राँ अजथ नाव ईं यथा वि दुर्गाणि मरुतो नाह रिष्यथ॥ ४॥

(१) **रुद्राः**-(रुत् द्र) रोगों का द्रावण करनेवाले (मरुत्) प्राणो! **अक्तून्**=रात्रियों में **वि अजथ**=विशिष्ट गतिवाले होते हो। **अहानि**=दिनों में भी **वि** (अजथ)=विशिष्ट गतिवाले होते हो। ये प्राण दिन-रात चलते हैं। हे **शिक्वसः**=शक्तिशाली प्राणो! **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष में **वि**-विशिष्ट गतिवाले होते हो। **रजांसि**=(gloom darkness) अन्धकारों को **विधूतयः**-कम्पित करके दूर करनेवाले हो। (२) हे **मरुतः**=प्राणो! **यत्**-जब **अज्रान्**=शरीर रूप क्षेत्रों में **वि** (अजथ)-गतिवाले होते हो **यथा**-जैसे **नावः**-नौकाएँ **ईम्**-निश्चय से समुद्र में गतिवाली होती हैं, तो **दुर्गाणि**-सब दुर्गों व कष्टों को **वि** (अजथ)=दूर करते हो और **अह**-निश्चय से **न रिष्यथ**=हिंसित नहीं होते हो।

भावार्थ—प्राण दिन-रात गतिवाले होते हुए अन्धकार को दूर करते हैं। शरीर क्षेत्रों में गति करते हुए ये प्राण सब कष्टों को दूर करते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

एताः न यामे (गति में मृगों के समान)

तद्वीर्यं वो मरुतो महित्वनं दीर्घं ततान सूर्यो न योजनम्।
एता न यामे अगृभीतशोचिषोऽनश्वदां यन्न्ययातना गिरिम्॥ ५॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=आपका **तद्**=वह **वीर्यम्**=वीर्य **महित्वनम्**=अतिशयित महिमावाला है। **सूर्यः न**=सूर्य की तरह वह वीर्य **दीर्घं ततान**=बहुत अधिक विस्तारवाला होता है। **योजनम्**=यह वीर्य ही सब इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में जोतनेवाला है। (२) तुम्हारे इस वीर्य से ही ये इन्द्रियाश्व **यामे**=गमन में **एताः न**=मृगों के समान होते हैं, मृगों की तरह स्फूर्तिवाले होते हैं। **अगृभीतशोचिषः**=इन इन्द्रियरूप अश्वों की दीप्ति विषय-वासनाओं से निगृहीत नहीं होती। यह सब होता तब है **यद्**=जब कि **अनश्वदाम्**=इन्द्रियरूप अश्वों को न प्राप्त करानेवाले **गिरिम्**=अविद्यापर्वत को **नि अयातन**=आप निहत (विनष्ट) करते हो। प्राणसाधना से अविद्या विनष्ट होती है। इस अविद्यानाश से इन्द्रियाँ विषय-व्यासक्त न होकर अपने-अपने कार्यों में लगती हैं और अपनी तेजस्विता को खोती नहीं।

भावार्थ—प्राणों की शक्ति की महिमा से ही अविद्या का नाश होकर इन्द्रियाश्वों की स्फूर्ति व दीप्ति बनी रहती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वासना-विनाश व प्रभु-प्राप्ति

अभ्राजि शर्धो मरुतो यदर्णसं मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः।
अध स्मा नो अरमतिं सजोषसश्चक्षुरिव यन्तमनु नेषथा सुगम्॥ ६॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! आपका **शर्धः**=बल **अभ्राजि**=दीप्त हो उठता है, **यत्**=जब **अर्णसम्**=समुद्र को, 'कामो हि समुद्रः०' इस काम (वासना) रूप समुद्र को **मोषथा**=नष्ट कर डालते हो, चुरा लेते हो। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **कपना**=घुण आदि कृमि **वृक्षम्**=वृक्ष को खोखला कर देते हैं। प्राणसाधना से वासना उसी प्रकार जीर्ण हो जाती है, जैसे कि घुणों से वृक्ष। (२) हे **वेधसः**=हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले प्राणो! **अध**=अब **स्म**=निश्चय से **नः**=हमारे लिये **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए तुम **चक्षुः इव**=आँख की तरह **अरमतिं यन्तम्**=उस (अ-रमति) अनासक्त (असक्तं सर्वभृच्चैव) सबका धारण करते हुए भी, इस सब में न फँसे हुए, प्रभु की ओर जाते हुए **सुगम्**=शोभन मार्ग को **अनुनेषथ**=अनुकूलता से प्राप्त कराओ। प्राणसाधना से हम निर्दोष जीवनवाले बनकर प्रभु की ओर चलें और प्रभु का दर्शन करनेवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से वासना का विनाश होता है और प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋषि व राजा

न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति।
नास्य राय उप दस्यन्ति नोतय ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ॥ ७॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! आप **यम्**=जिस भी **ऋषिं वा**=तत्त्वद्रष्टा-ज्ञानी ब्राह्मण को अथवा **राजानं वा**=अपने जीवन का संयम करनेवाले तेजस्वी क्षत्रिय को **सुषूदथ**=उत्तम मार्ग पर प्रेरित करते हो **सः**=वह **न जीयते**=वासनाओं से पराजित नहीं होता और अतएव **न हन्यते**=नष्ट नहीं होता। (२) यह प्राणसाधना में तत्पर 'ऋषि व राजा' मस्तिष्क के दृष्टिकोण से ऋषि, तथा शरीर के दृष्टिकोण से राजा, ज्ञानी तेजस्वी पुरुष **न सेधति**=नष्ट जीवनवाला नहीं होता **न कथते**=अतएव रोग आदि से पीड़ित नहीं होता और **न रिष्यति**=विनाश की ओर नहीं जाता।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'ऋषि व राजा', तत्त्वद्रष्टा व तेजस्वी बनते हैं। उस समय हम न वासनाओं से पराजित होते हैं, नां ही रोगों से आक्रान्त।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नियुत्वन्तः-ग्रामजितः

नियुत्वन्तो ग्रामजितो यथा नरोऽर्यमणो न मरुतः कवन्धिनः।
पिन्वन्त्युत्सं यदिनासो अस्वरन्व्युन्दन्ति पृथिवीं मध्वो अन्धसा॥ ८॥

(१) **मरुतः**=प्राण **नियुत्वन्तः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले हैं, इन्द्रियों के दोषों को दग्ध करके ये उन्हें उत्तम बनाते हैं। **ग्रामजितः**=ये इन्द्रिय समूह को जीतनेवाले हैं। प्राणसाधक पुरुष जितेन्द्रिय बनता है। ये प्राण **अर्यमणः न नरः**=(अरीन् यच्छति) शत्रु विजेता मनुष्यों के समान **यथा**=जिस प्रकार **कवन्धिनः**=(क-बन्ध्) रेतःकणरूप जलों को शरीर में बाँधनेवाले हैं। उसी प्रकार उस **पिन्वन्ति**=ये हमारे ज्ञानस्रोत को परिपूर्ण करनेवाले होते हैं। रेतःकणों के रक्षण के अनुपात में ही ज्ञान स्रोत का वर्धन होता है। (२) **यत्**=जब **इनासः**=इन्द्रियादि के स्वामी होते हुए ये प्राण **अस्वरन्**=प्रभु-स्तवन करनेवाले बनते हैं, अर्थात् जब प्राणसाधना से हमारी वृत्ति प्रभु स्तवन की बनती है, तब **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **मध्वः**=इस सारभूत सोम के **अन्धसा**=भोजन से **व्युन्दन्ति**=विरोधरूप से सिक्त कर देते हैं। प्राणसाधना से प्रभु की ओर झुकाव होता है और उससे शरीर में सोम का सर्वत्र सेचन होता है। वासना-विनाश के द्वारा सोम शरीर में ही सुरक्षित रहता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ निर्दोष बनती हैं, पुरुष जितेन्द्रिय बनकर प्रभु स्तवन की ओर झुकता है और सोम का रक्षण कर पाता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रवत्वती

प्रवत्वतीयं पृथिवी मरुद्भ्यः प्रवत्वती द्यौर्भवति प्रयद्भ्यः।
प्रवत्वतीः पथ्या अन्तरिक्ष्याः प्रवत्वन्तः पर्वता जीरदानवः॥ ९॥

(१) **इयं पृथिवी**=यह पृथिवीरूप शरीर **मरुद्भ्यः**=इन प्राणों के लिये **प्रवत्वती**=(elevation) उत्कर्षवाला होता है। प्राणसाधना के होने पर शरीर बड़ा स्वस्थ व सबल हो जाता है। इन **प्रयद्भ्यः**=प्रकृष्ट गतिवाले प्राणों के लिये **द्यौः**=मस्तिष्करूप द्युलोक भी **प्रवत्वती**=उत्कर्षवाला होता है। प्राणसाधना से मस्तिष्क भी खूब शक्तिशाली बनता है और उत्कृष्ट ज्ञान से परिपूर्ण होता है। (२) **अन्तरिक्ष्यः पथ्याः**=हृदयान्तरिक्ष के मार्ग भी इन प्राणों के लिये **प्रवत्वतीः**=उत्कर्षवाले हों। प्राणसाधना से हृदय के अन्दर कोई अशुभ भाव उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार ये **मरुत्**=प्राण हमारे लिये **प्रवत्वन्तः**=उत्कर्षवाले हों, हमें उन्नत स्थिति में प्राप्त करायें, **पर्वताः**=ये हमारा पूरण

करनेवाले हों तथा **जीरदानवः**=(क्षिप्रदानाः) शीघ्रता से सब वसुओं के देनेवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर, मस्तिष्क व हृदय सब उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं। ये प्राण उत्कर्ष को प्राप्त कराते हुए हमारा पूरण करते हैं और शीघ्रता से सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अध्वनः पारं अश्नुथ

यन्म॑रुतः सभरसः स्वर्णरः सूर्य॒ उदि॑ते॒ मद॑था दिवो नरः।

न वोऽश्वाः श्रथय॒न्ताह सिस्र॑तः स॒द्यो अ॒स्याध्व॑नः पा॒रम॑श्नुथ॥ १०॥

(१) **यत्**=जब हे **मरुतः**=प्राणो! **सभरसः**=बल से युक्त **स्वर्णरः**=प्रकाश की ओर ले चलनेवाले तुम **सूर्ये उदिते**=ज्ञान सूर्य के उदय होने पर **मदथा**=सोमपान के आनन्द का अनुभव करते हो। अर्थात् प्राणसाधना के होने पर शरीर सबल बनता है, मस्तिष्क प्रकाशमय। उस समय शरीर में शक्ति की ऊर्ध्व गति होकर जीवन उल्लासमय बनता है। हे प्राणो! आप **दिवः**=प्रकाशमय हो, **नरः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हो। (२) हे प्राणो! **वः**=तुम्हारे **अश्वाः**=ये इन्द्रियरूप अश्व **न श्रथयन्त**=ढीले नहीं पड़ते हैं, **अह**=निश्चय से **सिस्रतः**=(सरन्तः) ये सदा गतिवाले होते हैं। इस प्रकार हे प्राणो! तुम **सद्यः**=शीघ्र **अस्य अध्वनः**=इस मार्ग के **पारं अश्नुथ**=पार को प्राप्त कराते हो। प्राणसाधना के द्वारा जीवन-यात्रा ठीक से पूरी होती है।

भावार्थ—प्राण शरीर में बल को व मस्तिष्क में ज्ञान को प्राप्त कराते हुए हमें निरन्तर क्रियाशील बनाते हैं और जीवन-यात्रा को सफलता से पूर्ण कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वीर सैनिक

अंसे॑षु व ऋ॒ष्टयः॑ प॒त्सु खा॒दयो॒ वक्षः॑सु रु॒क्मा म॑रुतो॒ रथे॒ शुभः॑।

अ॒ग्निभ्रा॑जसो वि॒द्युतो॒ गभ॑स्त्योः॒ शिप्राः॑ शी॒र्षसु॒ वित॑ता हि॒रण्ययीः॑॥ ११॥

(१) '**मरुत्**' का आधिभौतिक अर्थ सैनिक है। उसका चित्रण करते हुए कहते हैं कि **वः**=तुम्हारे **अंसेषु**=कन्धों पर **ऋष्टयः**=आयुधविशेष हैं, **पत्सु**=पाँवों में **खादयः**=कटक हैं, **वक्षः सु**=छातियों पर **रुक्मा**=स्वर्ण के देदीप्यमान हार हैं। हे प्राणो! इस प्रकार तुम **रथे शुभः**=इन शरीर-रथों में शोभावाले हो। (२) **अग्निभ्राजसः**=अग्नि के समान दीप्तिवाले, **गभस्त्योः**= बाहुओं में **विद्युतः**=विशेषरूप से दीप्त होनेवाले हो। **शीर्षसु**=तुम्हारे सिरों पर **हिरण्ययीः**=स्वर्ण की बने हुए **शिप्राः**=सिरस्त्राण **वितताः**=विस्तृत हैं। इस प्रकार वीरवेश में सुसज्जित यह सैनिक देशरक्षा के लिये मर जाता है पर पीठ नहीं दिखाता सो सदा मरुत् है।

भावार्थ—अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सैनिक देशरक्षा के लिये प्राणों को छोड़ता हुआ सचमुच '**मरुत्**' है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अगृभीतशोचिषं नाकं, रुशत् पिप्पलम्

तं नाक॑म॒र्यो अगृ॑भीतशोचिषं॒ रुश॒त्पिप्प॑लं मरुतो॒ वि धू॑नुथ।

सम॑च्यन्त वृ॒जनाति॑त्विषन्त॒ यत्स्वर॑न्ति॒ घोषं॒ वित॑तमृता॒यवः॑॥ १२॥

(१) हे **अर्यः**=(अभिगन्तारः) शत्रुओं (रोगों व वासनाओं) पर आक्रमण करनेवाले

मरुतः-प्राणो! आप **तम्**-उस **अगृभीतशोचिषम्**-(अगृहीततेजस्कं) जिसकी दीप्ति का निग्रह नहीं होता उस **नाकम्**-(आदित्यं) ज्ञान के सूर्य को तथा **रुषत् पिप्पलम्**-देदीप्यमान रेतःकणरूप जल को **विधूनुथ**-(विविधं चालयथ) शरीर के अंग-प्रत्यंग में गतिवाला करते हो। प्राणसाधना से मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान सूर्य का उदय होता है और शरीर के अंग प्रत्यंगों में सुरक्षित रेतःकणों की शक्ति कार्य करती है। (२) उस समय **वृजना**=सब बल **सं अच्यन्त** संगत होते हैं, **अतित्विषन्त**-ज्ञान दीप्तियाँ चमक उठती हैं, **यत्**=जब कि **ऋतायवः**-यज्ञों की कामनावाले पुरुष **विततं घोषम्** विस्तृत स्तुति का **स्वरन्ति**-उच्चारण करते हैं। जीवन में यज्ञशील बनकर सदा प्रभु स्तवन की वृत्तिवाला बनना ही वह मार्ग है जिससे कि सोम का रक्षण हो पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा यज्ञ व स्तुति का अपनाने से सोम का रक्षण होता है। उससे जहाँ ज्ञान दीप्त होता है, वहाँ अंग प्रत्यंग शक्तिशाली बनता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ज्ञान व आयुष्य' का वर्धक धन

युष्मादत्तस्य मरुतो विचेतसो रायः स्याम रथ्यो३ वयस्वतः।
न यो युच्छति तिष्यो३ यथा दिवो३ऽस्मे रारन्त मरुतः सहस्रिणम्॥ १३॥

(१) हे **मरुतः**-प्राणो! हम **रथ्यः**-शरीर रथ के स्वामी होते हुए **युष्मादत्तस्य**=आपसे **मरुतः सहस्रिणम्**-दिये हुए **विचेतसः**-विशिष्ट ज्ञानवाले तथा **वयस्वतः**=उत्कृष्ट आयुष्यवाले **रायः** धन के **स्याम**-स्वामी हों। प्राणसाधना द्वारा वह धन हमें प्राप्त हो जो हमें उत्कृष्ट ज्ञान व उत्कृष्ट आयुष्य प्राप्त कराने में सहायक होता है। (२) हम उस धन के स्वामी हो **यः**-जो उसी प्रकार हमारे से **न युच्छति**=च्युत नहीं होता है, **यथा**-जैसे कि **दिवः**-आकाश से **तिष्यः**-आदित्य। हे **मरुतः**=प्राणो! **अस्मे**-हमारे में **सहस्रिणम्**-सहस्र संख्याक धन को **रारन्त**-(रमयत) रमणवाला करो। हम खूब ही धन का पोषण करते हुए ज्ञान व आयुष्य का वर्धन करें।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष ज्ञान व आयुष्य के वर्धक ज्ञान को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सामविप्र-ऋषि

यूयं रयिं मरुतः स्पार्हवीरं यूयमृषिमवथ सामविप्रम्।
यूयमर्वन्तं भरताय वाजं यूयं धत्थ राजानं श्रुष्टिमन्तम्॥ १४॥

(१) हे **मरुतः**-प्राणो! **यूयम्**-तुम **स्पार्हवीरम्**=स्पृहणीय वीर पुत्रोंवाले **रयिम्**-धन को **अवथ**-हमारे में सुरक्षित करते हो। प्राणसाधना द्वारा वह धन प्राप्त होता है जो वीर पुत्रों से युक्त होता है। **यूयम्**-तुम **सामविप्रम्** उपासना द्वारा व शान्तिपूर्वक विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले **ऋषि**-तत्त्वद्रष्टा को **अवथ** रक्षित करते हो। अर्थात् प्राणसाधक पुरुष 'सामविप्र ऋषि' बनता है। (२) हे प्राणो! **यूयम्**-तुम **भरताय**=इस अपना ठीक से भरण करनेवाले के लिये **अर्वन्तम्**-शत्रुओं का संहार करनेवाली **वाजम्**=शक्ति को **धत्थ**=धारण करते हो, उस शक्ति को **यूयम्**-तुम देते हो जो **राजानम्**-उस साधक के जीवन को दीप्त बनाती है तथा **श्रुष्टिमन्तम्**-सुखवाली है। यह शक्ति उसके जीवन को नीरोगता आदि प्राप्त कराके सुखी बनाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम स्पृहणीय वीर सन्तानोंवाले धन को, ज्ञान को व शक्ति को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तत् द्रविणम्

तद्वो यामि द्रविणं सद्यऊतयो येना स्व१र्ण ततनाम नॄँरभि।
इदं सु मे मरुतो हर्यता वचो यस्य तरेम तरसा शतं हिमाः ॥ १५ ॥

(१) हे **सद्य ऊतयः**=शीघ्रता से रक्षण करनेवाले **मरुतः**=प्राणो! **वः**=आपसे **तत् द्रविणम्**=उस धन को **यामि**=माँगता हूँ, **येन**=जिसके द्वारा **नृन् अभि**=मनुष्यों की ओर **स्वः न**=सूर्य के समान **ततनाम**=प्रकाश को हम फैलानेवाले बनें। प्राणसाधना के द्वारा वासनाओं से बचकर हम उस ज्ञानधन को प्राप्त करें जिसके द्वारा हम लोगों के लिये भी प्रकाश को देनेवाले बनें। (२) हे प्राणो! **मे**=मेरे **इदम्**=इस **वचः**=स्तुतिवचन को आप **सु हर्यता**=(हर्य गतौ) उत्तमता से प्रेरित करो, अर्थात् आपकी साधना से मैं स्तुति की वृत्तिवाला बनूँ। **यस्य तरसा**=जिन स्तुतिवचनों के बल से, स्तुति से प्राप्त शक्ति के द्वारा **शतं हिमाः**=सौ वर्षों को, शतवर्ष के दीर्घ जीवन को **तरेम**=हम तैरनेवाले हों। शतवर्ष के दीर्घजीवन में यह स्तुति ही हमें वासनाओं से तरायेगी।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञानधन को प्राप्त करके हम लोगों के लिये प्रकाश को देनेवाले हों। इस प्राणसाधना से स्तुति में प्रवृत्त होकर हम १०० वर्ष तक, वासनाओं से आक्रान्त न होते हुए, जीनेवाले बनें।

श्यावाश्व ही प्राणस्तवन करते हुए कहते हैं—

५५. [पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'प्रयज्यवः-भ्राजदृष्टयः' मरुतः

प्रयज्यवो मरुतो भ्राजदृष्टयो बृहद्वयो दधिरे रुक्मवक्षसः।
ईयन्ते अश्वैः सुयमेभिराशुभिः शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ॥ १ ॥

(१) 'मरुत्' आधिभौतिक जगत् में राष्ट्र रक्षक क्षत्रिय हैं। ये **प्रयज्यवः**=राष्ट्र रक्षणरूप प्रकृष्ट यज्ञ को करनेवाले **मरुतः**=राष्ट्र के लिये (म्रियन्ते) प्राणों को त्यागने के लिये उद्यत सैनिक **भ्राजत् ऋष्टयः**=देदीप्यमान आयुधोंवाले होते हैं। ये **रुक्मवक्षसः**=देदीप्यमान वक्ष:स्थलोंवाले क्षत्रिय अथवा दीप्त हारों व पदकों (medals) को धारण किये हुए वक्ष:स्थलोंवाले वीर सैनिक **बृहद्वयः**-उत्कृष्ट जीवन को **दधिरे**=धारण करते हैं। (२) ये **सुयमेभिः**=अच्छी प्रकार नियन्त्रित **आशुभिः**=शीघ्र गतिवाले **अश्वैः**=अश्वों से **ईयन्ते**=राष्ट्र में रक्षण कार्यों के लिये गतिवाले होते हैं। **शुभं याताम्**=सदा धर्म्ययुद्ध की ओर जाते हुए, शुभ की ओर जाते हुए इन मरुतों के **रथाः**=रथ **अनु अवृत्सत**=अनुकूल गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—क्षत्रियों को राष्ट्र-रक्षणरूप कार्य को ही अपना यज्ञ समझना, उसके लिये आयुधों को दीप्त रखना और वाहनों को सुनिश्चित व तीव्र गतिवाला रखना। इनके रथ सदा अनुकूल गतिवाले हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञान-बल-विशाल हृदयता

स्वयं दधिध्वे तविषीं यथा विद बृहन्महान्त उर्विया वि राजथ।
उतान्तरिक्षं ममिरे व्योजसा शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ॥ २ ॥

(१) हे मरुतो! **यथा विद**-जैसे तुम ज्ञानवाले होते हो, उसी प्रकार **स्वयम्**-अपने आप **तविषीम्**-बल को **दधिध्वे** धारण करते हो। ये राष्ट्र रक्षक पुरुष ज्ञान व शक्ति का धारण करते हैं। **महान्तः**-(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाले होते हुए, **उर्विया**=(उरवः) विशाल हृदयवाले होकर **बृहत् विराजथ**-खूब ही शोभायमान होते हो। (२) **उत**-और **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **अन्तरिक्षम्**-हृदयान्तरिक्ष को भी **विममिरे**=विशिष्टरूपवाला बनाते हो। ओजस्विता के कारण तुम्हारे हृदय में निम्न भावनाएँ (meanness) नहीं आ पातीं। तुम स्वार्थ से ऊपर उठकर परार्थ की भावना से धर्म्ययुद्धों में प्राण त्याग के लिये उद्यत होते हो। **शुभं यातान्**=शुभ मार्ग पर चलनेवाले आप लोगों के **रथाः**=रथ **अनु अवृत्सत**-सदा अनुकूल वर्तनवाले होते हैं।

भावार्थ—राष्ट्ररक्षक क्षत्रिय ज्ञान व बल का धारण करते हुए अपने हृदय को भी स्वार्थ की भावना से रहित व विशाल बनाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

साकं जाताः, साकमुक्षिताः

साकं जाताः सुभ्वः साकमुक्षिताः श्रिये चिदा प्रतरं वावृधुर्नरः।
विरोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥ ३॥

(१) **साकं जाताः**=ये वीर क्षत्रिय साथ-साथ प्रादुर्भाववाले हैं, लगभग साथ-साथ ही इनका जन्म हुआ है, ये समान वयः वाले हैं। **सुभ्वः**=उत्तमता से अपने कार्यों में ये होनेवाले हैं (सुष्ठु भवन्ति) **साकमुक्षिताः**-साथ साथ ही आचार्यों द्वारा ये विद्या से सिक्त होकर स्नातक हुए हैं। **श्रिये**-शोभा के लिये **चित्**=निश्चय से **प्रतरम्**=खूब ही **आवावृधुः**=बढ़े हैं। **नरः**=अपने को आगे और आगे प्राप्त करानेवाले हैं। (२) **सूर्यस्य रश्मयः इव**=सूर्य की किरणों की तरह ये **विरोकिणः**-विशेषरूप से दीप्त होनेवाले हैं। **शुभं यातान्**-शुभ की ओर जानेवाले इन क्षत्रियों के **रथाः**-रथ **अनु अवृत्सत**=सदा अनुकूल गतिवाले हैं।

भावार्थ—ये क्षत्रिय साथ-साथ ही उत्पन्न हुए-हुए, साथ-साथ ही शिक्षित हुए-हुए सूर्य-रश्मियों की तरह द्युतिवाले हैं। सेना के विभागों में बहुत अन्तर युक्त आयुवाले व्यक्ति नहीं होते।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आभूषेण्यं-दिदृक्षेण्यम्

आभूषेण्यं वो मरुतो महित्वनं दिदृक्षेण्यं सूर्यस्येव चक्षणम्।
उतो अस्माँ अमृतत्वे दधातन शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥ ४॥

(१) गतमन्त्र के वीर क्षत्रियों की तरह प्राण भी इस शरीर में (साकं जाताः, साकं उक्षिताः) साथ-साथ ही उत्पन्न हुए हैं और साथ-साथ ही इनके द्वारा शरीर में वीर्य का सेचन हुआ है। हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=आपकी **महित्वनम्**=महिमा **आभूषेण्यम्**=समन्तात् शरीर को शोभित करनेवाली (स्तुत्य) व शरीर में सामर्थ्य को पैदा करनेवाली है। आपके द्वारा प्राप्त कराया गया **चक्षणम्**=ज्ञानचक्षु **सूर्यस्य इव**=सूर्य की तरह **दिदृक्षेण्यम्**=दर्शन के योग्य है। प्राण शरीर में शक्ति का संचार करते हैं, तो मस्तिष्क में ज्ञान के सूर्य का उदय करते हैं। (२) **उत**=और **उ**=निश्चय से **अस्मान्**=हमें **अमृतत्वे**-अमृतत्व में, नीरोगता में **दधातन**=धारण करो। प्राणशक्ति ही रोगों को उत्पन्न नहीं होने देती। हे प्राणो! **शुभं यातान्**=शुभ मार्ग की ओर चलते हुए आपके **रथाः**=ये शरीर-रथ **अनु अवृत्सत**-अनुकूल वर्तनवाले हों। अर्थात् यह शरीर-रथ ठीक रहता हुआ निरन्तर

शुभ की ओर बढ़नेवाला हो।

भावार्थ—प्राण शरीर को शक्ति-सम्पन्न तथा मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न बनाते हैं। ये हमें नीरोगता प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'पुरीषिणः' मरुतः

उदीरयथा मरुतः समुद्रतो यूयं वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः।
न वो दस्रा उप दस्यन्ति धेनवः शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥ ५॥

(१) यहाँ आधिदैविक जगत् के मरुत् 'वृष्टि वाहक' वायु हैं। हे **मरुतः**=वृष्टिवाहक वायुयो! **यूयम्**=तुम **समुद्रतः**=समुद्र से **वृष्टिम्**=वृष्टि को **उद् ईरयथ**=उत्कर्षेण प्रेरित करते हो। इन वायुयों के द्वारा ही समुद्र से वाष्पीभूत हुआ-हुआ जल वाष्प इधर-उधर ऊपर आकाश में ले लाया जाता है। हे **पुरीषिणः**=जलोंवाले मरुतो! **यूयम्**=तुम ही **वृष्टिं वर्षयथा**=इस वृष्टि को करते हो। (२) **वः**=तुम्हारे ये **दस्राः**=दर्शनीय व शत्रुनाशक **धेनवः**=पृथिवी को जलों से प्रीणित करनेवाले मेघ **न उपदस्यन्ति**=नहीं नष्ट होते हैं, ये सदा वृष्टि को करनेवाले होते हैं। हे वायुयो! **शुभं याताम्**=बड़ी उत्तमता से गति करते हुए आपके **रथाः**=रथ **अनु अवृत्सत**=सदा अनुकूल गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—वृष्टि को लानेवाले वायु मेघों द्वारा वृष्टि को करके सम्पूर्ण पृथिवी को प्रीणित करनेवाले हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हिरण्यय कवचधारी सैनिक

यदश्वान्धूर्षु पृषतीरयुग्ध्वं हिरण्ययान्प्रत्यत्काँ अमुग्ध्वम्।
विश्वा इत्स्पृधो मरुतो व्यस्यथ शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥ ६॥

(१) **यद्**=जब **पृषतीः** (to hurt, injure)=शत्रुओं का संहार करनेवाले **अश्वान्**=अश्वों को **धूर्षु**=रथ धुराओं में **अयुग्ध्वम्**=जोतते हो। और **हिरण्ययान्**=हितरमणीय अथवा स्वर्णवत् देदीप्यमान **अत्कान्**=कवचों को **प्रत्यमुग्ध्वम्**=धारण करते हो, तो उस समय **मरुतः**=वीर सैनिको! तुम **विश्वाः इत्**=सब ही **स्पृधः**=संग्रामों को (नि० २।१७) **व्यस्यथ**=परे फेंकते हो, सब संग्रामकारी शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले होते हो। (२) **शुभम्**=शुभ धर्म्ययुद्ध की ओर **याताम्**=जाते हुए आपके **रथाः**=रथ **अनु अवृत्सत**=अनुकूल वर्तनवाले हों। ये रथ संग्राम विजय में आपके सहायक हों।

भावार्थ—हमारे सैनिक घोड़ों को रथों में जोते हुए तथा कवचों को धारण किये हुए सदा धर्म्ययुद्ध के लिये तैयार हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'अप्रतिहत गतिवाले' सैनिक

न पर्वता न नद्यो वरन्त वो यत्राचिध्वं मरुतो गच्छथेदु तत्।
उत द्यावापृथिवी याथना परि शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥ ७॥

(१) हे **मरुतः**=सैनिको! **न पर्वताः**=न तो पर्वत **न नद्यः**=नां ही नदियाँ **वः**=तुम्हें

वरन्त=रोक पाती हैं **यत्र**-जहाँ **अचिध्वम्** (जानीथ संकल्पयथ सा०)=जानते हो, चाहते हो **तत्**-उस स्थान को **गच्छथ इत् उ**-जाते ही हो। इन वीर सैनिकों को उनकी वीरयात्रा में कोई भी रुकावट रोक नहीं पाती। (२) हे मरुतो! तुम तो **उत**-निश्चय से **द्यावापृथिवी परियाथन**-द्युलोक व पृथिवीलोक में चारों ओर गतिवाले होते हो। सर्वत्र तुम्हारी पहुँच होती है और **शुभं यातम्**-शुभ धर्म्य मार्ग पर गति करते हुए आपके **रथाः**-रथ **अनु अवृत्सत**-अनुकूल वर्तनवाले होते हैं। आपके रथ आपको यथेष्ट स्थान पर पहुँचानेवाले होते हैं।

भावार्थ—धर्म्ययुद्ध में आगे बढ़ते हुए वीर सैनिकों को नदियाँ व पहाड़ भी रोक नहीं पाते। सब विघ्नों को जीतकर इनके रथ आगे ही बढ़ते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शरीरस्थ प्राण तथा ज्ञान प्राप्ति

यत्पूर्व्यं मरुतो यच्च नूतनं यदुद्यते वसवो यच्च शस्यते।
विश्वस्य तस्य भवथा नवेदसः शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥ ८॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **यत् पूर्व्यम्**=जो ज्ञान सृष्टि के पूर्व में, प्रारम्भ में दिया जानेवाला है अथवा जो पालन व पूरण करने में उत्तम है। **यत् च नूतनम्**=और जो ज्ञान सदा नवीन है, कभी जीर्ण नहीं होता 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'। **यत् उद्यते**=जो हृदयस्थ प्रभु से उच्चरित होता है 'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् शुक्रमुच्चरत्'। **यत् च शस्यते**=जिस ज्ञान का देवों के लिये शंसन किया जाता है। **विश्वस्य तस्य**=उस सब सत्य विद्याओं के अवगाहन करनेवाले ज्ञान के आप **नवेदसः**=ज्ञाता **प्रवथा**=होते हो। उस ज्ञान को ये प्राण ही हमें प्राप्त कराते हैं। प्राणसाधना से शरीर में सोमशक्ति की ऊर्ध्वगति होती है, यह सोमशक्ति ज्ञानाग्नि का ईंधन बनती है। इस प्रकार तीव्र बुद्धि से हमें वेदार्थ का स्पष्टीकरण होता है। (२) हे प्राणो! **शुभं यातम्**=शुभ ज्ञान की ओर गति करते हुए आपके **रथाः**-ये शरीर रथ **अनु अवृत्सत**=अनुकूल वर्तनवाले हों। शरीर भी स्वस्थ हो, क्योंकि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास हुआ करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हम तीव्र बुद्धि बनकर प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान को प्राप्त करें और इस ज्ञान प्राप्ति में स्वस्थ शरीर हमारे लिये सहायक हो।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्राण हमें प्रभु का स्तोता व मित्र बनाएँ

मृळत नो मरुतो मा वधिष्टनास्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्तन।
अधि स्तोत्रस्य सख्यस्य गातन शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥ ९॥

(१) हे **मरुतः**-प्राणो! **नः मृडत**-हमें सुखी करो। **मा वधिष्टन**=हमें रोगों से हिंसित मत होने दो। प्राणसाधना द्वारा हम नीरोग शरीरवाले बनें। हे प्राणो! इस प्रकार नीरोगता प्राप्त कराके **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **बहुलं शर्म**=खूब ही सुख को **वियन्तन**=प्राप्त कराओ। (२) हे प्राणो! आप **स्तोत्रस्य**=प्रभु स्तवन का तथा **सख्यस्य**=प्रभु के साथ मैत्री का **अधिगातन**=आधिक्येन प्राप्त करनेवाले होवो। आपकी साधना से हमारा झुकाव प्रभु स्तवन की ओर हो और हम प्रभु की मैत्री को प्राप्त करनेवाले हों। **शुभं यातम्**-इस प्रकार शुभ मार्ग की ओर चलते हुए आपके **रथाः**-ये शरीरस्थ **अनु अवृत्सत**=अनुकूल वर्तनवाले हों। वस्तुतः प्रभु स्तवन व प्रभु की मैत्री हमें भोग मार्ग से ऊपर उठाती है और हम क्षीण-शक्तिवाले न होकर सदा स्वस्थ शरीरवाले बने रहते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम रोगाक्रान्त न होकर सुखी बने रहते हैं। यह प्राणसाधना हमें स्तवन की वृत्तिवाला तथा प्रभु का मित्र बनाती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वस्यो अच्छा, निरंहतिभ्यः

यूयमस्मान्नयत वस्यो अच्छा निरंहतिभ्यो मरुतो गृणानाः।
जुषध्वं नो हव्यदातिं यजत्रा वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ १०॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **यूयम्**=तुम **अस्मान्**=हमें **वस्यः अच्छ**=उत्कृष्ट वसुओं (धनों) की ओर **नयत**=ले चलो। तुम्हारी साधना के द्वारा हम उत्कृष्ट धनों को प्राप्त करें। हे प्राणो! **गृणानाः**=हमारे लिये बुद्धि को तीव्र बनाकर ज्ञानोपदेश करते हुए आप हमें **अंहतिभ्यः निः** (नयत)=पापों से बाहर व परे ले चलो। प्राणसाधना से सब दोष दूर होते हैं। (२) हे **यजत्रा**=संगतिकरण योग्य प्राणो! **नः**=हमारे लिये **हव्यदातिम्**=हव्यों के देने को, यज्ञशीलता को **जुषध्वम्**=प्रीतिपूर्वक सेवनीय करो। प्राणों के द्वारा हम यज्ञशील बनें। ये प्राण इसी से तो 'यजत्र' हैं। इन यज्ञों को कर सकने के लिये **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः स्याम**=स्वामी हों। इन धनों के दास बनने पर ये धन यज्ञों में विनियुक्त नहीं हो पाते। प्राणसाधना ही हमें धनों के लोभ से ऊपर उठायेगी और हम सुपथ से धनार्जन करते हुए यज्ञशील होंगे।

भावार्थ—प्राणसाधना से उत्कृष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होगी, पापों से हम दूर होंगे तथा यज्ञशील बनेंगे। अगले सूक्त में भी श्यावाश्य मरुतों का आराधन करते हैं—

५६. [षट्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

शत्रुविनाश व ज्ञानदीप्ति

अग्ने शर्धन्तमा गणं पिष्टं रुक्मेभिरञ्जिभिः।
विशो अद्य मरुतामव ह्वये दिवश्चिद्रोचनादधि॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! मैं मरुतों-प्राणों के **गणम्**=समूह को **आ** (ह्वये)=पुकारता हूँ, प्राणों के गण को प्राप्त करने के लिये आपकी आराधना करता हूँ, जो प्राणों का गण **शर्धन्तम्**=शत्रुओं का प्रसहन (अभिभव) कर रहा है, सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचलनेवाला है और जो प्राणों का गण **अंजिभिः**=जीवन को कान्त (सुन्दर) बनानेवाली, जीवन को सुभूषित करनेवाली (अञ्जू to decorate) **रुक्मेभिः**=देदीप्यमान ज्ञान-ज्योतियों से **पिष्टम्**=(युक्तम् सा०) शोभित है। वस्तुतः प्राणसाधना से रोग व वासनारूप शत्रु कुचले जाते हैं और ज्ञानदीप्ति चमक आती है। (२) मैं **अद्य**=आज **मरुतां विशः**=प्राणों की प्रजा को, प्राणों के इस गण को **दिवः रोचनात्**=प्रकाश की दीप्ति के हेतु से **अधि अव ह्वये**=खूब ही अपने सम्मुख पुकारता हूँ। प्राणसाधना करता हुआ मैं ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से रोग व वासनाएँ कुचली जाती हैं और ज्ञान दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'भीमसंदृशः' मरुतः

यथा चिन्मन्यसे हृदा तदिन्मे जग्मुराशसः। ये ते नेदिष्ठं हवनान्यागमन्तान्वर्ध भीमसंदृशः॥ २॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे प्रगतिशील जीव! **यथा**=जिस प्रकार **चित्**=निश्चय से **हृदा**=हृदय से **मन्यसे**=तू इन प्राणों का मनन करता है, **तद्**=सो **इत्**=निश्चय से ये **मे**=मेरे **आशसः**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाला प्राण **जग्मुः**=तेरे शरीर में गतिवाले होते हैं। जितना-जितना इन प्राणों के महत्त्व को हम समझते हैं उतना-उतना ही इनकी साधना में प्रवृत्त होते हैं। (२) हे जीव! **ये**=जो प्राण **ते हवनानि**=तेरी पुकारों के **नेदिष्ठम्**=अत्यन्त समीप **आगमन्**=प्राप्त होते हैं, **तान्**=उन **भीमसन्दृशः**=शत्रुओं के लिये अतिभयंकर दर्शनवाले प्राणों को **वर्ध**=तू बढ़ा। जब हम इन प्राणों की साधना करेंगे, तो ये हमें समीपता से प्राप्त होंगे। हमारे समीप होते हुए ये हमारे शत्रुओं के लिये अतिभयंकर होंगे। ये प्राण रोगों को भी दूर भगाते हैं, वासनाओं को भी।

भावार्थ—हम हृदयों में प्राणों के महत्त्व का मनन करें। प्राणसाधना से इन्हें अपना मित्र बनाएँ जिससे ये हमारे शत्रुओं का संहार करनेवाले हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराटपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्राणों का दुध्र बल

मी॒ळ्हुष्म॑तीव पृ॒थि॒वी परा॑हता॒ मद॑न्त्येत्य॒स्मदा।
ऋक्षो॒ न वो॑ मरुत॒: शिमी॑वाँ॒ अमो॑ दु॒ध्रो गौरि॑व भीम॒युः ॥ ३ ॥

(१) **मीढुष्मती पृथिवी इव**=सब सुखों का सेचन करनेवाली पृथिवी के समान **पर-अहता**=रोगों व वासनारूप शत्रुओं से न आक्रान्त हुई-हुई **मदन्ती**=आनन्द को प्राप्त करानेवाली यह मरुत् पंक्ति **अस्मत् आ एति**=हमें सर्वथा प्राप्त होती है (अस्मत्-अस्मान् सा०)। प्राणसमूह जीवन को आनन्दित करनेवाला है, यह शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता और हमें सुखी करता है। (२) हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=तुम्हारा **अमः**=बल **ऋक्षः न**=एक सितारे (सूर्य) के समान है। **शिमीवान्**=यह बल शान्तभाव से अपना कर्म करनेवाला है और **दुध्रः**=शत्रुओं से दुर्धर है। **गौः इव**=एक महावृषभ (सांड) की तरह **भीमयुः**=शत्रुओं के प्रति भयंकरता से गतिवाला होता है।

भावार्थ—प्राणों का गण शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता। इनकी साधना से यह पृथिवीरूप शरीर अंग-प्रत्यंग में शक्ति से सिक्त होता है। प्राणों का बल हमें क्रियाशील बनाता है और हमारे रोगरूप शत्रुओं के लिये भयंकर होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'रोगों व अविद्या' का विनाश

नि ये रि॒णन्त्योज॑सा॒ वृथा॒ गावो॒ न दु॒र्धुर॑:।
अश्मा॑नं चित्स्व॒र्य॑१॒ं पर्व॑तं गि॒रिं प्र च्या॑वयन्ति॒ याम॑भिः ॥ ४ ॥

(१) **ये**=जो प्राण **ओजसा**=अपनी शक्ति के द्वारा **वृथा**=अनायास ही **निरिणन्ति**=शत्रुओं को हिंसित कर डालते हैं, वे **गावः न**=महावृषभों की तरह **दुर्धुरः**=बड़ी कठिनता से हिंसित करने योग्य हैं (धुर्व् हिंसायाम्)। प्राणों के साथ रोगकृमिरूप शत्रु टक्कर लेने पर नष्ट ही हो जाते हैं। (२) ये प्राण केवल रोगकृमिरूप शत्रुओं को ही नष्ट करें ऐसी बात नहीं, ये **अश्मानं चित्**=पत्थर के समान दृढ़ अथवा (अश् व्याप्तौ) सर्वत्र व्याप्तिवाले, **स्वर्यम्**=(स्वृ उपतापे) संतापों के कारणभूत **पर्वतम्**=पाँच पर्वोंवाले (अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश) **गिरिम्**=अविद्या पर्वत को **चित्**=भी **यामभिः**=अपने गमनों से **प्रच्यावयन्ति**=प्रच्युत करते हैं। प्राणसाधना से अशुद्धि क्षय होकर इस अविद्या पर्वत का विनाश होता है और ज्ञानदीप्ति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीरस्थ रोग तथा अविद्या का विनाश होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सर्वश्रेष्ठ पद पर प्राणों का अभिषेक

उत्तिष्ठ नूनमेषां स्तोमैः समुक्षितानाम्। मरुतां पुरुतममपूर्व्यं गवां सर्गमिव ह्वये॥ ५॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **उत्तिष्ठ**=तू उठ खड़ा हो, आलस्य को छोड़कर उत्साहमय जीवनवाला हो। **नूनम्**=निश्चय से **एषाम्**=इन **स्तोमैः**=स्तुतियों के द्वारा **समुक्षितानाम्**=शरीर में सम्यक् अभिषिक्त **मरुताम्**=प्राणी के शरीर में प्राण ही सर्वश्रेष्ठ हैं, इनका मानो सर्वश्रेष्ठ पद पर अभिषेक होता हो, **सर्गम्**=उत्पादन (creation) को **ह्वये**=पुकारता हूँ। (२) इन प्राणों के उत्पादन को इस प्रकार करता हूँ **इव**=जैसे कि **पुरुतमम्**=अतिशयेन पालक व पूरक **अपूर्व्यम्**=अद्भुत **गवां सर्गम्**-इन्द्रियों के उत्पादन को। एक-एक इन्द्रिय अद्भुत रचनावाली हो। परन्तु प्राण इन इन्द्रियों के द्वारा भी स्तुति के योग्य होते हैं। इन्द्रियों में जो भी श्रेष्ठता है, वह सब इन प्राणों के कारण है। इन्द्रियाँ अपने सर्वश्रेष्ठ पद पर इन प्राणों का अभिषेक करती हैं।

भावार्थ—प्रभु शरीर में इन्द्रियों को निर्मित कर उनके सर्वश्रेष्ठ पद पर प्राणों को स्थापित करते हैं। जीव को चाहिये कि उठे और इनकी साधना में प्रवृत्त हो।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अरुषी-अजिरा-वहिष्ठा

युङ्ग्ध्वं ह्यरुषी रथे युङ्ग्ध्वं रथेषु रोहितः।
युङ्ग्ध्वं हरी अजिरा धुरि वोळ्हवे वहिष्ठा धुरि वोळ्हवे॥ ६॥

(१) हे प्राणो! तुम **रथे**=इस शरीर-रथ में **हि**=निश्चय से **अरुषी**=आरोचमान, खूब दीप्त, ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **युङ्ध्वम्**=जोतो। **रथेषु**=इन शरीर रथों में **रोहितः**=वृद्धिशील अश्वों को **युङ्ध्वम्**=जोतो। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ दिन व दिन उन्नतिशील हों। (२) **हरी**=उन इन्द्रियाश्वों को **धुरि**=रथधुरा में **युङ्ध्वम्**=जोतो, जो **अजिरा**=खूब गतिशील हैं तथा **वोढवे**=रथ को लक्ष्य स्थान पर पहुँचाने के लिये होते हैं। उन इन्द्रियाश्वों को **धुरि**=रथधुरा में जोतो जो **वहिष्ठा**=रथ वहन में सर्वोत्तम हैं तथा **वोढवे**=रथ को लक्ष्य-स्थान पर ले जाने के लिये होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोषों का दहन होकर, वे चमक उठती हैं। ये इन्द्रियाश्व तेजस्वी व गतिशील बनते हैं। लक्ष्य-स्थान पर ये पहुँचानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्राणसाधना

उत स्य वाज्यरुषस्तुविष्वणिरिह स्म धायि दर्शतः।
मा वो यामेषु मरुतश्चिरं करत्प्र तं रथेषु चोदत॥ ७॥

(१) हे प्राणो! **उत**=और **स्यः**=वह **वाजी**=शक्तिशाली, **अरुषः**=आरोचमान, **तुविष्वणिः**=महान् स्तुति शब्दोंवाला, **दर्शतः**=दर्शनीय यह अन्तःकरण **इह**=यहाँ इस शरीर में **स्म**=निश्चय से **धायि**=धारण किया जाता है। प्राणसाधना से ही वस्तुतः मन 'शक्तिशाली, ज्ञानदीप्त व प्रभु स्तवनवाला' बनता है। (२) हे **मरुतः**=प्राणो! यह मन **वः यामेषु**=तुम्हारी गतियों के होने पर

मा चिरं करत् बाहर विषयों में देर तक भटकता न रहे। यह शीघ्र ही विषय व्यावृत्त होकर शरीर में निरुद्ध हो। **तम्**=उस मन को आप **रथेषु**=इन शरीर-रथों में ही **प्रचोदत** प्रकर्षेण प्रेरित करो। ये भटके नहीं।

भावार्थ—प्राणसाधना से मन शरीर में ही निरुद्ध होकर 'शक्तिशाली, आरोचमान व खूब स्तुतिवाला' बनता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

मरुतों का श्रवस्यु रथ

रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमा हुवामहे।
आ यस्मिन्तस्थौ सुरणानि बिभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी॥ ८॥

(१) **नु**=अब **वयम्**=हम **मारुतम्**=प्राणों के **श्रवस्युम्**=हमारे साथ ज्ञान को जोड़नेवाले **रथम्**=रथ को **आहुवामहे**=पुकारते हैं। यह शरीररूप रथ, प्राणसाधना के द्वारा केवल सुदृढ़ ही नहीं बनता, यह प्रकाशमय भी होता है। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होकर, ज्ञानदीप्ति की प्राप्ति होती है। (२) हम प्राणों के उस रथ को पुकारते हैं **यस्मिन्**=जिसमें **सुरणानि**=उत्तम रमणीय ज्ञानों को **बिभ्रती**=धारण करती हुई, **मरुत्सु सचा**=प्राणों के साथ निवास करनेवाली, **रोदसी**=द्यावापृथिवी हृदय तथा शरीर में प्रभु की यह वेदवाणी **आतस्थौ**=स्थित होती है। प्राणसाधना के द्वारा बुद्धि तीव्र होकर वेदज्ञान को ग्रहण करनेवाली बनती है। यह वेदवाणी प्रभु ज्ञान है। प्रभु इसे माता के रूप में हमारे लिये प्रस्तुत करते हैं 'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्'। यह तभी होता है जब कि हम प्राणसाधना द्वारा बुद्धि को तीव्र करने के लिये यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—यह शरीर सम्बन्धी रथ प्राणसाधना द्वारा दृढ़ व प्रकाशमय बनता है। इसमें रमणीय ज्ञानों को धारण करती हुई बुद्धि स्थित होती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'सुजाता-सुभगा-मीढुषी' बुद्धि

तं वः शर्धं रथेशुभं त्वेषं पनस्युमा हुवे।
यस्मिन्त्सुजाता सुभगा महीयते सचा मरुत्सु मीळ्हुषी॥ ९॥

(१) हे प्राणो! **वः**=आपके **तम्**=उस **रथेशुभम्**=रथ में शोभा के कारणभूत, **त्वेषम्**=दीप्त **पनस्यु**=स्तुति के योग्य प्रशंसनीय **शर्धम्**=बल (गण) को **आहुवे**=पुकारता हूँ। **यस्मिन्**=जिस बल में **मीढुषी**=सब सुखों का सेचन करनेवाली, **मरुत्सु सचा**=प्राणों के साथ समवेत होनेवाली, प्राणसाधना से उत्पन्न होनेवाली **सुभगा**=उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाली **सुजाता**=उत्तम प्रादुर्भाव व विकासवाली बुद्धि **महीयते**=पूजित होती है। (२) प्राणों का बल (गण) शरीर-रथ को शोभावाला दीप्त व स्तुत्य बनाता है। इस प्राणों के गण की साधना के होने पर हमें वह बुद्धि प्राप्त होती है जो कि उत्तम विकास का कारण होती हुई उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाली होती है और हमारे जीवन में सब सुखों का वर्षण करनेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणों का समूह इस शरीर-रथ को दीप्त बनाता है और तीव्र बुद्धि को प्राप्त कराता है।

अगले सूक्त में भी इन्हीं मरुतों का ही आराधन है—

अथ पञ्चमोऽनुवाकः

५७. [सप्तपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सुविताय गन्तन

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन।
इयं वो अस्मत्प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे॥ १॥

(१) हे **रुद्रासः** (रुत् द्र)=सब रोगों का द्रावण करनेवाले! शरीरों को नीरोग बनानेवाले, **इन्द्रवन्तः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभुवाले, प्रभु की प्राप्ति के साधनभूत, **सजोषसः**=शरीर में मिलकर कार्यों को करनेवाले (सब प्राणों का कार्य पृथक्-पृथक् होता हुआ भी, एक दूसरे के लिये सहायक है) **हिरण्यरथाः**=शरीररूप रथ को ज्योतिर्मय बनानेवाले प्राणो! आप **सुविताय**=उत्तम गमन के लिये, सद् आचारण के लिये, **गन्तम**=हमें प्राप्त होवो। (२) **इयम्**=यह **अस्मत्**=हमारी **मतिः**=बुद्धि **वः प्रतिहर्यते**=तुम्हारी ही कामनावाली होती है। उस प्रकार तुम्हारी कामनावाली होती है, **न**=जिस प्रकार **तृष्णजे**=प्यासे **उदन्यवे**=उदक के इच्छु पुरुष के लिये **दिवः उत्साः**=आकाश से टपकनेवाले जलस्रोत (वृष्टिजल) इष्ट होते हैं। प्यासा जैसे जलों की कामना करता है, उसी प्रकार हम इन प्राणों की कामना करते हैं। इनकी साधना ने ही तो हमें सन्मार्ग पर ले चलना है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर-रथ सुन्दर बनता है और सदा सन्मार्ग पर आगे बढ़नेवाला होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वीर योद्धा

वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः।
स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम्॥ २॥

(१) आधिभौतिक जगत् में 'मरुत्' वीर योद्धा हैं। ये **वाशीमन्तः**=शत्रुओं के तक्षण के साधनभूत अस्त्रोंवाले हैं (वाशी=axe, spear), कुल्हाड़े व भालेवाले हैं। **ऋष्टिमन्तः**=उत्तम तलवारवाले हैं। **मनीषिणः**=समझदार हो। **सुधन्वानः**=उत्तम धनुषवाले हैं। **इषुमन्तः**=प्रशस्त बाणोंवाले हो तथा **निषङ्गिणः**=तरकसवाले हैं। (२) **स्वश्वाः**=उत्तम अश्वोंवाले व **सुरथाः**=उत्तम रथवाले **स्थ**=हैं। **पृश्निमातरः**=('इयं पृथिवी वै पृश्नि' तै० १।४।१।५) इस पृथिवी को माता के समान समझनेवाले हैं। **स्वायुधाः**=उत्तम आयुधोंवाले होते हुए **मरुतः**=हे वीर योद्धाओ! तुम **शुभं याथना**=बड़ी शोभा के साथ संग्राम में गतिवाले होते हो।

भावार्थ—राष्ट्र के वीर सैनिक सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हुए-हुए, पृथ्वी को माता समझनेवाले होकर उसकी रक्षा के लिये संग्राम में शुभ गतिवाले हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वीरों द्वारा 'पर्वत-वन-पृथिवी' कम्पन

धूनुथ द्यां पर्वतान्दाशुषे वसु नि वो वना जिहते यामनो भिया।
कोपयथ पृथिवीं पृश्निमातरः शुभे यदुग्राः पृषतीरयुग्ध्वम्॥ ३॥

(१) हे **पृश्निमातरः**=इस पृथिवी को अपनी माता समझनेवाले वीरो! आप **द्यां पर्वतान्**=द्युलोक

व पर्वतों को **धूनुथ**=कम्पित कर देते हो। वीर क्षत्रिय योद्धा जब गति करते हैं तो सारा आकाश ही मानो हलचलवाला हो जाता है और पर्वत भी काँप उठते हैं। ये वीर योद्धा ही **दाशुषे**=मातृभूमि के लिये दान करनेवालों के लिये **वसु** (धूनुथ)-धनों को प्राप्त कराते हैं। जो लोग देशरक्षा के लिये धनों को देते हैं, उनके लिये ये वीर योद्धा शत्रुओं को परास्त करके धनों को प्राप्त करानेवाले होते हैं। **वः**-हे मरुतो! तुम्हारे **यामनः भिया**=गमन के भय से **वना**=सब वन **निजिहते**=निम्न गतिवाले हो जाते हैं। ये वीर सैनिक मार्ग में आये वानों को काटकर मार्गों को बना लेते हैं। (२) हे मरुतो! **यद्**-जब **उग्राः**=तेजस्वी व शत्रु भयंकर आप **पृषतीः**-अपने घोड़ों को **अयुग्ध्वम्**-जोतते हो और **शुभे**=देशरक्षणरूप शुभ कार्य में गतिवाले होते हो तो **पृथिवीं कोपयथ**=सम्पूर्ण पृथिवी को कम्पित कर देते हो, सम्पूर्ण पृथिवी को क्षुब्ध कर डालते हो।

भावार्थ—वीर जब देश-रक्षण के लिये गति करते हैं तो द्युलोक, पृथिवीलोक, पर्वतों व वनों सभी को कम्पित करते हुए आगे बढ़ते हैं और देश के लिये त्याग करनेवालों के लिये वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'वर्षनिर्णिजो' मरुतः

वातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो यमाइव सुसदृशः सुपेशसः।
पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवोरवः॥ ४॥

(१) **मरुतः**=ये वीर सैनिक **वातत्विषः**-(वातेन त्विट् येषां) गति के द्वारा दीप्तवाले हैं। **वर्षनिर्णिजः**-देश का शोधन करनेवाले हैं। शत्रुओं को नष्ट करके देश को मानो शत्रु मलशून्य कर देते हैं। ये सैनिक **यमाः इव**-एक साथ उत्पन्न होनेवालों के समान **सुसदृशः**=परस्पर समान प्रतीत होते हैं अपने वेश में एक जैसे लगते हैं। **सुपेशसः**=बड़ी उत्तम आकृतिवाले हैं। (२) **पिशंगाश्वाः**-(reddish) रक्तवर्ण के घोड़ोंवाले **अरुणाश्वाः**=अरुण वर्ण के तेजस्वी घोड़ोंवाले **अरेपसः**-लोभ व कायरता आदि दोषों से शून्य **प्रत्वक्षसः**-शत्रुओं को छील डालनेवाले ये मरुत् **महिना**=अपनी महिमा से **द्यौः इव उरवः**=द्युलोक के समान विशाल हैं। इनकी महिमा सर्वत्र फैल जाती है।

भावार्थ—समान वेशवाले वायुवत् तीव्र गतिवाले वीर सैनिक शुत्रओं को नष्ट करके देश को शुद्ध कर डालते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'पुरुद्रप्साः' मरुतः (अमृतं नाम भेजिरे)

पुरुद्रप्सा अञ्जिमन्तः सुदानवस्त्वेषसंदृशो अनवभ्रराधसः।
सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे॥ ५॥

(१) **पुरुद्रप्साः**=(द्रप्स=सोमकण drops) खूब सोमकणों से युक्त जीवनवाले, वीर्यवान्, **अञ्जिमन्तः**=अपने अंग-प्रत्यंग को शक्ति से सुभूषित करनेवाले, **सुदानवः**=शत्रुओं को सम्यक् काटनेवाले (दाप् लवने), **त्वेष सन्दृशः**=दीप्तरूपवाले, **अनवभ्रराधसः**=अनष्ट धनोंवाले, **जनुषा**=जन्म से ही **सुजातासः**=उत्तम शक्तियों के विकासवाले, **रुक्मवक्षसः**=दीप्त छातियोंवाले, स्वर्ण-हारयुक्त छातियोंवाले, **दिवः अर्कः**=उस प्रकाशस्वरूप प्रभु के पूजक ये मरुत् **अमृतं नाम**=निश्चय से अमरता को **भेजिरे**=प्राप्त होते हैं। (२) देशरक्षा के लिये प्रभु स्मरणपूर्वक युद्ध

करनेवाले ये वीर सैनिक युद्ध में प्राण त्याग करके अमर हो जाते हैं।

भावार्थ—देशरक्षा के लिये प्रभु स्मरणपूर्वक युद्ध करते हुए ये वीर योद्धा अमर हो जाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ओजस्वी वीर योद्धा

ऋष्टयो॑ वो मरुतो॒ अंस॑यो॒रधि॒ सह॒ ओजो॑ बा॒ह्वोर्वो॒ बलं॑ हि॒तम्।
नृम्णा शी॒र्षस्वायु॑धा॒ रथे॑षु वो॒ विश्वा॑ वः॒ श्रीरधि॑ त॒नूषु॑ पिपिशे ॥ ६ ॥

(१) हे **मरुतः**=वीर सैनिको! **वः अंसयोः**=तुम्हारे दोनों कन्धों पर **ऋष्टयः**=तलवारें व अस्त्र विशेष हैं **वः**=तुम्हारी **बाह्वोः**=बाहुवों में **सहः**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाला **ओजः**=ओज व **बलम्**=बल **अधिहितम्**=आधिक्येन निहित है, तुम्हारी भुजाएँ खूब ही बल-सम्पन्न हैं। (२) **शीर्षसु**=तुम्हारे सिरों में भी **नृम्णा**=(courage, strength) उत्साह व शक्ति है, तुम्हारा दिमाग भी शक्ति के भावों से भरा है। **वः रथेषु**=तुम्हारे रथों पर **आयुधा**=अस्त्र रखे हैं। **वः तनूषु**=तुम्हारे शरीरों पर **विश्वा**=सम्पूर्ण **श्रीः**=शोभा **अधिपिपिशे**=आधिक्येन शोभायमान होती है। इन सैनिकों का मस्तिष्क व शरीर तेजस्विता व उत्साह से भरा हुआ है।

भावार्थ—वीरों के कन्धों पर अस्त्र हैं, बाहुवों में बल, मस्तिष्क में उत्साह व शरीर में शोभा ही शोभा है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणों का दिव्य रक्षण

गोम॒दश्वा॑व॒द्रथ॑वत्सु॒वीरं॑ च॒न्द्रव॒द्राधो॑ मरुतो ददा नः।
प्रश॑स्तिं नः कृणुत रुद्रियासो भ॒क्षी॒य वोऽव॑सो॒ दैव्य॑स्य ॥ ७ ॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र शरीरस्थ मरुतों (प्राणों) का उल्लेख करता है। हे **मरुतः**=प्राणो! **नः**=हमारे लिये उस **राधः**=ऐश्वर्य को **ददा**=दीजिये, जो **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है, **अश्वावत्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला है तथा **रथवत्**=उत्तम शरीररूप रथवाला है। **सुवीरम्**=उत्तम वीर सन्तानोंवाला है तथा **चन्द्रवत्**=आह्लाद से युक्त है। प्राणसाधना से धन प्राप्त करने की क्षमता तो प्राप्त होती ही है। साथ ही धन के कारण होनेवाले दुर्गुण हमारे जीवन में नहीं आते। (२) हे **रुद्रियासः**=दुःखों के द्रावक (रुद्र) प्रभु के पुत्रो! **नः**=हमारी **प्रशस्तिम्**=प्रशस्ति को, प्रशंसनीय जीवन को **कृणुत**=करो। 'स प्राणमसृजत्' इन शब्दों में प्रभु ने सबसे प्रथम प्राणरूप कला को ही उत्पन्न किया। सो ये प्राण 'रुद्रिय' हैं। ये हमारे जीवन को दोषदहन के द्वारा प्रशस्त बनाते हैं। हे प्राणो! मैं **वः**=आपके **दैव्यस्य अवसाः**=दिव्य रक्षण का **भक्षीय**=उपभोग करूँ। प्राण हमें सब रोगों व मालिन्यों से बचाते हैं। सब दोषों का दहन करके ये हमारे जीवन को दिव्य बनाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम जीवन को उत्कृष्ट बनानेवाले ऐश्वर्य का अर्जन करते हैं। प्राण जीवन को प्रशस्त बनाते हैं और दिव्य रक्षण को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राष्ट्र के प्रधान शासक लोग

ह॒ये नरो॒ मरु॑तो मृ॒ळता॒ न॒स्तुवी॑मघासो॒ अमृ॑ता॒ ऋत॑ज्ञाः।
सत्य॑श्रुतः॒ कव॑यो॒ युवा॑नो॒ बृह॑द्गिरयो बृ॒हदु॒क्षमा॑णाः ॥ ८ ॥

(१) **हये**-हे **नरः**-राष्ट्र को उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले **मरुतः**-(मितराविणः) कम बोलनेवाले शासक पुरुषो! **नः मृडता**=राष्ट्र के उत्तम शासन के द्वारा हमारे जीवनों को सुखी करिये। **तुवीमघासः**-आप महान् ऐश्वर्यवाले हो। **अमृताः**-रोगों से आक्रान्त न होनेवाले हो। **ऋतज्ञाः**=ऋत के ज्ञानवाले हो, ऋत के अनुसार ही राष्ट्र का शासन करते हो। (२) **सत्यश्रुतः**=आप सत्य ज्ञानवाले हो, **कवयः**-क्रान्तदर्शी हो, तत्त्वज्ञानवाले हो। **युवानः**-राष्ट्र से बुराइयों को दूर करनेवाले हो और अच्छाइयों को मिलानेवाले हो। **बृहद् गिरयः**=खूब ही प्रभु का स्तवन करनेवाले हो और **बृहद् उक्षमाणाः**-खूब ही राष्ट्र को सुखों से सिक्त करनेवाले हो।

भावार्थ—राष्ट्र को वे ही शासक सुखी कर सकते हैं, जो ऋत व सत्य को अपनानेवाले हैं, और जो खूब ज्ञान होते हुए प्रभु स्मरण से शक्ति का लाभ करनेवाले हैं।

अगले सूक्त में भी मरुतों का ही उल्लेख है—

५८. [अष्टपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'तविषीमान्' मारुतगण

तमु नूनं तविषीमन्तमेषां स्तुषे गणं मारुतं नव्यसीनाम्।
य आश्वश्वा अमवद्वहन्त उतेशिरे अमृतस्य स्वराजः॥ १॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित **एषाम्**-इन शासकों के, जो **नव्यसीनाम्**-(नु स्तुतौ) स्तुति के योग्य हैं इनके **तविषीमन्तम्**-दीप्तिवाले **तम्**-उस **मारुतं गणम्**=मरुद् गण को **नूनं उ**-निश्चय से **स्तुषे**=स्तुत करता हूँ। शासक वर्ग के ये लोग सचमुच प्रशंसनीय जीवनवाले हैं। शौर्य व तेजस्विता से ये दीप्त हैं। (२) **ये**-जो शासक लोग **आशु अश्वः**=शीघ्रगामी अश्वोंवाले हैं, कार्य संचालन के लिये इधर उधर जाने के लिये जिन के पास तीव्रगामी यान विद्यमान हैं। ये शासक **अमवद्**-बलवान् होते हुए **वहन्ते**=राष्ट्रधुरा का वहन करते हैं। **उत**=और ये शासक लोग **स्वराजः**=अपने जीवन को व्यवस्थित (regulated) करते हुए **अमृतस्य**-नीरोगता के **ईशिरे**=ईश्वर होते हैं। स्वस्थ जीवनवाले होते हुए ये प्रजा का उत्तम शासन कर पाते हैं।

भावार्थ—शासक गण दीप्तिवाला, शीघ्रगामी अश्वोंवाला व नियमित जीवन से नीरोगतावाला होकर राष्ट्रधुरा को सबलता से धारण करता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धुनिव्रत-खादिहस्त

त्वेषं गणं तवसं खादिहस्तं धुनिव्रतं मायिनं दातिवारम्।
मयोभुवो ये अमिता महित्वा वन्दस्व विप्र तुविराधसो नॄन्॥ २॥

(१) हे **विप्रः**=ज्ञानी पुरुष! तू इस **गणम्**-शासकवर्ग का **वन्दस्व**=स्तवन कर, इनकी प्रशंसा के द्वारा इन्हें प्रेरणा देनेवाला हो। जो शासकगण **त्वेषम्**-तेजस्विता से दीप्त है, **तवसम्**=शक्तिशाली है, **खादिहस्तम्**-हाथों में शत्रुओं के विनाशक वज्र को लिये हुए है, **धुनिव्रतम्**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले कर्मोंवाला है, **मायिनम्**=प्रज्ञावान् है, तथा **दातिवारम्**-प्रजाओं के लिये वरणीय वस्तुओं के देनेवाला है। 'त्वेषं' आदि विशेषणों से शासकवर्ग के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन हुआ है। उन्हें अपने जीवनों में 'त्वेषं' आदि विशेषयों को चरितार्थ करने का प्रयत्न करना चाहिये। (२) **ये**=जो शासक **मयोभुवः**-प्रजाओं के कल्याण का भावन करनेवाले हैं, **महित्वा**-अपनी महिमा

से **अमिताः**=सीमित व संकुचित नहीं हैं, विशाल महिमावाले हैं। उन **तुविराधसः**=खूब ही कार्यों को सिद्ध करनेवाले **नॄन्**=नेताओं को (वन्दस्व)=उचित आदर प्राप्त कराओ। वस्तुतः शासकों का मूल कर्त्तव्य प्रजाओं का कल्याण ही है। ये शासक महान् कार्यों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। इनका आदर करना ही चाहिए।

भावार्थ—शासक लोग तेजस्वी, शत्रुविनाशक व प्रजाओं का कल्याण करनेवाले हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्निहोत्र व वृष्टि

आ वो यन्तूदवाहासो अद्य वृष्टिं ये विश्वे मरुतो जुनन्ति।
अयं यो अग्निर्मरुतः समिद्ध एतं जुषध्वं कवयो युवानः॥ ३॥

(१) **ये**=जो **विश्वे**=सब **मरुतः**=वृष्टि को लानेवाले वायु **वृष्टिं जुनन्ति**=वृष्टि को प्रेरित करते हैं, वे **उदवाहासः**=जलों को प्राप्त करानेवाले वायु **अद्य**=आज **वः**=तुम्हें **आयन्तु**=प्राप्त हों। (२) **अयम्**=यह **यः**=जो **मरुतः**=वृष्टिवाहक वायु का **अग्निः**=अग्नि **समिद्धः**=अग्निहोत्र के लिये अग्निकुण्ड में प्रदीप्त किया गया है, **एतम्**=इसको हे **कवयः**=ज्ञानी **युवानः**=बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को अपने साथ संगत करनेवाले पुरुषो! तुम **जुषध्वम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित करनेवाले होवो। अग्निहोत्र को करने से ही इन वृष्टियों का सम्भव होता है 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' इसी उद्देश्य से यहाँ अग्नि को मरुतों का कहा है। यह अग्नि मरुतों का है, मरुतों को प्रेरित करनेवाला है 'अग्निहोत्रं सव्यं वर्षम्'।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषों को चाहिये कि घरों में नियमपूर्वक अग्निहोत्र करें। इसी से वृष्टि का नियमित ऋतु में होने का सम्भव होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मुष्टिहा बाहुजूतः' राजा

यूयं राजानमिर्यं जनाय विभ्वतष्टं जनयथा यजत्राः।
युष्मदेति मुष्टिहा बाहुजूतो युष्मत्सदश्वो मरुतः सुवीरः॥ ४॥

(१) हे **यजत्राः**=यज्ञशील, परस्पर संगतिकरणवाले पुरुषो! **यूयम्**=तुम **जनाय**=प्रजाजन के लिये, लोकहित के लिये **राजानम्**=राजा को, राष्ट्रशासक पुरुष को **जनयथा**=प्रादुर्भूत करो, चुनकर उसे सिंहासनारूढ़ करो, जो **इर्यम्**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाला है तथा **विभ्वतष्टम्**=(विभ्वन्=supreme ruler) मुख्य शासक बनने के योग्य है। (२) हे **मरुतः**=परिमित बोलनेवाले वीर पुरुषो! **युष्मत्**=तुम्हारे में से ही यह **मुष्टिहा**=मुक्के से ही शत्रुओं का संहार करनेवाला, **बाहुजूतः**=भुजाओं से सदा वेगयुक्त, सतत क्रियाशील राजा **एति**=प्राप्त होता है। **युष्मत्**=तुम्हारे में से ही यह **सदश्वः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला **सुवीरः**=उत्तम वीर प्राप्त होता है।

भावार्थ—राजसिंहासन पर उस व्यक्ति को बिठाया जाए जो 'शत्रुकम्पक, क्रियाशील, उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला व उत्तम वीर' हो।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'महोभिः अकवाः' मरुतः

अराइवेदचरमा अहेव प्रप्र जायन्ते अकवा महोभिः।
पृश्नेः पुत्रा उपमासो रभिष्ठाः स्वया मत्या मरुतः सं मिमिक्षुः॥ ५॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित राजा के साथ रहनेवाले **मरुतः**-मितरावी वीर पुरुष **इत्**=निश्चय से **अराः इव**=रथचक्र के अरों के समान **अचरमाः**=अगले व पिछले नहीं हैं। जैसे सभी अरों का समान महत्त्व है, इसी प्रकार इन सब मरुतों का समान महत्त्व है। ये सब मरुत् समानरूप से महिमावाले हैं। ये **महोभिः**-तेजस्विताओं से **अकवाः**-अनल्प **प्र प्र जायन्ते**=होते हैं। अर्थात् खूब ही तेजस्वी होते हैं। (२) **पृश्नेः पुत्राः**-ये इस मातृभूमि के पुत्र हैं। **उपमासः**=परस्पर उपमा देने योग्य हैं, अर्थात् सभी वीर हैं। **रभिष्ठाः**-रभस्वाले, वेगयुक्त बलवाले हैं। ये **मरुतः**-मरुत् राष्ट्ररक्षा करनेवाले वीर सैनिक, **स्वया मत्या**=अपनी बुद्धि से, अर्थात् विचारपूर्वक **संमिमिक्षुः**-शत्रुओं पर शरवर्षण करते हैं। इस प्रकार शत्रुओं को शीर्ण करते हुए ये मातृभूमि की रक्षा करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र के वीर क्षत्रिय छोटे बड़े की भावना से रहित होकर खूब तेजस्विता के साथ बुद्धिपूर्वक शत्रुओं पर शरवर्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वीरों की रण-यात्रा

यत्प्रायासिष्ट पृषतीभिरश्वैर्वीळुपविभिर्मरुतो रथेभिः।
क्षोदन्त आपो रिणते वनान्यवोस्त्रियो वृषभः क्रन्दतु द्यौः॥ ६॥

(१) हे **मरुतः**-वीर सैनिको! **यत्**=जब आप **पृषतीभिः**=अपने अन्दर शक्ति का सेवन करनेवाले शक्तिशाली **अश्वैः**-घोड़ों से तथा **वीडुपविभिः**=दृढ़ रथनेमियोंवाले **रथेभिः**=रथों से **प्रायासिष्ट**=शत्रु पर आक्रमण के लिये गतिवाले होते हो तो **आपः**=नदियों के जल **क्षोदन्ते**=क्षुब्ध हो उठते हैं, **वनानि रिणते**=वन हिंसित हो जाते हैं और यह **उस्त्रियः**=सूर्य-किरणों से रोशन **वृषभः**=वर्षा को करनेवाला **द्यौः**=द्युलोक **अवक्रन्दतु**=मानो रो उठता है, अर्थात् सारा जगत् ही भयभीत-सा हो जाता है। सब में भय से हलचल हो उठती है। (२) वीर क्षत्रिय अपने शक्तिशाली घोड़ों व दृढ़ रथों से जब रण-यात्रा प्रारम्भ करते हैं तो सारे संसार को हिला-सा देते हैं। उनको नदियाँ व वन रोक नहीं पाते, चमकती हुई धूप व बरसता हुआ आकाश उनको रोकनेवाला नहीं होता। सब विघ्न-बाधाओं को दूर करते हुए वे आगे बढ़ते हैं और विजयी होते हैं।

भावार्थ—वीर क्षत्रियों के मार्ग में नदियाँ, वन, धूप व वर्षा कोई भी रुकावट नहीं बन पाता।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वर्षं स्वेदं चक्रिरे रुद्रियासः

प्रथिष्ट यामन्पृथिवी चिदेषां भर्तेव गर्भं स्वमिच्छवो धुः।
वातान्ह्यश्वान्धुर्यायुयुज्रे वर्षं स्वेदं चक्रिरे रुद्रियासः॥ ७॥

(१) **एषाम्**=इन मरुतों की **यामन्**-गति के होने पर **पृथिवी चित्**=यह पृथिवी भी **प्रथिष्ट**=फैल जाती है, अर्थात् इनको यह पृथिवी खुला मार्ग देनेवाली होती है। **इव**=जैसे **भर्ता**=पति **गर्भम्**-गर्भ को धारण करता है, अपनी पत्नी में गर्भ की स्थापना करता है, उसी प्रकार ये वीर सैनिक **इत्**=निश्चय से **स्वं शवः**=अपने बल का **धुः**=इस पृथिवी में स्थापन करते हैं। इनकी गति से सम्पूर्ण देश ओजस्वी हो उठता है। (२) ये सैनिक **वातान्**=वायुसमवेगवाले **अश्वान्**-घोड़ों को **हि**=निश्चय से **धुरि**=रथधुरा में **आयुयुज्रे**=जोतते हैं और ये **रुद्रियासः**=शत्रुओं को रुलानेवाले (रोदयन्ति) वीर सैनिक **वर्षम्**-सम्पूर्ण देश को **स्वेदं चक्रिरे**=श्रमजनित पसीने से तरबतर कर देते हैं। इन वीर सैनिकों के कार्यों से उत्साहित होकर सारा देश श्रमशील हो उठता है, वह मातृभूमि

के लिये पसीना बहाने को तैयार हो जाता है। इसके विपरीत सैनिक ही कायर होकर भागने लगें तो प्रजा में भी अकारण भय का संचार हो जाता है।

भावार्थ—वीर क्षत्रियों की वीरतापूर्ण गति देश को ओजस्वी बनाती है और इसके विपरीत इनकी कायरता लोगों में अकारण भय का संचार करनेवाली होती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शासकवर्ग कैसा?

हये नरो मरुतो मृळता नस्तुवीमघासो अमृता ऋतज्ञाः।
सत्यश्रुतः कवयो युवानो बृहद्गिरयो बृहदुक्षमाणाः ॥ ८ ॥

मन्त्र संख्या ५७.८ पर अर्थ द्रष्टव्य है।

अगला सूक्त भी मरुतों का ही वर्णन करता है—

५९. [एकोनषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'ज्ञान-विज्ञान' की प्राप्ति

प्र वः स्पळक्रन्त्सुविताय दावनेऽर्चा दिवे प्र पृथिव्या ऋतं भरे।
अक्षन्ते अश्वान्तरुषन्त आ रजोऽनु स्वं भानुं श्रथयन्ते अर्णवैः ॥ १ ॥

(१) हे मरुतो (प्राणो)! **स्पट्**=यह द्रष्टा ज्ञानी पुरुष **वः**=आपको **प्र अक्रन्** (क्रन्दति)=प्रकर्षेण पुकारता है। जिससे **सुविताय**=सुवित के लिये, दुरितों से दूर होने के लिये तथा **दावने**=दान व त्याग की भावना के निमित्त वह आपका स्तवन करता है। प्राणसाधना से मनुष्य दुरितों से बचता है और त्यागशील बनता है। **प्र अर्चा**=वह आपकी अर्चना करता है **दिवे**=ज्ञान के प्रकाश के लिये तथा **पृथिव्याः**=इस शरीररूप पृथिवी के **ऋतं भरे**=ऋत को भरने के निमित्त (भरणं भरः)। शरीर के सब अंगों को ठीक करने के निमित्त वह आपका आह्वान करता है, प्राणसाधना से ही ज्ञान व शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। (२) प्राणसाधक **अश्वान्**=इन्द्रियाश्वों को **उक्षन्ते**=शक्ति से सिक्त करते हैं। **रजः**=रजोगुण को **आ तरुषन्ते**=तैर जाते हैं और **स्वं भानुम्**=आत्म प्रकाश को **अर्णवैः**=विज्ञान समुद्रों से **अनु श्रथयन्ते**=अनुश्लिष्ट करते हैं, ज्ञान को विज्ञान के साथ जोड़नेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'सुवित, त्यागवृत्ति, प्रकाश व स्वास्थ्य' प्राप्त होता है। इससे शक्ति का सेचन-सत्त्वगुण में स्थिति तथा ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शत्रु-कम्पन व ज्ञानयज्ञ प्रणयन

अमादेषां भियसा भूमिरेजति नौर्न पूर्णा क्षरति व्यथिर्यती।
दूरेदृशो ये चितयन्त एमभिरन्तर्महे विदथे येतिरे नरः ॥ २ ॥

(१) **एषाम्**=इन मरुतों-प्राणों के **अमात्**=बल से **भियसा**=भय के कारण **भूमिः एजति**=यह पृथिवीरूप शरीर काँप उठता है। इस शरीर में प्राणों के कारण वह हलचल उत्पन्न होती है, जो शरीरस्थ सब रोग व वासनारूप शत्रुओं को कम्पित करके दूर कर देती है। यह **व्यथिः**=शत्रुओं को पीड़ित करनेवाली **यती**=गति करती हुई शरीर-भूमि इस प्रकार संचलन में होती है, **न**=जैसे

कि **पूर्णा नौः**=जल से पूर्ण नाव **क्षरति**=नदी में गतिवाली होती है। (२) ये प्राण **दूरेदृशः**=आँखों से ओझल हैं, परन्तु **ये**=जो प्राण **एमभिः चितयन्त**=अपनी गतियों से जाने जाते हैं, वे **नरः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राण **महे विदथे अन्तः**=महान् ज्ञानयज्ञ में **येतिरे**=यत्नशील होते हैं। इन प्राणों के कारण ही जीवन में ज्ञानयज्ञ चलता है। प्राणसाधना से सोम की ऊर्ध्वगति होकर ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और ज्ञान यज्ञ चलता है।

भावार्थ—प्राणों द्वारा इस शरीर भूमि में हलचल द्वारा शत्रु कम्पित हो उठते हैं। इस प्राणसाधना के परिणामस्वरूप ही ज्ञानयज्ञ चलता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'शक्ति व चेतना' द्वारा शोभा वृद्धि

गवामिव श्रियसे शृङ्गमुत्तमं सूर्यो न चक्षू रजसो विसर्जने।
अत्याइव सुभ्वश्चारवः स्थन मर्याइव श्रियसे चेतथा नरः ॥ ३ ॥

(१) हे **नरः**-उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणो! आप **गवां उत्तमं शृंगं इव**=गौवों के उत्तम सींगों की तरह **स्थन**-हो और इसीलिये **श्रियसे**=शोभा के लिये होते हो। गौओं के सींग जैसे शत्रुओं के विदारण के लिये होते हैं, इसी प्रकार प्राण रोगकृमि आदि शत्रुओं को दूर करके शरीर की शोभा को बढ़ानेवाले हैं। (२) हे प्राणो! आप **सूर्यः न**-सूर्य के समान, **रजसः विसर्जने**=रजोगुम के दूर करने के लिये **चक्षुः**=मार्गदर्शक आँख के समान हो। सूर्य जैसे अन्धकार को दूर करता है, इसी प्रकार ये प्राण राजस वृत्ति को दूर करके हमें सत्त्वगुण का प्रकाश प्राप्त कराते हैं। (२) हे प्राणो! आप **अत्याः इव**=सततगामी अश्वों के समान **सुभ्वः**=उत्तम स्थितिवाले **चारवः**=खूब वेगवाले (चर गतौ) **स्थन**=हो। प्राण शरीर की उत्तम स्थिति का कारण होते हैं और निरन्तर गतिवाले होते हैं। **मर्याः इव**=मनुष्यों की तरह **चेतथा**=ज्ञानवाले होते हो और इस चेतना से **श्रियसे**=शोभा के लिये होते हो। ज्ञान से ही तो मनुष्य की शोभा बढ़ती है।

भावार्थ—प्राण 'शत्रु-विनाशक शक्ति, प्रकाश, गति व चेतना' के द्वारा हमारी शोभा का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'यश, ज्ञान, शक्ति, सदाचार व त्याग'

को वो महान्ति महतामुदश्नवत्कस्काव्या मरुतः को ह पौंस्या।
यूयं ह भूमिं किरणं न रेजथ प्र यद्भरध्वे सुवितायं दावने॥ ४॥

(१) हे **मरुतः**-प्राणो! **कः**=कोई विरला पुरुष ही **महतां वः**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आपके **महान्ति**-महनीय यशों को **उदश्नवत्**=अपने में व्याप्त करता है। अर्थात् प्राणसाधना करता हुआ कोई विरला पुरुष ही यशस्वी जीवनवाला बनता है। **कः**=कोई ही **काव्या**=वेद ज्ञानों को व्याप्त करता है **कः ह**=और कोई ही निश्चय से **पौंस्या**=शक्तियों को व्यापता है। प्राणसाधना से 'यश, ज्ञान व शक्ति' सभी का वर्धन होता है। (२) हे प्राणो! **यूयम्**=आप ही **ह**=निश्चय से **भूमिम्**=इस शरीररूप पृथिवी को, **किरणं न**=ज्ञान की किरणों के समान **रेजथ**=दीप्त करते हो। प्राणसाधना से शरीर तेजस्विता से दीप्त होता है और मस्तिष्क ज्ञानदीप्त बनता है। हे प्राणो! **यद्**=जब आप **प्रभरध्वे**=प्रकर्षेण भरण करते हो तो **सुविताय**=सुवित के लिये होते हो और **दावने**=त्याग के लिये होते हो। प्राणसाधना से हमारे दुरित दूर होते हैं और हमारी वृत्ति त्याग की बनती है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे जीवन में 'यश, ज्ञान, शक्ति, सदाचार व त्याग' को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विज्ञानमय कोश से भी ऊपर

अश्वाइवेदरुषासः सबन्धवः शूराइव प्रयुधः प्रोत युयुधुः।
मर्याइव सुवृधो वावृधुर्नरः सूर्यस्य चक्षुः प्र मिनन्ति वृष्टिभिः॥ ५॥

(१) ये प्राण **अश्वाः इव**=सततगामी अश्वों के समान **अरुषासः**=आरोचमान हैं। प्राणों के कारण शरीर में गति व दीप्ति है। **उत**=और **प्रयुधः शूराः इव**=प्रकृष्ट युद्ध करनेवाले शूरों के समान ये प्राण **प्र युयुधुः**=शरीर में रोगों व वासनाओं से खूब ही युद्ध करते हैं। (२) **सुवृधः**=उत्तमताओं का वर्धन करनेवाले **मर्याः इव**=मनुष्यों के समान ये **नरः**=उन्नति पथ पर ले चलनेवाले प्राण **वावृधुः**=खूब ही वृद्धिवाले होते हैं। शरीर में सब वृद्धि इन प्राणों के कारण है। ये प्राण **वृष्टिभिः**=आनन्द के वर्षणों के द्वारा **सूर्यस्य चक्षुः**=सूर्य के प्रकाश को भी **प्रमिनन्ति**=छोटा कर देते हैं (मिनन्ति=diminish), अर्थात् विज्ञानमयकोश से भी हमें ऊपर उठाकर आनन्दमयकोश में प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्राण सब गतियों का कारण हैं। ये ही शत्रुओं का विनाश करते हैं। वृद्धि का कारण बनते हुए ये प्राण हमें विज्ञानमयकोश से ऊपर उठाकर आनन्दमयकोश में प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तेजस्विता-ज्ञानप्रकाश-प्रभु प्राप्ति

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥ ६॥

(१) शरीरस्थ प्राण ४९ भागों में बटे हुए हैं। **ते**=वे प्राण **अज्येष्ठाः अकनिष्ठासः**=न छोटे हैं न बड़े हैं, अर्थात् इन प्राणों में कोई छोटा बड़ा नहीं है। सभी प्राणों का समानरूप से महत्त्व है। **अमध्यमासः**=इन में कोई भी मध्यम श्रेणी का नहीं है। **उद्भिदः**=सब के सब शत्रुओं का उद्भेदन करनेवाले हैं। **महसा विवावृधुः**=तेजस्विता से खूब ही वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। (२) **सुजातासः**=उत्तम प्रादुर्भाववाले ये प्राण **जनुषा**=अपने प्रादुर्भाव से **पृश्निमातरः**=ज्ञानरश्मियों का (पृश्नि=a ray of light) निर्माण करनेवाले हैं। प्रभु कहते हैं कि हे **दिवः मर्याः**=प्राणसाधना द्वारा प्रकाशमय जीवनवाले मनुष्यो! **नः अच्छा**=हमारी ओर **आजिगातन**=आओ। प्राणसाधना करके हम जीवन को प्रकाशमय बनायें और निरन्तर प्रभु की ओर गतिवाले हों।

भावार्थ—शरीर में सब प्राणों का महत्त्व है। ये हमें तेजस्वी व ज्ञान के प्रकाशवाला बनाते हैं। ज्ञान को प्राप्त करके हम प्रभु की ओर बढ़ते हैं। तेजस्विता व ज्ञान ही हमें प्रभु प्राप्ति का पात्र बनाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पर्वतस्य नभनून् अचुच्यवुः

वयो न ये श्रेणीः पप्तुरोजसान्तान्दिवो बृहतः सानुनस्परि।
अश्वास एषामुभये यथा विदुः प्र पर्वतस्य नभनूँरचुच्यवुः॥ ७॥

(१) **वयः श्रेणीः न**-पक्षियों की पंक्तियों की तरह **ये**=जो मरुत् (प्राण) **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **बृहतः**=विशाल **दिवः**-मस्तिष्करूप द्युलोक के **सानुनः**=शिखर के **अन्तान् परि** (परितः)=अन्तों के चारों ओर **पप्तुः**=गतिवाले होते हैं। प्राणसाधना में प्राणों का शरीर के विविध स्थानों में निरोध होता है। इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निरोध मस्तिष्करूप द्युलोक के शिखर में है, यही स्थान ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है। जैसे पक्षी उड़कर ऊपर आकाश में जाता है, मानो उसी प्रकार ये प्राण इस मस्तिष्करूप द्युलोक के शिखर पर जाते हैं। (२) **एषाम्**=इन मरुतों के **उभये**-दोनों प्रकार के **अश्वासः**-ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **यथा**-जिस प्रकार **विदुः**=ज्ञान प्राप्ति वाले होते हैं (कर्मेन्द्रियाँ भी जब ज्ञान प्राप्ति के साधक कर्मों में प्रवृत्त होती हैं) तो **पर्वतस्य**=अविद्या पर्वत के **नभनून्**-(hurling) हिंसनों व क्लेशों को **प्र अचुच्यवुः**=क्षरित व नष्ट करते हैं। अविद्या ही सब क्लेशों की जननी है। प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दग्ध होकर ज्ञानवृद्धि होती है और अविद्या जनित क्लेशों का विनाश हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना में प्राणों का ब्रह्मरन्ध्र में नियमन करने पर इन्द्रियाँ पूर्ण निर्दोषवाली होती हैं। उस समय अविद्या पर्वत का विनाश हो जाता है। अविद्या जनित क्लेशों का प्रश्न ही नहीं रहता।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना व ज्ञानवृद्धि

मिमा॑तु॒ द्यौरदि॑ति॒र्वी॒तये॑ नः॒ सं दानु॑चित्रा उ॒षसो॑ यतन्ताम्।
आचु॑च्यवु॒र्दि॒व्यं कोश॑मे॒त ऋषे॑ रु॒द्रस्य॑ म॒रुतो॑ गृणा॒नाः॥ ८॥

(१) प्राणसाधना के होने पर **द्यौः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक **मिमातु**=(roar) ज्ञान के शब्दों की गर्जनावाला हो। अर्थात् मस्तिष्क में ज्ञान के शब्द ही गूँजें। **अदितिः**=अखण्डित स्वास्थ्यवाली यह शरीर भूमि **नः**=हमारी **वीतये**=(वी गति प्रजनन) गति व शक्ति विकास के लिये हो। प्राणसाधना मस्तिष्क को ज्ञानमय बनाती है, तो शरीर को यह गति व शक्ति के विकास से युक्त करती है। प्राणसाधना से हमारे जीवन में **उषसः**=उषाकाल **दानुचित्राः**=अद्भुत दानोंवाले होकर **संयतन्ताम्**=सम्यक् यत्नवाले हों। हम उषाकालों में आलस्यशून्य होकर आसन प्राणायामादि में प्रवृत्त होंगे तो ये उषाकाल हमारे लिये अद्भुत शक्तियों के दानवाले होंगे। (२) हे **ऋषे तत्त्वद्रष्टः**=पुरुष! **एते**-ये **रुद्रस्य**-ज्ञानोपदेश के देनेवाले प्रभु के **मरुतः**=प्राण **गृणानाः**=स्तवन करते हुए, हमें स्तवन की वृत्तिवाला बनाते हुए, **दिव्यं कोशम्**=विज्ञानमय कोश को **आचुच्यवुः**= हमारे में क्षरित करते हैं। प्राणसाधना से यह विज्ञानमयकोश निरन्तर विज्ञान की वृद्धिवाला बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा मस्तिष्क व शरीर सुन्दर बनते हैं। हमारी उषाएँ अच्छी व्यतीत होती हैं। दिव्यकोश का वर्धन होता है।

अगले सूक्त का देवता मरुत् व अग्नि हैं। ऋषि तो 'श्यावाश्व आत्रेय' ही हैं—

६०. [षष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्मरण-प्राणायाम

ईळे॑ अ॒ग्निं स्ववसं॒ नमो॑भिरि॒ह प्र॑स॒त्तो वि च॑यत्कृ॒तं नः॑।
रथै॑रिव॒ प्र भ॑रे वाज॒यद्भिः॑ प्रदक्षि॒णिन्म॒रुतां॒ स्तोम॑मृध्याम्॥ १॥

(१) मैं **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **नमोभिः**=नमस्कारों द्वारा **ईडे**=उपासित करता हूँ। उस प्रभु को जो **स्ववसम्**=उत्तम रक्षणवाले हैं। प्रभु के रक्षण में रक्षित हुआ-हुआ ही मैं सब कर्मों को कर पाता हूँ। वे प्रभु **इह**=यहाँ हमारे हृदयों में **प्रसत्तः**=प्रकर्षेण स्थित हुए-हुए **ना कृतम्**=हमारे कर्मों को **विचयत्**=पूरा-पूरा जान रहे हैं 'यो वेदिता कर्मणः पापकस्य तस्यान्तिके त्वे वृजिनं करोषि वर्द्धो संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः'। (२) मैं उस प्रभु के निरीक्षण में **वाजयद्भिः**=(वाजं कुर्वद्भिः) संग्राम को करते हुए **रथैः इव**=रथों से ही **प्रभरे**=उत्कृष्ट कार्यों का भरण करता हूँ। शरीर-रथ के द्वारा जीवन-संग्राम में उत्कृष्ट कार्यों का करनेवाला होता हूँ। **प्रदक्षिणित्**=सरल व उदार दक्षिण मार्ग से नकि उलटे (वाम) मार्ग से, गतिकरता हुआ **मरुतां स्तोमम्**=प्राणों के स्तवन को **ऋध्याम्**=समृद्ध करूँ, खूब ही प्राणसाधना करता हुआ जीवन को निर्दोष बनाने का प्रयत्न करूँ।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करूँ तथा सरल मार्ग से चलता हु प्राणसाधना में प्रवृत्त होऊँ।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'इन्द्रियों व शरीर' की निर्दोषता

आ ये तस्थुः पृषतीषु श्रुतासु सुखेषु रुद्रा मरुतो रथेषु।
वना चिदुग्रा जिहते नि वो भिया पृथिवी चिद्रेजते पर्वतश्चित्॥ २॥

(१) **ये**=जो **मरुतः**=प्राण **श्रुतासु**=खूब ज्ञान-सम्पन्न **पृषतीषु**=अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले इन्द्रियाश्वों में **आतस्थुः**=स्थित होते हैं और जो मरुत् **सुखेषु**=उत्तम इन्द्रिय-छिद्रोंवाले **रथेषु**=शरीर-रथों में स्थित होते हैं, अर्थात् प्राण इन्द्रियों को ज्ञान-सम्पन्न व शक्ति सिक्त करते हैं तथा शरीर-रथों को निर्दोष अंगोंवाला बनाते हैं। ये प्राण **उग्रा चित्**=अत्यन्त प्रबल तेजोमय **वना**=ज्ञानरश्मियों को **निजिहते**=निश्चय से प्राप्त होते हैं। (२) हे मरुतो! उस समय **वः भिया**=तुम्हारे भय से **पृथिवी चित्**=यह शरीररूप पृथ्वी निश्चय से **रेजते**=कम्पित हो उठती है इसके सब रोग व वासना रूप शत्रु हड़बड़ा जाते हैं और **पर्वतः चित्**=अविद्या-पर्वत भी कम्पित होकर नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ व शरीर स्वस्थ शक्ति-सम्पन्न बनते हैं। इस साधना से वे ज्ञानरश्मियाँ प्राप्त होती हैं, जो शरीर को निर्दोष बनाती हैं और अविद्या पर्वत को विलीन कर देती हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महान् वृद्ध पर्वत का भयभीत होना

पर्वतश्चिन्महि वृद्धो बिभाय दिवश्चित्सानु रेजत स्वने वः।
यत्क्रीळथ मरुत ऋष्टिमन्त आपइव सध्र्यञ्चो धवध्वे॥ ३॥

(१) हे प्राणो! **वः स्वने**=आपका स्वन (शब्द) होने पर, प्राणसाधना में होनेवाली 'ह' व 'स' इस ध्वनि के होने पर, **महि वृद्धः**=अत्यन्त बढ़ा हुआ **चित्**=भी यह **पर्वतः**=अविद्या का पर्वत **बिभाय**=भयभीत हो जाता है, अविद्या का विनाश हो जाता है तथा **दिवः**=ज्ञान का **सानु**=शिखर **चित्**=निश्चय से **रेजत**=चमक उठता है (रेज् to shine) (२) हे **मरुतः**=प्राणो! **यत्**=जब **ऋष्टिमन्तः**=शत्रु-विनाशक आयुधोंवाले तुम **क्रीळथ**=क्रीड़ा करते हो तो **सध्र्यञ्चः आपः इव**=मिलकर गति करनेवाले जलों की तरह **धवध्वे**=सब शत्रुओं को कम्पित कर डालते

हो (धू) अथवा शोधन कर डालते हो (धाव, धवध्वे-धावध्वे) प्राणसाधना से सब दोष कम्पित होकर दूर हो जाते हैं और जीवन की शुद्धि हो जाती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर अविद्या का विनाश होकर विद्या का प्रकाश होता है। शत्रुओं का विनाश होकर जीवन का शोधन हो जाता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शरीरस्थालंकृति

वराइवेद्रैवतासो हिरण्यैरभि स्वधाभिस्तन्वः पिपिश्रे।
श्रिये श्रेयांसस्तवसो रथेषु सत्रा महांसि चक्रिरे तनूषु॥ ४॥

(१) **इव**=जिस प्रकार **रैवतासः**=धनवान् **वराः**-विवाह योग्य युवक **हिरण्यैः**=स्वर्णाभरणों से तथा **स्वधाभिः**=(स्वधा=उदक० १।१२ नि०) उत्तम अन्नों व जलों से **इत्**-निश्चयपूर्वक **तन्वः**=शरीरों को **अभिपिपिश्रे**=अलंकृत कर लेते हैं। इसी प्रकार **श्रेयांसः**=ये श्रेष्ठ मरुत् भी, प्राण भी **श्रिये**-शोभा के लिये होती हैं। प्राणसाधना से भी शरीर उसी प्रकार चमक उठता है। (२) ये **तवसः**-बलवान् प्राण **तनूषु रथेषु**=इन शरीररूप रथों में **सत्रा**=सदा सचमुच **महांसि**-तेजस्विताओं का **चक्रिरे**-सम्पादन करते हैं। प्राणसाधना सोम की ऊर्ध्वगति होकर अंग प्रत्यंग तेजस्वी बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना शरीर-रथों को तेजस्विता व दृढ़ता से सुशोभित कर देती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सब प्राणों की समानता

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥ ५॥

(१) शरीर में ये प्राण ४९ भागों में बटकर कार्य करते हैं। **एते**=ये **अज्येष्ठासः अकनिष्ठासः**-कोई बड़ा व कोई छोटा नहीं है, कोई प्राण पहले व कोई पीछे पैदा होनेवाला नहीं है। ये सब **भ्रातरः**-शरीर का भरण करनेवाले भाइयों के समान **सौभगाय सं वावृधुः**=शरीर के सौभाग्य (सौन्दर्य) के लिये मिलकर बढ़नेवाले होते हैं। (२) सामान्यतः १० प्राणों (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय) व आत्मा को ग्यारह रुद्रों के रूप में स्मरण किया जाता है। ये ११ शरीर को छोड़ते हुए रुलाते हैं, सो 'रुद्र' हैं। शरीरस्थ होते हुए ये रोगों का द्रावण करनेवाले होने से 'रुद्र' हैं। **एषाम्**-इन प्राणों का **पिता**-रक्षक यह आत्मा **युवा**-बुराई को पृथक् करनेवाला व अच्छाई को जोड़नेवाला है। **स्वधाः**-सदा उत्तम कर्मोंवाला है। वस्तुतः प्राणों का रक्षण ही हमें 'युवा व स्वधा' बनाता है। उस समय **मरुद्भ्यः**-इन प्राणों के द्वारा **पृश्निः**=प्रकाश की किरण **सुदुघा**=हमारे लिये सुख दोह्य होती है, अर्थात् प्राणसाधना से हम प्रकाश को आसानी से पाते हैं और **सुदिना**=यह प्रकाश हमारे लिये दिनों को उत्तम बनानेवाला होता है।

भावार्थ—सब प्राण समानरूप से महत्त्ववाले हैं, ये शरीर के सौभाग्य को बढ़ाते हैं। आत्मा इनका रक्षक होता हुआ उत्तम कर्मोंवाला होता है, इनके द्वारा प्रकाश की किरण हमें प्राप्त होती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'उत्तम मध्यम अवम' द्युलोक

यदु॑त्त॒मे म॑रुतो मध्य॒मे वा॒ यद्वा॑व॒मे सु॑भगासो दि॒वि ष्ठ।
अतो॑ नो रुद्रा उ॒त वा॒ न्व१॑स्याग्ने॑ वि॒त्ताद्ध॒विषो॒ यद्यजा॑म॥ ६॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! आप **यत्**=जो **उत्तमे दिवि**=सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान के प्रकाश में, **मध्यमे वा**=जीव के कर्त्तव्यों के ज्ञान के प्रकाश में **यद् वा**=अथवा जो **अवमे दिवि**=इस अपर प्रकृति के ज्ञान के प्रकाश में **ष्ठ**=कारणरूप से स्थित होते हो, इससे **सुभगासः**=जीवन को आप उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाला बनाते हो। (२) **अतः**=इसलिए हे **रुद्राः**=प्राणो! **उत वा**=अथवा **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! आप **नु**=निश्चय से **अस्य वित्तात्**=इसको जानिये, अर्थात् इस बात का ध्यान करिये **यत्**=कि हम **हविषः यजाम**=सदा हवि का अपने साथ मेल करें। प्राणसाधना व प्रभु-स्मरण के द्वारा हमारा जीवन यज्ञमय बने। हम हवि से कभी दूर न हों। वस्तुतः इस हवि से ही तो सच्चा प्रभु-पूजन होना है।

भावार्थ—प्राणसाधना ही 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञान में साधन बनती है। प्राणसाधना व प्रभु-स्मरण ही हमारे जीवन को यज्ञमय बनाते हैं। 'ब्रह्मज्ञान' उत्तम द्युलोक है, 'जीवविज्ञान' मध्यम द्युलोक है और 'प्रकृति विज्ञान' ही अवम द्युलोक है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु-स्मरण व प्राणसाधना

अ॒ग्निश्च॒ यन्म॑रुतो विश्ववेदसो दि॒वो वह॑ध्व॒ उत्त॑रा॒दधि॒ ष्णुभिः॑।
ते म॑न्दसा॒ना धुन॑यो रिशादसो वा॒मं ध॑त्त॒ यज॑मानाय सुन्व॒ते॥ ७॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी परमात्मा **च**=और **मरुतः**=प्राण **यत्**=क्योंकि **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण धनोंवाले हैं। प्रभु स्मरण व प्राणसाधना हमारे जीवन में सब ऐश्वर्यों का कारण बनते हैं। ये अग्नि और मरुत् **उत्तराद् दिवः**=उत्कृष्ट द्युलोक के **ष्णुभिः**=शिखरों से **अधिवहध्वे**=हमारा वहन करते हैं, अर्थात् ये हमें उत्कृष्ट द्युलोक के शिखर पर पहुँचानेवाले होते हैं। ज्ञान की चरमसीमा ही 'उत्कृष्ट द्युलोक' है। प्रभु-स्मरण व प्राणसाधना से हम इस उत्कृष्ट द्युलोक में पहुँचते हैं। (२) **ते**=वे **मन्दसानाः**=हमारे जीवनों को आनन्दमय बनाते हुए, **धुनयः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले, **रिशादसः**=शत्रुओं को खा जानेवाले प्राणो! आप **सुन्वते**=सोम का सम्पादन करनेवाले **यजमानाय**= यज्ञशील पुरुष के लिये **वामं धत्त**=सुन्दर धनों को धारण करो। प्रभु-स्मरण व प्राणसाधना से हमारा जीवन निर्दोष व यज्ञमय बने और सुन्दर धनों का धारण करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण व प्राणसाधना ही हमें पृथिवी से अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से द्युलोक में व द्युलोक के शिखर पर पहुँचाते हैं। ये हमें निर्दोष व यज्ञशील बनाकर उत्तम धनों से धन्य बनाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'प्रभु-स्मरण व प्राणसाधना' द्वारा सोम का पान

अग्ने॑ म॒रुद्भिः॑ शु॒भय॑द्भि॒र्ऋक्व॑भि॒ः सोमं॑ पिब मन्दसा॒नो ग॑ण॒श्रिभिः॑।
पा॒व॒केभि॑र्विश्वमि॒न्वेभि॑रा॒युभि॒र्वैश्वा॑नर प्र॒दिवा॑ के॒तुना॑ स॒जूः॥ ८॥

(१) हे **वैश्वानर**=विश्वनर हित **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **प्रदिवा, केतुना** व उस सनातन ज्ञान से **सजूः**=संगत हुए-हुए **मरुद्भिः**=इन प्राणों के द्वारा **मन्दसानः**=हमें आनन्दित करते हुए **सोम पिब**=हमारे शरीर में सोम का पान करिये। प्रभु हमें ज्ञान प्रवण बनायें और प्राणसाधना में प्रवृत्त करके हमें सोमरक्षण के योग्य करें। यहाँ पर स्पष्ट है कि सोमरक्षण प्रभु-कृपा से होगा। उसके लिये आवश्यक है कि हम उत्कृष्ट ज्ञान के अध्ययन में प्रवृत्त हों और प्राणसाधना करनेवाले बनें। (२) उन प्राणों के द्वारा सोम का पान होना है जो **शुभयद्भिः**=हमारे जीवन को शोभायुक्त करते हैं। **ऋक्विभिः**=हमें स्तुति-प्रवण बनाते हैं। **गणश्रिभिः**=शरीरस्थ सब इन्द्रियगणों की शोभा को बढ़ानेवाले हैं। **पावकेभिः**=हमारे जीवनों को पवित्र बनानेवाले हैं। **विश्वं इन्वेभिः**=सब अंगों को प्रीणित करनेवाले हैं उन्हें प्रवृद्ध शक्तिवाला बनाते हैं और **आयुभिः**-जीवन हैं, दीर्घायुष्य का कारण होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण व प्राणसाधना द्वारा शरीर में सोम का रक्षण होकर सब शोभा की वृद्धि होती है।

'श्यावाश्व आत्रेय' ऋषि का ही अगला सूक्त भी है—

६१. [एकषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'श्रेष्ठतम' प्राण

के ष्ठा नरः श्रेष्ठतमा य एकएक आयय। परमस्याः परावतः ॥ १ ॥

(१) 'प्राण शरीर में किस प्रकार अद्भुत ढंग से कार्य करते हैं? किस प्रकार हमें उन्नतिपथ पर ले चलते हुए सर्वोच्च स्थिति में पहुँचाते हैं, द्युलोक के भी चरम-स्थान (शिखर) पर ये हमें ले जानेवाले हैं।' इस बात का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे प्राणो! **नरः**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले आप **के ष्ठा**=कौन हो? आपका स्वरूप पूरा-पूरा समझना बड़ा कठिन है। हाँ, आप **श्रेष्ठतमाः**=श्रेष्ठतम हो। सब इन्द्रियाँ थक जाती हैं। पर आप दिन-रात जागकर इस जीवनयज्ञ के प्रहरी बनते हो। सब इन्द्रियों में वस्तुतः आप की ही शक्ति काम करती है। वाणी को आप ही वसिष्ठ बनाते हैं, चक्षु में प्रतिष्ठात्व आपके कारण है, श्रोत्र की सम्पत्ति का आप ही मूल हो और प्राण को आप ही आयतन बनाते हो। (२) **ये**=जो आप **एकः एकः**=एक-एक **परमस्याः परावतः**=दूर-से-दूर लोक में हमें प्राप्त कराने के हेतु से **आयय**=आते हो। इन प्राणों की साधना से ही पृथिवी से हम अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से द्युलोक में, द्युलोक की भी चरमसीमा पर पहुँचा करते हैं। प्राणसाधना से ही हम तमस् से रजस् में, रजस् से सत्त्व में पहुँचते हैं। यह साधना ही हमें नित्य सत्वस्थ बनाकर अन्ततः निस्त्रैगुण्य बनाती है।

भावार्थ—'प्राण' अद्भुत शक्ति-सम्पन्न हैं। ये हमें उत्कृष्ट, उत्कृष्टतर व उत्कृष्टतम स्थिति में पहुँचाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'सर्वाधार' प्राण

क्व१ वोऽश्वाः क्वा३भीशवः कथं शेक कथा यय। पृष्ठे सदो नसोर्यमः ॥ २ ॥

(१) हे प्राणो! **क्व**=कहाँ **वः**=आपके **अश्वाः**=अश्व हैं, **क्वः अभीशवः**=कहाँ लगाये हैं? **कथं शेक**=किस प्रकार आप शक्तिशाली बनते हो, उस-उस कार्य को करने में समर्थ होते

हो! **कथा यय**=किस प्रकार गति करते हो। यह सब ही रहस्यमय ही है। प्राणों के कार्यक्रम को पूरा-पूरा समझ सकना सम्भव नहीं। (२) हमें सामान्यतः इनके विषय में इतना ही पता है कि **पृष्ठे सदः**=प्रत्येक इन्द्रिय के कार्य के मूल में इनका अधिष्ठान है। प्राणों के आधार से ही सब कार्य चलते हैं। और **नसोः यमः**=नासिका छिद्रों में आपका नियमन होता है। जिस समय नासिका के दक्षिण छिद्र में आपकी गति होती है तो अग्नितत्त्व का वर्धन होता है, वामछिद्र में गति होने पर जलतत्त्व का विकास दिखता है। एवं अग्नि व जल दोनों तत्त्वों का ठीक ठीक नियमन करते हुए ये प्राण हमारे जीवन को सुन्दर बनाते हैं। ये दायें-बायें छिद्र ही योग में सूर्यस्वर व चन्द्रस्वर कहलाते हैं।

भावार्थ—प्राणों का कार्यक्रम रहस्यमय है। हम इतना ही जानते हैं कि सब कार्यों के मूल में यह प्राणशक्ति है और नासिका छिद्रों में इनका नियमन कार्य चलता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गति-संयम-सत्सन्तान

जघने चोद एषां वि सक्थानि नरो यमुः। पुत्रकृथे न जनयः ॥ ३ ॥

(१) **जघने**=गमन के साधनभूत जघन प्रदेश में **एषाम्**=इन प्राणों की ही **चोदः**=प्रेरणा कार्य करती है प्राणशक्ति से ही जघन प्रदेश सबल होकर हमें दूर-दूर जाने में समर्थ करते हैं। **नरः**=ये हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राण ही **सक्थानि**=हमारे ऊरु प्रदेशों के **वियमुः**=विशेषरूप से संयमवाला बनाते हैं। (२) इस प्रकार हमारे जीवनों को गतिशील व संयमी बनाकर ये प्राण **पुत्रकृथे**=उत्तम सन्तानों के निर्माण में **जनयः न**=उत्तम पत्नियों के समान होते हैं। वस्तुतः प्राणसाधना से ही पति-पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें गतिशील, संयमी व सत्सन्तानवाला बनाती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वीर, मर्य, भद्रजानि व अग्नितप' प्राण

परा वीरास एतन मर्यासो भद्रजानयः। अग्नितपो यथासथ॥ ४॥

(१) हे **वीरासः**=शत्रुओं को विशेषरूप से ईरित (कम्पित) करनेवाले, **मर्यासः**=मनुष्यों के लिये हित करनेवाले, **भद्रजानयः**=कल्याण व सुख को जन्म देनेवाले प्राणो! **परा एतन**=दूर-दूर तक, इस शरीर भुवन के सुदूर प्रान्त भागों तक, गतिवाले होवो। (२) प्राणायाम के द्वारा उस-उस अंग में पहुँचकर ये प्राण वहाँ के मलों को दग्ध करते हैं और उन्हें दीप्त करते हैं। सो कहते हैं कि तुम शरीर में सर्वत्र पहुँचो, **यथा**=जिससे **अग्नितपः असथ**=अग्नि से तप्त ताम्र आदि की तरह तुम अंग-प्रत्यंग को दीप्त करनेवाले होवो। प्राणसाधक पुरुष को ये प्राण अग्निदीप्त बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राण 'शत्रुओं को कम्पित करके हमारा हित करनेवाले हैं। कल्याण को जन्म देनेवाले व अग्नि के समान हमें दीप्त बनानेवाले हैं।'

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**शशीयसी तरन्तमहिषी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्राणशक्ति (तरन्तमहिषी)

सनत्साश्व्यं पशुमुत गव्यं शतावयम्। श्यावाश्वस्तुताय या दोर्वीरायोपबर्बृहत्॥ ५ ॥

(१) शत्रुओं को नष्ट करनेवाले, तैर जानेवाले प्राण 'तरन्त' है, इनकी शक्ति 'तरन्त-महिषी'

है। **सा**-यह प्राणशक्ति **अश्वयं पशुम्** अश्व सम्बन्धी पशुओं को **सनत्**-प्राप्त कराती है। कर्मेन्द्रियाँ ही अश्व पशु हैं, ये कर्मों में व्यापनवाली हैं। **उत**-और **गव्यम्**=गो सम्बन्धी पशुओं को भी यह प्राप्त कराती है। ये पशु ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, 'गमयन्ति, अर्थात् इति गावः'=ये अर्थों का ज्ञान देती हैं। यह 'तरन्त महिषी' **शतावयम्**-शतवर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त कराती है (शत-वयस्) (२) यह प्राणशक्ति **श्यावाश्वस्तुताय**=क्रियाशील इन्द्रियोंवाले व स्तुतिमय जीवनवाले **वीराय**=वीर पुरुष के लिये **दोः**-अपनी भुजा को **उपबर्बृहत्**=उपबर्ह के रूप में, तकिये के रूप में प्राप्त कराती है। अर्थात् श्यावाश्वस्तुत की यह प्राणशक्ति आश्रय देनेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणशक्ति से उत्तम कर्मेन्द्रियाँ, उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ व शतवर्ष का दीर्घजीवन मिलता है। क्रियाशील स्तुतिमय वीर पुरुष की यह प्राणशक्ति बलवान् बनती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**शशीयसी तरन्तमहिषी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्त्री यः पुरुष?

उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्रादराधसः ॥ ६ ॥

(१) **उत**=और **त्वा**-वह एक **शशीयसी**-प्लुतगतिवाली, निरन्तर कार्यों में प्रवृत्त, आलस्यशून्य स्त्री **पुंसः**=उस पुरुष से **वस्यसी**-वही उत्तम निवासवाली है, जो पुरुष कि **अदेवत्रात्**-(येन देवाः न त्रायन्ते) जो अपने अन्दर दिव्यगुणों का रक्षण नहीं करता और **अराधसः**=जो दान योग्य धन से रहित, अर्थात् लोभी है। (२) यदि एक पुरुष है जो न किसी दिव्यगुण से युक्त है और लोभी है, और एक स्त्री है, जो निरन्तर कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त है तो इन दोनों में स्त्री ही निवास को उत्तम बनाती है।

भावार्थ—प्रभु हमें दिव्यगुणों से दूर लोभीवृत्तिवाला पुरुष न बनाकर कर्त्तव्यकर्मपरायणा स्त्री का ही शरीर दें जिससे हम अपने निवास को उत्तम बनानेवाले हों।

अगले मन्त्र में इस शशीयसी का चित्रण देखिये—

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**शशीयसी तरन्तमहिषी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कौन-सी स्त्री 'वस्यसी' होती है?

वि या जानाति जसुरिं वि तृष्यन्तं वि कामिनम्। देवत्रा कृणुते मनः ॥ ७ ॥

(१) गतमन्त्र की 'कर्त्तव्यकर्मपरायणा' (शशीयसी) स्त्री का चित्रण करते हुए कहते हैं कि यह वह है **या**-जो **जसुरिम्**-(जसु उपक्षेपणे) मन को उपक्षिप्त करनेवाले, मन की वृत्ति को अशान्त करनेवाले क्रोध को, **विजानाति**=कभी नहीं अपनाती (ज्ञा=to recognise as one's own, वि विपरीत)। **तृष्यन्तम्**-सदा तृष्णावाले, कभी न तृप्त होनेवाले लोभ को भी **वि**-नहीं अपनाती, अपना नहीं बनाती। **कामिनम्**-कामवासना में फँसी स्थिति को **वि**=न अपनाकर अपने से दूर रखती है। (२) यह शशीयसी स्त्री **देवत्रा**-देवों के विषय में **मनः कृणुते** अपने मन को करती है। 'क्रोध, लोभ व काम' से ऊपर उठकर ही हम किन्हीं भी दिव्य गुणों को धारण कर पाते हैं।

भावार्थ—कर्त्तव्यपरायणा स्त्री का जीवन 'क्रोध-लोभ-काम' से ऊपर उठकर दिव्यगुणों में प्रीतिवाला होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**शशीयसी तरन्तमहिषी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पुरुष का लक्षण (कौन पुरुष है)

उत घा नेमो अस्तुतः पुमाँ इति ब्रुवे पणिः। स वैरदेय इत्समः ॥ ८ ॥

(१) **उत घा**-और फिर जो **नेमः**=अपनी पत्नी का अर्धांग बनता है, पत्नी को ही अर्धांगिनी न समझता हुआ स्वयं भी अर्धांग बनने का प्रयत्न करता है, अर्थात् पतिव्रता के यशोगान को ही सदा न करता हुआ स्वयं भी एक पत्नीव्रत बनने का प्रयत्न करता है। **अस्तुतः**=सदा अपनी ही स्तुति (प्रशंसा) नहीं करता रहता **पणिः**=सदा प्रभु-स्तवन करनेवाला होता है। यह ही **'पुमान्' इति**='पुरुष' इस नाम से **ब्रुवे**=कहा जाता है, 'पुमान्', अर्थात् अपने जीवन को पवित्र करनेवाला। (२) **सः**=वह **वैरदेये**=वीरों से किये जानेवाले धन दान के कर्म में **इत्**=निश्चय से **समः**=समवृत्ति का होता है। पक्षपात से कभी इस दानक्रिया को नहीं करता। सबका भला चाहता हुआ यज्ञशील होता है।

भावार्थ—पुरुष वही है जो (१) पत्नी का अर्धांग बनता है, (२) घमण्ड नहीं करता रहता, (३) प्रभु स्तवन की वृत्ति रखता है तथा (४) दान कर्म में समवृत्ति को अपनाता है, पक्षपात नहीं करता।

सूचना—ऐसा जीवन प्राणसाधना से ही तो बनेगा इसीलिए मरुतों के प्रकरण में यह सब उल्लेख हुआ है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**पुरुमीळ्हो वैददश्विः** ॥ छन्दः—**सतोबृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

दीर्घयशा विप्र (पुरुमीढ वैददश्विः)

उत मेऽरपद्युवतिर्ममन्दुषी प्रति श्यावाय वर्तनिम्।
वि रोहिता पुरुमीळ्हाय येमतुर्विप्राय दीर्घयशसे॥ ९॥

(१) **उत**=निश्चय से **श्यावाय**=(श्यैङ् गतौ), गतिशील **मे**=मेरे लिये **युवतिः**=बुराइयों को दूर करनेवाली, अच्छाइयों को प्राप्त करानेवाली, **प्रति ममन्दुषी**=इसे अपनानेवाले प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को आनन्दित करनेवाली यह वेदवाणी **वर्तनिं अरयत्**=मार्ग का प्रतिपादन करती है। हम इस वेदवाणी का अध्ययन करते हैं, यह हमारी आँख बनती है और हमारे लिये मार्ग को दिखलाती है। (२) **पुरुमीढाय**=प्राणसाधना द्वारा खूब ही अपने अन्दर शक्ति का सेचन करनेवाले **दीर्घयशसे**=खूब ही प्रभु का यशोगान (स्तवन) करनेवाले **विप्राय**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले यशस्वी जीवनवाले पुरुष के लिये **रोहिता**=तेजस्वी ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **वियेमतुः**=शरीर-रथ में धारण किये जाते हैं। इस पुरुष को तेजस्वी इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। इनके द्वारा यह जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ता है।

भावार्थ—गतिशील पुरुष को वेदवाणी मार्गदर्शन कराती है। इस मार्ग पर चलता हुआ यह उत्कृष्ट इन्द्रियों को प्राप्त करता है। अपने में शक्ति का सेचन करता हुआ यह यशस्वी व ज्ञानी बनता है। कर्मेन्द्रियों के दृष्टिकोण से यशस्वी, ज्ञानेन्द्रियों के दृष्टिकोण से ज्ञानी। अपने में शक्ति का सेचन करने से यह 'पुरुमीढ' है, उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करने से 'वैददश्वि' है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**तरन्तो वैददश्विः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वैददश्विः तरन्तः

यो मे धेनूनां शतं वैददश्विर्यथा ददत्। तरन्तइव मंहना॥ १०॥

(१) **यः**=जो प्रभु **मे**=मेरे लिये **धेनूनाम्**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणीरूप गौओं को **शतम्**=शतवर्ष पर्यन्त **यथा**=ठीक-ठीक 'याथातथ्यतः' **ददत्**=देते हैं, वे प्रभु मेरे लिये 'वैददश्विः'= उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले हैं। इन इन्द्रियों से ही तो मैं उस ज्ञानदुग्ध को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त करता हूँ। (२) वे प्रभु **मंहना**=मंहनीय धनों को शतवर्ष-पर्यन्त मेरे लिये देते हुए

तरन्तः इव=मुझे भवसागर से तरानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें शतवर्षपर्यन्त ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेद धेनुओं को तथा मंहनीय धनों को प्राप्त कराते हैं। वेद धेनुओं से हम उस सर्वव्यापक प्रभु (अश् व्याप्तौ) को जानते हुए 'वैददश्वि' बनते हैं और धनों से सांसारिक आवश्यकताओं को पूर्ण करते हुए 'तरन्त' बनते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्राणसाधना के तीन लाभ

य ईं वहन्त आशुभिः पिबन्तो मदिरं मधु। अत्र श्रवांसि दधिरे॥ ११॥

(१) ये प्राण (मरुत्) वे हैं **ये**=जो **ईम्**=निश्चय से **आशुभिः**=शीघ्रगामी इन्द्रियाश्वों से **वहन्ते**=हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाते हैं। प्राण इन्द्रियों के दोषों को दग्ध करके उन्हें निर्मल बना देते हैं। ये इन्द्रियाश्व हमारे शरीर-रथ को लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले होते हैं। (२) ये प्राण **मदिरम्**=उल्लास के जनक **मधु**=सब ओषधियों के सारभूत सोम (वीर्यशक्ति) को **पिबन्तः**=शरीर के अन्दर ही पीते हुए, **अत्र**=इस जीवन में **श्रवांसि**=ज्ञानों को **दधिरे**=धारण करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के तीन लाभ हैं—(१) निर्मल इन्द्रियाश्वों से यह शरीर-रथ लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाला होता है, (२) उत्पन्न हुए-हुए सोम का शरीर में व्यापन होता है, (३) रक्षित सोम से ज्ञानाग्नि का दीपन होकर ज्ञानवृद्धि होती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूर्य के समान दीप्त 'रथ'

येषां श्रियाधि रोदसी विभ्राजन्ते रथेष्वा। दिवि रुक्मइवोपरि॥ १२॥

(१) **येषाम्**=जिन प्राणों की **श्रिया**=श्री से, शोभा से **रोदसी**=द्यावापृथिवी **अधि**=अधिष्ठित होते हैं। वे प्राण **रथेषु**=इन शरीर-रथों में **आ**=समन्तात् **विभ्राजन्ते**=दीप्त होते हैं। प्राण ही मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानदीप्ति प्राप्त कराते हैं, प्राण ही शरीररूप पृथिवी को तेजस्विता से दृढ़ करते हैं। प्राणसाधना से सोमरक्षण होकर यह सब कार्य होता है। (२) ये प्राण शरीर-रथ में इस प्रकार दीप्त होते हैं, **इव**=जैसे **उपरि दिवि**=ऊपर द्युलोक में **रुक्मः**=यह देदीप्यमान आदित्य चमकता है। प्राणसाधना से सारा शरीर सूर्य के समान चमक उठता है। प्राणसाधना से सुरक्षित सोम अन्नमयकोश को 'तेजस्वी', प्राणमय के समान चमक उठता है। प्राणसाधना से सुरक्षित सोम अन्नमयकोश को 'तेजस्वी', प्राणमय को 'वीर्यवान्' मनोमय को 'ओजस्वी व बलवान्', विज्ञानमय को 'ज्ञानदीप्त' (मन्युमय) तथा आनन्दमय को 'सहस्वान्' बनाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सारा शरीर दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

त्वेषरथः अनेद्यः

युवा स मारुतो गणस्त्वेषरथो अनेद्यः। शुभंयावाप्रतिष्कुतः॥ १३॥

(१) **सः**=वह **मारुतः गणः**=प्राणों का गण **युवा**=बुराइयों को पृथक् करनेवाला व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाला है। **त्वेषरथः**=इस मारुत-गण से ही यह शरीर-रथ दीप्त बनता है। शरीर के एक-एक कोश को यह मारुतगण तेजोदीप्त बना देता है। **अनेद्यः**=यह अनिन्दनीय है। इन प्राणों की साधना से कोई भी निन्द्यभाव हमारे मनों में नहीं रहता। (२) यह मारुतगण **शुभंयावा**=शुभ गतिवाला है, अर्थात् प्राणसाधना से अशुभवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं,

हमारे सब कार्य शुभ ही शुभ होते हैं। **अप्रतिष्कुतः**=यह मारुतगण शत्रुओं से अनभिगत होता है, शत्रुओं का इस पर आक्रमण नहीं होता। उपनिषदों में हम पढ़ते हैं कि असुरों ने जब प्राणों पर आक्रमण किया तो ऐसे नष्ट हो गये जैसे कि पत्थर से टकराकर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है। सो यह प्राणगण 'अप्रतिष्कुत' है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सब बुराइयाँ दूर होती हैं, शरीर-रथ दीप्त बनता है, जीवन अनिन्द्य होता है, सदा हम शुभ आचरणवाले बनते हैं और शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ऋतजाताः-अरेपसः

को वेद नूनमेषां यत्रा मदन्ति धूतयः। ऋतजाता अरेपसः॥ १४॥

(१) **एषाम्**=इन प्राणों के स्वरूप व स्थान को **नूनम्**=निश्चय से **कः वेद**=कोई विरला ही जानता है? **यत्रा**=जिन स्थानों में स्थित हुए-हुए **धूतयः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले ये प्राण **मदन्ति** (मादयन्ति)=जीवन को उल्लासमय बनाते हैं। शरीरस्थ प्राण अपनी क्रियाओं से शरीर की व्याधियों व मन की आधियों को विनष्ट करते हैं। पर कोई विरला पुरुष ही इन प्राणों की साधना में प्रवृत्त होता है। (२) ये प्राण **ऋतजाताः**=ऋत का अनुभव होने के लिये ही प्रादुर्भूत हुए हैं (ऋते जाताः), इनके कारण अनृत का विनाश होकर ऋत का विकास होता है। **अरेपसः**=ये प्राण दोषरहित हैं। प्राणसाधना से सब दोषों का दहन होकर जीवन निर्दोष व दीप्त बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (१) जीवन निर्दोष बनता है, (२) ऋत व सत्य का जीवन में विकास होता है। (३) सब मलों का परिहार होने से आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'सत्यमार्ग पर ले-चलनेवाले' प्राण

यूयं मर्तं विपन्यवः प्रणेतार इत्था धिया। श्रोतारो यामहूतिषु॥ १५॥

(१) हे **विपन्यवः**=(पन स्तुतौ) विशिष्ट स्तुतिवाले प्राणो! **यूयम्**=आप **मर्तम्**=मनुष्य को **इत्था धिया**=सत्य बुद्धि से **प्रणेतारः**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हो। प्राणायाम से चित्तवृत्ति का निरोध होकर प्रभु-स्तवन की वृत्ति जागती है, इस स्तवन से सत्य बुद्धि प्राप्त होती है, सत्य बुद्धि से हम उन्नतिपथ पर आगे बढ़ पाते हैं। (२) ये प्राण **यामहूतिषु**=(यामः मार्गः, तदर्थं हूतिषु) मार्गों के लिये आह्वानों के होने पर मैं **श्रोतारः**=हमारी पुकारों को सुननेवाले हैं। अर्थात् जब हम मार्गों को जानने के लिये पुकार करते हैं तो ये प्राण हमारे लिये ठीक मार्ग का ज्ञान देनेवाले होते हैं। प्राणसाधना से होनेवाली ज्ञानदीप्ति मार्गदर्शन कराती ही है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें (१) प्रभु-स्तवन की ओर झुकाती है, (२) इससे सत्यबुद्धि उत्पन्न होती है और हम ठीक मार्ग पर आगे बढ़नेवाले होते हैं। (३) ये प्राण हमारी पुकार को सुनते हैं और मार्गदर्शन कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पुरुश्चन्द्राः रिशादसः

ते नो वसूनि काम्या पुरुश्चन्द्रा रिशादसः। आ यज्ञियासो ववृत्तन॥ १६॥

(१) हे प्राणो! आप **पुरुश्चन्द्राः**=पालक व पूरक हैं अतएव आह्लादजनक धनोंवाले हो। **रिशादसः**=शत्रुओं को समाप्त करनेवाले हो और **यज्ञियासः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में हमें सदा

प्रवृत्त करनेवाले हो। (२) **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिये **काम्या**=कमनीय, चाहने योग्य **वसूनि**=निवास के लिये साधनभूत धनों को **आववृत्तन**-आवृत्त करो, निरन्तर प्राप्त होनेवाला करो।

भावार्थ—प्राण हमारे लिये सब आह्लादजनक तेजस्विता आदि धनों को प्राप्त कराते हैं, काम क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं को नष्ट करते हैं, उत्तम कर्मों में हमें प्रवृत्त करते हैं। ये सब वसुओं को हमारे लिये दें।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दार्भ्य को स्तोम की प्राप्ति

एतं मे स्तोममूर्म्ये दार्भ्याय परा वह। गिरो देवि रथीरिव॥ १७॥

(१) 'ऊर्मि' शब्द प्रकाश (light) का वाचक है। उस प्रकाश के लिये हितकर होने से वेदवाणी 'ऊर्म्या' है, प्रकाश को देनेवाली होने से यह 'देवी' है। 'दृभ्' धातु का अर्थ है 'to fear, to be afraid of' भयभीत होना। पापों से भयभीत होनेवाला यह व्यक्ति 'दार्भ्य' है। यह प्रार्थना करता है कि हे **अर्म्ये**-ज्ञान-प्रकाश को प्राप्त कराने में उत्तम वेदवाणि! तू **दार्भ्याय**-पापों से सदा भयभीत होकर दूर रहनेवाले **मे**-मेरे लिये **एतं स्तोमम्**-इस मन्त्रसमूह को **परावह**=(परा-towards) प्राप्त करा। पापों से अपने को बचानेवाला व्यक्ति ही ज्ञान को प्राप्त कर पाता है। (२) हे **देवि**=प्रकाश को देनेवाली वेदवाणि! **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को तू प्राप्त करा, **इव**=जैसे कि **रथीः**=एक रथवान् रथ पर स्थापित करके विविध वसुओं को हमारे लिये प्राप्त कराता है। यह देवी हमें ज्ञान प्राप्त कराये।

भावार्थ—पापों से भयभीत होनेवाला पुरुष ही ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुतसोम-रथवीति

उत मे वोचतादिति सुतसोमे रथवीतौ। न कामो अप वेति मे॥ १८॥

(१) गतमन्त्र की **ऊर्म्या**-प्रकाश की किरणों में उत्तम वेदवाणी **उत**=निश्चय से **मे**=मुझे **वोचतात्**-उपदेश करे **इति**-कि **सुतसोमे**=(सुतः सोमो येन) सोम (वीर्यशक्ति) का सम्पादन करनेवाला तथा **रथवीतौ**=शरीर रथ को कान्त (सुन्दर) बनानेवाला होने में **मे कामः**=मेरी कामना **न अपवेति**=दूर नहीं होती है। (२) मुझे इस वेदवाणी से प्रेरणा प्राप्त हो और मैं सदा सोम (वीर्यशक्ति) का सम्पादन करूँ तथा अपने शरीर-रथ को सुन्दर ही सुन्दर बना डालूँ। सुरक्षित सोम ने ही तो इसे सौन्दर्य प्रदान करना है।

भावार्थ—वेद से प्रेरणा प्राप्त करके हम 'सुतसोम रथवीति' बनें, वीर्य का सम्पादन करनेवाले, कान्त शरीरवाले।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मघवा (ज्ञानैश्वर्यवाला) रथवीति

एष क्षेति रथवीतिर्मघवा गोमतीरनु। पर्वतेष्वपश्रितः॥ १९॥

(१) **एषः** यह **रथवीतिः**=अपने शरीर-रथ को कान्त बनानेवाला **गोमतीः अनु**=ज्ञान की वाणियोंवाली इन वेदमाताओं के अनुसार जीवन को बनाता हुआ और अतएव **मघवा**=ज्ञानैश्वर्यवाला होकर **क्षेति**=निवास को उत्तम बनाता हुआ गति करता है। (२) इस प्रकार जीवन को व्यतीत करता हुआ यह **पर्वतेषु**=अविद्या पर्वतों में **अपश्रितः**=अपश्रित होता है। यह अविद्या से सदा

दूर रहता है। 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश' इन पाँच पर्वोंवाली यह अविद्या 'पर्वत' है। 'रथवीति' इससे सदा दूर रहता है और ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करनेवाला 'मघवा' होता है।

भावार्थ—ज्ञान की वाणियोंवाली वेदमाता के अनुसार चलकर हम ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करें, अविद्या पर्वत से सदा दूर रहें। तभी हमारा यह शरीर-रथ कान्त बनेगा और हमारा जीवन उत्तम होगा।

यह वेदानुकूल जीवन बितानेवाला व्यक्ति 'श्रुतिवद्' कहलाता है, श्रुति का ज्ञाता। यह आत्रेय होता है, काम-क्रोध-लोभ से परे। यह मित्र व वरुण की आराधना करता हुआ कहता है—

६२. [द्विषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देव शरीर

ऋतेन॑ ऋ॒तमपि॑हितं ध्रु॒वं वां॒ सूर्य॑स्य॒ यत्र॑ विमु॒चन्त्यश्वा॑न्।
दश॑ श॒ता स॒ह त॑स्थु॒स्तदेकं॑ दे॒वानां॒ श्रेष्ठं॒ वपु॑षामपश्यम्॥ १॥

(१) 'मित्र' की आराधना का भाव है 'सब के प्रति स्नेहवाला होना'। 'वरुण' की आराधना का भाव है 'द्वेष-निवारणवाला होना, किसी के प्रति द्वेष का न होना'। एवं 'सब के साथ स्नेह, किसी के प्रति द्वेष नहीं' यही 'मित्रावरुण' का आराधन है। इस आराधन के होने पर **ध्रुवम्**=निश्चय से **वाम्**=आपके लिये, मित्र व वरुण के लिये, **ऋतेन**=ऋत से **ऋतम्**=ऋत ही **अपिहितम्**=आच्छादित है, अर्थात् जीवन ऋतमय बन जाता है। अनृत मात्र 'द्वेष' का परिणाम है, द्वेष गया तो अनृत भी गया। यह वह जीवन बनता है **यत्र**=जहाँ **सूर्यस्य अश्वान्**=सूर्य के अश्वों के **विमुचन्ति**=राक्षसी आक्रमणों से मुक्त करते हैं। अनृत के चले जाने पर सब इन्द्रियाश्व इस प्रकार दीप्त हो उठते हैं, जैसे कि वे सूर्य के अश्व हों। (२) **दश शता**=हजारों सूर्यरश्मियाँ **सह**=साथ-साथ **तस्थुः**=स्थित होती हैं, शतश=ज्ञान-किरणों से जीवन-गगन दीप्त हो उठता है। मैं भी मित्र व वरुण की आराधना करके **वपुषां देवानाम्**=(वपुष्मता) श्रेष्ठ शरीरवाले देवों के **तत् एकं श्रेष्ठम्**=उस एक श्रेष्ठ शरीर को **अपश्यम्**=देखूँ, अपने शरीर को देवों का शरीर बना पाऊँ।

भावार्थ—'मित्र-वरुण' की आराधना से (१) जीवन ऋतमय हो जाता है, (२) इन्द्रियाश्व सूर्य की तरह चमक उठते हैं, (३) जीवन ज्ञानसूर्य से चमक उठता है, (४) हमारा शरीर देव शरीर बन जाता है।

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मित्र-वरुण' का रथ

तत्सु वां॑ मित्रावरुणा महि॒त्वमी॒र्मा त॒स्थुषी॒रह॑भिर्दुदुह्रे।
विश्वा॑: पिन्वथ॒: स्वस॑रस्य॒ धेना॒ अनु॑ वा॒मेक॒: प॒विरा व॑वर्त॥ २॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता की भावनाओ! **वाम्**=आपका **तत्**=वह **सु**=उत्तम **महित्वम्**=महत्त्व है कि **ईर्मा**=यह सततगन्ता सूर्य **अहभिः**=दिनों से, अर्थात् दिन प्रतिदिन **तस्थुषीः**=स्थिर शक्तियों को **दुदुह्रे**=हमारे जीवन में प्रपूरित करता है। अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाने पर सूर्य-सम्पर्क में जीवन स्थिर शक्तियों से परिपूर्ण होता चलता है। (२) हे मित्र व वरुण आप **विश्वाः**=सब **स्वसरस्य**=स्वयं अपने सब कार्यों में गतिवाले उस सर्वशक्तिमान् प्रभु की **विश्वा धेनाः**=सब ज्ञानवाणियों को **पिन्वथः**=हमारे में आप्यायित करते हो। प्रभु से दिये

गये वेदज्ञान को हम प्राप्त करनेवाले बनते हैं। हे मित्र व वरुण इस प्रकार स्थिर शक्तियों व ज्ञानों से परिपूर्ण होकर **वाम्**=आप दोनों का **एकः पविः**=अद्वितीय रथ (पवि=चक्र=रथ) **अनु आववर्त**=अनुक्रमेण गतिवाला होता है। इसकी सब क्रियाएँ नित्यपूर्वक होती हैं।

भावार्थ—'मित्र-वरुण' की आराधना से जीवन शक्ति व ज्ञान से युक्त होकर नियमित गतिवाला होता है।

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पृथिवी व द्युलोक का धारण

अधारयतं पृथिवीमुत द्यां मित्रराजाना वरुणा महोभिः।
वर्धयतमोषधीः पिन्वतं गा अव वृष्टिं सृजतं जीरदानू॥ ३॥

(१) हे **मित्र वरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आप **राजाना**=जीवन को दीप्त करनेवाले हो। आप **महोभिः**=तेजस्विताओं के द्वारा **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **अधारयतम्**=धारण करते हो। निर्द्वेषता व स्नेह से शरीर व मस्तिष्क दोनों का स्वास्थ्य प्राप्त होता है। (२) हे मित्र-वरुण आप **ओषधीः**=भोजनजनित आनन्दों को **वर्धयतम्**=बढ़ाते हो 'ओषधयो वै मुदः, ओषधिभिर्हि इदं सर्वं मोदते' श० ९।४।१।७ स्नेह की भावना के होने पर खाया गया भोजन भी उत्कृष्ट रस आदि धातुओं को पैदा करके हमें आनन्दित करता है। द्वेष की भावना में खाया गया भोजन भी विषों को ही पैदा करता है। उत्तम धातुओं को जन्म देकर आप **गाः**=इन्द्रियों को **पिन्वतम्**=आप्यायित करते हो। **जीरदानू**=क्षिप्र दानोंवाले आप **वृष्टिं अवसृजतम्**=धर्ममेध समाधि में होनेवाले आनन्द के वर्षण को करते हो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता 'शरीर व मस्तिष्क' दोनों का धारण करते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता से खाये हुए भोजन से उत्तम रस आदि का उत्पादन होकर आनन्द की प्राप्ति होती है, इन्द्रियशक्ति का वर्धन होता है और समाधि में आनन्द की वर्षा का अनुभव होता है।

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्रियों की अन्तर्मुखता

आ वामश्वासः सुयुजो वहन्तु यतरश्मय उप यन्त्वर्वाक्।
घृतस्य निर्णिगनु वर्तते वामुप सिन्धवः प्रदिवि क्षरन्ति॥ ४॥

(१) हे मित्र और वरुण! **वाम्**=आपके **सुयुजः**=शरीर-रथ में उत्तमता से जुते हुए **अश्वासः**=इन्द्रियाश्व **आवहन्तु**=हमें सर्वथा लक्ष्य-स्थान पर ले जानेवाले हों। **यतरश्मयः**=जिनकी लगाम काबू में की गई है, वे इन्द्रियाश्व **अर्वाक्**=अन्दर की ओर **उपयन्तु**=प्राप्त हों। इन्द्रियों की वृत्ति बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी हो जाये। (२) **घृतस्य**=ज्ञानदीप्ति का **निर्णिक्**=शुद्ध रूप **वां अनुवर्तते**=आपका ही अनुवर्तन करता है। जितना-जितना हम स्नेह द्वेषाभाव को धारण कर पाते हैं, उतना-उतना ही दीप्त ज्ञानवाले बनते हैं। आपकी आराधना के होने पर **प्रदिवि**=इस प्रकृष्ट मस्तिष्करूप द्युलोक में **सिन्धवः**=ज्ञान-नदियाँ **उप क्षरन्ति**=प्रवाहित होती है, वस्तुतः ईर्ष्या-द्वेष बुद्धि की विकृति का महान् कारण बनते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता की आराधना से इन्द्रियाँ हमें लक्ष्य-स्थान की ओर ले जायेंगी ये विषयों में न भटकेंगी, हमारी ज्ञान दीप्ति बढ़ेगी, मस्तिष्क में ज्ञानप्रवाह बहेंगे।

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नमस्वन्ता-धृतदक्षा

अनु॑ श्रु॒ताम॒मतिं॒ वर्ध॑दु॒र्वीं ब॒र्हिरि॑व॒ यजु॑षा॒ रक्ष॑माणा।
नम॑स्वन्ता धृतद॒क्षाधि॒ गर्ते॑ मित्रासा॑थे व॒रुणेळा॑स्व॒न्तः॥ ५॥

(१) हे **मित्र वरुण**=स्नेह व निर्द्वेषता के भाव को आप **श्रुताम्**=ज्ञान-सम्पन्न **उर्वीम्**=हृदय की विशालतावाले **अमतिम्**=उत्कृष्टरूप को **अनुवर्धत्**=बढ़ाते हुए हो। इन मित्र-वरुण की आराधना से मस्तिष्क में ज्ञान की वृद्धि होती है, हृदय विशाल बनता है और तेजस्विता के कारण शरीर का रूप भी दीप्त होता है। ये मित्र-वरुण रूप को इस प्रकार बढ़ाते हैं, **इव**=जैसे कि **यजुषा**='देवपूजा, संगतिकरण व दान' से **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय का **रक्षमाणाः**=रक्षण करते हैं। (२) **नमस्वन्ता**=प्रभु का नमन करते हुए, **धृतदक्षा**=बल को धारण करनेवाले ये मित्र-वरुण **इडासु अन्तः**=वेदवाणी के अन्दर स्थित हुए-हुए **अधिगर्ते**=इस शरीर-रथ में **आसाथे**=आसीन होते हैं, अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता की भावना के होने पर जीवन वेदानुकूल बनता है।

भावार्थ—मित्र-वरुण की आराधना (क) ज्ञान को बढ़ाती है, (ख) हृदय को विशाल बनाती है, (ग) रूप को तेजोदीप्ति करती है। (घ) यह आराधना नम्रता व बल को बढ़ाती हुई जीवन को वेदानुकूल बनाती है।

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अक्रविहस्ता परस्पा

अक्र॑विहस्ता सु॒कृते॑ प॒रस्पा यं त्रासा॑थे व॒रुणेळा॑स्व॒न्तः।
राजा॑ना क्ष॒त्रमह्रु॑णीयमाना स॒हस्र॑स्थूणं बिभृथः स॒ह द्वौ॥ ६॥

(१) हे **वरुण**=मित्र और वरुण **यम्**=जिसको आप **इडासु अन्तः**=वेदवाणियों के अन्दर **त्रासाथे**=रक्षित करते हो उसके लिए **अक्रविहस्ता**=अकृपण हाथोंवाले, दानशूर होते हो, उस **सुकृते**=पुण्यशाली के लिये **परस्पा**=शत्रुओं से रक्षा करनेवाले होते हो। मित्र व वरुण की आराधना हमें सब उत्तम गुणों को प्राप्त कराती है और शत्रुओं से हमारा रक्षण करती है। (२) **राजाना**=हमारे जीवन को दीप्त करनेवाले, **अह्रणीयमाना**=क्रोध न करते हुए ये मित्र और वरुण **सह द्वौ**=साथ-साथ मिले हुए दोनों **क्षत्रम्**=बल को तथा **सहस्रस्थूणम्**=शतशः स्तम्भोंवाले इस शरीरगृह को **बिभृथः**=धारण करते हो। स्नेह व निर्द्वेषता के भाव से शरीर का बल ठीक बना रहता है और शरीर का धारण करनेवाले सब अंग अविकृत बने रहते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता का भाव (१) हमें शत्रुओं से रक्षित करता है, (२) हमारे बल को स्थिर रखता है, (३) शरीर के अंग-प्रत्यंग को सुदृढ़ बनाता है।

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दीप्त व अशुष्क शरीर

हिर॑ण्यनिर्णि॒गयो॑ अस्य॒ स्थूणा॒ वि भ्रा॑जते दि॒व्य१॒॑श्वाज॑नीव।
भ॒द्रे क्षेत्रे॒ निमि॑ता॒ तिल्वि॑ले वा स॒नेम॒ मध्वो॒ अधि॑गर्त्यस्य॥ ७॥

(१) मित्र व वरुण का रथ **हिरण्यनिर्णिक्**=स्वर्ण के रूपवाला होता है, अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता से शरीर-रथ सोने के समान चमकता है। **अस्य**=इस रथ के **स्थूणा**=स्तम्भ **अयः**=(अयो

विकाराः) लोहे के बने होते हैं। अर्थात् इस शरीर-रथ के स्तम्भ अत्यन्त सुदृढ़ होते हैं। यह रथ इस प्रकार **विभ्राजते**-चमकता है, **इव**-जैसे कि **दिवि**=द्युलोक में **अश्वाजनी** विद्युत् (अश्वाः व्यापनशीलाः मेधाः, तान् अजति गच्छति) (२) इस शरीर-रथ की स्थूणा **भद्रे क्षेत्रे**-कल्याणकर शरीर क्षेत्र में, **वा** अथवा **तिल्विले**-(तिलु इला यस्य) स्निग्ध अशुष्क शरीर में **निमिता**-बनी है। अर्थात् यह शरीर न तो किसी रोग आदि अभद्र स्थिति से आक्रान्त है और नां ही शक्तिशून्यता के कारण शुष्क हो गया है। हम **अधिगर्त्यस्य** शरीर रथ के लिये हितकर **मध्वः**-सोम का (वीर्यशक्ति का) **सनेम**-संभजन करें, सम्यक् सेवन करें। इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित करें।

भावार्थ—मित्र व वरुण की आराधना से शरीर 'दीप्त, दृढ़, भद्र व स्निग्ध' बना रहता है।

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हिरण्यरूपम् अयः स्थूणं (गर्तम्)

हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयःस्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च॥ ८॥

(१) **उषसः व्युष्टौ**=उषा के निकलने पर, **सूर्यस्य उदिता**-सूर्य के उदय होने पर **वरुण मित्र**-हे मित्र और वरुण (स्नेह व निर्द्वेष के भावो)! आप **गर्तम्**-शरीर-रथ पर **आरोहथः**-आरोहण करते हो उस शरीर-रथ पर जो **हिरण्यरूपम्** ज्योतिर्मय दीप्त रूपवाला है और **अयः स्थूणम्**=लौह स्तम्भोंवाला, अर्थात् अत्यन्त दृढ़ है। (२) हे मित्र व वरुण! आप **अतः**=इस शरीर-रथ पर स्थित होकर **अदितिं दितिं च**-अदिति और दिति को **चक्षाथे**-देखते हो। 'क्या तो खण्डित होने का कारण है क्या खण्डित नहीं होने का' इस को आप देखते हो। अदिति को अपनाते हो, और दिति को अपने से दूर करते हो। अदिति को अपनाने से आप आदित्यों (देवों) वाले बनते हो और दिति के परिहार से आप दैत्यवृत्तियों से बचे रहते हो।

भावार्थ—मित्र और वरुण शरीर को 'हिरण्यरूप अयः स्थूण' बनाते हैं। अदिति को अपनाते हैं, दिति का परिहार करते हैं। आदित्यों (देवों) से युक्त व दैत्यों से दूर होते हैं।

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सिषासन्तः-जिगीवांसः

यद्बंहिष्ठं नातिविधे सुदानू अच्छिद्रं शर्म भुवनस्य गोपा।
तेन नो मित्रावरुणावविष्टं सिषासन्तो जिगीवांसः स्याम॥ ९॥

(१) **मित्रा वरुणा**=हे मित्र और वरुण देवो, स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आप **सुदानू**-उत्तमताओं के देनेवाले हो अथवा बुराइयों को अच्छी प्रकार काटनेवाले हो (दाप् लवने)। बुराइयों को काट करके **भुवनस्य गोपा**-सब भुवन के रक्षक हो। वस्तुतः आज मित्र और वरुण की आराधना प्रचलित हो जाए तो युद्धों की इतिश्री ही हो जाये। वैयक्तिक जीवन में भी रोगों की कमी होकर दीर्घजीवन की प्राप्ति सम्भव हो जाये। इन मित्र-वरुण से आराधना करते हुए कहते हैं कि आपका जो **शर्म**-सुख है **तेन**-उसके द्वारा **नः अविष्टम्**=हमारा रक्षण करो। उस सुख के द्वारा **यद्**=जो **बंहिष्ठम्**=(बहु नाम) बहुत अधिक है, बहुत बढ़ा हुआ है, अधिक से अधिक प्राणियों का अधिक से अधिक कल्याण करनेवाला है। **न अतिविधे**-औरों के बहुत पीड़न का कारण नहीं बनता हमारे सुख में दूसरे को कुछ श्रम तो होता ही है। बिना किसी दूसरे के श्रम किये मुझे सुख कैसे मिलेगा! परन्तु मैं अपने सुख के लिये औरों को अतिशयेन विद्ध करनेवाला न हो जाऊँ। और जो सुख

'अच्छिद्र'=निर्दोष है। कई तात्कालिक सुख भविष्य के कष्टों का कारण बन जाते हैं। ये सब 'सछिद्र' हैं, 'अच्छिद्र' नहीं। मित्र वरुण से दिया जानेवाला सुख 'अछिद्र' है। (२) हे मित्र वरुण! हम आपकी आराधना से सदा **सिषासन्तः**=(संभक्तुमिच्छन्तः) धनों को बाँटकर खाने की कामनावाले व **जिगीवांसः**=सदा विजय की कामनावाले हों। संविभाग ही विजय का हेतु है। 'धनों को बाँटकर खाने की वृत्ति' में तो सदा विनाश है। लोभ के विनाश में सब शत्रुओं का जय है। सो विजय ही विजय है।

भावार्थ—मित्र और वरुण 'सुदानु' व 'गोप' हैं। इन से दिया गया सुख 'बंहिष्ठ व अछिद्र' है, यह सुख औरों के वेधन का हेतु नहीं बनता। इनकी आराधना से हम 'संविभाग व विजय' वाले बनते हैं।

प्रभु की उपासना करनेवाला 'अर्चनाना' अगले सूक्त का ऋषि है—

अथ चतुर्थाष्टके चतुर्थोऽध्यायः

६३. [त्रिषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋत-सत्य=आनन्द वृष्टि

ऋत॑स्य गोपा॒वधि॒ तिष्ठ॑थो॒ रथं॒ सत्य॑धर्माणा पर॒मे व्यो॑मनि।
यमत्र॑ मित्रावरु॒णाव॑थो यु॒वं तस्मै॑ वृ॒ष्टिर्मधु॑मत्पिन्वते दि॒वः ॥ १ ॥

(१) **मित्रावरुणा**=हे मित्र और वरुण! (स्नेह व निर्द्वेषता) आप **ऋतस्य गोपौ**=जीवन में ऋत के रक्षक हो, स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर जीवन में अनृत का प्रवेश नहीं होता। ऋत का वर्धन करते हुए अन्त में आप **परमे व्योमनि**=परम व्योम, अर्थात् हृदयाकाश में **सत्यधर्माणा**=सत्यस्वरूप प्रभु का धारण करनेवाले हैं। मित्र और वरुण के कारण भौतिक जीवन में 'ऋत' तथा अध्यात्म जीवन में 'सत्य' की स्थिति होती है। (२) इस प्रकार हे मित्रावरुणा! **युवम्**=आप **अत्र**=इस जीवन में **यम् अवथः**=जिसको रक्षित करते हैं, **तस्मै**=उसके लिये **दिवः**=द्युलोक से **वृष्टिः**=होनेवाली वर्षा-धर्ममेध समाधि में होनेवाली आनन्द की वृष्टि **मधुमत्**=माधुर्यवाली होती है **पिन्वते**=सेचन करती है। उसका निरन्तर वर्धन करती है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव के होने पर भौतिक जीवन में 'ऋत' होता है, अध्यात्म जीवन में सत्य तथा तब आनन्द की वृष्टि का अनुभव होता है।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

राधः-अमृतत्वम्

स॒म्राजा॑व॒स्य भुव॑नस्य राजथो॒ मित्रा॑वरुणा वि॒दथे॑ स्व॒र्दृशा॑।
वृ॒ष्टिं वां॒ राधो॑ अमृत॒त्वमी॑मह॒े द्यावा॑पृथि॒वी वि च॑रन्ति त॒न्य॑वः ॥ २ ॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवताओ! आप **अस्य भुवनस्य**=इस लोक के **सम्राजौ**=सम्राट् हो। आपके कारण ही यह भुवन दीप्त बनता है। हे मित्र और वरुण! **विदथे**=इस जीवनयज्ञ में आप **स्वर्दृशा**=स्वर्ग को देखनेवाले हो। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर जीवन स्वर्ग बन जाता है। (२) **वाम्**=आपसे हम **वृष्टिम्**=आनन्द के वर्षण को **ईमहे**=माँगते हैं। **राधः**=कार्यसाधक धनों व सफलता की याचना करते हैं। **अमृतत्वम्**=शरीर में नीरोगता की आपसे याचना

करते हैं। आपकी **तन्यवः**=विस्तृत रश्मियाँ व शक्तियाँ द्यावापृथिवी **विचरन्ति**-द्युलोक व पृथिवीलोक में, मस्तिष्क व शरीर में विचरन्ति-प्रसृत होती हैं। स्नेह व निर्द्वेषता से ही मस्तिष्क व शरीर दीप्त बनते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता जीवन में 'दीप्ति, सुख (स्वः) आनन्दवृष्टि, सफलता व नीरोगता' को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दिवस्पती-पृथिव्याः विचर्षणी

सम्राजा उग्रा वृषभा दिवस्पती पृथिव्या मित्रावरुणा विचर्षणी।
चित्रेभिरभ्रैरुप तिष्ठथो रवं द्यां वर्षयथो असुरस्य मायया॥ ३॥

(१) **मित्रावरुणा**-मित्र और वरुण (-स्नेह व निर्द्वेषता) के भाव **सम्राजा**-हमारे जीवनों को दीप्त बनानेवाले हैं। **उग्रा**-तेजस्वी हैं। **वृषभा**-सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **दिवस्पती**-द्युलोक के व ज्ञान के रक्षक हैं। ये मित्र और वरुण **पृथिव्याः**=शरीररूप पृथिवी के **विचर्षणी**=विशेषरूप से ध्यान करनेवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता से ज्ञान का भी वर्धन होता है और शरीर भी स्वस्थ बनता है। (२) हे मित्र और वरुण! आप **चित्रेभिः**=अद्भुत व ज्ञानयुक्त **अभ्रैः**=(अभ्र-अप्-भृ) कर्मों के भरण से **रवम्**-प्रभु स्तवन में **उपतिष्ठथः** उपस्थित होते हो। स्नेह व निर्द्वेषता को धारण करनेवाला पुरुष ज्ञानयुक्त कर्मों को करता हुआ प्रभु का स्तवन करता है। हे मित्रवरुण! आप **असुरस्य**-प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु की **मायया**-प्रज्ञा से, प्रभु से प्राप्त ज्ञान के द्वारा **द्यां वर्षयथः**=प्रकाश का वर्षण करते हो अथवा धर्ममेध समाधि में होनेवाली आनन्द की वर्षा का कारण बनते हो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भावों से शरीर व मस्तिष्क दोनों सुन्दर बने रहते हैं।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्योति व आनन्द वृष्टि

माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्।
तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते॥ ४॥

(१) हे **मित्रावरुणा**-स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **वाम्**=आपकी, अर्थात् आपकी उपासना से उत्पन्न, **माया**=प्रज्ञा **दिवि श्रिता**-मस्तिष्करूप द्युलोक में आश्रित होती है। उस द्युलोक में **सूर्यः ज्योतिः**=ज्ञानसूर्य प्रकाशमय होता है। उस समय यह ज्ञानसूर्य **चित्रं आयुधम्**=अद्भुत आयुध होता है। यह सारे अज्ञानान्धकार को नष्ट करके हमारे जीवन को काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं से रहित करता है। (२) हे मित्र और वरुण! आप **तम्**=उस सूर्य-ज्योति को **अभ्रेण**=धर्ममेध समाधि में विकसित होनेवाले मेघ से और **वृष्ट्या**-आनन्द के वर्षण से **दिवि**=इस द्युलोक में **गूहथः**=संवृत करते हो, सुरक्षित करते हो। स्नेह व निर्द्वेष के भाव से ही हम इस धर्ममेघ समाधि की स्थिति तक पहुँचते हैं और आनन्द के वर्षण का अनुभव करते हुए ज्ञान को सुरक्षित कर पाते हैं। हे **पर्जन्य**=धर्ममेघ समाधि के मेघ! इस तुरीयावस्था **मधुमन्तः** अत्यन्त माधुर्यवाले **द्रप्साः**-आनन्दवृष्टि के कण **ईरते**=हमारे जीवन में गतिमय होते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव जीवन को ज्योतिर्मय व आनन्दवर्षण से युक्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—अर्चनाना आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सुखं रथम्

रथं युञ्जते मरुतः शुभे सुखं शूरो न मित्रावरुणा गविष्टिषु।
रजांसि चित्रा वि चरन्ति तन्यवो दिवः सम्राजा पयसा न उक्षतम्॥ ५॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आपके अनुग्रह से **शूरः न**=एक शूरवीर के समान **मरुतः**=प्राण **शुभे**=जीवन को शुभ बनाने के निमित्त **सुखं रथम्**=शोभन इन्द्रियोंवाले (सु-खं) **रथम्**=शरीर-रथ को **युञ्जते**=जोतते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर प्राणसाधना के द्वारा शरीर-रथ में उत्तम इन्द्रियाश्व जुतते हैं, इन्द्रियाँ बड़ी निर्दोष बनकर शरीर-रथ को आगे और आगे ले चलती हैं। (२) उस समय **गविष्टिषु**=ज्ञानयज्ञों में (गो-इष्टिं) **तन्यवः**=विस्तृत ज्ञान रश्मियाँ **चित्रा रजांसि**=अद्भुत लोकों में, शरीररूप पृथिवीलोक में, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक में तथा मस्तिष्करूप द्युलोक में **विचरन्ति**=प्रसृत होती हैं। सारा जीवन ही उस समय प्रकाशमय हो उठता है। **दिवः सम्राजा**=हे ज्ञान के सम्राट् मित्र और वरुम देवो! आप **नः**=हमें **पयसा**=ज्ञानदुग्ध से **उक्षतम्**=सींच डालो। हमारा जीवन ज्ञानमय हो जाए, ज्ञान हमारे जीवन को आप्यायित करनेवाला हो।

भावार्थ—मित्र व वरुण की कृपा से हमारा जीवन स्वास्थ्य से युक्त होकर (सुखं रथं) ज्ञान से प्रकाशमय हो उठता है।

ऋषिः—अर्चनाना आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'इरावती-चित्रा-त्विषीमती' वाक्

वाचं सु मित्रावरुणाविरावतीं पर्जन्यश्चित्रां वदति त्विषीमतीम्।
अभ्रा वसत मरुतः सु मायया द्यां वर्षयतमरुणामरेपसम्॥ ६॥

(१) 'पर्जन्यो व उद्गाता' श० १२।१।१।३ के अनुसार महान् प्रदाता प्रभु ही यहाँ पर्जन्य हैं। हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आपके होने पर **पर्जन्यः**=वे (परां तृप्तिं जनयति) परतृप्ति के जनक महान् उद्गाता प्रभु **वाचम्**=वेदवाणी का **सुवदति**=उत्तम उच्चारण करते हैं जो वाणी **इरावतीम्**=प्रशस्त अन्नों को प्राप्त करानेवाली है, हमें जीविका प्राप्ति में क्षम करती है। **चित्राम्**=अद्भुत है (चित्) ज्ञान को देनेवाली है और **त्विषीमतीम्**=हृदय को दीप्त करनेवाली हैं। (२) इस वाणी के उच्चरित होने पर **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुष **सुमायया**=उत्तम ज्ञान से **अभ्रा वसत**=धर्ममेध समाधि में प्रादुर्भूत होनेवाले मेघों को धारण करते हैं। हे मित्र और वरुण! आप कृपा करके **अरुणम्**-तेजस्विता से युक्त **अरेपसम्**=निर्दोष **द्यां वर्षयतम्**=ज्ञान प्रकाश से सुख का वर्षण कराओ। हमारे जीवन में ज्ञान-ज्योति जगमगाये और आनन्द की वर्षा हो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर हृदय में प्रभु की वह 'इरावती-चित्रा-त्विषीमती' वाणी सुन पड़ती है। उस समय ज्ञान के प्रकाश व आनन्द को वर्षण का अनुभव होता है।

ऋषिः—अर्चनाना आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'व्रत-ऋत-प्रकाश' से युक्त जीवन

धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।
ऋतेन विश्वं भुवनं वि राजथः सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम्॥ ७॥

(१) हे **मित्रावरुणा**-स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आप **विपश्चिता**-हमें ज्ञानी बनानेवाले हो। **धर्मणा**-अपने धारणात्मक कर्म से तथा **असुरस्य**-उस सर्वत्र प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु की **मायया**-प्रज्ञा से **व्रता रक्षेथे**-हमारे व्रतों का आप रक्षण करते हो। (२) वस्तुतः ये मित्र और वरुण सब अव्रतों को दूर करते हैं और **ऋतेन**-ऋत के द्वारा **विश्वं भुवनम्**-सम्पूर्ण भुवन को **विराजथः**=दीप्त करते हो। **दिवि**-मस्तिष्क रूप द्युलोक में **सूर्यम्**-ज्ञानसूर्य को **आधत्थः**-धारण करते हो और इस ज्ञानसूर्य से उदय से **चित्र्यम्**=ज्ञान के प्रकाशवाले, चेतनावाले **रथम्**-शरीर रथ को आप धारण करते हो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता हमें व्रतमय, ऋतमय तथा प्रकाशमय बनाते हैं।

अगला सूक्त भी 'अर्चनाना' ऋषि का ही है—

६४. [चतुःषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

'रिशादस्' वरुण और 'स्वर्णर' मित्र

वरु॑णं वो रि॒शाद॑समृ॒चा मि॒त्रं ह॑वामहे। परि॑ व्र॒जेव॑ बा॒ह्वोर्ज॑ग॒न्वांसा॒ स्व॑र्णरम्॥ १॥

(१) **वः**-तुम्हारे लिये **रिशादसम्**-शत्रुओं के खा जानेवाले, शत्रुओं को समाप्त कर देनेवाले, **वरुणम्**=वरुण को, निर्द्वेषता के भाव को तथा **स्वर्णरम्**=स्वर्ग में, स्वर्गतुल्य स्थिति में प्राप्त करानेवाले, **मित्रम्**-मित्र को, स्नेह के भाव को हम **ऋचा**=(ऋच् स्तुतौ) स्तुति के द्वारा निन्दात्मक शब्दों को छोड़कर मधुर भाषण के द्वारा **हवामहे**-पुकारते हैं। निर्द्वेषता शत्रुओं को समाप्त कर देती है, प्रेम घरों व समाज को स्वर्ग बना देता है। (२) ये मित्र और वरुण **बाह्वोः परिजगन्वांसा**-(बाह्र प्रयत्ने) प्रयत्नों में प्राप्त होनेवाले हैं। 'अभ्युदय व निःश्रेयस' के लिये किये जानेवाला प्रयत्न भी दो भागों में बटा हुआ है, सो यहाँ (बाह्वोः) द्विवचन है। जब यह द्विविध प्रयत्न चलता है, तभी मित्र व वरुण की प्राप्ति होती है, तभी हम स्नेह व निर्द्वेषता को अपना पाते हैं। ये मित्र वरुण इन प्रयत्नों के होने पर इस प्रकार प्राप्त होते हैं, **इव**-जैसे कि **व्रजा**-गोयूथ बाड़ों में प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम स्नेह व निर्द्वेषता की आराधना करें, इसी से हम घर को स्वर्ग बना पायेंगे और शत्रुओं को समाप्त कर सकेंगे। इन 'मित्र और वरुण' के लिये हम 'अभ्युदय व निःश्रेयस' के लिये यत्नशील हों।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ज्ञानपूर्वक क्रिया व स्तुत्य सुख

ता बा॒हवा॑ सु॒चेतु॑ना॒ प्र य॑न्तमस्मा॒ अर्च॑ते। शेवं॒ हि जा॒र्यं॑ वां॒ विश्वा॑सु क्षासु॒ जोगु॑वे॥ २॥

(१) **ता**=वे आप दोनों मित्र और वरुण! **अस्मा अर्चते**=इस आपका आराधन करनेवाले के लिये **सुचेतुना**-उत्तम ज्ञानवाले **बाहवा**=प्रयत्न से **शेवम्**=सुख को **प्रयन्तम्**=दीजिये (यमिरत्र दानकर्मा सा०) स्नेह के अभाव में, द्वेष से भरे होने पर क्रियाएँ समझदारी से नहीं होती। स्नेह व निर्द्वेषता हमें कभी भी बदले लेने की भावना से गलत कर्मों में नहीं जाने देती। इससे जीवन सुखी बना रहता है। (२) **वाम्**-आपका मित्र और वरुण का **शेवम्**=सुख **हि**=निश्चय से **जार्यम्**=स्तुति के योग्य होता है। यह सुख **विश्वासु क्षासु**=सब भूमियों में **जोगुवे**=गायन के योग्य होता है, प्रशंसनीय होता है। संसार में सर्वत्र इस सुख का शंसन होता है। स्नेह व निर्द्वेषता

से उत्पन्न प्रेम सर्वत्र शंसनीय है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर हमारी सब क्रियाएँ समझदारी से की जाती हैं। इनसे उत्पन्न सुख सर्वत्र शंसनीय होता है।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

गति मात्र 'मित्र' के मार्ग से हो

यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा। अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे॥ ३ ॥

(१) **यत्**=जब **नूनम्**=निश्चय से **गतिं अश्याम्**=गति को प्राप्त करूँ, तो **मित्रस्य पथा**=स्नेह करनेवाले के मार्ग से **यायाम्**=जाऊँ। अर्थात् मेरी सारी गति एक मित्र की ही गति हो। मेरा कोई भी कार्य द्वेषभाव से प्रेरित होकर न किया जाये। (२) **अस्य**=इस **प्रियस्य**=सब की प्रीति के कारणभूत **अहिंसानस्य**=किसी की हिंसा न करनेवाले मित्र की **शर्मणि**=शरण में **सश्चिरे**=सब संगत हो जाते हैं (cling to)। 'मित्र' देवता का आराधन सबको एक बना देता है। 'सश्च' का अर्थ to worship=पूजा करना भी है। प्रभु का सच्चा पूजन भी यही है कि हम सब परस्पर स्नेह व निर्द्वेषता से चलें।

भावार्थ—मेरे सब कार्य मित्र के मार्ग से चलते हुए हों। यह स्नेह व निर्द्वेषता से चलना ही प्रभु का सच्चा पूजन है।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

अनुपम धन लाभ

युवाभ्यां मित्रावरुणोपमं धेयामृचा। यद्ध क्षये मघोनां स्तोतॄणां च स्पूर्धसे ॥ ४ ॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **युवाभ्याम्**=आपके द्वारा **ऋचा**=स्तुति शब्दों का, मधुर सुखमयी वाणी का ही प्रयोग करने के द्वारा **उपमम्**=उपमा देने योग्य, अद्भुत-धन को **धेयाम्**=धारण करूँ। उस धन को धारण करूँ जो उपमा देने योग्य हो, जिसके लिये लोग यह कहें कि 'धन हो तो, ऐसा हो'। (२) उस धन को मैं धारण करूँ **यत्**=जो **ह**=निश्चय से **मघोनाम्**=(मघ=मख) यज्ञशील पुरुषों के **च**=और **स्तोतॄणाम्**=स्तोताओं के **क्षये**=गृह में **स्पूर्धसे**=स्पर्धा के लिये होता है। इसी प्रकार स्नेह व निर्द्वेषता के भावों को धारण करने पर हमारे घरों में निवास के लिये धनों में मानो स्पर्धा होगी। सब धन हमारे घरों में निवास करना चाहेंगे।

भावार्थ—मित्र व वरुण की आराधना हमारे घरों को उत्तम धनों से भरपूर कर देती है।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

यज्ञशील व सखा पुरुष

आ नो मित्र सुदीतिभिर्वरुणश्च सधस्थ आ। स्वे क्षये मघोनां सखीनां च वृधसे॥ ५ ॥

(१) हे **मित्र**=स्नेह! तू **वरुणः च**=और यह निर्द्वेषता का भाव **सुदीतिभिः**=उत्तम दीप्तियों के साथ **सधस्थे**=जीवात्मा व परमात्मा के मिलकर रहने के स्थान हृदय में **आ** (गच्छतम्)=प्राप्त हो और **आ**=अवश्य ही प्राप्त हो। (२) आप दोनों **मघोनाम्**=यज्ञशील पुरुषों के **सखीनां च**=मित्रभूत पुरुषों के **स्वेक्षये**=अपने घर में **वृधसे**=वृद्धि के लिये होते हो। यज्ञशील पुरुषों का व सखाओं का घर मित्र और वरुण का अपना घर होता है। ये मित्र और वरुण इनकी वृद्धि का कारण बनते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुषों व सखिभूत पुरुषों का घर मित्र और वरुम देवता का घर होता

है, अर्थात् इन घरों में स्नेह व निर्द्वेषता का राज्य होता है। परिणामतः ये घर सदा बढ़ते हैं।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शक्ति-सम्पत्ति-सुस्थिति

युवं नो येषु वरुण क्षत्रं बृहच्च बिभृथः। उरु णो वाजसातये कृतं राये स्वस्तये॥ ६॥

(१) हे **वरुण**-मित्र और वरुण (वरुण से मित्र का भी अध्याहार करता है, तभी 'युवं' यह द्विवचन ठीक होगा) **युवम्**=आप दोनों **नः**=हमारे **येषु**=जिन पुरुषों में **क्षत्रम्**-बल, **बृहत् च**-और ब्रह्म, अर्थात् ज्ञान को **बिभृथः**-धारण करते हो। (२) इस बल व ज्ञान को **नः**=हमारे लिये **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिये **राये**=ऐश्वर्य लाभ के लिये और **स्वस्तये**-उत्तम कल्याण के लिये **कृतम्**-करिये। मित्र व वरुण की आराधना से प्राप्त होनेवाला बल व ज्ञान (क्षत्र व ब्रह्म) हमें 'शक्ति ऐश्वर्य व कल्याण' प्राप्त कराता है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर क्षत्र व ब्रह्म की वृद्धि से 'शक्ति-सम्पत्ति व सुस्थिति' प्राप्त होती है।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दिव्य बल व दीप्त ज्ञानरश्मियाँ

उच्छन्त्यां मे यजता देवक्षत्रे रुशद्गवि ।
सुतं सोमं न हस्तिभिरा पड्भिर्धावतं नरा बिभ्रतावर्चनानसम्॥ ७॥

(१) **उच्छन्त्याम्**=उषा के द्वारा अन्धकार को दूर करने पर, अर्थात् होते ही **मे**=मेरे द्वारा **यजता**-पूज्य व संगतिकरण योग्य मित्र और वरुण देवो! स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **देवक्षत्रे**-देवों के बल के निमित्त तथा **रुशद्गवि**=देदीप्यमान ज्ञानरश्मियों के निमित्त **सुतम्**-उत्पन्न हुए-हुए **सोमम्**=सोम को **न**-अब (न-संप्रति सा०) **हस्तिभिः**=प्रशस्त हाथोंवाले कर्मों से तथा गति के साधनभूत पावों से, अर्थात् निरन्तर क्रियाशीलता व गति के द्वारा **आधावतम्**=शुद्ध कर दीजिये। सोमरक्षण के दो साधन हैं—क्रियाओं को कर्मों में प्रवृत्त रखना तथा सदा गतिमय बने रहना। रक्षित सोम हमें दो वस्तुएं प्राप्त करायेगा—दिव्य बल तथा दीप्त ज्ञानरश्मियाँ। ऐसी स्थिति के लिये हमें दो देवों का आराधन करना है—मित्र और वरुण का। (२) हे **नरा**-हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आप **अर्चनानसम्**=इस अपने उपासक को **बिभ्रतौ**-धारण करते हो। वस्तुतः इस संसार को सुन्दर बनाने के लिये आपका अर्चन ही साधन है।

भावार्थ—हम स्नेह व निर्द्वेषता को धारण करते हुए, क्रियाशील व गतिमय जीवन में सोमरक्षण के द्वारा दिव्य बल व दीप्त ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करें।

यह मित्र और वरुण का आराधक 'रातहव्य' बनता है, हव्यों को देनेवाला, यज्ञशील। इस यज्ञशीलता से यह आत्रेय होता है, काम-क्रोध-लोभ से दूर। यह मित्र व वरुण का आराधन करता हुआ कहता है—

६५. [पञ्चषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'स्नेह व निर्द्वेषता का उपासक' उपदेष्टा

यश्चिकेत स सुक्रतुर्देवत्रा स ब्रवीतु नः। वरुणो यस्य दर्शतो मित्रो वा वनते गिरः॥ १॥

(१) **यः चिकेत**=जो ज्ञानी है **सः**=वह **सुक्रतुः**=शोभनकर्मा होता है। ज्ञान उसके कर्मों को पवित्र करनेवाला होता है। **सः**=वह पवित्र कर्मा ज्ञानी पुरुष **नः**=हमारे लिये **देवत्रा**=देवों के विषय में **ब्रवीतु**-उपदेश दे। (२) वह ज्ञानी हमें उपदेश दे **यस्य**=जिसकी **गिरः**=स्तुतिवाणियों को **दर्शतः**=दर्शनीय, सुन्दर, **वरुणः**=वरुण-निर्द्वेषता का भाव, **वा**=तथा **मित्रः**=मित्र-स्नेह की देवता **वनते**=प्राप्त करती है। अर्थात् वह ज्ञानी हमारा उपदेष्टा हो जो 'मित्र और वरुण' का उपासक है, स्नेह व निर्द्वेषता के भाववाला है। मनु ने इसीलिए लिखा है कि—'अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्। वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्माभिधूता'। अर्थात् धर्मोपदेष्टा ने सदा मधुर-अकर्कश वाणी के द्वारा ही धर्मोपदेश करना है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष सुकर्मा होता है। यह मित्र व वरुण का उपासक होता हुआ देवों (दिव्य भावों) के विषय में उपदेश करता है।

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

श्रेष्ठ वर्चस्‌वाले 'मित्र और वरुण'

ता हि श्रेष्ठवर्चसा राजाना दीर्घश्रुत्तमा। ता सत्पती ऋतावृध ऋतावाना जनेजने॥ २॥

(१) **ता**=वे, गतमन्त्र में वर्णित मित्र और वरुण=स्नेह व निर्द्वेषता **हि**=निश्चय से **श्रेष्ठवर्चसा**=उत्तम वर्चस् (शक्ति) वाले हैं, **राजाना**=जीवन को दीप्त बनानेवाले हैं, **दीर्घश्रुत्तमा**=(दॄ विदारणे) अज्ञानान्धकार के विदारक अतिशयित ज्ञानवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता से हमें 'शक्ति, दीप्ति व ज्ञान' प्राप्त होता है। (२) **ता**=वे मित्र और वरुण **जनेजने**=जितना-जितना इनका प्रादुर्भाव होता है उतना-उतना **सत्पती**=उत्तम कर्मों का हमारे में रक्षण करनेवाले हैं, **ऋतावृधः**=ऋत का, यज्ञ का वर्धन करनेवाले हैं और **ऋतावाना**=ऋत का, जो भी ठीक बात है, उसका रक्षण करनेवाले हैं। अनृत से ये हमें दूर करते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता का भाव हमें 'शक्ति-सम्पन्न, दीप्त, ज्ञानी, सत्कर्मकुशल व ऋतमय' बनायेगा।

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'उत्तम इन्द्रियाँ, ज्ञान, शक्ति'

ता वामियानोऽवसे पूर्वा उप ब्रुवे सचा। स्वश्वासः सु चेतुना वाजाँ अभि प्रदावने॥ ३॥

(१) **ता**=उन **वाम्**=आप दोनों को, मित्र और वरुण को **अवसे**=रक्षण के लिये **इयानः**=मैं प्राप्त होता हूँ। आपने ही मेरा रक्षण करना है। **पूर्वा**=पालन व पूरण करनेवाले आपको **सचा**=साथ-साथ **उपब्रुवे**=स्तुत करता हूँ। 'स्नेह व निर्द्वेषता' की साथ-साथ उपासना करता हुआ ही मैं शरीर का पालन व मन का पूरण कर पाता हूँ। (२) **स्वश्वासः**=आपकी उपासना से उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले हम **सु चेतुना**=उत्तम ज्ञान के साथ **वाजान् अभि**=शक्तियों का लक्ष्य करके **प्रदावने**=प्रकृष्ट दान में स्थित हों। यह दान क्रिया 'मित्र और वरुण' की उपासना का क्रियात्मकरूप है। यह दान क्रिया ही हमें उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला बनाती है, उत्तम ज्ञान व शक्ति देती है। ज्ञानेन्द्रियाँ इसी से ज्ञानवर्धनवाली व कर्मेन्द्रियाँ शक्ति-सम्पन्न बनती हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता हमारा रक्षण करते हैं, हमारा पालन व पूरण करते हैं। 'उत्तम इन्द्रियाँ-ज्ञान व शक्ति' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्

मित्रो अंहोश्चिदादुरु क्षयाय गातुं वनते। मित्रस्य हि प्रतूर्वतः सुमतिरस्ति विधतः ॥ ४ ॥

(१) **मित्रः** यह सब के साथ स्नेह करनेवाला, मित्र व वरुण का उपासक **आत्**=मित्र वरुण की उपासना से 'उत्तम इन्द्रयों-ज्ञान व शक्ति' को प्राप्त करने के बाद (आत्-अनन्तरम्) **अंहोः चित्**-कुटिल पापी पुरुष के भी **क्षयाय** उत्तम निवास व गति के लिये **उरु गातुम्**=विशाल मार्ग को **वनते**=सेवन करता है। विशाल हृदय को धारण करता हुआ यह 'मित्र' का आराधक कुटिल को भी भला बनाने के लिये उदारता के मार्ग का अवलम्बन करता है। (२) इस **मित्रस्य**=सर्व-स्नेही पुरुष की **हि**-निश्चय से **सुमतिः अस्तिः**-सदा कल्याणीमति होती है। इस मित्र की, जो **प्रतूर्वतः**-बुरे भावों को प्रकर्षेण हिंसित कर रहा है तथा **विधतः**=प्रभु का सच्चा पूजन कर रहा है।

भावार्थ—'मित्र' का आराधक कुटिल के सुधार के लिये भी उदार मार्ग का अवलम्वन करता है। यह सबके लिये कल्याणीमति का धारण करता है। यही इसका सच्चा प्रभु-पूजन है।

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

वरुण के सन्तानों का परस्पर प्रेम भाव

वयं मित्रस्यावसि स्याम सप्रथस्तमे। अनेहसस्त्वोतयः सत्रा वरुणशेषसः ॥ ५ ॥

(१) **वयम्**-हम **मित्रस्य**-स्नेह की देवता के **सप्रथस्तमे**-अत्यन्त विस्तारवाले **अवसि**=रक्षण में **स्याय**-हों। स्नेह को जीवन का सूत्र बनाकर अपने जीवन का रक्षण करनेवाले बनें। द्वेष से शरीर में विष ही तो उत्पन्न होते हैं। (२) **त्वा उतयः**=हे मित्र! तेरे से रक्षित हुए-हुए हम **अनेहसः**=निष्पाप हों। स्नेह हमें पाप की ओर नहीं ले जाता। ईर्ष्या-द्वेष क्रोध के कारण ही सामान्यतः पापों को जन्म मिलता है और हम परस्पर विरोध में लड़नेवाले हो जाते हैं। हम तो **वरुणशेषसः**=वरुण के सन्तान (शेष=सन्तान) बनकर, निर्द्वेषता को जीवन में धारण करके **सत्रा**=साथ ही हों, मिलकर ही चलनेवाले बनें।

भावार्थ—स्नेह की भावना हमारे जीवन का रक्षण करती हैं, इसी में शक्तियों का विस्तार होता है। निर्द्वेषता हमें परस्पर समीप लाती है। निर्द्वेषता में ही झगड़ों का अभाव होकर सब प्रकार की उन्नति है।

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ऋषीणां गोपीथेन उरुष्यतम्

युवं मित्रेमं जनं यतथः सं च नयथः ।
मा मघोनः परि ख्यतं मो अस्माकमृषीणां गोपीथे न उरुष्यतम् ॥ ६ ॥

(१) हे **मित्र**-मित्र और वरुण **युवम्**-आप दोनों **इमं जनम्**-इस मुझ स्तोता को **यतथः**-यत्नशील बनाते हो। स्नेह व निर्द्वेषता को धारण करके मैं कर्त्तव्यकर्मों में यत्नशील होता हूँ। **च**-और आप मुझे **संनयथः**-सम्यक् ठीक मार्ग पर ले चलते हो। स्नेह व निर्द्वेषता से होनेवाली क्रियाएँ पापशून्य ही होती हैं। (२) **मघोनः**-हम यज्ञशील पुरुषों को **मा परिख्यतम्**-आप छोड़ मत जाओ। हम आप से सुरक्षित हुए-हुए सदा यज्ञों को करते रहें। (२) **मा उ**-और नां ही **अस्माकम्**-हमारे लोगों को आप छोड़ जाओ। हम भी स्नेह व निर्द्वेषता के भाववाले हों, हमारे

परिवार व समाज के लोग भी इन भावनाओं को अपनाएँ। हे मित्र और वरुण! आप **ऋषीणाम्**=वेदों के (ऋषिर्वेद:) प्रभु से दिये गये ज्ञान के **गोपीथेन**=इन्द्रियों द्वारा पान के द्वारा **उरुष्यतम्**=हमारा रक्षण करो। हमारी इन्द्रियाँ इस ज्ञान का ग्रहण करें और इस प्रकार आप हमारा रक्षण करो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर हम यत्नशील होते हैं, हमारे यत्न उत्तम मार्ग से होते हैं। हम यज्ञशील व ज्ञानयज्ञ को करनेवाले बनते हैं।

अगला सूक्त भी 'रातहव्य' ऋषि का ही है—

६६. [षट्षष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषि:—**रातहव्य आत्रेय:** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्द:—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वर:—**गान्धार:** ॥

चिकितान मर्त (समझदार मनुष्य)

आ चिकितान सुक्रतू देवौ मर्त रिशादसा। वरुणाय ऋतपेशसे दधीत प्रयसे महे॥ १ ॥

(१) हे **चिकितान मर्त**=समझदार मनुष्य! तू **सुक्रतू**=शोभन कर्मोंवाले, **देवौ**=प्रकाशमय, **रिशादसा**=शत्रुओं के हिंसक मित्र और वरुण को, स्नेह व निर्द्वेषता के भाव को **आदधीत**=धारण करनेवाला हो। ये मित्र और वरुण ही तेरे जीवन को प्रकाशमय बनायेंगे, तेरे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करेंगे और तुझे उत्तम कर्मोंवाला बनायेंगे। (२) **ऋतपेशसे**=जीवन में ऋत का, सत्य का निर्माण करनेवाले **वरुणाय**=निर्द्वेषता के भाव के लिये तू **दधीत**=अपने को धारण कर, निर्द्वेष बन। जिससे तू **प्रयसे**=प्रकृष्ट यत्न करनेवाला हो और **महे**=महत्त्वपूर्ण जीवनवाला बन सके।

भावार्थ—मित्र और वरुण हमारे जीवन को उत्तम कर्मोंवाला प्रकाशमय व काम-क्रोध आदि से रहित बनाते हैं। निर्द्वेषता से जीवन ऋतमय-यत्नशील व महत्त्वपूर्ण बनता है।

ऋषि:—**रातहव्य आत्रेय:** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्द:—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वर:—**गान्धार:** ॥

'अकुटिल-असुरविघाति' बल

ता हि क्षत्रमविह्रुतं सम्यगसुर्य१माशाते। अध व्रतेव मानुषं स्व१र्ण धायि दर्शतम्॥ २ ॥

(१) **ता**=वे दोनों मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **क्षत्रम्**=बल को सम्यक् **आशाते**=सम्यक् व्याप्त करते हैं। उस बल को व्याप्त करते हैं, जो **अविह्रुतम्**=कुटिलता से रहित है तथा अहिंस्य है, जिस बल से युक्त होकर हम औरों के साथ कुटिलता से नहीं वरतते और स्वयं रोगों से हिंसित नहीं होते। तथा जो बल **असुर्यम्**=आसुर भावनाओं को विरत करनेवाला है, इस बल के होने पर आसुरभावों का जन्म नहीं होता। वीरता के साथ virtues (गुणों) का ही तो सम्बन्ध है, अवीरता ही तो evil है। (२) **अध**=अब इस क्षत्र के धारण के उपरान्त **मानुषम्**=मनुष्य के लिये हितकर **व्रता इव**=कर्मों की तरह, **स्व: न**=सूर्य के समान **दर्शतम्**=दर्शनीय सुन्दर ज्ञान (प्रकाश) **धायि**=हमारे में धारण किया जाता है। मित्र और वरुण के बल से सम्पन्न होकर हम मानवहित कर कर्मों को ही करते हैं और देदीप्यमान ज्ञानवाले होते हैं। मानवहितकारी कर्मों को करनेवाले हम 'वैश्वानर' हैं। सूर्य समान ज्ञानवाले हम 'प्राज्ञ' होते हैं। क्षत्र को धारण करनेवाले हम 'तैजस' बनते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता का भाव हमारे अन्दर 'अकुटिल बल, आसुरभावनाशून्य बल' प्राप्त कराते हैं। इस बल से सम्पन्न होकर हम मानवहितकारी कर्मों को व दीप्त ज्ञान को धारण करते हैं।

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उर्वी गव्यूति (विशाल मार्ग)

ता वामेषे रथानामुर्वीं गव्यूतिमेषाम्। रातहव्यस्य सुष्टुतिं दधृक्स्तोमैर्मनामहे ॥ ३ ॥

(१) **एषां रथानाम्**-इन शरीर-रथों के **उर्वीं गव्यूतिम्**=विशाल मार्गों को **एषे**=(गन्तुम्) जाने के लिये **ता वाम्**=उन आप दोनों को, मित्र व वरुण को स्नेह व निर्द्वेषता के भाव को **मनामहे**-हम स्तुत करते हैं। मित्रता व निर्द्वेषता ही हमें विशाल मार्ग पर ले चलती हैं। इनके अभाव में स्वार्थपरता हमें अत्यन्त संकुचित वृत्ति का बना देती है। (२) हम **रातहव्यस्य**-(दत्तहविष्क्रस्य) यज्ञशील पुरुष सम्बन्धी **सुष्टुतिम्** उत्तम स्तुति को **दधृक् स्तोमैः**-धर्षक स्तोमों के द्वारा, वासना विनाशक स्तुतियों के द्वारा (मनामहे) करनेवाले होते हैं। जैसे एक यज्ञशील पुरुष यज्ञरूप उत्तम स्तुति को करता है, इसी प्रकार हम भी उत्तम स्तुति को करनेवाले बनते हैं। ये यज्ञात्मक कर्म, स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर ही सम्भव होते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव को धारण करके हम विशालता के मार्ग पर ही चलते हैं, यज्ञशील होते हैं।

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

काव्या-पूतदक्षसा

अधा हि काव्या युवं दक्षस्य पूर्भिरद्भुता। नि केतुना जनानां चिकेथे पूतदक्षसा ॥ ४ ॥

(१) **अधा**=अब **हि**=निश्चय से **युवम्**-आप दोनों मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **काव्या**=कविकर्मकुशल, अर्थात् खूब ज्ञानी हो। स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमारे ज्ञान का वर्धन करते हैं। आप **दक्षस्य**=बल के **पूर्भिः**=पूरणों के द्वारा **अद्भुता**=अद्भुत हो। हे मित्र वरुणो! आप हमारे जीवन में अद्भुत बल का संचार करते हो। (२) आप **जनानाम्**-लोगों के **केतुना**=प्रज्ञान से **निचिकेथे**-जाने जाते हो। अर्थात् जितना-जितना कोई ज्ञानी होता है, उतना उतना ही वह आपकी आराधना से ही वैसा बना होता है। आप **पूतदक्षसः**=उसके बल को भी पवित्र करनेवाले हो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव ही हमें ज्ञान व शक्ति को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'ऋतं बृहत्' श्रवः

तदृतं पृथिवि बृहच्छ्रव एष ऋषीणाम्। ज्रयसानावरं पृथ्वति क्षरन्ति यामभिः ॥ ५ ॥

(१) हे **पृथिवि**-हमारी शक्तियों का व ज्ञानों का विस्तार करनेवाली भूमि मातः! मैं **ऋषीणाम्**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों के **तत्**-उस **ऋतम्**=सत्य **बृहत्**-वृद्धि के कारणभूत **श्रवः**=ज्ञान को **एषे**-चाहता हूँ। (२) **ज्रयसानौ**=(to conquer, to go) हमारे काम-क्रोधरूप शत्रुओं के जीतते हुए तथा गतिशील होते हुए आप मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **यामभिः**=अपनी गतियों से **अरम्**-जीवन को अलंकृत करनेवाले **पृथु**=विस्तृत ज्ञान को **अतिक्षरन्ति**=(क्षरतः) अतिशयेन प्राप्त कराते हो। हम मित्र और वरुण का आराधन करें। यह आराधन हमें ज्ञान के प्रकाश को देनेवाला होगा।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव काम-क्रोध को जीतकर हमें उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—रातहव्य आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'बहुपाप्य व्यचिष्ठ' स्वराज्य

आ यद्वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः। व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥ ६ ॥

(१) **मित्र**=हे मित्र और वरुण! आप **ईयचक्षसा**=गतिशील ज्ञानवाले हो। आपके कारण हमारा जीवन गतिशील बनता है और वह सब गति ज्ञानपूर्वक होती है। (२) **वयं च**=और हम आपके द्वारा **सूरयः**=ज्ञानी बनकर **स्वराज्ये**=स्वराज्य के विषय में **यतेमहि**=यत्नशील हों। हम अपना शासन स्वयं करनेवाले हों, विषय वासनाओं के हम गुलाम न हों। यह गुलामी हमें राजनैतिक दृष्टिकोण से भी परतन्त्र बना देगी। हम उस आत्मशासन के लिये यत्नशील हों जो **व्यचिष्ठे**=शक्तियों का अधिक से अधिक विस्तार करनेवाला है तथा **बहुपाय्ये**=बहुत ही रक्षण करनेवाला है या अधिक से अधिक लोगों का रक्षण करनेवाला है। जब मैं अपना अधिष्ठाता होता हूँ, तो मेरे कार्य अधिक-से-अधिक लोगों का कल्याण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—मित्र और वरुण की आराधना से हम ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले हों। इस प्रकार आत्मशासन करते हुए हम अपनी शक्तियों को बढ़ाएँ और अधिक से अधिक लोगों का हित करनेवाले हों।

इस 'बहुपाय्य स्वराज्य' के लिये यत्नशील व्यक्ति 'यजत' बनता है, सब के साथ संगतिकरण (मेल) वाला। यह कहता है—

६७. [सप्तषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—यजत आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'निष्कृत-यजत-बृहत्' क्षत्र

बळित्था देव निष्कृतमादित्या यजतं बृहत्। वरुण मित्रार्यमन्वर्षिष्ठं क्षत्रमाशाथे॥ १ ॥

(१) हे **देवा**=द्योतमान-प्रकाशमान **आदित्या**=अदिति के पुत्रों (अ-दिति=खण्डन) पूर्ण स्वास्थ्य से उत्पन्न होनेवाले **वरुण**=निर्द्वेषता के भाव तथा **अर्यमन्**=शत्रुओं के नियन्तः **मित्र**=स्नेह के देव! आप दोनों **बट्**=सचमुच **इत्था**=(इदानीं) अब **क्षत्रम्**=बल का **आशाथे**=व्यापन करते हो। हम अस्वस्थ होते हैं, तभी ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध में चलने लगते हैं। ये मित्र और वरुण हमारे जीवन को प्रकाशमय बना देते हैं। (२) ये मित्र और वरुण उस बल को हमें प्राप्त कराते हैं, जो **निष्कृतम्**=हमारे जीवन को बड़ा परिष्कृत बनाता है। **यजतम्**=परस्पर मेल की भावना को बढ़ाता है (संगतिकरण)। **बृहत्**=वृद्धि का कारण बनता है और **वर्षिष्ठम्**=अतिशयेन बढ़ा हुआ है। अहंकार युक्त शक्ति हमारे जीवन को परिष्कृत नहीं बनाती, वह हमें आपस में मिलानेवाली नहीं होती और अन्ततः हमारे ह्रास का कारण बनती है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव से हमें वह शक्ति प्राप्त होती है, जो हमें पवित्र, मेल की भावनावाला व गुणों की दृष्टिकोण से बढ़ा हुआ बनाती है।

ऋषिः—यजत आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

हिरण्यय योनि

आ यद्योनिं हिरण्ययं वरुण मित्र सदथः। धर्तारा चर्षणीनां यन्तं सुम्नं रिशादसा॥ २ ॥

(१) हे **वरुण**-निर्द्वेषता के भाव! **मित्र**=स्नेह के देव! आप **यद्**=जो **हिरण्ययं योनिम्**=ज्योतिर्मय शरीर-गृह में **आसदथः**=आसीन होते हो। वस्तुतः मित्र और वरुण का आसीन होना

ही इस शरीर गृह को ज्योतिर्मय बनाता है। (२) आप दोनों **चर्षणीना**-इन श्रमशील व्यक्तियों के **धर्तारा** धारण करनेवाले होते हो। और **रिशादसा** शत्रुओं का हिंसन करनेवाले आप **सुम्नं यन्तम्**=सुख व आनन्द को प्राप्त कराओ (कुरुतम् सा०)। स्नेह व निर्द्वेषता से हमारा जीवन गतिशील व स्वस्थ बना रहता है। ये मित्र और वरुण हमें 'ईर्ष्या द्वेष-क्रोध' से ऊपर उठाकर सुखी बनाते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से (१) शरीर गृह ज्योतिर्मय बनता है, (२) इनसे हमारा धारण होता है, (३) ये हमारे जीवन को सानन्द करते हैं।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'वरुण-मित्र व अर्यमा' का विश्ववेदस्त्व

विश्वे हि विश्ववेदसो वरुणो मित्रो अर्यमा। व्रता पदेव सश्चिरे पान्ति मर्त्यं रिषः ॥ ३ ॥

(१) **वरुणः** द्वेष निवारण का देव, **मित्रः**-स्नेह का देव तथा **अर्यमा**-(अरीन् यच्छति) काम क्रोध के नियन्त्रण की देवता, ये **विश्वे**=सब **हि**-ही **विश्ववेदसः**-सम्पूर्ण धनोंवाले हैं। अर्थात् हमें 'वरुण मित्र अर्यमा' हमारे अन्नमय आदि सब कोशों को उस-उस धन को प्राप्त कराते हैं। 'तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु व सहस्' ये सब धन 'वरुण मित्र-अर्यमा' से ही प्राप्त होते हैं। (२) **इव**=जैसे **पदा**-गतिशीलताओं को **व्रता** सब पुण्यकर्म **सश्चिरे**-(to cling to, pervade) व्याप्त करते हैं, उसी प्रकार ये वरुण मित्र-अर्यमा **मर्त्यम्**=मनुष्य को **रिषः**=शत्रु से **पान्ति**-रक्षित करते हैं, हम गतिशील बनते हैं तो अवश्य हमें पुण्यकर्म प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार स्नेह व निर्द्वेषता हमें काम-क्रोध आदि से ऊपर उठाते हैं।

भावार्थ—'स्नेह व निर्द्वेषता व शत्रु संयम' हमें तेजस्विता आदि सब धनों को प्राप्त कराते हैं। ये हमें शत्रुओं से बचाते हैं।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'सत्या ऋतस्पृशः' (वरुण-मित्र-अर्यमा)

ते हि सत्या ऋतस्पृश ऋतावानो जनेजने। सुनीथासः सुदानवोऽहोश्चिदुरुचक्रयः ॥ ४ ॥

(१) **ते**-वे, गतमन्त्र में वर्णित 'वरुण, मित्र और अर्यमा' **हि**-ही **सत्याः**=सत्यस्वरूप हैं **ऋतस्पृशः**=ऋत का स्पर्श करनेवाले हैं। जीवन के अन्दर ऋत का धारण करते हैं। ये **जने जने**-प्रत्येक व्यक्ति में **ऋतावानः**-ऋत का रक्षण करनेवाले हैं। इन के कारण मन में असत्य का प्रवेश नहीं होता और शरीर की सब क्रियाएँ ऋतवाली होती हैं। (२) ये 'वरुण-मित्र-अर्यमा' **सुनीथासः**=उत्तम मार्ग से ले चलनेवाले हैं, **सुदानवः**=बुराइयों को अच्छी प्रकार काटनेवाले हैं। और **अंहोः चित्**-कुटिल व्यक्ति से भी **उरु चक्रयः**-विशाल कर्मों को करानेवाले होते हैं। वस्तुतः ये उसकी कुटिलता को दूर करके उसके जीवन को पवित्र बना देते हैं।

भावार्थ—'स्नेह, निर्द्वेषता व शत्रु संयम' से मन में सत्य व शारीरिक क्रियाओं में ऋत की स्थिति होती है।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सर्वस्तुत्य 'मित्र और वरुण'

को नु वां मित्रास्तुतो वरुणो वा तनूनाम्। तत्सु वामेषते मतिरत्रिभ्य एषते मतिः ॥ ५ ॥

(१) हे **मित्र**=स्नेह की देवते! **वाम्**-आप दोनों स्नेह व निर्द्वेषता में से **कः**-कौन, हे मित्र!

तुम वरुण **वा**=या निर्द्वेषता की देवता **तनूनाम्**=शरीर धारियों का **अस्तुतः नु**=निश्चय से अस्तुत होता है। सब शरीरधारी आप दोनों का ही स्तवन करते हैं। आपके कारण ही शरीर का पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होता है। (२) **तत्**=सो **वाम्**=आप दोनों के प्रति ही **मतिः**=मननपूर्वक की गई स्तुति **सु एषते**=सम्यक् गतिवाली होती है अर्थात् सब आपका ही स्तवन करते हैं। **अत्रिभ्यः**=' काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से ऊपर उठनेवालों से **मतिः**=मननपूर्वक की जानेवाली स्तुति **एषते**=आपकी ओर ही आती है। आपके द्वारा ही वस्तुतः वे अत्रि बन पाते हैं। 'काम-क्रोध-लोभ' का स्थान जब 'स्नेह व निर्द्वेषता' ले लेते हैं तो मनुष्य सब कष्टों से ऊपर उठ जाता है।

भावार्थ—'स्नेह व निर्द्वेषता' सभी से शंसनीय हैं।

'यजत' ऋषि का ही अगला भी सूक्त है—

६८. [अष्टषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

क्षत्र-ऋत

प्र वो॑ मि॒त्राय॑ गायत॒ वरु॑णाय वि॒पा गि॒रा। महि॑क्षत्रावृ॒तं बृ॒हत्॥ १ ॥

(१) ये मनुष्यो! **वः**=तुम (यूयम् सा०) **मित्राय**=स्नेह की देवता के लिये **विपा**=स्तुतियों के द्वारा (विप् praise) तथा **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **गायत**=गायन करो। इसी प्रकार **वरुणाय**=निर्द्वेषता के लिये गायन करो। इन दोनों को ही तुम धारण करनेवाले बनो। (२) ये मित्र और वरुण **महिक्षत्रौ**=तुम्हारे लिये महान् बल को धारण करनेवाले होंगे। ये तुम्हारे जीवनों में 'बृहत् ऋतम्'=वृद्धि की कारणभूत नियमितता को अथवा यज्ञिय भावना को उत्पन्न करेंगे।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से हमारा जीवन (१) बल-सम्पन्न होता है तथा (२) नियमित व यज्ञभावना युक्त बनता है।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सम्राजा घृतयोनी

स॒म्राजा॒ या घृ॒तयो॑नी मि॒त्रश्चो॒भा वरु॑णश्च। दे॒वा दे॒वेषु॑ प्रश॒स्ता॥ २॥

(१) **या मित्रः च वरुणः च**=ये जो मित्र और वरुण हैं, ये **उभा**=दोनों स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **सम्राजा**=हमारे जीवनों को दीप्त करनेवाले हैं। **घृतयोनी**=ये ज्ञानदीप्ति व मल विनाश-निर्मलता को उत्पन्न करनेवाले हैं। (२) **देवा देवेषु**=जो जीवनों को दिव्यगुण-सम्पन्न बनानेवाले हैं और **प्रशस्ता**=अत्यन्त प्रशंसनीय है। इनका हम स्तवन करें और इन्हें धारण करने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के धारण से हमारा जीवन दीप्त, ज्ञानयुक्त व दिव्यगुण सम्पन्न बनेगा।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'दिव्य व पार्थिव' ऐश्वर्य

ता नः॑ शक्तं॒ पार्थि॑वस्य म॒हो रा॒यो दि॒व्यस्य॑। महि॑ वां क्ष॒त्रं दे॒वेषु॑॥ ३ ॥

(१) **ता**=वे दोनों मित्र और वरुण **नः**=हमारे लिये **पार्थिवस्य**=शरीररूप पृथिवी-सम्बन्धी **महः रायः**=महत्त्वपूर्ण ऐश्वर्य के, अर्थात् शक्ति के तथा **दिव्यस्य**=मस्तिष्करूपी द्युलोक सम्बन्धी महान् ऐश्वर्य, अर्थात् ज्ञान के **शक्तम्**=देने में समर्थ हैं। स्नेह व निर्द्वेषता से शरीर में शक्ति व

मस्तिष्क में ज्ञान का संचार होता है। (२) **वाम्** आप दोनों का, स्नेह व निर्द्वेषता का **देवेषु**-सब देववृत्ति के पुरुषों में **महिक्षत्रम्**=महनीय बल होता है। सब देव इन्हीं से बल-सम्पन्न बनते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से ही शक्ति व ज्ञान की प्राप्त भी होती है।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'इषिर' दक्ष

ऋतमृतेन सपन्तेषिरं दक्षमाशाते। अद्रुहा देवौ वर्धेते॥ ४॥

(१) ये मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता की देवताएँ **ऋतम्**-यज्ञादि उत्तम कर्मों को **ऋतेन सपन्ता**-ठीक प्रकार से सपन्ता-(सम् to do, perform) करनेवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर ही सदा श्रेष्ठ कर्मों का सम्भव होता है। ये हमारे अन्दर **इषिरं दक्षम्**-क्रियाशील बल को **आशाते**=व्याप्त करते हैं। मित्र व वरुण देव हमारे अन्दर शक्ति का वर्धन करते हैं, उस शक्ति से हमारी क्रियाशीलता बनी रहती है। यह क्रियाशीलता ही यज्ञादि उत्तम कर्मों में अभिव्यक्त होती है। (२) **अद्रुहा**=द्रोह न करनेवाले, हिंसा की वृत्ति से दूर रहनेवाले, **देवौ**=ये स्नेह व निर्द्वेषता के दिव्यगुण **वर्धेते**=हमारे जीवन में सब प्रकार की वृद्धि का कारण बनते हैं।

भावार्थ—मित्र और वरुण की आराधना से 'ऋत-इषिर दक्ष तथा अद्रोह की भावना' का वर्धन होता है।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वृष्टिद्यावा रीत्यापा

वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः। बृहन्तं गर्तमाशाते॥ ५॥

(१) ये मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता के भाव, **वृष्टिद्यावा**=वर्षणशील द्युलोकवाले होते हैं। इनके होने पर मस्तिष्करूप द्युलोक में आनन्द की वृष्टि का हम अनुभव करते हैं। **रीत्यापा**=(रीतिः=गतिः रेषणं वा roaring) रीति ही इनकी आपा-अभिमन प्राप्ति होती है। अर्थात् ये गतिशील होते हैं तथा हृदय में प्रभु से उच्चरित होनेवाली वाणियों को सुनते हैं दुःखहर्ता प्रभु गर्जना करते हुए हमें प्राप्त होते हैं और हमारे हृदयों में 'ज्ञान, कर्म व उपासना' की तीन वाणियाँ उच्चरित होती हैं। इन वाणियों को द्वेष आदि की दुर्भावनाओं में हम सुन नहीं पाते। इनके सुनने पर हम सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। (२) ये मित्र और वरुण ही वस्तुतः **इषः**=उस प्रभु प्रेरणा के **पती**=हमारे अन्दर रक्षण करनेवाले हैं, जो प्रेरणा **दानुमत्याः**-(दाप् लवने) आसुरभावनाओं के लवन (छेदन) वाली है। इस प्रकार इस प्रभु प्रेरणा से पवित्र बने हुए **बृहन्तम्**=गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए **गर्तम्**=शरीर-रथ को **आशाते**=ये मित्र और व्याप्त करते हैं, अर्थात् मित्र वरुण की आराधना से हमारा शरीर-रथ सब प्रकार से उन्नत व ठीक स्थिति में रहता है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के द्वारा (१) आनन्द के वर्षण का अनुभव होता है, (२) हमारा जीवन प्रभु प्रेरणा से गतिमय बनता है। (३) यह प्रभु प्रेरणा हमारे जीवन में सब बुराइयों के विनष्ट करती है।

प्रभु प्रेरणा के अनुसार गतिमय जीवनवाला यह 'उरुचक्रि' बनता है, खूब क्रियाशील। यह क्रियाशीलता उसे त्रिविध दुःखों से दूर 'आत्रेय' बनाती है। यह 'उरुचक्रि' 'मित्र वरुण' का स्तवन करता हुआ कहता है—

६९. [एकोनसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**उरुचक्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अक्षीणता

त्री रो॑च॒ना व॑रुण॒ त्रीँरु॒त द्यून्त्रीणि॑ मित्र धारयथो॒ रजां॑सि।

वा॒वृ॒धा॒नाव॒मतिं॑ क्ष॒त्रिय॒स्यानु॑ व्र॒तं रक्ष॑माणावजु॒र्यम्॥ १॥

(१) हे **वरुण मित्र**=निर्द्वेषता व स्नेह की देवताओ! आप ही **त्री रोचना**=तीन ज्ञानदीप्तियों को **धारयथः**=हमारे में धारित करते हो। 'प्रकृति, जीव व आत्मा' के ज्ञान का सम्भव मित्र व वरुण के द्वारा ही होता है। ईर्ष्या-द्वेष में अज्ञान का ही वर्धन होता है। (२) **उत**=और **त्रीन्**=तीनों **द्यून्**=दिवसों तक आप ही हमारा धारण करते हो। बाल्यकाल, यौवनकाल तथा वार्धक्य ही जीवन के तीन दिन हैं। इनमें ये मित्र और वरुण ही हमारा धारण करते हैं। (३) हे मित्र और वरुण! **त्रीणि रजांसि**=स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीररूप तीनों लोकों को आप ही **धारयथः**=धारण करते हो। मित्र और वरुण से ही सब शरीरों का स्वास्थ्य प्राप्त होता है। (४) आप ही हमारे जीवनों में **क्षत्रियस्य**=एक शक्तिशाली क्षत्रिय के **अमतिम्**=रूप का **वावृधानौ**=वर्धन करनेवाले होते हो। आपके द्वारा ही हम क्षात्रबल से सम्पन्न होते हैं। **अनुव्रतम्**=आपके व्रत के अनुसार, अर्थात् जितना-जितना हम स्नेह व निर्द्वेषता का व्रत धारण करते हैं उतना-उतना आप **अजुर्यम्**=अजीर्णता-अक्षीणता का **रक्षमाणौ**=हमारे में रक्षण करते हो। मित्र व वरुण की आराधना हमें अजीर्ण शक्तिवाला बनाती है। इस आराधना से हम सदा युवा बने रहते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से हमें (१) 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का त्रिविध ज्ञान प्राप्त होता है। (२) हम बाल्य, यौवन, वार्धक्य में चलते हुए पूर्ण जीवन को प्राप्त करते हैं। (३) हमारे 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' तीनों शरीर ठीक रहते हैं। (४) हमें क्षात्रबल प्राप्त होता है और हम अजीर्ण शक्ति बने रहते हैं।

ऋषिः—**उरुचक्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीन स्थानों में तीन देव

इरा॑वतीर्वरुण धे॒नवो॑ वां॒ मधु॑मद्वां॒ सिन्ध॑वो मित्र दुह्रे।

त्रय॑स्तस्थुर्वृष॒भास॑स्तिसृ॒णां धि॒षणा॑नां रेतो॒धा वि द्यु॒मन्तः॑ ॥ २ ॥

(१) हे **वरुण**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **इरावतीः**=ज्ञानदुग्ध रूप इरावाली **धेनवः**=ये वेदवाणीरूप गौवें **वाम्**=आपकी ही हैं। मित्र व वरुम की आराधना ही हमें इन वेदवाणियों को समझने की योग्यता देती है। (२) हे **मित्र**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **सिन्धवः**=ये ज्ञान-प्रवाह **मधुमत्**=अत्यन्त माधुर्य से पूर्ण ज्ञान को **वां दुह्रे**=आपके लिये प्रपूरित करते हैं। निर्द्वेषता में ही ज्ञान हमारे जीवन को मधुरता से भरनेवाला होता है। (३) स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर **त्रयः**=तीनों **'अग्नि, विद्युत् व सूर्य' तस्थुः**=हमारे अन्दर स्थित होते हैं। ये **वृषभासः**=हमें शक्तिशाली बनाते हैं। ये **तिसृणां धिषणानाम्**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोकरूप तीन स्थानों के **रेतोधाः**=शक्ति का आधान करनेवाले हैं। **विद्युमन्तः**=उन लोकों को ज्योतिर्मय बनानेवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर शरीर में अग्नितत्त्व ठीकरूप से होकर उसे तेजोमय बनाता है। हृदयरूप अन्तरिक्ष में **विद्युत्**=सब बुराइयों को भस्म करनेवाली होती है तथा मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य दीप्ति को करनेवाला होता है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर ही हम ज्ञानवाणियों को ठीकरूप में समझते हैं। ये ही हमें शरीर में अग्नि तत्त्ववाला, हृदय में विद्युत्वाला व मस्तिष्क में सूर्यवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**उरुचक्रिरात्रेयः**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'मित्र वरुण' की महिमा

प्रातर्देवीमदितिं जोहवीमि मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य।
राये मित्रावरुणा सर्वतातेळे तोकाय तनयाय शं योः॥ ३॥

(१) मैं **प्रातः**-उषाकाल में **उदिता सूर्यस्य**-सूर्य के उदय के अवसर पर तथा **मध्यन्दिने**-मध्याह्नकाल में भी **देवीम्**-दिव्यगुणमयी **अदितिम्**-अदीना देवमाता को **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। 'देवी अदिति' की उपासना से सब दिव्यगुणों का मेरे में जन्म होता है। वस्तुतः **अदिति**-अ-दिति (खण्डन) स्वास्थ्य की देवता है। यह हमारे में सब अच्छाइयों को उत्पन्न करती है। स्वस्थ पुरुष में ही स्नेह व निर्द्वेषता के भाव पनपते हैं और सब दिव्यगुणों को उत्पन्न करते हैं। (२) यहाँ 'सायं' का उल्लेख ही नहीं किया। जीवन के सायंकाल में मनुष्य अनुभव से ही द्वेष की व्यर्थता को जान जाता है और यदि मैं जीवन की सन्ध्यावेला ही में निर्द्वेष बनने के संकल्पवाला हुआ तो उसका मुझे उतना लाभ न होगा। तो कहते हैं कि जीवन सूर्य का उदय होते ही हम निर्द्वेष बनें। (३) मैं **राये**-ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये, **सर्वताता**=सब गुणों के विस्तार के लिये, **तोकाय तनयाय**-उत्तम पुत्र पौत्रों के लिये तथा **शं योः**=शान्ति व निर्भयता (भयों का यापन) के लिये **मित्रावरुणा ईडे**-स्नेह व निर्द्वेषता की देवता का आराधन करता हूँ।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता में ही 'ऐश्वर्य, सद्गुण विस्तार, उत्तम सन्तति, शान्ति व निर्भयता' है।

ऋषिः—**उरुचक्रिरात्रेयः**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवों के अमृतत्व का रहस्य

या धर्तारा रजसो रोचनस्योतादित्या दिव्या पार्थिवस्य।
न वां देवा अमृता आ मिनन्ति व्रतानि मित्रावरुणा ध्रुवाणि॥ ४॥

(१) **या**-ये जो **मित्रावरुणा**-स्नेह व निर्द्वेषता की देवताएँ हैं, ये **रोचनस्य रजसः**-देदीप्यमान मस्तिष्करूप द्युलोक के **धर्तारा**-धारण करनेवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता ही मस्तिष्क को दीप्त करते हैं। **उत**=और ये ही **आदित्या**-(आदान्वत्) सब दिव्यगुणों का आदान करनेवाले हैं, **दिव्य**-जीवन को दिव्य बनानेवाले हैं। **पार्थिवस्य**-इस शरीरूप पृथिवीलोक का भी ये धारण करते हैं। इन्हीं से शरीर स्वस्थ बना रहता है। (२) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवताओ! **वाम्**=आपके **ध्रुवाणि व्रतानि**-स्थिर व्रतों को **देवाः**-देव, दिव्य भावनाओंवाले पुरुष **न आमिनन्ति**-हिंसित नहीं करते। वस्तुतः इसी से **अमृताः**-वे अमर बने रहते हैं। ईर्ष्या द्वेष मनुष्य को क्षीण शक्ति व रोगी बना देते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता मस्तिष्क को ज्ञान की रोचनावाला करते हैं, हृदय को दिव्य गुण सम्पन्न बनाते हैं और शरीर का धारण करते हैं। इन्हीं की उपासना से देव अमर बनते हैं।

अगले सूक्त में भी 'उरुचक्रि' ही आराधना करता है—

७०. [सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—उरुचक्रिरात्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

रक्षण व सुमति

पुरूरुणा चिद्ध्यस्त्यवो नूनं वां वरुण। मित्र वंसि वां सुमतिम्॥ १॥

(१) हे **वरुण मित्र**=निर्द्वेषता तथा स्नेह की देवते! **नूनं चित् हि**=निश्चय से ही **वाम्**=आपका **अवः**=रक्षण **पुरूरुणा** (पुरू उरु) पालक व पूरक तथा विशाल है। आपका रक्षण शरीरों का पालन करता है, यह रक्षण हमारे में ज्ञानों का पूरण करता है तथा हमारे हृदयों को यह विशाल बनाता है। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर सारा नाड़ी संस्थान उत्तम बना रहता है। परिणामतः शरीर, मन व बुद्धि भी ठीक रहते हैं। (२) हे मित्र वरुण! **वाम्**=आपकी **सुमतिम्**=कल्याणी बुद्धि को **वंसि**=मैं प्राप्त करूँ (संभजेय)। स्नेह व निर्द्वेषता से मेरी बुद्धि सदा शुभ बनी रहे।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से हमारा पूर्ण रक्षण होता है और हमें शुभ बुद्धि प्राप्त होती है।

ऋषिः—उरुचक्रिरात्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अद्रुह्वाणा-रुद्रा

ता वां सम्यगद्रुह्वाणेषमश्याम धायसे। वयं ते रुद्रा स्याम॥ २॥

(१) हे **मित्र वरुण**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवताओ! **ता वाम्**=वे आप दोनों **सम्यक्**=पूर्णतया **अद्रुह्वाणा**=अद्रोग्धा हैं, द्रोह न करनेवाले हैं। आपकी उपासना मुझे सब हिंसनों से बचाती है। (२) आपके द्वारा प्रसन्न हृदय में हम **धायसे**=धारण के लिये **इषं अश्याम**=प्रभु की प्रेरणा को प्राप्त करें। यह प्रभु प्रेरणा हमें मार्ग दिखाये। हे **रुद्रा**=प्रभु प्रेरणा को प्राप्त कराने के द्वारा सब (रुत्) रोगों के (द्रावयितारौ) भगानेवाले प्राणापानो! **वयम्**=हम **ते**=(तव) आपके **स्याम**=हों। हम सदा रोगों को दूर रखनेवाले हों। वस्तुतः मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति स्वस्थ बनता ही है।

भावार्थ—मित्र और वरुण द्रोहशून्य हैं। ये सब रोगों के दूर करनेवाले हैं।

ऋषिः—उरुचक्रिरात्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दस्यु विनाश

पातं नो रुद्रा पायुभिरुत त्रायेथां सुत्रात्रा। तुर्याम दस्यून्तनूभिः॥ ३॥

(१) हे **रुद्रा**=(रुद् द्रावयितारौ) दुःखों को दूर भगानेवाले मित्र और वरुण! **नः**=हमें **पायुभिः**=अपने रक्षणों के द्वारा **पातम्**=रक्षित करो। **उत**=और **सुत्रात्रा**=उत्तम रक्षण करनेवाले आप **त्रायेथाम्**=हमें सब बुराइयों से बचाओ। आन्तर शत्रुओं से भी आप हमारा त्राण करें तथा बाह्यशत्रुओं के शातन की भी शक्ति दें। (२) आपके द्वारा **तनूभिः**=अपनी शक्तियों के विस्तार को करते हुए हम **दस्यून्**=सब दास्यव वृत्तियों को **तुर्याम**=हिंसित करें। वस्तुतः स्नेह व निर्द्वेषता की पवित्र भूमि में ही सब दिव्यगुणों की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—ये मित्र और वरुण हमारा रक्षण करते हैं। ये हमें शक्ति विस्तार के द्वारा दास्यव वृत्तियों के विनाश के लिये तैयार करते हैं।

ऋषिः—उरुचक्रिरात्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आत्मना भुजमश्नुताम्

मा कस्याद्भुतक्रतू यक्षं भुजेमा तनूभिः। मा शेषसा मा तनसा॥ ४॥

(१) हे मित्रावरुणा! आप **अद्भुतक्रतू**=आश्चर्यजनक शक्ति व प्रज्ञानवाले हो? हम आपके द्वारा शक्ति व प्रज्ञान को प्राप्त करके **कस्य**=किसी के भी **यक्षम्**-पूजित धन को **तनूभिः**=अपने शरीरों से **मा भुजेम**-भोगनेवाले न हों। **शेषसा मा** अपने सन्तानों के द्वारा भी हम किसी दूसरे के धन का उपभोग न करें। **मा तनसा**-पौत्रों के द्वारा भी परपिण्डोपजीवी न बनें। (२) हमारे कुल में कोई भी दूसरे के धन से अपना पालन करनेवाला न हो। सब कोई 'आत्मना भुजं अश्नुताम्'-अपने पुरुषार्थ से अपना भोग प्राप्त करनेवाला बने। वस्तुतः स्नेह व निर्द्वेषता का सम्भव ऐसी वृत्ति के होने पर ही होता है।

भावार्थ—हम अपने पुरुषार्थ से अपना भोग प्राप्त करें और सदा स्नेह व निर्द्वेषता का अपने में पोषण करें।

अपने पुरुषार्थ से अपने भोगों को प्राप्त करनेवाला यह 'बाहुवृक्त' बनता है, बाहु से, प्रयत्न से वर्जन किया है पाप का जिसने। यह आत्रेय है, काम क्रोध लोभ से ऊपर उठा हुआ है। यह मित्र और वरुण की आराधना करता हुआ कहता है—

७१. [एकसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**बाहुवृक्त आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

रिशादसा-बर्हणा

आ नो गन्तं रिशादसा वरुण मित्र बर्हणा। उपेमं चारुमध्वरम्॥ १॥

(१) हे **रिशादसा**=शत्रुओं के विनष्ट करनेवाले **वरुण मित्र**=निर्द्वेषता व स्नेह के भावो! आप **नः**=हमारे इस **चारुम्**=सुन्दर **अध्वरम्**-हिंसारहित जीवन-यज्ञ में **आगन्त**=आओ। वस्तुतः आपने ही इस जीवन-यज्ञ को चारुता प्रदान करनी है। (२) **बर्हणा**-(निबर्हणौ) शत्रुओं के विनष्ट करनेवाले आप **इमं उप**=इस यज्ञ को समीपता से प्राप्त होवो। जिस जीवन में स्नेह व निर्द्वेषता का स्थान बन जाता है, वहां काम-क्रोध-लोभ आदि आसुरभावों का समापन ही हो जाता है।

भावार्थ—जिस जीवन में स्नेह व निर्द्वेषता का स्थान होता है वहाँ आसुरभावों का विनाश हो जाता है। जीवन यज्ञमय बन जाता है।

ऋषिः—**बाहुवृक्त आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रचेतसा-ईशाना

विश्वस्य हि प्रचेतसा वरुण मित्र राजथः। ईशाना पिप्यतं धियः॥ २॥

(२) हे **वरुणमित्र**-निर्द्वेषता व स्नेह के देवो! आप **प्रचेतसा**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले हो। **हि**=निश्चय से **विश्वस्य**=सम्पूर्ण अच्छाइयों के **राजथः**=स्वामी हो। वरुण व मित्र की आराधना हमें सब उत्तम गुणों को प्राप्त करानेवाली होती है। (२) **ईशाना**=सबके ईश आप! **नः धियः** हमारी बुद्धियों को **पिप्यतम्** आप्यायित करनेवाले होवो। वैर तथा द्वेषभाव बुद्धि को मलिन करनेवाले हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से सब उत्तमताएँ प्राप्त होती हैं, बुद्धि आप्यायित होती है।

ऋषिः—**बाहुवृक्त आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मित्र वरुण का सोमपान

उप नः सुतमा गतं वरुण मित्र दाशुषः। अस्य सोमस्य पीतये॥ ३॥

(१) हे **वरुण मित्र**=निर्द्वेषता व स्नेह के भावो! आप **नः**=हमारे **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम को **उप आगतम्**=समीपता से प्राप्त होवो। जिसमें सोम (वीर्य) का उत्पादन हुआ है, वह जीवनयज्ञ 'सुत' है। (२) आप **दाशुषः**=दानशील पुरुष के **अस्य**=इस **सोमस्य**=सोम के **पीतये**=पान के लिये होवो। वस्तुतः वैर-द्वेष आदि के भाव सोमरक्षण की अनुकूलतावाले नहीं। निर्द्वेष पुरुष ही सोम का रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता का धारण करता हुआ मैं सोम का रक्षण कर सकूँ।

बाहुवृक्त ही कहते हैं—

७२. [द्विसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**बाहुवृक्त आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

यज्ञशीलता व सोमरक्षण

आ मित्रे वरुणे वयं गीर्भिर्जुहुमो अत्रिवत्। नि बर्हिषि सदतं सोमपीतये॥ १ ॥

(१) **वयम्**=हम **मित्रे**=स्नेह के होने पर तथा **वरुणे**=निर्द्वेषता के होने पर **अत्रिवत्**='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से ऊपर उठे हुए पुरुष की तरह **आजुहुमः**=सर्वत्र दानपूर्वक अदनवाले बनते हैं। यज्ञों को करके यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हम अत्रि बनते हैं और मित्र व वरुण के उपासक होते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता को धारण करनेवाला व्यक्ति कभी अकेला खानेवाला नहीं बनता। यह इस तत्त्व को समझता है कि 'केवलाधो भवति केवलादी'=अकेला खानेवाला पापी है। (२) हे मित्र और वरुण! आप **सोमपीतये**-मेरे सोम (वीर्य) के रक्षण के लिये **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **निसदतम्**=निश्चय से आसीन होते हो। ये मित्र वरुण ही हमें सोम के पान (रक्षण) के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता का उपासक 'यज्ञशील' होता है तथा सोम (वीर्य) का रक्षण कर पाता है।

ऋषिः—**बाहुवृक्त आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

ध्रुवक्षेमा-यातयज्जना

व्रतेन स्थो ध्रुवक्षेमा धर्मणा यातयज्जना। नि बर्हिषि सदतं सोमपीतये॥ २ ॥

(१) हे मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आप **व्रतेन**=पुण्य कर्मों से **ध्रुवक्षेमा**=निश्चित कल्याण करनेवाले हो। स्नेह के होने पर हम अशुभ हिंसादि कर्मों में प्रवृत्त नहीं होते। (२) आप **धर्मणा**=धारणात्मक कर्मों के हेतु से ही **यातयज्जना**=लोगों को कर्मों में प्रवृत्त करते हो। सो आप **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिये **बर्हिषि**=हमारे वासनाशून्य हृदयों में **निसदतम्**=आसीन होवो।

भावार्थ—मित्र व वरुण का उपासक पुण्य कर्मों द्वारा कल्याण करनेवाला व धारणात्मक कर्मों में ही प्रवृत्त होनेवाला होता है।

ऋषिः—**बाहुवृक्त आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

इष्ट प्राप्ति

मित्रश्च नो वरुणश्च जुषेतां यज्ञमिष्टये। नि बर्हिषि सदतं सोमपीतये॥ ३ ॥

(१) **मित्रः च वरुणः च**=स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **नः यज्ञम्**=हमारे यज्ञ का **जुषेताम्**=

प्रीतिपूर्वक सेवन करें, जिससे **इष्टये**-हम सदा इष्ट सुखों को प्राप्त करनेवाले हों। यज्ञ की भावना हमारे चित्तों को निर्मल करती है। यज्ञात्मक कर्म हमारे घरों व समाज को स्वर्गोपम बना देते हैं। (२) हे मित्र वरुण! आप **सोमपीतये**=सोम रक्षण के लिये **बर्हिषि**-वासनाशून्य हृदय में **निसदतम्**=निश्चय से आसीन होइये।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता हमें यज्ञों में प्रवृत्त कराके इष्टसाधक होते हैं।

यह प्राणसाधना के द्वारा अपने शरीररूप पुर को सुन्दर बनानेवाला 'पौर' है। यह प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है। प्राणसाधना ही इसे समाज में स्नेह व निर्द्वेषता से चलने के योग्य बनायेगी। यह कहता है कि—

अथ षष्ठोऽनुवाकः

७३. [त्रिसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

परावति-अर्वावति

यद्द्य स्थः परावति यदर्वावत्यश्विना। यद्वा पुरू पुरुभुजा यदन्तरिक्ष आ गतम्॥ १ ॥

(१) हे **अश्विना**-प्राणापानो! **यद्** यदि **अद्य**-आज **परावति स्थः**-आप सुदूर स्थान में हो, मस्तिष्करूप द्युलोक में आपका निवास है। अथवा **यद्**=यदि **अर्वावति**=यहाँ समीप में, शरीररूप पृथिवीलोक में आपका निवास है, तो आप **आगतम्**-हमें प्राप्त होवो। वस्तुतः मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवीलोक को प्राणापान ने ही निर्दोष बनाना है। (२) **यद् न**=अथवा यदि **पुरू**-शरीर के अन्य बहुत से प्रदेशों में **पुरुभुजा**=खूब ही पालन करनेवाले हो और **यद्** यदि **अन्तरिक्षे**=हृदयरूप अन्तरिक्ष में आपका निवास है तो वहाँ से हमें प्राप्त होवो। वस्तुतः प्रभु ने शरीर में सर्वप्रथम मस्तिष्क, अर्थात् विज्ञानमयकोश की दीप्ति के लिये इन प्राणापान की स्थापना की है (परावति)। इधर अन्नमयकोश का स्वास्थ्य भी इन्हीं पर निर्भर करता है (अर्वावति)। शरीर के अन्य अंगों को ये प्राण ही शक्ति देते हैं (पुरुभुजा) तथा हृदयान्तरिक्ष को, मनोमयकोश को इन्होंने ही पवित्र करना है (अन्तरिक्षे)।

भावार्थ—प्राणापान मेरे शरीर की त्रिलोकी को व अन्य सब अंगों को पवित्र करनेवाले हों।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'तुविष्टमा' अश्विनौ

इह त्या पुरुभूतमा पुरू दंसांसि बिभ्रता। वरस्या याम्यध्रिगू हुवे तुविष्टमा भुजे॥ २ ॥

(१) **इह**=इस जीवन में **त्या**=उन **पुरु-भू-तमा**-खूब ही विभव को प्राप्त करानेवाले (भावयितृतम) अश्विनी देवों को, प्राणापान को **यामि**-समीपता से प्राप्त होता हूँ। ये प्राणापान शरीर में सोम रक्षण के द्वारा सब अन्नमय आदि कोशों को तेज आदि वैभवों से युक्त करते हैं। **पुरू दंसासि बिभ्रता**-ये पालक व पूरक कर्मों को धारण करनेवाले हैं। अतएव **वरस्या**-वरणीय हैं, चाहने योग्य हैं। ये प्राणापान **अध्रिगू**=अधृतगमन हैं, इनकी शक्ति किसी से प्रतिहत नहीं होती (२) इन **तुविष्टमा**-(तुविः=strength, intellect) प्रचण्ड शक्ति व तीव्र ज्ञानवाले इन प्राणापान को **भुजे**-मस्तिष्क व शरीर के पालन के लिये **हुवे**=पुकारता हूँ। ये प्राणापान ही शरीर में शक्ति का संचार करते हैं और मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त करते हैं। और इस प्रकार ये हमारा पालन करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान ही शरीर के सब कोशों के ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं, हमारे जीवन में पालक व पूरक कर्मों का धारण करते हैं। हमें शक्ति व ज्ञान-सम्पन्न करके हमारा पालन व पूरण करते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अश्विनी देवों के रथ के दो चक्र

ई॒र्मान्यद्वपु॑षे॒ वपु॑श्च॒क्रं रथ॑स्य येमथुः। पर्य॒न्या नाहु॑षा यु॒गा म॒ह्ना रजां॑सि दीयथः ॥ ३ ॥

(१) हे **अश्विनी देवो**=प्राणापानो! आप अपने **रथस्य**=रथ के **अन्यत्**=एक **ईर्म**-सब ग्रन्थियों को (glands को) गतिमय करनेवाले **वपुषे**=शरीर के लिये **वपुः**-सब शक्तियों के बीजों का वपन करनेवाले **चक्रम्**=चक्र को, प्राणरूप चक्र को **येमथुः**=नियमित करते हो। अश्विनी देवों के रथ का एक चक्र प्राण है, तो दूसरा अपान। प्राण सब ग्रन्थियों को क्रियाशील करता हुआ शरीर में शक्ति का संचार करता है। सो प्राण चक्र को 'वपुषे वपुः' कहा है। (२) इस अश्विनी देवों के रथ का दूसरा चक्र 'अपान' है। **अन्या मह्ना**=इस दूसरे के महत्त्व से (अत्यर्स्य महिम्ना) **नाहुषा युगा**=इन मानव दम्पतियों के, पति-पत्नी के **रजांसि**-मलों को **परिदीयथः**=शरीर में सर्वत्र विनष्ट करते हो। मलों को दूर करके उनके शरीरों को नीरोग बना देते हो।

भावार्थ—अश्विनी देवों के रथ का एक 'प्राण' रूप चक्र सब ग्रन्थियों को क्रियाशील बनाकर शक्ति का संचार करता है और दूसरा 'अपान' रूप चक्र मलों को दूर करके शरीर को नीरोग बनाता है।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

निर्दोषता व प्रभु प्राप्ति

तदू षु वा॑मे॒ना कृ॒तं विश्वा॒ यद्वा॒मनु॒ ष्टवे॑। नाना॑ जा॒तावरे॒पसा॒ सम॒स्मे बन्धु॒मेय॑थुः ॥ ४ ॥

(१) हे **विश्वा**=शरीर में प्रविष्ट होनेवाले प्राणापानो! **तद्**=वह **वाम्**=आपका गतमन्त्र में वर्णित् 'प्राणशक्ति संचार व रजा संहार' रूप कार्य **ऊ**-निश्चय से **एना**=इस प्रकार **सुकृतम्**=अच्छी प्रकार किया जाये **यत्**=कि **वाम्**=आपका मैं **अनुष्टवे**=प्रतिदिन स्तवन करनेवाला बनूँ। (२) **नाना**=पृथक् पृथक् कार्य करते हुए आप **अरेपसा जातौ**-हमारे जीवनों को निर्दोष बनानेवाले हो गये हो। हमारे जीवनों को निर्दोष बनाकर **अस्मे**=हमारे लिये **बन्धुम्**=उस महान् मित्र प्रभु को **समेयथुः**=संगत करते हो।

भावार्थ—प्राणापान हमारे जीवनों को निर्दोष बनाकर हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

तथेन्द्रियाणां दरुयन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्

आ यद्वां॑ सू॒र्या रथं॒ तिष्ठ॑द्रघु॒ष्यदं॒ सदा॑। परि॑ वामरु॒षा वयो॑ घृ॒णा व॑रन्त आ॒तपः॑ ॥ ५ ॥

(१) हे अश्विनी देवो! **यद्**=जब **वां रघुष्यदम्**=तीव्र गतिवाले **रथम्**=रथ पर **सूर्या**=सूर्य-पुत्री-सूर्यवत् देदीप्यमान ज्ञानदीप्ति सदा **आतिष्ठत्**=सदा स्थित होती है। प्राणसाधना के द्वारा यह शरीर-रथ शक्ति-सम्पन्न व गतिशील बनता है और मलिनताओं का विनाश होकर हमारा ज्ञान दीप्त हो उठता है। यही अश्विनी देवों के रथ पर सूर्या का अधिष्ठान है। (२) उस समय हे प्राणापानो! **वाम्**=आपको **वयः**=(वि=horse) वे इन्द्रियाश्व **परिवरन्ते**=वरण करते हैं, जो **अरुषाः**=आरोचमान हैं **घृणाः**=दीप्त हैं और **आतपः**=सर्वत शत्रुओं के संतापक हैं। वस्तुतः प्राणसाधना इन्द्रियों को

निर्दोष बनाकर उन्हें आरोचमान व दीप्त बना देती है। इस स्थिति में ये इन्द्रियाश्व आक्रामक 'विषय वासना' रूप शत्रुओं का विनाश करनेवाले होते हैं, अर्थात् इन्द्रियाँ विषयों में फँसती नहीं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर-रथ गतिमय व प्रकाशवाला बनता है। इस रथ में इन्द्रियाश्व आरोचमान दीप्त व शत्रु-संतापक होते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अरेपस् घर्म

युवोरत्रिश्चिकेतति नरा सुम्नेन चेतसा। घर्मं यद्वामरेपसं नासत्यास्ना भुरण्यति॥ ६ ॥

(१) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! **अत्रिः**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठा हुआ पुरुष **सुम्नेन**=(joy, happiness) आनन्दयुक्त **चेतसा**=चित्त से **युवोः चिकेतति**=आप दोनों को जानता है। आपकी साधना से चित्त आनन्दयुक्त होता है, वह आनन्दयुक्त चित्त आपकी महिमा का स्मरण कराता है। (२) हे **नासत्या**=सब असत्यों को हमारे से दूर करनेवाले प्राणापानो! **यद्**=जो **वाम्**=आपकी **अरेपसम्**=निर्दोष **घर्मम्**=शक्ति की उष्णता है, उसे **आस्ना**=आस्य निष्पन्न स्त्रोत्र के द्वारा, अर्थात् ऊँचे-ऊँचे आपका स्तवन करता हुआ यह साधक **भुरण्यति**=प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से चित्त निर्मल होकर आनन्दयुक्त होता है। ऊँचे-ऊँचे स्तवन करते हुए हम उस स्तवन में होनेवाली प्राणसाधना के परिणामस्वरूप दोषशून्य शक्ति की उष्णता को प्राप्त करते हैं।

सूचना—शराब इत्यादि के पीने से उत्पन्न उष्णता सदोष है। प्राणसाधना जनित उष्णता निर्दोष है।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

तेजस्विता-उन्नति व गतिशीलता

उग्रो वां ककुहो ययिः शृण्वे यामेषु सन्तनिः। यद्वां दंसोभिरश्विनात्रिर्नराववर्तति॥ ७॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों का **सन्तनिः**=शक्तियों के विस्तारवाला यह रथ **यामेषु**=जीवन-यात्रा के मार्गों में **उग्रः**=तेजस्वी **ककुहः**=उन्नत (शिखर स्थित) **ययिः**=निरन्तर गतिवाला **शृण्वे**=सुन पड़ता है। अर्थात् प्राणापान हमें तेजस्वी उन्नत व गतिशील बनाते हैं। (२) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! **यद्**=जब **अत्रिः**=काम क्रोध लोभ से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति **दंसोभिः**=उत्तम कर्मों के हेतु से **वाम्**=आपको **आववर्तति**=पुनः-पुनः आवृत्त करता है, अर्थात् दीर्घ श्वासोच्छ्वास द्वारा आपके आवर्तन को करता है, दीर्घश्वास प्रश्वास होने से शोधन होता है। यह शोधन हमारे कर्मों की पवित्रता का कारण बनता है और हमें उन्नत करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें तेजस्वी उन्नत व गतिशील बनाती है।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

समुद्र सन्तरण

मध्व ऊ षु मधूयुवा रुद्रा सिषक्ति पिप्युषी। यत्समुद्राति पर्षथः पक्वाः पृक्षो भरन्त वाम्॥ ८ ॥

(१) हे **मधुयुवः**=माधुर्य का हमारे साथ मिश्रण करनेवाले, **रुद्रा**=(रुत् द्र) सब रोगों का द्रावण करनेवाले प्राणापानो! उ=निश्चय से **मध्वः**=माधुर्य से **पिप्युषी**=आप्यायन (वर्धन) को प्राप्त

करती हुई स्तुति **सुसिषक्ति**=आपका उत्तम सेवन करती है। जितना-जितना हम प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं, उतना-उतना ही हमारे जीवन में माधुर्य बढ़ता है। इस माधुर्य के बढ़ने से हम और अधिक प्राणों का स्तवन करनेवाले बनते हैं। (२) हे प्राणापानो! **यत्**=जब आप **समुद्रा अतिपर्षथः**=(कामो हि समुद्रः) काम-क्रोध के समुद्र को पार करते हो, तो **पक्वाः पृक्षः**=वृक्षों व अग्नि पर पके हुए अन्न फल ही **वां भरन्त**=आपका भरण करते हैं। अर्थात् इन प्राणापान का उपासक वानस्पतिक भोजन को ही ग्रहण करनेवाला होता है। इस प्रकार सात्त्विक आहार के साथ जब प्राणसाधना चलती है तो हम काम-क्रोध के समुद्रों को पार करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए प्राणायाम करें यह प्राणसाधना हमें (१) काम-क्रोध से पार करेगी, (२) और हमारे जीवन में माधुर्य का संचार करेगी।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

मयोभुवा-मृडयत्तमा

सत्यमिद्वा उ अश्विना युवामाहुर्मयोभुवा। ता यामन्यामहूतमा यामन्ना मृळयत्तमा ॥ ९ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवाम्**=आपको साधक लोग **सत्यम्**=सचमुच **इत् वा उ**=ही निश्चय से **मयोभुवाः**='कल्याण के उत्पन्न करनेवाले' इस रूप में **आहुः**=कहते हैं। आपके द्वारा सब रोगों का निरास होकर वस्तुतः हमारा कल्याण होता है। (२) इसीलिए **ता**=वे प्राणापान **यामन्**=इस जीवन यज्ञ में **यामहूतमा**=आने के लिये अधिक से अधिक आह्वातव्य होते हैं। वे प्राणापान **यामन्**=इस जीवन यज्ञ में **आ**=सर्वथा **मृडयत्तमा**=अत्यन्त सुख को देनेवाले होते हैं। ये दीर्घ व नीरोग जीवन को प्राप्त कराके हमें सुखी करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान (१) हमें नीरोग करते हैं, (२) अतिशयेन सुखी करते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु स्तोत्रोच्चारण

इमा ब्रह्माणि वर्धनाश्विभ्यां सन्तु शन्तमा। या तक्षाम रथाँइवावोचाम बृहन्नमः ॥ १० ॥

(१) **इमा**=ये **ब्रह्माणि**=स्तोत्र **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के द्वारा **वर्धना सन्तु**=हमारा वर्धन करनेवाले हों और **शन्तमा** (सन्तु)=हमें अधिक से अधिक शान्ति के देनेवाले हों। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति निर्मल होती है। हमारा झुकाव प्रभु की ओर होता है। उस समय हमारे जीवन में स्तोत्र अनायास उच्चरित होते हैं। ये हमारी वृद्धि व शान्ति का कारण बनते हैं। (२) ये स्तोत्र वे हैं, **या**=जिन्हें हमने इस प्रकार **तक्षाम**=बनाया है, **इव**=जैसे कि एक रथकार **रथान्**=रथों को बनाता है। इस प्राणसाधना से पवित्र-हृदय होकर हम उस प्रभु के लिये **बृहन्नमः**=खूब ही नमन के वचनों को **अवोचाम**=उच्चरित करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा झुकाव प्रभु-स्तवन की ओर होता है और हमारे मुख से अनायास ही प्रभु स्तोत्र उच्चरित होने लगते हैं।

अगले सूक्त का भी ऋषि 'पौर आत्रेय' ही है—

७४. [चतुःसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

मनावसू-वृषणवसू

कूष्ठो देवावश्विनाद्या दिवो मनावसू। तच्छ्रवथो वृषणवसू अत्रिर्वामा विवासति ॥ १ ॥

(१) हे **देवौ**-हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाले **अश्विना**-प्राणापानो! आप **कूष्ठः**-इस शरीरूप पृथिवी में स्थित होते हो और **आद्या**=आज यहाँ स्थित होकर **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के **मनावसू**-ज्ञानरूप धनवाले होते हो। प्राणसाधना से ही बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है। (२) हे **वृषण्वसू**=धनों का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! **तत् श्रवथः**-आपका उस ज्ञान का श्रवण करनेवाले होते हो अतएव **अत्रिः**=यह काम-क्रोध व लोभ से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति **वां आविवासति**=आपकी परिचर्या करता है। प्राणापान ही आराधनीय हैं। इन्हीं पर टकराकर आसुरभावनाएँ चूर्णीभूत हुआ करती हैं।

भावार्थ—प्राणापान इस शरीर में स्थित होकर जीवन को प्रकाशमय बनाते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

दिवि देवा नासत्या

कुह त्या कुह नु श्रुता दिवि देवा नासत्या। कस्मिन्ना यतथो जने को वां नदीनां सचा॥ २॥

(१) **कुह**=कहाँ **त्या**=वे प्रसिद्ध प्राणापान निवास करते हैं! शरीर में कहाँ प्राण का स्थान है और कहाँ अपान का? **नु**=अब **कुह**=किस कार्यक्षेत्र में **श्रुता**=ये प्रसिद्ध हैं? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **दिवि**=ये मस्तिष्करूप द्युलोक में रहते हैं। वस्तुतः शरीर में स्थित सब देवों का कार्यालय यह मस्तिष्करूप द्युलोक ही है। ये **देवा**=प्रकाशमय हैं, **नासत्या**=शरीर को असत्य से रहित करते हैं। प्राण प्रकाश को देता है, तो अपान असत्य को दूर करता है। (२) प्राणापान के महत्त्व को न समझने के कारण कोई विरला व्यक्ति ही इनकी साधना करता है। **कस्मिन् जने**=किसी एक आध व्यक्ति के जीवन में ही हे प्राणापानो! आप **आयतथः**=यत्न करते हो। जब वह व्यक्ति प्राणसाधना करता है, तो वह **कः**=कोई विरला व्यक्ति ही **वाम्**=आपकी **नदीनाम्**-ज्ञानवाणियों को **सचा**=अपने में समवेत करनेवाला होता है प्राणसाधना से अशुद्धि क्षय होकर ज्ञानदीप्ति होती ही है।

भावार्थ—जिस मनुष्य के जीवन में प्राणों की साधना चलती है, वहाँ ज्ञान की वाणियाँ भी विकसित होती हैं। प्राणापान का मुख्य कार्य जीवन को प्रकाशमय बनाना ही है। ये जीवन से असत्य को दूर कर देते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु की ओर

कं याथः कं ह गच्छथः कमच्छा युञ्जाथे रथम्।
कस्य ब्रह्माणि रण्यथो वयं वामुश्मसीष्टये॥ ३॥

(१) हे प्राणापानो! आप **कं याथः**=उस आनन्दमय प्रभु की ओर जाते हो और **ह**-निश्चय से **कं गच्छथः**=उस आनन्दमय प्रभु के साथ संगत होते हो। **कं अच्छा**=उस आनन्दमय प्रभु को लक्ष्य करके ही **रथं युञ्जाथे**=आप इस शरीर-रथ को इन्द्रियाश्वों से जोतते हो। प्राणसाधना द्वारा ये इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर प्रभु दर्शन के लिये अनुकूलता को प्राप्त करती हैं। इनके प्राण ही अन्तर्मुख करनेवाले होते हैं। (२) हे प्राणापानो! आप **कस्य**=उस आनन्दमय प्रभु के **ब्रह्माणि**=इन ज्ञान वचनों में **रण्यथः**=रमण करते हो। आपकी साधना से ही हमारी बुद्धि तीव्र होकर ज्ञानवाणियों का ग्रहण करनेवाली बनती है। सो **वयम्**=हम **वाम्**=आपको **इष्टये**=सब इष्टों की प्राप्ति के लिये **उश्मसि**=कामना करते हैं। सब शुभों की प्राप्ति इन प्राणापानों से ही होती है।

भावार्थ—यह प्राणसाधना हमें प्रभु की ओर ले जाती है। प्राणसाधना से ही हमारी बुद्धि ज्ञानवाणियों में रमण करनेवाली बनती है। हम प्राणसाधना की कामनावाले हों।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पौर

पौरं चिद्ध्युदप्रुतं पौर पौराय जिन्वथः। यदीं गृभीततातये सिंहमिव द्रुहस्पदे॥ ४॥

(१) **पौर**=(पौरौ) हे शरीररूप पुर के हित करनेवाले अश्विनी देवो! **युदप्रुतम्**=रेतःकणरूप जलों की ओर गतिवाले, इसके रक्षण के द्वारा **पौरम्**=इस शरीररूप पुरी का ध्यान करनेवाले इस साधक को **पौराय**=सम्पूर्ण पुर के हित के लिये **चित् हि**=निश्चय से **जिन्वथः**=प्रेरित करते हो। प्राणसाधना से रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है और इनके रक्षण से यह शरीररूप पुरी बड़ी ठीक बनी रहती है। इसको इस प्रकार ठीक रखनेवाला व्यक्ति सारे पुर का (नगर का) हित करनेवाला होता है। (२) हे अश्विनी देवो! आप **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **गृभीततातये**='ग्रहण किया है यज्ञ विस्तार को जिसने' उस पुरुष के लिये प्राप्त होते हो तो इस प्रकार उसके रोग व वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाले होते हो, **इव**=जैसे कि **द्रुहस्पदे**=द्रोह (हिंसा) के स्थानभूत अरण्य में **सिंहम्**=शेर को विनष्ट करते हैं। इस शरीररूप वन में काम-क्रोध आदि ही हिंस्रपशु हैं। इनका विनाश ये प्राणापान ही करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान हमारे शरीरस्थ शत्रुओं का विनाश करके हमें उत्कृष्ट शरीररूप पुरवाला बनाते हैं। ऐसे बनकर हम सर्वहित में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

जीर्ण का पुनः युवा होना

प्र च्यवानाज्जुजुरुषो वव्रिमत्कं न मुञ्चथः। युवा यदी कृथः पुनरा काममृण्वे वध्वः॥ ५॥

(१) हे प्राणापानो! आप **च्यवानात्**=जिसकी शक्तियाँ च्युत होती जा रही हैं, अतएव **जुजुरुषः**=जो जीर्ण-शीर्ण-सा हो गया है, उस पुरुष से **वव्रिम्**=(रूप नाम नि० ३।७) उसके जीर्णरूप को **प्रमुञ्चथः**=मुक्त कर देते हो उसको जीर्णरूप से इस प्रकार पृथक् कर देते हो, **न**=जैसे कि **अत्कम्**=कवच को उतार देते हैं। प्राणसाधना के द्वारा एक वृद्ध पुरुष भी अपने जीर्णरूप को छोड़कर पुनः सुरूपता को प्राप्त करता है। (२) **यद्**=जब, **ई**=निश्चय से **पुनः**=फिर, इसे **युवा कृथः**=आप युवा कर देते हो, तो यह **वध्वः**=कार्यभार के वहन (वहतेः वधूः) की **कामम्**=इच्छा को **ऋण्वे**=प्राप्त करता है। प्राणसाधना से शक्तिशाली बनकर एक व्यक्ति कार्यभार को सहर्ष उठाने को उद्यत होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वार्धक्य के चिह्न दूर होकर शक्ति की सुरूपता प्राप्त होती है और मनुष्य उत्साह के साथ कार्यभार को उठाने के लिये उद्यत होता है।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'शक्ति व श्री' की प्राप्ति

अस्ति हि वामिह स्तोता स्मसि वां सन्दृशि श्रिये। नू श्रुतं म आ गतमवोभिर्वाजिनीवसू॥ ६॥

(१) हे अश्विनौ! **हि**=निश्चय से **इह**=इस जीवन में **वाम्**=आपका ही सब कोई स्तोता **अस्ति**=स्तवन करनेवाला है। आपके स्तवन से ही सब उत्तमताएँ प्राप्त होती हैं। हम **वाम्**=आपके **सन्दृशि**=सन्दर्शन में **स्मसि**=हों। आपके सन्दर्शन में **श्रिये**=हम श्री की प्राप्ति के लिये हों। (२)

नु=अब **मे श्रुतम्**=मेरे आह्वान को आप **श्रुतम्**-सुनिये और **अवोभिः**=रक्षणों के साथ **आगतम्**=मुझे प्राप्त होइये। **वाजिनीवसू**=आप ही हमारे लिये शक्तिरूप धनवाले हैं (वाजिनम्=strength)। आप ने ही हमें शक्ति प्राप्त करानी है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शक्ति प्राप्त होती है, हमारा जीवन भी सम्पन्न बनता है।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

विप्रता व यज्ञशीलता

को वामद्य पुरूणामा वव्ने मर्त्यानाम्। को विप्रो विप्रवाहसा को यज्ञैर्वाजिनीवसू॥ ७॥

(१) **पुरूणाम्**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों में **कः**-कोई विरला ही **अद्य**=आज **वाम्**=आपका **आवव्ने**=सर्वतः भजन करता है। प्राणसाधना की ओर विरले पुरुष प्रवृत्त होते हैं। (२) हे **विप्रवाहसा**=ज्ञानियों का धारण करनेवाले प्राणपानो! **कः विप्रः**=कोई विरला ही ज्ञानी पुरुष आपका उपासन करता है। हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनवाले प्राणापानो! **कः**=कोई विरला व्यक्ति ही **यज्ञैः**=यज्ञों के हेतु से आपका उपासन करता है। आपकी उपासना जीवन को यज्ञमय बनाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना (१) हमारा पालन व पूरण करती है (पुरूणाम्), (२) यह हमें विप्र (ज्ञानी) बनाती है। (३) इससे हम यज्ञशील बनते हैं, 'प्रभु पूजन, परस्पर संगतिकरण व दान' की वृत्तिवाले होते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

(रथानां रथः) अश्विनी देवों का 'येष्ठ' रथ

आ वां रथो रथानां येष्ठो यात्वश्विना। पुरू चिदस्मयुस्तिर आङ्गूषो मर्त्येष्वा॥ ८॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपका **येष्ठः**=उत्तम गमनवाला **रथानां रथः**=रथों में श्रेष्ठ रथ **आयातु**-हमें सर्वथा प्राप्त हो। प्राणसाधना द्वारा यह शरीर-रथ खूब गतिवाला बनकर हमें प्राप्त हो। (२) यह **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाला 'येष्ठ' रथ **पुरू चित्**=बहुत भी शत्रुओं को **तिरः**=तिरस्कृत करनेवाला होता है और इसीलिए **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **आ**=सर्वतः **आंगूषः**=स्तुत्य होता है प्राणसाधना से यह शरीर रथ ऐसा सुदृढ़ व गतिशील बनता है कि सब रोग व वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से यह शरीर-रथ 'येष्ठ'=गतिशील बनता है और (तिरः) शत्रुओं का तिरस्कर्ता होता है। अतएव यह अश्विनी देवों का रथ स्तुत्य होता है।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

मधूयुवा-विचेतसा

शमू षु वां मधूयुवास्माकमस्तु चर्कृतिः। अर्वाचीना विचेतसा विभिः श्येनेव दीयतम्॥ ९॥

(१) हे **मधूयुवा**=हमारे साथ माधुर्य का सम्पर्क करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **चर्कृतिः**=पुनः-पुनः की जाती हुई स्तुति **अस्माकम्**=हमारे लिये **ऊषु**=निश्चय से **शं अस्तु**=शान्ति को देनेवाली हो। हम जितना-जितना आपका स्तवन करें, उतना ही शान्ति को प्राप्त होनेवाले हों। (२) **विचेतसा**=विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करानेवाले आप **अर्वाचीना**=हमें समीपता से प्राप्त होनेवाले होवो। **विभिः**=(वि=to rein) लगामों से (अभीशुभिः) **श्येना इव**=अत्यन्त शंसनीय गतिवाले होते हुए आप **दीयतम्**=हमें प्राप्त होवो प्राणसाधना द्वारा इन्द्रियाश्व लगामों से युक्त हो जाते हैं,

ये इन्द्रियाँ आत्मवश्य हो जाती हैं। इन आत्मवश्य इन्द्रियों से सब कार्य उत्तम ही होते हैं। इस प्रकार ये प्राणापान अत्यन्त शंसनीय गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (१) माधुर्य प्राप्त होता है, (२) शान्ति प्राप्त होती है, (३) हम विशिष्ट ज्ञानवाले बनते हैं, (४) शंसनीय गतिवाले होते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्राणसाधना व वसुओं की प्राप्ति

अश्विना यद्ध कर्हि चिच्छुश्रूयातमिमं हवम्।
वस्वीरू षु वां भुजः पृञ्चन्ति सु वां पृचः॥ १०॥

(१) **अश्विना**=हे प्राणापानो! **यद् ह**=यदि **कर्हिचित्**=किसी प्रकार आप **इमं हवम्**=इस मेरी पुकार को **शुश्रुयातम्**=सुन लो, तो **वाम्**=आपके **वस्वीः**=अत्यन्त प्रशस्य=निवास को उत्तम बनानेवाले, **भुजः**=पालन करनेवाले धन **उ**=निश्चय से **सु पृञ्चन्ति**=हमारे साथ उत्तम सम्पर्कवाले होते हैं। अर्थात् यदि हम प्राणसाधना कर पाते हैं तो हम उन वसुओं को, अध्यात्म धनों को प्राप्त करनेवाले होते हैं, जो हमारे जीवन को अतिप्रशस्त कर देते हैं। (२) ये धन हमें **वाम्**=आपके प्रति **सु पृचः**=उत्तम सम्पर्कवाला करते हैं। हम इन धनों की प्राप्ति के लिये आपकी ओर झुकते हैं। प्राणायाम में प्रवृत्त होना ही अश्विनी देवों की ओर झुकना है।

भावार्थ—जब हम प्राणसाधना की ओर झुकते हैं तो वे उत्कृष्ट धन हमें प्राप्त होते हैं जिनसे कि हमारा जीवन उत्तम बनता है और हम और अधिक इन प्राणापान की साधना में प्रवृत्त होते हैं।

प्राणसाधना द्वारा अपना रक्षण करनेवाला 'अवस्यु आत्रेय' अगले सूक्त का ऋषि है। वह कहता है कि—

७५. [पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'प्रियतम-वसुवाहन' रथ

प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम्।
स्तोता वामश्विनावृषिः स्तोमेन प्रति भूषति माध्वी मम श्रुतं हवम्॥ १॥

(१) हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! **स्तोता**=स्तवन करनेवाला **ऋषिः**=गतिमय जीवनवाला, स्तुति के अनुसार क्रिया को करनेवाला यह आपका साधक **वां रथम्**=आपके इस शरीररूप रथ को **स्तोमेन**=स्तुति-समूह से **प्रति भूषति**=अलंकृत करता है। उस रथ को जो **प्रति प्रियतमम्**=प्रतिदिन हमें प्रीणित करनेवाला है, स्वस्थ व सुदृढ़ होता हुआ प्रसन्नता का कारण बनता है। **वृषणम्**=शक्तिशाली है। **वसुवाहनम्**=उत्तम वसुओं का वहन (धारण) करनेवाला है। प्राणसाधना से यह शरीर-रथ 'प्रिय-सशक्त व वसुसंपन्न' बनता है। (२) हे **माध्वी**=मेरे जीवन को मधुर बनानेवाले प्राणापानो! **मम**=मेरी **हवम्**=पुकार को **श्रुतम्**=सुनिये। मैं प्राणसाधना करता हुआ शरीर को स्वस्थ सुदृढ़ व सुन्दर बनाकर प्रीति का अनुभव करूँ। ये प्राणापान मेरे जीवन को मधुर बनानेवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर शक्तिशाली व वसु-सम्पन्न, उत्तम निवास के तत्त्वोंवाला बनता है। इस प्रकार ये प्राणापान हमारे जीवन को मधुर बनाते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दस्रा हिरण्यवर्तनी

अत्यायातमश्विना तिरो विश्वा अहं सना।
दस्रा हिरण्यवर्तनी सुषुम्ना सिन्धुवाहसा माध्वी मम श्रुतं हवम्॥ २॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अति आयातम्**=हमें आप अतिशयेन प्राप्त होइये। **अहम्**=मैं शत्रुओं को **सना**=सदा **तिरः**=तिरस्कृत करनेवाला होऊँ। (२) आप ही तो **दस्रा**=इन शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले हैं। इनको नष्ट करके आप ही **हिरण्यवर्तनी**-हमारे जीवन के मार्ग को ज्योतिर्मय बनाते हैं। मार्ग को उत्तम बनाकर आप **सुषुम्ना**-उत्तम धनों व आनन्दों को प्राप्त कराते हैं और **सिन्धुवाहसा**-हमारे जीवन में ज्ञान समुद्र का वहन करनेवाले होते हैं। इस प्रकार **माध्वी**-मेरे जीवन को मधुर बनानेवाले प्राणापानो! आप **मम**-मेरी **हवम्**-पुकार को **श्रुतम्**-सुनो। मेरी आराधना सफल हो और प्राणसाधना करता हुआ मैं जीवन को मधुर बनाऊँ।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम 'काम-क्रोध-लोभ' आदि सब शत्रुओं का तिरस्कार करें और जीवन को प्रशस्त व मधुर बनायें।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'रुद्रा वाजिनीवसू'

आ नो रत्नानि बिभ्रतावश्विना गच्छतं युवम्।
रुद्रा हिरण्यवर्तनी जुषाणा वाजिनीवसू माध्वी मम श्रुतं हवम्॥ ३॥

(१) **नः**=हमारे लिये हे **अश्विना**=प्राणापानो! **रत्नानि**-रमणीय स्वास्थ्य आदि धनों को **बिभ्रतौ**=धारण करते हुए **युवम्**-आप दोनों **आगच्छतम्**-आओ। आपकी साधना से ही हमें 'स्वास्थ्य, निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता' आदि रत्नों की प्राप्ति होती है। (२) आप **रुद्रा**=सब रोगों का द्रावण करनेवाले हो। **हिरण्यवर्तनी**=जीवन मार्ग को ज्योतिर्मय बनानेवाले हो। **जुषाणा**=प्रीतिपूर्वक सेवित होते हुए आप **वाजिनीवसू**-शक्तिरूप धनवाले हो। आपकी आराधना से ही यह शक्तिरूप धन प्राप्त होता है। **माध्वी**=मेरे जीवन को मधुर बनानेवाले आप **मम हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार को सुनो, मैं आपकी सदा आराधना करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से सब रमणीय धन प्राप्त होते हैं। इससे रोग दूर होते हैं और शक्ति मिलती है।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ककुहः-मृगः-वापुषः

सुष्टुभो वां वृषण्वसू रथे वाणीच्याहिता।
उत वां ककुहो मृगः पृक्षः कृणोति वापुषो माध्वी मम श्रुतं हवम्॥ ४॥

(१) हे **वृषण्वसू**=वसुओं को जीवनधनों का वर्षण करनेवाले, प्राणापानो! **सुष्टुभः**-उत्तमता से स्तवन करनेवाले मेरी **वाणीची**=स्तुति वाणी **वां रथेः**-आपके इस शरीर-रथ में **आहिता**=स्थापित होती है। अर्थात् मैं आपका आराधन करता हूँ। आपने ही मुझे सब वसुओं को प्राप्त कराना है। आपके द्वारा ही यह शरीर-रथ सुन्दर बनता है। मेरी वाणी आपके गुणों का ही स्तवन करती है। (२) **उत**-और **वाम्**-आपका यह स्तोता **ककुहः**=उन्नति के शिखर पर आरूढ़ होनेवाला बनता

है। **मृगः**=यह अपने गुण-दोषों का अन्वेषक होता है। **पृक्षः कृणोति**=हविरूप अन्नों को करनेवाला होता है, अर्थात् यज्ञशील बनता है। **वापुषः**=उत्तम शरीरवाला होता है। सो **माध्वी**=मेरे जीवन को मधुर बनानेवाले आप **मम**=मेरी **हवं श्रुतम्**=पुकार को सुनो। मैं आपका आराधक बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा सब वसुओं की प्राप्ति से यह शरीर-रथ उत्तम बनता है। हम श्रेष्ठ, आत्मान्वेषी, यज्ञशील व उत्तम शरीरवाले होते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रथ्या-इषिरा

बोधिन्मनसा रथ्यैषिरा हवनश्रुता ।
विभिश्च्यवानमश्विना नि याथो अद्वयाविनं माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ ५ ॥

(१) हे **अश्विता**=प्राणापानो! आप **बोधिन्मनसा**=मन को ज्ञानयुक्त करते हो। **रथ्या**=शरीर-रथ के लिये हितकर हो। **इषिरा**=शीघ्रगतिवाले होते हुए, शरीर में स्फूर्ति को पैदा करते हुए **हवनश्रुता**=प्रभु की पुकार को सुननेवाले हो, आपकी आराधना से ही मन की निर्मलता होकर प्रभु प्रेरणा सुनाई पड़ती है। (२) **विभिः**=(to rein) आप इन्द्रियाश्वों के लिये लगामों से इस **च्यवानम्**=आपकी आराधना से पूर्व मार्ग विचलित होते हुए पुरुष को **नि याथः**=निश्चय से प्राप्त होते हो। आपकी आराधना उसे सब इन्द्रियाश्वों को लगामों द्वारा संयत करनेवाला बनाती है **अद्वयाविनम्**=माया व छल-कपट से रहित करती है। आपकी कृपा से ही वह अद्वयावी बनता है। **माध्वी**=इस प्रकार जीवन को मधुर बनानेवाले आप **मम हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार को सुनो।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'ज्ञान, स्वस्थ शरीर व निर्मल प्रभु प्रेरणा को सुननेवाला मन' प्राप्त होता है। यह साधना हमें इन्द्रियाश्वों को रोकने में समर्थ करके निष्कपट जीवनवाला बनाती है।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'संयत-दीप्त व शीघ्रगतिवाले' इन्द्रियाश्व

आ वां नरा मनोयुजोऽश्वासः प्रुषितप्सवः ।
वयो वहन्तु पीतये सह सुम्नेभिरश्विना माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ ६ ॥

(१) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपको **अश्वासः**= ये इन्द्रियाश्व **पीतये**=सोम के पान के लिये **आवहन्तु**=प्राप्त करायें। जो इन्द्रियाश्व **मनोयुजः**=मन रूप लगाम से युक्त हैं, **प्रुषितप्सवः**=(प्रुषित=burning) दीप्तरूपवाले हैं तथा **वयः**=शीघ्र गतिवाले हैं। वस्तुतः प्राणसाधना ही इन इन्द्रियाश्वों को ऐसा बनाती है। प्राणसाधना से ये इन्द्रियाश्व 'संयत दीप्त व शीघ्र गतिवाले' बनते हैं। ऐसा होने पर ही शरीर में सोम का रक्षण होता है। (२) इस प्रकार हे प्राणापानो! आप **सुम्नेभिः सह**=प्रभु-स्तवनों के साथ **माध्वी**=मेरे जीवन को मधुर बनानेवाले हो। आप **मम हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार को सुनो। मैं प्राणसाधना करता हुआ प्रभु का स्तोता व मधुर जीवनवाला बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ 'संयत, दीप्त व शीघ्र गतिवाली' बनती हैं। प्राणसाधक प्रभु का स्तोता व मधुर जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

नासत्या-अदाभ्या

अश्विनावेह गच्छतं नासत्या मा वि वेनतम्।
तिरश्चिदर्यया परि वर्तिर्यातमदाभ्या माध्वी मम श्रुतं हवम्॥ ७॥

(१) **अश्विनौ**=हे प्राणापानो! **इह**=इस हमारे जीवनयज्ञ में **आगच्छतम्**=आप आवो। हम सदा आपकी आराधना करें। हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **मा विवेनतम्**=हमारे प्रति अपगत कामनावाले मत होवो। हम कभी भी प्राणसाधना से विमुख न हों। (२) **अर्यया** (अर्यौ सा०)-हमारे जीवन यज्ञ के स्वामी होते हुए आप **तिरः चित्**-दूर देश से भी **वर्तिः परियातम्**-हमारे शरीर-गृह को प्राप्त होवो। हम अन्य सब कार्यों को छोड़कर प्राणसाधना को अवश्य करें ही। **अदाभ्या**=आप हिंसित होनेवाले नहीं। आपकी साधना के होने पर शरीर रोगों से व मन वासनाओं से आक्रान्त व हिंसित नहीं हो पाता इस प्रकार हमारे जीवन को **माध्वी**=मधुर बनानेवाले आप **मम हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार को सुनो। अर्थात् मैं सदा आपकी आराधना करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना को हम अवश्य करें ही। पर हमारे जीवन को 'असत्य से शून्य, रोगों व वासनाओं से अहिंसित तथा मधुर' बनायेगी।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शुभस्पती

अस्मिन्यज्ञे अदाभ्या जरितारं शुभस्पती ।
अवस्युमश्विना युवं गृणन्तमुप भूषथो माध्वी मम श्रुतं हवम्॥ ८॥

(१) **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में **अदाभ्या**=न हिंसित होनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**-आप **जरितारम्**-स्तोता को **अवस्युम्**=रक्षण की कामनावाले को तथा **गृणन्तम्**=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले को **उप भूषथः**=समीपता से प्राप्त होते हो। आप **शुभस्पती**=(शुभस् beauty, radiance, happiness, victory, water, a brilliant chariot) शरीर के सौन्दर्य का कारण बनते हो, ज्ञान की दीप्ति को प्राप्त कराते हो, जीवन को आनन्दमय बनाते हो, रोगों व वासनाओं पर हमें विजय प्राप्त कराते हो। रेतःकण रूप जलों के रक्षक होते हो, शरीर-रथ को तेजस्विता से दीप्त करते हो। आपके द्वारा ही प्रभु स्तवन की वृत्ति, रोगों से रक्षण तथा ज्ञानरुचि प्राप्त होती है (जरितारं, अवस्युं, गृणन्तम्) (२) इस प्रकार **माध्वी**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले आप **मम हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार को सुनो। मैं सदा आपकी आराधना में प्रवृत्त होऊँ।

भावार्थ—प्राणापान हमारे जीवन में 'शुभस्पती' हैं। ये सब शुभों को हमें प्राप्त कराते हैं। इनको प्राप्त कराके वे हमारे जीवन को मधुर बनाते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ध्यान-यज्ञ-प्राणायाम

अभूदुषा रुशत्पशुराग्निरधाय्यृत्वियः ।
अयोजि वां वृषण्वसू रथो दस्त्रावमर्त्यो माध्वी मम श्रुतं हवम्॥ ९॥

(१) **उषाः अभूत्**-वह उषा उदित हुई है जिसमें **रुशत् पशुः**=(bright रुशत्, supreme

spirit पशु) आत्मतत्त्व की दीप्ति देखी गयी है। ध्यान के द्वारा इस उषा में प्रभु के दर्शन का प्रयत्न होता है। (२) वह **अग्निः**=यज्ञ की अग्नि **आ अधायि**=चारों ओर घरों में अग्निकुण्ड में स्थापित हुआ है, जो **ऋत्वियः**=ऋतुओं की अनुकूलता को जन्म देनेवाला है। सर्वत्र अग्निहोत्र होने से ऋतुओं का प्रादुर्भाव बड़ी अनुकूलता के साथ होता है। (३) हे **दस्रौ**=शत्रुओं का विनाश करनेवाले व **वृषणवसू**=जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं (धनों) का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपका **रथः**=यह शरीर-रथ **अयोजि**=उत्तम इन्द्रियाश्वों से युक्त होता है और **अमर्त्यः**=यह रोगों का शिकार होकर असमय में नष्ट होनेवाला नहीं होता। इस प्रकार हम नियम से प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं और हे प्राणापानो! आप **माध्वी**=हमारे जीवन को मधुर बनाते हो। **मम हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार को आप सुनो।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रातः 'ध्यान, यज्ञ व प्राणायाम' में प्रवृत्त हों। यही प्रभु दर्शन ऋतुओं की अनुकूलता व दुःखक्षय का मार्ग है।

सब दुःखों से ऊपर उठा हुआ 'अत्रि' (तीनों दुःखों से परे) अगले सूक्त में प्राणापान का आराधन करता है—

७६. [षट्सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

पीपिवांसं घर्ममच्छ

आ भात्यग्निरुषसामनीकमुद्विप्राणां देवया वाचो अस्थुः।
अर्वाञ्चा नूनं रथ्येह यातं पीपिवांसमश्विना घर्ममच्छ॥ १॥

(१) **उषसाम्**=उषाकालों का **अनीकम्**=मुखरूप, अर्थात् उषाओं में सर्वप्रथम प्रबुद्ध किया जानेवाला **अग्निः**=अग्नि **आभाति**=दीप्त होता है। उस समय **विप्राणाम्**=ज्ञानी पुरुषों की **देवयाः वाचः**=उस देव की ओर हमें ले जानेवाली वाणियाँ **उद् अस्थुः**=उत्थित होती हैं। अर्थात् ज्ञानी पुरुष अग्निहोत्र के लिये अग्नि को समिद्ध करते हैं और प्रभु के स्तवन के लिये ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हैं। (२) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **नूनम्**=निश्चय से **इह**=यहाँ **अर्वाञ्चा**=हमारे अभिमुख **यातम्**=प्राप्त होवो। **रथ्या**=आप इस शरीर-रथ को उत्तम बनानेवाले हो। आप हमें **पीपिवांसम्**=आप्यायित होती हुई **घर्मं अच्छ**=शक्ति की उष्णता की ओर ले चलते हो।

भावार्थ—हम प्रातः अग्निहोत्र करें, प्रभु का स्तवन करें और प्राणायाम में प्रवृत्त हों। यह प्राणायाम हमारी शक्ति का वर्धन करे और हमारे शरीर-रथ को उत्तम बनानेवाला हो।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शम्भविष्ठा

न संस्कृतं प्र मिमीतो गमिष्ठान्ति नूनमश्विनोपस्तुतेह।
दिवाभिपित्वेऽवसागमिष्ठा प्रत्यवर्तिं दाशुषे शंभविष्ठा॥ २॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **संस्कृतम्**=शरीर, मन व बुद्धि के परिष्कार को **न प्रमिमीतः**=हिंसित नहीं करते हो **उपस्तुता**=स्तुत हुए-हुए आप **नूनम्**=निश्चय से **इह**=इस जीवन में **अन्ति गमिष्ठा**=समीपता से प्राप्त होते हो। **दिवा अभिपित्वे**=(अभिपतने) दिन के निकलते ही **अवसा**=रक्षण के हेतु से **आगमिष्ठा**=आप हमें प्राप्त होते हो। (२) हमें प्राप्त होकर आप **अवर्तिं प्रति**=सब दौर्भाग्यों पर (गमिष्ठा) आक्रमण करनेवाले होते हो। शरीरस्थ सब दौर्भाग्यों

को आप दूर करते हो। सब दौर्भाग्यों को दूर करके **दाशुषे**=दाश्वान् के लिये, आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये आप **शंभविष्ठा**=अधिक से अधिक शान्ति को देनेवाले होते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'शरीर, मन व बुद्धि' का संस्कार ठीक बना रहता है। सब प्रकार के दौर्भाग्यों का दूरीकरण होकर शान्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिव्य गुणों का रक्षण

उता यातं संगवे प्रातरह्नो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य।
दिवा नक्तमवसा शन्तमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान॥ ३॥

(१) हे **अश्विना**-प्राणापानो! आप **उत**=निश्चय से **संगवे**=(संगच्छन्ते गावः दोहनभूमिम् यदा) सायं दोहन काल में, **अह्नः प्रातः**-दिन के प्रातःकाल में **मध्यन्दिने**-मध्याह्न में **सूर्यस्य उदिता**=सूर्योदय के समय आप **आयातम्**=हमें प्राप्त होवो। उल्लिखित चारों समयों में हम आपका आराधन करनेवाले बनें। (२) इनके अतिरिक्त **दिवानक्तम्**-दिन-रात **शन्तमेन अवसा**-अत्यन्त शान्ति को देनेवाले रक्षण के साथ आप हमें प्राप्त होवो। जब भी हमें सुविधा हो हम प्राणसाधना करनेवाले बनें और अपने जीवन में सुरक्षा व शान्ति को प्राप्त करें। हे प्राणापानो! **इदानीम्**-अब **पीतिः**-अन्य देवों का रक्षण आपके बिना **न ततान**-विस्तृत नहीं होता। प्राणसाधना के द्वारा ही सब देवों का रक्षण होता है।

भावार्थ—जब सुविधा हो हम प्राणायाम का अभ्यास करें। प्राणसाधना ही सुरक्षा व शान्ति का साधन है। इसी से सब दिव्य गुणों का रक्षण होता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ओकः-गृहाः-दुरोणम्

इदं हि वां प्रदिवि स्थानमोक इमे गृहा अश्विनेदं दुरोणम्।
आ नो दिवो बृहतः पर्वतादाद्भ्यो यातमिषमूर्जं वहन्ता॥ ४॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **इदम्**=यह **हि**-निश्चय से **वाम्**=आपका **प्रदिवि स्थानम्**=प्रकृष्ट द्युलोक में, मस्तिष्करूप द्युलोक में जो स्थान है, वही **ओकः**-आपका समवाय स्थान है। **इमे गृहाः**=यह हमारा शरीर ही आपका घर है। **इदं दुरोणम्**=यही आपका दुरोण (गृह) है। इस शरीर में ही प्रभु से मेल इन प्राणापाणों के द्वारा होता है, सो यह 'ओक' है। यहीं दिव्य गुणों का संग्रह होता है, सो यह 'गृहाः' हैं। इन प्राणापान के द्वारा यहां से सब बुराइयों का अपनयन होता है सो यह दुरोण है (दुर् ओम=अपनयन) (२) हे प्राणापानो! आप **नः**-हमें **आयातम्**=प्राप्त होवो। **बृहतः दिवः**=वृद्धि के कारणभूत ज्ञान के हेतु से प्राप्त होवो तथा **पर्वतात्**=सब उत्तमताओं के पूरण के हेतु से प्राप्त होवो (पर्व पूरणे)। **अद्भ्यः**=रेतःकणरूप जलों के हेतु से तुम हमें प्राप्त होवो। प्राणसाधना से ही ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, सब कमियाँ दूर होती हैं तथा रेतःकणों का रक्षण होता है। हे प्राणापानो! आप हमारे लिये **इषम्**=प्रेरणा को तथा **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **वहन्ता**-प्राप्त करानेवाले होवो। प्राणसाधना से निर्मल हृदय में हम प्रभु प्रेरणा को सुनते हैं और उस प्रेरणा को क्रिया में परिणत करने के लिये शक्ति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ-प्राणसाधना से (१) इस शरीर में हम प्रभु से मेल को प्राप्त करते हैं। सो यह 'ओक' बनता है (उचं समवाये)। (२) यहां हम गुणों का ग्रहण करते हैं। सो यह 'गृहाः'

कहलाता है। (३) तथा सब बुराइयों को दूर करके ये इसे 'दुरोण' बनाते हैं। (४) प्राणसाधना से ही 'ज्ञान, पूर्ति व सोमरक्षण' होता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नूतन अवस्

समश्विनोरवसा नूतनेन मयोभुवा सुप्रणीती गमेम।
आ नो रयिं वहतमोत वीराना विश्वान्यमृता सौभगानि ॥ ५ ॥

(१) हम **अश्विनोः**=प्राणापान के **अवसा**=रक्षण से **सुप्रणीती**=उत्तम मार्ग पर चलने के द्वारा **संगमेम**=संगत हों। उस रक्षण से संगत हों, जो **नूतनेन**=अत्यन्त स्तुति के योग्य है (नु स्तुतौ) तथा **मयोभुवा**=कल्याण को पैदा करनेवाला है। (२) हे प्राणापानो! आप **नः**=हमारे लिये **रयिम्**=धन को **आवहतम्**=प्राप्त कराओ। **उत**=और **वीरान् आ**=वीर सन्तानों को प्राप्त कराओ। **विश्वानि**=सब **अमृता**=नीरोगताओं को प्राप्त कराओ। इन नीरोगताओं के द्वारा **सौभगानि**=हमें सब सौभाग्यों के आप प्राप्त करानेवाले होवो।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारा अद्भुत रक्षण करती है। यह हमें 'ऐश्वर्य, वीर सन्तानें व सब सौभाग्यों' के देनेवाली है।

'अत्रि' ऋषि ही कहता है—

७७. [सप्तसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रातर्यावाणा प्रथमा

प्रातर्यावाणा प्रथमा यजध्वं पुरा गृध्रादररुषः पिबातः।
प्रातर्हि यज्ञमश्विना दधाते प्र शंसन्ति कवयः पूर्वभाजः ॥ १ ॥

(१) **प्रातर्यावाणा**=प्रातःकाल से ही गतिवाले **प्रथमा**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले इन अश्विनी देवों का **यजध्वम्**=उपासन करो। प्राणापान हमें निरन्तर गतिशील बनाते हैं और हमारी शक्तियों का विस्तार करते हैं। **पुरा**=पूर्व इसके कि **गृध्रात्**=लोभ की वृत्ति और **अररुषः**=अपार (कृपणता) की वृत्ति **पिबातः**=हमारी शक्तियों को पी जायें, हम इन प्राणापान की आराधना करें। इनकी आराधना से ये लोभ व कृपणता की वृत्तियाँ हमारे में पनपेगी ही नहीं। लोभ आदि वृत्तियों के अभाव में सोम का रक्षण सुगम होता है। (२) **अश्विना**=ये प्राणापान **प्रातः**=सवेरे-सवेरे ही **हि**=निश्चय से **यज्ञं दधाते**=यज्ञ का धारण करते हैं। प्राणसाधना से हमारी वृत्ति यज्ञिय बनती है। इन प्राणों के साथ टकराकर सब आसुरभाव चकनाचूर हो जाते हैं। इसीलिए **पूर्वभाजः**=पूर्वता के, पूरणता के उपासक **कवयः**=ज्ञानी लोग **प्रशंसन्ति**=इन प्राणापान का शंसन करते हैं। वस्तुतः इस प्राणसाधना के द्वारा ही वे अपना पूरण करते हैं और इसी से ज्ञानवृद्धि को भी प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना सब आसुरभावों को विनष्ट करके हमें सोमरक्षण के योग्य बनाती है। इससे हमारी वृत्ति यज्ञिय बनती है।

ऋषिः — **अत्रिः** ॥ देवता — **अश्विनौ** ॥ छन्दः — **त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः — **धैवतः** ॥

प्रातः-सायं प्राणायाम व यज्ञ करना

प्रातर्यजध्वमश्विना हिनोत न सायमस्ति देवया अजुष्टम्।
उतान्यो अस्मद्यजते वि चावः पूर्वःपूर्वो यजमानो वनीयान्॥ २॥

(१) **प्रातः**=प्रातःकाल **अश्विना**=प्राणापान का **यजध्वम्**=उपासन करो तथा **हिनोत**=हवियों को भेजनेवाले होवो। अर्थात् प्रातः हम प्राणायाम व अग्निहोत्र अवश्य करें। **सायम्**=सायंकाल भी **देवयाः**=देवताओं के प्रति जानेवाली यह हवि **अजुष्टं न अस्ति**=असेवित नहीं होती। सायं भी हमें इसी प्रकार प्राणायाम व अग्निहोत्र करना है। पर प्रातः व सायं की साधना में प्रातः की साधना का महत्त्व अधिक है। (२) **उत**=और **अस्मत् अन्यः**=हमारे से भिन्न जो कोई भी **यजते**=इन प्राणापान का उपासन करता है, **च**=और **वि अवः**=विशेषरूप से देवों का प्रीणित करता है, हवि से तृप्त करता है, अर्थात् अग्निहोत्र आदि यज्ञों को करता है, तो **पूर्वः पूर्वः यजमानः**=पहला-पहला यज्ञशील व्यक्ति **वनीयान्**=सम्भजनीय व आदरणीय है। जो कोई भी हमारे से आयुष्य में बड़ा है और यज्ञशील है वह हमारे आदर का पात्र है ही। उसका आदर करते हुए हम यज्ञशीलता का आदर करते हैं और इस प्रकार यज्ञशील बनने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम प्रातः सायं प्राणसाधना व यज्ञ करें। प्रातः प्राणसाधना को अधिक महत्त्व दें। यज्ञशील पुरुषों का आदर करें।

ऋषिः — **अत्रिः** ॥ देवता — **अश्विनौ** ॥ छन्दः — **त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः — **धैवतः** ॥

मनोजवा वातरंहा

हिरण्यत्वङ्मधुवर्णो घृतस्नुः पृक्षो वहन्ना रथो वर्तते वाम्।
मनोजवा अश्विना वातरंहा येनातियाथो दुरितानि विश्वा॥ ३॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वां रथः**=आपका यह शरीर रूप रथ **पृक्षः वहन्**=हविरूप अन्नों को धारण करता हुआ **आवर्तते**=चारों ओर गतिवाला होता है, अपने कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त होता है। यह **हिरण्यत्वक्**=सोने की तरह चमकती हुई त्वचावाला है, अर्थात् तेजस्विता से दीप्त है। **मधुवर्णः**=अत्यन्त मधुर वर्णवाला है, अर्थात् बड़ा सुन्दर प्रतीत होता है। **घृतस्नुः**=दीप्ति को प्रस्तुत करनेवाला है, चमक ही चमक इससे टपकती है। (२) यह रथ **मनोजवाः**=मन के समान वेगवाला है, **वातरंहाः**=वायु के समान गतिवाला है। अर्थात् दृढ़ होता हुआ यह विचारशील व गतियुक्त है। 'मनोजवाः' विशेषण विचार का द्योतक है और 'वातरंहाः' गति का। यह रथ वह है **ये न**=जिससे **विश्वा दुरितानि**=सब दुरितों को आप **अतियाथः**=पार कर जाते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से यह शरीर-रथ तेजस्विता से चमकता हुआ अतिदृढ़, विचारशील व प्रभु के समान तीव्र गतियुक्त बनकर हमें सब दुरितों से पार ले जाता है।

ऋषिः — **अत्रिः** ॥ देवता — **अश्विनौ** ॥ छन्दः — **त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः — **धैवतः** ॥

प्राणायाम-सात्त्विक अन्न का सेवन

यो भूयिष्ठं नासत्याभ्यां विवेष चनिष्ठं पित्वो ररते विभागे।
स तोकमस्य पीपरच्छमीभिरनूर्ध्वभासः सदमित्तुतुर्यात्॥ ४॥

(१) **यः**=जो **नासत्याभ्याम्**=इन प्राणापानों के लिये **भूयिष्ठम्**=अत्यधिक **विवेष**=व्याप्तिवाला

होता है, अर्थात् जो प्राणापान को साधना के लिये अधिकाधिक समय को देता है तथा **विभागे**=हविर्विभागवाले यज्ञादि कर्मों के होने पर **पित्वः चनिष्ठम्**=अन्नों में उत्तम अन्नों को इनके लिये **ररते**=देता है। अर्थात् यज्ञशेष के रूप में सात्त्विक अन्नों का सेवन करता है। **सः**=वह व्यक्ति **अस्य तोकम्**=इस अपने शरीरस्थ की वृद्धि को **पीपरत्**=पालित करता है। अर्थात् प्राणायाम व यज्ञशिष्ट सात्त्विक अन्न के सेवन से उसका यह शरीर सब दृष्टियों से उन्नत ही उन्नत होता है। (२) यह प्राणसाधक पुरुष **शमीभिः**=शान्त भाव से किये जानेवाले कर्मों से **अनूर्ध्वभासः**= अतेजस्विताओं को (न ऊर्ध्व भास्) अथवा अयज्ञिय भावनाओं को जिनमें यज्ञाग्नि का प्रज्वलन नहीं होता, उन वृत्तियों को **सदं इत्**=सदा ही **तुतुर्यात्**=विनष्ट करता है, अर्थात् यह तेजस्वी व यज्ञशील बनता है।

भावार्थ—प्राणायाम करने व सात्त्विक यज्ञशिष्ट अन्न के सेवन से यह शरीर वृद्धि को प्राप्त करता है। हम तेजस्वी व यज्ञशील बनते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अमृत-सौभग

सम॒श्विनो॒रव॑सा॒ नूत॑नेन मयो॒भुवा॑ सु॒प्रणी॑ती गमेम।
आ नो॑ र॒यिं व॑हत॒मोत वी॒राना विश्वा॑न्यमृता॒ सौभ॑गानि॥ ५॥

(१) मन्त्र व्याख्या ७६.५ पर द्रष्टव्य है।

'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सातों को वश में करनेवाला 'सप्तवध्रि' प्राणापान की आराधना करता हुआ कहता है—

७८. [अष्टसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

हंसौ इव

अश्वि॑ना॒वेह ग॑च्छतं॒ नास॑त्या॒ मा वि वे॑नतम्। हं॒सावि॑व पतत॒मा सु॒ताँ उप॑॥ १॥

(१) **अश्विनौ**=हे प्राणापानो! **इह**=यहाँ हमारे जीवन में **आगच्छतम्**=तुम आओ। हम सदा आपकी आराधना करनेवाले हों। हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **मा विवेनतम्**=अपगत कामनावाले मत होवो। हमारे प्रति आपका प्रेम बना रहे। हमें सदा प्राणायाम की रुचि प्राप्त हो। (२) हे प्राणापानो! **हंसौ इव**=हंसों की तरह **सुतान् उप**=उत्पन्न हुए-हुए सोमों के प्रति **आपततम्**=तुम सर्वथा प्राप्त होवो। 'हन्ति पापमानं इति हंसः' पाप को नष्ट करनेवाला 'हंस' है। ये प्राणापान हंस हैं। पापों को नष्ट करनेवाले हैं। वासनाओं को विनष्ट करके, सब असत्यों को दूर करके आप शरीर में उत्पन्न सोमों का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम सदा प्राणायाम की रुचिवाले हों। ये प्राणापान सब असत्यों व पापों को दूर करके शरीर में सोमों का रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

हरिणौ इव, गौरौ इव

अश्वि॑ना हरि॒णावि॑व गौरावि॒वानु॒ यव॑सम्। हं॒सावि॑व पतत॒मा सु॒ताँ उप॑॥ २॥

(१) **अश्विना**=हे प्राणापानो! **हरिणौ इव**=आप हरिणों की तरह हो, सब दुःखों का हरण

करने के कारण (हरति) 'हरिण' हो। **गौरौ इव**-आप गौर मृगों की तरह हो (गुहते उद्युङ्के) शरीर में सब उद्योगों को करनेवाले हो जैसे वे हरिण और गौर **यवसं अनु**=घास के प्रति जाते हैं उसी प्रकार आप शरीर में **सुतान् उप**=उत्पन्न इन सोमों के प्रति प्राप्त होवो। (२) आप **हंसौ इव**=(हन्तिपाप्मानम्) पापों को नष्ट करनेवाले के समान 'हंस' बनकर **सुतान् उप आपततम्**=इन उत्पन्न सोमों के प्रति प्राप्त होवो। इन प्राणापान के द्वारा ही शरीर में सोमकणों की ऊर्ध्वगति होती है।

भावार्थ—प्राणापान 'हरिण' हैं, दुःखों का हरण करनेवाले हैं। ये 'गौर' हैं, शरीर में सब उद्योगों का कारण बनते हैं। 'हंस' हैं, सब पापों को नष्ट करते हैं। प्राणापान और व हरिण हैं। ये जैसे घास के प्रति जाते हैं, उसी प्रकार प्राणापान सोमकणों के प्रति।

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

वाजिनीवसू

अश्विना वाजिनीवसू जुषेथां यज्ञमिष्टये। हंसाविव पततमा सुताँ उप॥ ३॥

(१) **अश्विना**=हे प्राणापानो! आप **वाजिनीवसू**-शक्तिरूप धनवाले हो, आप ही सब अंग-प्रत्यंगों को शक्ति देते हो। आप **यज्ञं जुषेथाम्**=हमारे जीवनयज्ञ का सेवन करते हो और **इष्टये**-सब इष्टों की प्राप्ति के लिये होते हो। प्राणसाधना से जीवन में सब अभीष्ट तत्त्वों की प्राप्ति होती है। (२) हे प्राणापानो! आप **हंसौ इव**=पापों को नष्ट करनेवालों की तरह **सुतान् उप**=उत्पन्न सोमकणों के प्रति **आपततम्**=सर्वथा प्राप्त होते हो वस्तुतः प्राणापान ही वासनाओं के विनष्ट करके सोमकणों का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान ही हमें शक्तिरूप धन को प्राप्त कराते हैं। इन्हीं से जीवनयज्ञ सब इष्ट प्राप्ति करानेवाला बनता है। ये प्राणापान ही सोमकणों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अन्धकार गर्त से ऊपर

अत्रिर्यद्वामवरोहन्नृबीसमजोहवीन्नाधमानेव योषा।
श्येनस्य चिज्जवसा नूतनेनागच्छतमश्विना शन्तमेन॥ ४॥

(१) **ऋबीसम्**-(अपगतभासम्) अन्धकारमय गर्त में **अवरोहन्**=उतरता हुआ **अत्रिः**=(अद्यते त्रिभिः) काम-क्रोध-लोभ से खाया जाता हुआ **यद्**-जब कभी ठोकर लगने पर चेतना में आता है और **वाम्**=हे प्राणापानो! आप दोनों को, **नाधमाना योषा इव**=याचना करती हुई स्त्री की तरह, अर्थात् अत्यन्त नम्र भाव से **अजोहवीत्**=पुकारता है। मनुष्य संसार में विषयों में फँसने पर अधिक और अधिक अन्धकारमय गर्त में पहुँचता जाता है। कभी जरा चेतता है, तो अपनी दुर्गति से दुःखी होकर उस दीन अवस्था में प्राणापान को रक्षण के लिये पुकारता है। (२) पुकारे जाने पर हे **अश्विना**-प्राणापानो! आप **श्येनस्य**=शंसनीय गतिवाले बाज के **चित्**=निश्चय से **जवसा**=वेग से **अगच्छतम्**=उसे प्राप्त होते हो। यह आपका वेग उस अत्रि के लिये **नूतनेन**=नवीन जीवन का कारण बनता है तथा **शन्तमेन**=उसे अधिक से अधिक शान्ति प्राप्त कराता है। इस प्राणसाधना से काम-क्रोध आदि इस प्रकार नष्ट किये जाते हैं, जैसे कि चिड़ियाँ बाज से। अब यह प्राणसाधना करता हुआ अत्रि 'अद्यते त्रिभिः' न रहकर 'अविद्यमानाः त्रयो यस्य' हो जाता है। यह काम-क्रोध-लोभ से पीड़ित नहीं होता, इसके जीवन से 'काम-क्रोध-लोभ' का विलोप हो जाता है। परिणामतः

यह अद्भुत शान्ति का अनुभव करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से अन्धकार गर्त में पड़ा हुआ व्यक्ति भी ऊपर उठता है और नवीन शान्त जीवन को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सप्तवध्रि' बनना

वि जि॑हीष्व वनस्पते॒ योनि॒ः सूष्य॑न्त्याइव। श्रुतं मे॑ अश्विना॒ हवं॑ स॒प्तव॑ध्रिं च मुञ्चतम्॥ ५ ॥

(१) **इव**-जैसे **सूष्यन्त्याः**=बच्चे को जन्म देनेवाली युवति की **योनिः**=जननाङ्ग प्रदेश विवृत होता है, उसी प्रकार हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के स्वामिन्! आप **विजिहीष्व**=हमारे लिये विवृत होइये। जैसे वह जननाङ्ग एक बालक को जन्म देती है, इसी प्रकार आप हमारे लिये ज्ञानरश्मियों को प्रकट करिये। इन ज्ञानरश्मियों के अनुसार हम कार्यों को करनेवाले बनें। यह सब प्राणसाधना के द्वारा ही तो होता है। सो प्राणापान से प्रार्थना करता हुआ सप्तवध्रि कहता है कि—(२) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **मे हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार को सुनो। मैं सदा आपकी साधना में प्रवृत्त होऊँ। **च**=और मुझ **सप्तवध्रिम्**=दो कानों, दो नासिका-छिद्रों, दो आँखों व मुख को वशीभूत करनेवाले को आप **मुञ्चतम्**=विषयों के बन्धन से मुक्त करो। प्राणसाधना के द्वारा ही वस्तुतः हम सप्तवध्रि बनकर इन्द्रियों की दासता से मुक्त होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम इन्द्रियों को वश में करेंगे तो हमारे लिये आचार्य की ज्ञानरश्मियों का द्वार खुल जायेगा।

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के भयवाला जीवन

भी॒ताय॒ नाध॑मानाय॒ ऋष॑ये स॒प्तव॑ध्रये। मा॒याभि॑रश्विना यु॒वं वृ॒क्षं सं च॒ वि चा॑चथः॥ ६ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **मायाभिः**=प्रज्ञानों के साथ **वृक्षम्**=इस मेरे 'ऊर्ध्वमूल अधशाख अश्वत्थ' (पीपल) वृक्ष को, अर्थात् शरीर को **सं अचथः**=सम्यक् प्राप्त होते हैं, **च**=और **वि अचथः**=विविध अंग-प्रत्यंगों में प्राप्त होते हो। प्राणायाम के अभ्यास से शरीर में सर्वत्र प्राणापान की ठीक गति होती है। और ये प्राणापान हमें प्रज्ञानों को प्राप्त कराते हैं। (२) उस मेरे लिये प्रज्ञानों को प्राप्त कराते हैं, जो मैं **भीताय**=प्रभु की उपस्थिति को अनुभव करता हुआ पापों से भयभीत रहता हूँ। **नाधमानाय**=जो मैं सदा प्रभु से याचना करनेवाला बनता हूँ। **ऋषये**=(ऋष गतौ) गतिशील होता हूँ और **सप्तवध्रये**=सातों इन्द्रियों को (दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँख, मुख) वशीभूत करता हूँ।

भावार्थ—जब प्राणापान हमारे शरीर वृक्षों में सर्वत्र सम्यक् गतिवाले होते हैं, तो हमें प्रज्ञान प्राप्त होता है। हमारा जीवन 'प्रभु से भयवाला, प्रार्थनामय, गतिशील व जितेन्द्रियतावाला' बनता है।

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना से सहज सन्तानोत्पत्ति

यथा॒ वातः॑ पुष्क॒रिणीं॑ समि॒ङ्गय॑ति स॒र्वतः॑। ए॒वा ते॒ गर्भ॑ एजतु नि॒रैतु॒ दश॑मास्यः॥ ७ ॥

(१) **यथा**=जैसे **वातः**=वायु **पुष्करिणीम्**=कमलोंवाले तालाब को **सर्वतः**-सब ओर से **समिङ्गयति**=गतिवाला कर देता है। **एवा**=इसी प्रकार **ते गर्भः**=तेरा गर्भ **एजतु**=कम्पित हो और

दशमास्यः=दस मास के आयुष्यवाला यह बालक **निरैतु**=गर्भ से बाहर आ जाये। (२) एक युवति यदि प्राणसाधना में चलती है तो उसे सन्तान को जन्म देने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। प्राणसाधना उसके जननाङ्गों के समुचित विकास को करनेवाली बनती है। गर्भस्थ बालक का पोषण भी इस प्राणसाधना से ठीक रूप में होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से गर्भिणी के गर्भ का कम्प इस रूप में होता है जैसे कि वायु से पुष्करिणी के जलस्थ कमलों का। इस बालक के जन्म देने में माता को कष्ट नहीं होता।

ऋषिः—**सप्तवधिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वातः वनं समुद्रः

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति। एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥ ८ ॥

(१) **यथा वातः**=जैसे वायु स्वाभाविक गतिवाली होती है, **यथा वनम्**=जैसे वायु के चलने पर वन गतिवाला होता है और **यथा समुद्रः एजति**=जैसे समुद्र कम्पित हो उठता है। **एवा**=इस प्रकार, हे **दशमास्य**=गर्भ में दस मास तक शान्तभाव से रह चुके कुमार! **त्वम्**=तू **जरायुणा सह**=गर्भ वेष्टन जेर के साथ **आ इहि**=बाहिर आजा (२) वायु, वन व समुद्र जैसे स्वाभाविक गति में होते हैं, इसी प्रकार गर्भस्थ बालक स्वाभाविक गति से बाहिर आनेवाला हो।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर गर्भस्थ बालक में समय पर स्वाभाविक गति होकर बाहिर आने की प्रवृत्ति होती है।

ऋषिः—**सप्तवधिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीवः-जीवन्त्याः

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि। निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥ ९ ॥

(१) **कुमारः**=कुमार **दश मासान्**=दस महीनों तक **मातरि अधि**=मातृ गर्भ में **शशयानः**=अच्छी प्रकार प्रसुप्त-सी अवस्था में रहता हुआ **जीवः**=जीवन को धारण करनेवाला **निरैतु**=ना हि आनेवाला हो। मातृ गर्भ में सम्यक् पोषित होकर यह जीवन को बिताने के लिये बाहिर आये। (२) यह **अक्षतः**=अविक्षत अंग-प्रत्यंगोंवाला हो। **जीवः**=जीवनी शक्ति से परिपूर्ण हो। **जीवन्त्याः अधि**=जीवित माता से ही यह बाहिर आये बालक भी जीवित हो, उसकी माता भी।

भावार्थ—प्राणसाधना से गर्भस्थ बालक के सब अंग-प्रत्यंग अविक्षत होते हैं तथा माता भी कष्टों से मृत नहीं होती।

इस प्राणसाधना से उत्तम कर्मोंवाला यह 'सत्यश्रवाः' बनता है—'सत्यानि श्रवांसि यस्य' (praiseworthy actions) यह तीनों प्रकार के कष्टों से दूर 'आत्रेय' बनता है। यह उषाकाल से ही उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होने की कामना रखता हुआ कहता है—

७९. [एकोनशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**स्वराड्ब्राह्मीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति

महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती ।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥ १ ॥

(१) हे **उषः**=उषाकाल की देवते! **नः**=हमें **अद्य**=आज **महे राये**=महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **बोधय**=उद्बुद्ध कर। वस्तुतः प्रातः जागरण सात्त्विक वृत्ति को उत्पन्न करके हमारे शरीर में नीरोगिता व मन को प्रकाशमय करता है। एवं उषा हमें 'स्वास्थ्य व ज्ञान' रूप ऐश्वर्यों को देनेवाली है। (२) हे उषः! तू **दिवित्मती**=प्रकाशवाली है। तू **सत्यश्रवसि**=सत्य कीर्तिवाले, सच्चे कीर्तिकर कर्मों में प्रेरित होनेवाले **वाय्ये**=कर्मतन्तु का सन्तान (विस्तार) करनेवाले **सुजाते**=उत्तम निवासवाले **अश्वसूनृते**=(अशूव्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त सत्य वाणीवाले मेरे में उषः! तू ऐसा कर **यथा**=जिससे **चित्**=निश्चयपूर्वक **नः**=हमें **अबोधयः**=जागरित कर। उषःकाल का जागरण ही हमें उत्कृष्ट ऐश्वर्यों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम उषाकाल में जागें। यह जागरण हमें सात्त्विक वृत्तिवाला बनाकर नीरोगिता व ज्ञान के ऐश्वर्य को प्राप्त करायेगा।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

उषा जागरण का जीवन पर सुन्दर प्रभाव

या सुनीथे शौचद्रथे व्यौच्छो दुहितर्दिवः ।
सा व्युच्छ सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥ २ ॥

(१) हे **दिवः दुहितः**=ज्ञान का पूरण करनेवाली उषे! **या**=जो तू **सुनीथे**=उत्तम वाणीवाले (नीथा=वाणी) उत्तम ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाले में तथा **शौचद्रथे**=शरीर रथ को शुचि (पवित्र) बनानेवाले में **व्यौच्छः**=अन्धकार को दूर करती है। **सा**=वह तू **सहीयसि**=शत्रुओं का सहन (मर्षण=अभिभव) करनेवाले मुझ में **व्युच्छ**=उदित हो, अन्धकार को दूर करनेवाली हो। (२) हे उषः! तू **सत्यश्रवसि**=सत्य कीर्तिकर कर्मों को करनेवाले, **वाय्ये**=कर्मतन्तु का सन्तान करनेवाले, **सुजाते**=उत्तम विकासवाले, **अश्वसूनृते**=कर्मों में व्याप्त प्रिय सत्य वाणीवाले मुझ में उदित हो। अर्थात् तू मेरे जीवन को ऐसा बनानेवाली हो।

भावार्थ—उषाकाल में जागने से हम 'सुनीथ, शौचद्रथ, सहीयान्, सत्यश्रवा, वाय्य, सुजात व अश्वसूनृत' बनते हैं।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

आभरद्वसुः

सा नो अद्याभरद्वसुर्व्युच्छा दुहितर्दिवः ।
यो व्यौच्छः सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥ ३ ॥

(१) हे **दिवः दुहितः**=ज्ञान का (प्रकाश का) प्रपूरण करनेवाली उषे! तू **आभरद्वसुः**=सब वसुओं का भरण करनेवाली है, जीवन के लिये आवश्यक तत्त्वों से परिपूर्ण है। **सा**=वह तू **नः**=हमारे लिये **अद्य**=आज **व्युच्छा**=अन्धकार को दूर करनेवाली हो। (२) तू वह है **या उ**=जो निश्चय से **सहीयसि**=शत्रुओं को कुचलनेवाले, **सत्यश्रवसि**=सत्य कीर्तियुक्त कर्मोंवाले, **वाय्ये**=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले, **सुजाते**=उत्तम विकासवाले, **अश्वसूनृते**=कर्मों में व्याप्त सूनृत वाणीवाले पुरुष में **व्यौच्छः**=सदा उदित हुई है, अन्धकार को दूर करनेवाली हुई है। वस्तुतः तूने ही उसे 'सहीयान्' इत्यादि सार्थक नामोंवाला बनाया है।

भावार्थ—उषा सब वसुओं का भरण करनेवाली है। यह हमें शत्रुमर्षण आदि कार्यों में समर्थ करती है।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

धन-आत्मनियन्त्रण व दान

अभि ये त्वा विभावरि स्तोमैर्गृणन्ति वह्नयः ।
मघैर्मघोनि सुश्रियो दामन्वन्तः सुरातयः सुजाते अश्वसूनृते ॥ ४ ॥

(१) हे **विभावरि**-प्रकाशवाली उषे! **ये**=जो भी व्यक्ति **त्वा अभि**=तेरा लक्ष्य करके **स्तोमैः**=स्तुतियों से **गृणन्ति**=तेरे गुणों का उच्चारण करते हैं, तेरे महत्त्व का शंसन्त्व स्मरण करते हैं वे **वह्नयः**=अपने कर्त्तव्यभार का सुन्दरता से वहन करनेवाले होते हैं। प्रात:काल में उठनेवाला व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों को सुचारुरूपेण कर पाता है। (२) हे **मघैमघोनि**=उत्तम ऐश्वर्यों से ऐश्वर्यवाली उषे! **सुजाते**=उत्तम विकास को देनेवाली व **अश्वसूनृते**-कर्मों में व्याप्त प्रिय सत्य वाणीवाली उषे, अर्थात् हमें ऐसा बनानेवाली उषे! वे तेरा शंसन करनेवाले उषर्बुध लोग **सुश्रियः**-उत्तम श्रीवाले होते हैं **दामन्वन्तः**=दान की वृत्तिवाले होते हैं अथवा (दाम=रज्जु) आत्म-नियन्त्रण की वृत्तिवाले होते हैं और **सुरातयः**=उत्तम दानवाले होते हैं। धन के साथ आत्मनियन्त्रण होने पर दानवृत्ति पनपाती ही है।

भावार्थ—प्रातः जागरण हमें कर्त्तव्यभार का वहन करनेवाला 'धन, आत्मनियन्त्रण व दान की वृत्तिवाला' बनाता है।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'अलज्जाकर धन' और 'दान'

यच्चिद्धि ते गणा इमे छदयन्ति मघत्तये ।
परि चिद्वष्टयो दधुर्ददतो राधो अह्रयं सुजाते अश्वसूनृते ॥ ५ ॥

(१) हे **सुजाते**=हमारा उत्तम विकास करनेवाली **अश्वसूनृते**=कर्मों में व्याप्त प्रिय सत्यवाणी-वाली, हमें ऐसा बनानेवाली उषे! **ते इमे गणाः**=तेरा ये संख्यान करनेवाले, अर्थात् तेरे सेवक, तेरे उदय से पूर्व ही जागरित होनेवाले **यत् चित् हि**=जो कुछ भी **छदयन्ति**=(to cover) अपने अन्दर धारण करते हैं वह सब **मघत्तये**=धन के दान के लिये ही करते हैं। ये **वष्टयः**=सर्वहित की कामनावाले **चित्**-निश्चय से **परिदधुः**=धनों को सब ओर धारण करते हैं, लोकहित के लिये उन धनों का विनियोग करते हैं। (२) ये व्यक्ति सदा **अह्रयम्**=अलज्जावह, अर्थात् न लज्जा के कारणभूत उत्तम साधनों से कमाये हुए **राधः**=धन को **ददतः**=देते हुए होते हैं, इनकी यह दान प्रक्रिया निरन्तर चलती ही है।

भावार्थ—प्रातः जागरणवाले उत्तम मार्गों से धनों को कमाते हैं और दानशील होते हैं।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दान व वीर सन्तान

ऐषु धा वीरवद्यश उषो मघोनि सूरिषु ।
ये नो राधांस्यह्रया मघवानो अरासत सुजाते अश्वसूनृते ॥ ६ ॥

(१) हे **मघोनि**-ऐश्वर्योंवाली **उषः**-उषे! **एषु**=इन प्रातः जागरणशील ज्ञानी व्यक्तियों में **वीरवत्**-उत्तम वीर सन्तानोंवाले **यशः**-यशस्वी धन को **आ धाः**=स्थापित कर। (२) हे **सुजाते**=उत्तम विकास की कारणभूत **अश्वसूनृते**=कर्मों में व्याप्त प्रिय सत्यवाणीवाला हमें बनानेवाली

उषे! **नः**=हमारे में से **ये**=जो भी व्यक्ति **अह्वया**=अक्षीयमाण **राधांसि**=धनों को **अरासत**=देते हैं, अर्थात् सदा दानशील होते हैं वे ही **मघवानः**=ऐश्वर्यशाली बनते हैं। इनके ऐश्वर्य दानादि उत्तम कर्मों में विनियुक्त होते हुए इनके जीवनों में विलास को नहीं उत्पन्न होने देते।

भावार्थ—हम प्रातः जागें। उत्तम ऐश्वर्यों को कमाते हुए दानशील हों वीर सन्तानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

द्युम्न-बृहद् यशः

तेभ्यो द्युम्नं बृहद्यश उषो मघोन्या वह ।
ये नो राधांस्यश्व्या गव्या भजन्त सूरयः सुजाते अश्वसूनृते ॥ ७ ॥

(१) हे **मघोनी**=ऐश्वर्यशालिनी **उषः**=उषे! तू **तेभ्यः**=उनके लिये **द्युम्नम्**-(power, strength) शक्ति को और **बृहद्**=अत्यन्त प्रवृद्ध **यशः**=कीर्ति को **आवह**=प्राप्त करा। **ये**=जो **नः**=हमारे में से **सूरयः**=ज्ञानी लोग **अश्व्या**=कर्मेन्द्रिय-सम्बन्धी तथा **गव्या**=ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी **राधांसि**=सफलता को देनेवाले धनों को **भजन्त**=सेवित करते हैं। जो ज्ञानेन्द्रियों के ऐश्वर्य 'ज्ञान' को तथा कर्मेन्द्रियों के ऐश्वर्य 'कर्मशक्ति' को प्राप्त करने के लिये यत्नशील होते हैं, उनके लिये यह उषा शक्ति व कीर्ति को देनेवाली होती है। (२) हे उषः! तू **सुजाते**=उत्तम प्रादुर्भाववाली है, उत्तम विकास का कारण बनती है। **अश्वसूनृते**=तू कर्मों में व्याप्त होनेवाली सत्यवाणीवाली है। उषाकाल में जागनेवाला व्यक्ति कर्मों में व्याप्त रहता है और सूनृत वाणी को बोलनेवाला होता है।

भावार्थ—उषा जागरण शक्ति व कीर्ति का कारण बनता है।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सूर्योदयकाल में व अग्नीन्धनकाल में

उत नो गोमतीरिष आ वहा दुहितर्दिवः ।
साकं सूर्यस्य रश्मिभिः शुक्रैः शोचद्भिरर्चिभिः सुजाते अश्वसूनृते ॥ ८ ॥

(१) हे **दिवः दुहितः**=ज्ञान का पूरण करनेवाली उषे! **उत**=और **नः**=हमारे लिये **गोमतीः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **आवहा**=प्राप्त करा। उषा जागरण ज्ञानवृद्धि व प्रभु प्रेरणा प्राप्ति में सहायक होता है। (२) हे **सुजाते**=उत्तम विकास की कारणभूत, **अश्वसूनृते**=कर्मों में व्याप्त सूनृत वाणीवाली उषे! तू **सूर्यस्य रश्मिभिः साकम्**=सूर्य की किरणों के साथ तथा **शुक्रैः**=दीप्त **शोचद्भिः**=पवित्रता को करनेवाली **अर्चिभि**=अग्नि की ज्वालाओं के साथ हमें इन प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाली प्रभु प्रेरणाओं को प्राप्त करानेवाली हो। यहाँ 'सूर्य रश्मियों के साथ' का संकेत 'सूर्याभिमुख होकर ध्यान में बैठने से' है, तथा 'अग्नि की ज्वालाओं के साथ' का संकेत 'अग्निहोत्र करने से' है। एवं 'उषा जागरण, सूर्याभिमुख होकर सन्ध्या व अग्निहोत्र' ये तीन बातें ज्ञानयुक्त प्रेरणाओं की प्राप्ति का साधन बनती हैं।

भावार्थ—हम उषा में प्रबुद्ध होकर, नित्य कार्यों से निवृत्त होकर, सूर्योदय होते ही सन्ध्या में स्थित हों तथा अग्निहोत्र करनेवाले बनें। यह जीवन हमें ज्ञान प्रवण करेगा और प्रभु प्रेरणा को सुनने योग्य बनायेगा।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उषा व नित्यकर्म निवृत्ति (Completion)

व्युच्छा दुहितर्दिवो मा चिरं तनुथा अपः ।
नेत्त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिषा सुजाते अश्वसूनृते ॥ ९ ॥

(१) हे **दिवः दुहितः**-ज्ञान का हमारे जीवनों में पूरण करनेवाली उषे! **व्युच्छा** तू अन्धकार को दूर करनेवाली हो। **अपः**-हमारे कर्मों का लक्ष्य करके **चिरं मा तनुथाः**=देर को मत कर, अर्थात् तेरे उदित होते ही हम अपने नित्य कर्मों में प्रवृत्त हो जाएँ। **नेत् त्वा**=नहीं ही तुझे **सूरः**=सूर्य **अर्चिषा**-अपनी दीप्त किरण ज्वालाओं से उसी प्रकार **तपाति**-संतप्त करता है **यथा**-जैसे कि **स्तेनं रिपुम्**=चोररूप शत्रु को। सूर्य की किरणों के दीप्त होने पर चोर भी अपने कार्य करने में असमर्थता के कारण व पकड़े जाने के भय से सन्तप्त होता है, इसी प्रकार ये सूर्य किरणें उषा को भी समाप्त कर देती हैं। हम उषा की समाप्ति से पूर्व ही अपने कार्यों को समुचितरूप से कर चुकें। (२) हे उषे! **सुजाते**-तू सुजाता है, उत्तम विकास का कारण बनती है। तेरे में उद्बुद्ध होनेवाले व्यक्ति विकसित शक्तियोंवाले बनते हैं। **अश्वसूनृते**-तू अश्वसूनृता है, कर्मों में व्याप्त सत्य वाणीवाली है। तेरे में उद्बुद्ध होनेवाले व्यक्ति सदा कर्मों में व्याप्त रहते हैं और प्रिय सत्य वाणी का प्रयोग करते हैं।

भावार्थ—उषा उदित होते ही हम सूर्योदय से पूर्व ही नित्यकर्मों से निवृत्त हो जाएँ।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

विभावरी

एतावद्वेदुषस्त्वं भूयो वा दातुमर्हसि ।
या स्तोतृभ्यो विभावर्युच्छन्ती न प्रमीयसे सुजाते अश्वसूनृते ॥ १० ॥

(१) हे **उषः**-उषे! **त्वम्**-तू **एतावत् वा इत्**=गतमन्त्रों में प्रार्थित इतनी वस्तुओं के तो अवश्य ही **दातुम्**=देने के लिये **अर्हसि**=योग्य है। **भूयः वा**-प्रार्थित वस्तुओं से अधिक अप्रार्थित भी आवश्यक वस्तुओं को तू हमें देनेवाली हो। (२) जो तू **स्तोतृभ्यः**-स्तोताओं के लिये **विभावरी**-प्रकाश को प्राप्त करानेवाली **उच्छन्ती**-अन्धकार को दूर करती हुई **न प्रमीयसे**-हिंसित नहीं करती। प्रकाश को देकर तू हमें हिंसित होने से बचाती है। हे उषः! **सुजाते**-तू सुजाता है, उत्तम विकास का कारण बनती है। **अश्वसूनृते**-तू अश्वसूनृता है, हमें कर्मों में व्याप्त सत्य वाणीवाला बनाती है।

भावार्थ—उषा प्रकाश को देकर हमें हिंसित होने से बचाती है। यह सब इष्ट मनोरथों को पूर्ण करती है।

सत्यश्रवा आत्रेय ही अगले सूक्त में भी उषा का आराधन करता है—

८०. [अशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्य-तेजस्विता-प्रकाश

द्युतद्यामानं बृहतीमृतेन ऋतावरीमरुणप्सुं विभातीम्।
देवीमुषसं स्वरावहन्तीं प्रति विप्रासो मतिभिर्जरन्ते ॥ १ ॥

(१) **विप्रासः**=अपने जीवन का विशेषरूप से पूरण करनेवाले ज्ञानी पुरुष **मतिभिः**=मननपूर्वक की गई स्तुतियों से **स्वः आवहन्तीम्**=प्रकाश को प्राप्त कराती हुई, **देवीम्**=दिव्यगुणों को जन्म देनेवाली **उषसम्**=उषा को **प्रतिजरन्ते**=प्रतिदिन स्तुत करते हैं। प्रातः प्रबुद्ध होकर किया जानेवाला प्रभुलवन हमें प्रकाश व दिव्यगुणों को प्राप्त कराता है। (२) ये विप्र उस उषा का स्तवन करते हैं जो **द्युतद् यामानम्**=देदीप्यमान रथवाली है, **बृहतीम्**=वृद्धि का कारण बनती है, **ऋतेन ऋतावरीम्**=यज्ञादि उत्तम कर्मों से जीवन को ऋतमय बनानेवाली है, **अरुणप्सुम्**=तेजस्वीरूपवाली है और **विभातीम्**=प्रकाशमयी है। यह उषा हमारे शरीर-रथों को दीप्त बनाती है, शक्तियों का वर्धन करती है, हमें ऋतमय तेजस्वी व प्रकाशमय करती है। उषा में जागरण से मन में ऋत, शरीर में तेजस्विता व मस्तिष्क में प्रकाश प्राप्त होता है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष प्रतिदिन उषा में जागरित होकर प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होते हैं। यह उषा उन्हें सत्यमनवाला, तेजस्वी शरीरवाला व दीप्त मस्तिष्कवाला बनाती है।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्पथ प्रवृत्ति-शक्ति-ज्योति

एषा जनं दर्शता बोधयन्ती सुगान्पथः कृण्वती यात्यग्रे।
बृहद्रथा बृहती विश्वमिन्वोषा ज्योतिर्यच्छत्यग्रे अह्नाम्॥ २॥

(१) **एषा**=यह **दर्शता**=दर्शनीय उषा **जनं बोधयन्ती**=सोये हुए जनों को प्रबुद्ध करती हुई और **पथः**-मार्गों को **सुगान्**=सुगमता से जाने योग्य **कृण्वती**=करती हुई **अग्रे याति**-आगे बढ़ती है। उषा जागने की प्रेरणा देती है, सत्पथ पर आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करती हुई चलती है। (२) यह **बृहद्रथा**=बढ़ी हुई शक्तियोंवाले शरीर-रथवाली, **बृहती**=वृद्धि की कारणभूत **उषा**=उषा **विश्वमिन्वा**=(इन्व invigorate, gladden) सबको शक्तिशाली बनाती हुई **अह्नां अग्रे**=दिन के अग्रभाग में ही **ज्योतिः यच्छति**=प्रकाश को देती है।

भावार्थ—उषा हमें सत्पथ प्रवृत्त करती है, शक्तिशाली बनाती है और ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त कराती है। मन सत्पथ की रुचिवाला, शरीर शक्तिवाला व मस्तिष्क ज्ञान के प्रकाशवाला इस उषा से ही बनता है।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अप्रायुरयि

एषा गोभिररुणेभिर्युजानास्त्रेधन्ती रयिमप्रायु चक्रे।
पथो रदन्ती सुविताय देवी पुरुष्टुता विश्ववारा वि भाति॥ ३॥

(१) **एषा**=यह उषा **अरुणेभिः गोभिः**=तेजस्वी इन्द्रियों से **युजाना**=शरीर-रथ को युक्त करती हुई, **अस्त्रेधन्ती**=किसी प्रकार से हिंसित न करती हुई, **अप्रायु**=अविचलित स्थिर **रयिम्**=रयि को, ऐश्वर्य को **चक्रे**=करती है। उषाकाल का जागरण (क) इन्द्रियों को तेजस्वी बनाता है, (ख) शरीर को हिंसित नहीं होने देता, (ग) सब कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से युक्त करता है। (२) **सुविताय**=सुवित के लिये, दुरित से दूर होने के लिये, **पथः रदन्ती**=मार्गों का निर्माण करती हुई यह उषा **देवी**=प्रकाशमयी है, हमारे जीवन को प्रकाशमय करती है। **पुरुष्टुता**=खूब ही स्तुतिवाली है, इसमें प्रबुद्ध होनेवाले व्यक्ति खूब ही प्रभु का स्तवन करते हैं। **विश्ववारा**=सब वरणीय वस्तुओंवाली है। सब वरणीय वस्तुओं को हमारे लिये देती हुई यह उषा **विभाति**=खूब

ही चमकती है।

भावार्थ—उषा जागरण से (१) इन्द्रियाँ तेजस्वी होती हैं, (२) सब अन्नमय आदि कोशों का ऐश्वर्य प्राप्त होता है, (३) सत्पथ प्रवृत्ति होती है, (४) प्रभु-स्तवन करते हुए हम सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

द्विबर्हाः

एषा व्येनी भवति द्विबर्हा आविष्कृण्वाना तन्वं पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति॥ ४॥

(१) **एषा**=यह उषा **व्येनी**=प्रकाश के कारण विशिष्ट श्वैत्यवाली होती है। **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **तन्वम्**=अपने रूप को **आविष्कृण्वाना**=प्रकट करती हुई **द्विबर्हाः**=शक्ति व ज्ञान दोनों का वर्धन करनेवाली होती है। उषा जागरण से शक्ति व ज्ञान दोनों बढ़ते हैं। (२) यह उषा **ऋतस्य पन्थाम्**=ऋत के, सत्य के मार्ग का **साधु अन्वेति**=सम्यक् अनुसरण करती है। प्रातः प्रबुद्ध होनेवाला व्यक्ति सत्य मार्ग का अनुसरण करनेवाला होता है। यह उषा **प्रजानती इव**=जानती ही हुई **दिशः**=दिशाओं को **न मिनाति**=हिंसित नहीं करती। दिशाओं को प्रकाशित करती हुई यह हमें मार्ग पर चलने का संकेत करती है।

भावार्थ—उषा जागरण से (१) शक्ति व ज्ञान बढ़ते हैं, (२) ऋत के मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति बढ़ती है, (३) मनुष्य ठीक दिशा में चलता है।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'द्वेष व अज्ञान' का निराकरण

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्॥ ५॥

(१) **एषा**=यह उषा **नः दृशये**=हमारे दर्शन के लिये **अस्थात्**=ऊपर स्थित होती है, **न**=जैसे कि कोई **शुभ्रा**=शुभ्र वर्णवाली युवति **तन्वः विदाना**=अपने शरीर को प्रज्ञापित करती हुई **स्नाती**=स्नान करती हुई **इव**=जैसे **ऊर्ध्वः**=जलाशय से ऊपर आती है। उषा उस शुभ्रवर्णा युवति के ही समान है। यह अपने शुद्ध स्वरूप को जागनेवालों के लिये प्रकट करती है। (२) **द्वेषः**=द्वेषों को **अपबाधमाना**=हमारे से दूर रोकती हुई, **तमांसि**=अन्धकारों को भी दूर करती हुई **उषा दिवः**=ज्ञान का प्रपूरण करनेवाली होती है। यह **ज्योतिषा**=ज्ञान की ज्योति के साथ **आगात्**=हमें प्राप्त होती है।

भावार्थ—इस उषा-जागरण से द्वेष व अज्ञानान्धकार दूर होता है और जीवन ज्योतिर्मय बनता है।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वार्य वस्तुओं की प्राप्ति

एषा प्रतीची दुहिता दिवो नॄन्योषेव भद्रा नि रिणीते अप्सः।
व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः॥ ६॥

(१) **एषा**=यह **दिवः दुहिता**=ज्ञान का प्रपूरण करनेवाली उषा **नॄन् प्रतीची**=मनुष्यों के

अभिमुख आती हुई, **भद्रा योषा इव**=एक मंगलमयी कल्याणवेषा स्त्री के समान **अप्सः निरिणीते**=अपने रूप को प्रकट करती है। यह उषा **दाशुषे**=अपने प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये **वार्याणि**=सब वरणीय धनों को **व्यूर्ण्वती**=प्रकट करती है, देती है। (२) यह **युवतिः**=सब बुराइयों को दूर करनेवाली, अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाली उषा **पुनः**=फिर **पूर्वथा**=पहले की तरह **ज्योतिः अकः**=प्रकाश को करती है। यह उषा सदा से प्रकाश को देती आयी है, यह हमारे लिये प्रकाश को करनेवाली होती है।

भावार्थ—उषा हमारे लिये वरणीय वस्तुओं को देती है और प्रकाश को करती है।

उषा से प्रकाश को प्राप्त करके यह व्यक्ति 'श्यावाश्व' बनता है, गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाला होता है। यह तीनों दुःखों से ऊपर 'आत्रेय' होता है। यह सविता की आराधना करता हुआ कहता है—

८१. [एकाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु में मन व बुद्धि को अर्पित करना

युञ्जते मनं उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥ १॥

(१) प्रकृति के दृष्टिकोण से प्रभु सविता इसलिए हैं कि सारे संसार को जन्म देते हैं और जीव के दृष्टिकोण से सविता इसलिए हैं कि हृदयस्थरूपेण उसे प्रेरणा दे रहे हैं। 'षू' धातु के दोनों ही अर्थ हैं (क) उत्पन्न करना, (ख) प्रेरणा देना। **विप्राः**=ज्ञानी पुरुष उस **बृहतः**=महान् **विप्रस्य**=सबका पूरण करनेवाले **विपश्चितः**=ज्ञानी (सर्वज्ञ) प्रभु के प्रति **मनः**=अपने मन को **युञ्जते**=लगाते हैं, **उत**=और **धियः**=अपनी बुद्धियों को भी **युञ्जते**=उसमें ही लगाते हैं। उस प्रभु में ही अर्पित मन व बुद्धिवाले होते हैं। प्रभु प्राप्ति की ही प्रबल कामना करते हैं और प्रभु की ही महिमा का विचार करते हैं। (२) वह **वयुनावित्**=सब प्रज्ञानों को जाननेवाला **एकः**=अद्वितीय प्रभु ही **होत्राः**=सब वाणियों को, इन वेदरूप ज्ञानवाणियों को **विदधे**='अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' आदि ऋषियों के हृदय में स्थापित करते हैं। **इत्**=वस्तुतः **देवस्य**=उस प्रकाशमय **सवितुः**=निर्माता व प्रेरक प्रभु की **परिष्टुतिः**=सर्वत्र होनेवाली स्तुति **मही**=महान् है। एक-एक पदार्थ में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष अपने मन व बुद्धि को उस सर्वज्ञ प्रभु में अर्पित करते हैं। प्रभु ही ज्ञान की वाणियों को ऋषियों के हृदयों में स्थापित करते हैं। उस प्रभु की महिमा महान् है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सर्वाधार' व 'भद्र प्रसविता'

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति॥ २॥

(१) **कविः**=वह सर्वज्ञ प्रभु **विश्वारूपाणि**=सब रूपों को, रूपवाले पदार्थों को **प्रतिमुञ्चते**=(आत्मनिबध्नाति-धारयति) अपने में धारण करता है, वह प्रभु ही सर्वाधार हैं। वे ही **द्विपदे**=दो पाँवाले मनुष्यों के लिये और **चतुष्पदे**=चौपाये पशुओं के लिये **भद्रम्**=कल्याणकर पदार्थों को **प्रासावीत्**=उत्पन्न करते हैं। सब पदार्थ कल्याणकर हैं। उनका अयोग व अतियोग ही

अकल्याणकर हेतु होता है। (२) वह **सविता** उत्पादक व प्रेरक प्रभु ही **वरेण्यः** वरणीय है। प्रकृति के वरण से प्रभु का वरण ही श्रेष्ठ है। वे प्रभु अपना वरण करनेवालों के लिये **नाक**-मोक्षलोक को **वि अख्यत्**=प्रकाशित करते हैं। **उषसः प्रयाणं अनु**-उषा के प्रकृष्ट यान के अनुसार वे प्रभु **विराजति** हमारे जीवन में दीप्त होते हैं। जितना-जितना उषा के समय करने योग्य कार्यों को हम ठीक प्रकार करते हैं, उतना-उतना ही प्रभु की दीप्ति को अपने हृदयों में देखनेवाले बनते हैं। सूर्य उषा के प्रयाण के बाद उदित होता है। ठीक इसी प्रकार हमारे जीवन में भी उषा के आने के बाद प्रभु आते हैं। उषा के आने का भाव यही है कि अज्ञानान्धकार आदि दोषों का दग्ध होना (उष दाहे)।

भावार्थ—प्रभु सर्वाधार हैं। सब के लिये भद्र पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। मोक्ष लोक को प्रकाशित करते हैं। हमारे जीवन उषा के चुकने पर दीप्त होते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविताः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वह 'एतश' देव

यस्य॑ प्र॒याण॒मन्व॒न्य इद्य॒युर्दे॒वा दे॒वस्य॑ महि॒मान॒मोज॑सा।
यः पार्थि॑वानि विम॒मे स एत॑शो॒ रजां॑सि दे॒वः स॑वि॒ता म॑हित्व॒ना ॥ ३ ॥

(१) **यस्य देवस्य प्रयाणं अनु**-जिस प्रकाशमय प्रभु की प्रकृष्ट प्राप्ति के अनुसार **अन्ये देवाः**-अन्य सूर्य आदि देव **ओजसा**-ओजस्विता के साथ **महिमानम्**=महत्त्व को **इद् ययुः**=निश्चय से प्राप्त होते हैं। जहाँ प्रभु का जितना जितना तेज का अंश होता है वह पदार्थ उतना-उतना ही विभूतिवाला प्रतीत होता है। (२) **यः सविता देवः**-जो उत्पादक व प्रेरक प्रकाशमय प्रभु हैं वे **पार्थिवानि रजांसि**-सब पार्थिव लोकों को **महित्वना**-अपनी महिमा से **विममे**=बनाते हैं। **सः**=वे प्रभु **एतशः**-शुभ्र हैं, सूर्य की तरह देदीप्यमान हैं। इस प्रभु की दीप्ति से ही सर्वत्र दीप्ति होती है।

भावार्थ—सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविताः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

जन्माद्यस्य यतः

उ॒त या॑सि सवित॒स्त्रीणि॑ रोच॒नोत सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॒ः समु॑च्यसि।
उ॒त रात्री॑मुभ॒यत॒ः परी॑यस उ॒त मि॒त्रो भ॑वसि देव॒ धर्म॑भिः ॥ ४ ॥

(१) हे **सवितः**-सकल जगत् के उत्पादक प्रभो! आप **उत**=निश्चय से **त्रीणि रोचना**='सूर्य, विद्युत् व अग्नि' रूप तीनों दीप्तियों को **यासि**-प्राप्त करते हो। वस्तुतः इन तीनों दीप्त पिण्डों में आपकी ही दीप्ति काम करती है। **उत**-और आप **सूर्यस्य**-सूर्य की **रश्मिभिः**-किरणों से **समुच्यसि**=समवेत होते हैं, इन सूर्य-किरणों में सब प्राणशक्ति को आप ही स्थापित करते हैं। (२) **उत**-और **रात्रीम्** रात्री को, प्रलयकालीन रात्री को **उभयतः**-दोनों ओर से **परीयसे**-व्याप्त करते हैं। इस रात्रि के प्रारम्भ में भी आप ही होते हैं, अर्थात् इस रात्री को लानेवाले आप ही हैं। सृष्टि का प्रलय आप ही करते हैं। और इस रात्रि की समाप्ति पर भी आप ही होते हैं। अर्थात् प्रलयकाल की समाप्ति पर आप ही फिर से सृष्टि का निर्माण करते हैं। **उत**=और सृष्टि के निर्माण के बाद, हे **देव**=सब व्यवहारों के साधक प्रभो! आप ही **धर्मभिः**-धारणात्मक कर्मों के द्वारा **मित्रः भवसि**-सब के मित्र होते हैं।

भावार्थ—'सूर्य, विद्युत् व अग्नि' को प्रभु ही दीप्त करते हैं। सूर्य-किरणों में प्रभु ही प्राणशक्ति को स्थापित करते हैं। प्रभु ही इस सृष्टि का प्रलय, निर्माण व धारण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

श्यावाश्व ही स्तोता है

उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इदुत पूषा भवसि देव यामभिः।
उतेदं विश्वं भुवनं वि राजसि श्यावाश्वस्ते सवितः स्तोममानशे॥ ५॥

(१) **देव**=हे सब व्यवहारों के साधक प्रभो! **त्वम्**-आप **एकः इत्**=अकेले ही **उत**=निश्चय से **प्रसवस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के **ईशिषे**=ईश हैं, सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने में समर्थ हैं। **उत**=और हे देव! आप **यामभिः**-अपनी गतियों से **पूषा भवसि**=सब का पोषण करनेवाले हैं। (२) **उत**=और **इदं विश्वं भुवनम्**=इस सम्पूर्ण भुवन को आप ही **विराजसि**=दीप्त करते हैं, आप के ही शासन में यह व्यवस्थित (regulated) होता है 'इन्द्रो विश्वस्य राजति'। हे **सवितः**=उत्पादक व प्रेरक प्रभो! **श्यावाश्वः**=गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाला पुरुष ही **ते स्तोमम्**=आपकी स्तुति का **आनशे**=व्यापन करता है। आपका सच्चा स्तोता वही है जो इन्द्रियाश्वों द्वारा सदा गतिशील बना रहता है।

भावार्थ—प्रभु ही उत्पादक व धारक हैं। प्रभु ही सब संसार के राजा हैं। हम गतिशील बने रहकर प्रभु के उपासक होते हैं। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' यही तो प्रभु का आदेश है।

अगले सूक्त में भी 'श्यावाश्व आत्रेय' ही सविता की आराधना करते हैं—

८२. [द्व्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविताः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

देवस्य भोजनम्

तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्। श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि॥ १॥

(१) **वयम्**=हम **सवितुः**=उस उत्पादक **देवस्य**=प्रकाशमय सर्वव्यवहार साधक प्रभु के **तत्**=प्रसिद्ध **भोजनम्**=पालक धन को **वृणीमहे**=वरते हैं। उस प्रभु से दिये जानेवाले धन का ही चुनाव करते हैं। प्रभु से दिये जानेवाला यह धन सदा सुपथ से अर्जित होता है। हम अपने कर्त्तव्य कर्मों में अभियुक्त होते हैं और प्रभु हमें योगक्षेम (भोजन) प्राप्त कराते हैं। इसी योगक्षेम का ही हम वरण करते हैं। (O. God! Give me my daily bread; Bible) (२) इस **भगस्य**=सब के उपास्य ऐश्वर्यों के स्वामी के इस धन को हम प्राप्त करके **धीमहि**=धारण करते हैं। यह धन '**श्रेष्ठं**'=श्रेष्ठ है, प्रशस्यतम है, सुपथ से कमाया जाने के कारण प्रशंसनीय है। **सर्वधातमम्**=यह यज्ञों में विनियुक्त होने के कारण सबका धारण करनेवाला है। **तुरम्**=यह धन शत्रुओं का विहिंसक है, इस धन से हम विषयवासनारूप शत्रुओं का शिकार नहीं होते।

भावार्थ—कर्त्तव्य कर्मों में नित्याभियुक्त होकर हम प्रभु से दिये जानेवाले धन की याचना करते हैं। यह धन हमारे जीवन को श्रेष्ठ बनाता है, सबका धारण करता है, इससे हम विषयवासनारूप शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविताः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'स्वयशस्तरं प्रियं' (धन)

अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम्। न मिनन्ति स्वराज्यम्॥ २॥

(१) **अस्य**-इस **सवितुः**=सकलोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु के **स्वयशस्तरम्**-अतिशयेन अपने यश के विस्तार करनेवाले **कच्चन**=किसी अद्भुत **प्रियम्**-प्रीति के जनक **स्वराज्यम्**=स्वयं दीप्त ऐश्वर्य को **हि**=निश्चय से **न मिनन्ति**='काम-क्रोध-लोभ' हिंसित नहीं कर पाते। (२) सविता का आराधक 'श्यावाश्व' सदा गतिशील बना रहकर प्रभु के उस ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, जो उसके यश का विस्तार करता है और सब की प्रीति का कारण बनता है। यह धन काम-क्रोध आदि से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु से दिया गया सुपथार्जित धन हमें यशस्वी व प्रिय बनाता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'चित्र' धन

स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भगः। तं भागं चित्रमीमहे॥ ३॥

(१) **सः**=वह **सविता**=उत्पादक व प्रेरक **भगः**=उपासनीय प्रभु **हि**-निश्चय से **दाशुषे**=दानशील पुरुष के लिये **रत्नानि सुवाति**-रमणीय धनों को देता है। हम दानशील बनें, प्रभु देंगे ही 'spend and God will send', (२) **तम्**-उस **भागम्**=भजनीय-उपास्य प्रभु से **चित्रम्**=चायनीय अथवा 'चित्' ज्ञान के वर्धक धन को हम **ईमहे**-याचना करते हैं। चित्र धन वह है जब कि हम धन के दास नहीं बन जाते, धन के वाहक बनकर हम 'लक्ष्मी वाहन' उल्लू ही तो बनते हैं। प्रभु से प्राप्त धन हमें उल्लू नहीं बनाता। हम धन पर आरूढ़ रहकर सदा ज्ञानयुक्त बने रहते हैं।

भावार्थ—हम दानशील बनें, प्रभु हमें धन देंगे ही। प्रभु से दिया जानेवाला यह धन हमारे ज्ञान का वर्धक होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविताः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रजावत् सौभग की प्राप्ति

अद्या नो देव सवितः प्रजावत्सावीः सौभगम्। परा दुःष्वप्न्यं सुव॥ ४॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय **सवितः**=सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक प्रभो! **अद्या**=आज **नः**=हमारे लिये **प्रजावत्**=प्रकृष्ट सन्तानोंवाले **सौभगम्**-सौभाग्य कर धन को **सावीः**=उत्पन्न करिये। हमें ऐसा धन दीजिये जो हमारे घरों में किसी प्रकार के विलास का कारण न बने और हमारे सन्तानों के चरित्र को उत्तम ही बनाये। (२) **दुःष्वप्न्यम्**-अशुभ स्वप्नों के कारणभूत अथवा नींद को भी नष्ट करनेवाले दारिद्र्य को **परासुव**=हमारे से दूर करिये। ऐसी गरीबी भी पाप ही है जो नींद को भी न लेने दे। ऐसी गरीबी अन्ततः एक गृहस्थ की 'महानिद्रा' का ही कारण बनती है।

भावार्थ—हमें प्रकृष्ट सन्तानोंवाला ऐश्वर्य प्राप्त हो और हमारे से दारिद्र्य सदा दूर ही रहे।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

भद्र प्राप्ति

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव॥ ५॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय **सवितः**=सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक प्रभो! आप **विश्वानि दुरितानि**-सब

दुरितों को, दारिद्र्य के कारण उत्पन्न हो जानेवाले चोरी आदि अशुभ आचरणों को **परासुव**=हमारे से दूर करिये। न हमारे में ऐसा दारिद्र्य हो और नां ही ऐसे आचरण उत्पन्न हों। 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्' 'भूखा मरता' पुरुष ही तो पाप की ओर झुकता है। समान में 'अतिसम्पन्न' व 'अतिविपन्न' इन दो वर्गों के उत्पन्न होने पर ही पाप उत्पन्न होते हैं। (२) **यद् भद्रम्**=जो भद्र है, 'प्रजा वै भद्रं, पशवो भद्रं, गृहं भद्रं' अर्थात् प्रजा, पशु व घर आदि जो कल्याणकर वस्तुएं हैं, **तत्**=वे **नः**=हमारे लिये **आसुव**=प्राप्त कराइये। समाज में सब घर में गौ आदि पशुओं के साथ सन्तानों का सुन्दर पालन करते हुए सद्गृहस्थ बनें।

भावार्थ—दारिद्र्य जनित दुरितों से दूर रहते हुए हमारे समाज के सभी व्यक्ति घरों में गौवें से फलते-फूलते हुए उत्तम सन्तानोंवाले बनें।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

निष्पापता व राष्ट्ररक्षा

अनागसो अदितये देवस्य सवितुः सवे। विश्वा वामानि धीमहि॥ ६॥

(१) **देवस्य**-प्रकाशमय **सवितुः**-सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक प्रभु की **सवे**-'अनुज्ञा' व 'प्रेरणा' में चलते हुए और इस प्रकार **अनागसः**=निष्पाप जीवन बिताते हुए हम **अदितये**=इस अखण्डनीय भूमि देवी के लिये स्याम=हों। अपनी भूमि माता को पापों से भरकर इसे खण्डित करनेवाले न हों। वस्तुतः जिस राष्ट्र में पाप बढ़ जाते हैं वे विनाश (दिति) की ओर ही जाते हैं। (२) इस प्रकार निष्पाप जीवन से राष्ट्र को अखण्डित रखते हुए हम **विश्वा वामानि**=सब सुन्दर चीजों को **धीमहि**=धारण करें। अशुभ आचरण दूर हो और अशुभ परिणाम भी दूर हों।

भावार्थ—पाप बढ़ने पर राष्ट्र विनष्ट होता है सो प्रभु ही अनुज्ञा में चलते हुए हम निष्पाप जीवनवाले बनकर राष्ट्र के रक्षक हों। और सब सुन्दर बातों का ही धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सत्यसव सविता

आ विश्वदेवं सत्पतिं सूक्तैरद्या वृणीमहे। सत्यसवं सवितारम्॥ ७॥

(१) **अद्या**=आज हम **सूक्तैः**=(सु-उक्तैः) सदा उत्तम वचनों के द्वारा उस प्रभु का **आवृणीयहे**=सर्वथा वरण करते हैं। जो प्रभु **विश्वदेवम्**=सब दिव्य गुणोंवाले हैं व **सत्पतिम्**=श्रेष्ठता के रक्षक हैं। वस्तुतः जैसे वचन हमारे मुख से उच्चरित होते रहते हैं, वैसी ही बातें हमारे जीवन में आचरण के रूप में परिवर्तित होती हैं। सदा उत्तम शब्द ही मुख से निकलेंगे तो उत्तम ही हमारे आचरण होंगे। और यही प्रभु के चरण का मार्ग है। प्रकृति में आसक्ति व प्रभु की विस्मृति ही हमें पापों की ओर ले जाती है। (२) प्रभु **सत्यसवम्**=सदा सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं, 'सत्यस्य सूनु' हैं। **सवितारम्**=इस सत्य के द्वारा वे हमारे जीवनों में ऐश्वर्यों को जन्म देनेवाले हैं। प्रभु की ओर झुकेंगे तो निष्पाप जीवन बिताते हुए सदा उत्तम योगक्षेम को प्राप्त करेंगे। प्रकृति की ओर गये, तो विलास में फँसकर विनष्ट हो जाएँगे।

भावार्थ—सूक्तों द्वारा हम सदा प्रभु का वरण करें। वे हमें दिव्यगुण सम्पन्न जीवनवाला बनावेंगे।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मार्गदर्शक प्रभु

य इमे उभे अहनी पुर एत्यप्रयुच्छन्। स्वाधीर्देवः सविता॥ ८॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार वरणीय **यः**=जो प्रभु हैं, वे **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करते हुए **इने उभे अहनी**-इन दोनों दिन-रातों में **पुरः एति**-हमारे आगे चलते हैं। ये प्रभु हमारे लिये मार्गदर्शक होते हैं। प्रभु का स्मरण हमें सदा सत्पथ का दर्शन करानेवाला होता है। (२) ये प्रभु **स्वाधीः**-('शोभना ध्यानः, सुकर्मा वा' सा०) शोभन आध्यानवाले व सुकर्मा हैं। वस्तुतः प्रभु का स्मरण हमें सदा शुभ बुद्धिवाला व शुभ कर्मोंवाला बनाता है। **देवः** वे प्रभु प्रकाशमय हैं। **सविता**-उपासक को सदा सत्प्रेरणा प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—वे प्रभु दिन-रात हमें उत्तम प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। उनकी उपासना में हमें शोभन ध्यान व कर्मवाले बनते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविताः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आश्रावयति श्लोकेन

य इमा विश्वा जातान्याश्रावयति श्लोकेन। प्र च सुवाति सविता॥ ९॥

(१) प्रभु वे हैं **यः** जो **इमा**-इन **विश्वा**-सब **जातानि**-उत्कृष्ट जन्मवाले मनुष्यों को **श्लोकेन**=वेदमन्त्रों के द्वारा **आश्रावयति**-पूर्णतया ज्ञानयुक्त करते हैं, वेद-मन्त्रों के द्वारा उनके सब कर्त्तव्यों को उनके लिये सुस्पष्ट कर देते हैं। (२) **च**-और इस प्रकार ज्ञान देते हुए **सविता**-वे प्रेरक प्रभु **प्रसुवाति**-सदा उत्तम कर्मों में प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—वेदमन्त्रों द्वारा प्रभु सदा हमारे कर्त्तव्यों की हमारे लिये प्रेरणा देते हैं।

उस प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति 'अत्रि' बनता है, 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठा रहता है। यह उस महान् 'पर्जन्य'=परा तृप्ति के देनेवाले प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है—

८३. [त्र्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'पर्जन्य-स्तवन'

अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास।
कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम्॥ १॥

(१) **आभिः गीर्भिः**-इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा **तवसं अच्छा वद**-उस शक्तिशाली प्रभु के प्रति स्तुतिवचनों का उच्चारण कर। ज्ञानपूर्वक प्रभु के स्तोत्रों को तू बोलनेवाला हो। उस **पर्जन्यम्**=(परो जेता नि०) महान् विजेता प्रभु का **स्तुहि**-तू स्तवन कर। **नमसा**-नमन के द्वारा **आ विवास**-उस प्रभु की परिचर्यावाला हो। (२) **कनिक्रदद्**=ऋग्, यजु, सामरूप वाणियों का उच्चारण करनेवाले, **वृषभः** सब सुखों का वर्षण करनेवाले वे प्रभु हैं। **जीरदानुः**=शीघ्रता से सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले वे प्रभु **रेतः दधाति**=हमारे लिये रेतःकणों का, वीर्यकणों का धारण करते हैं। उन वीर्यकणों को धारण करते हैं, जो **ओषधीषु**-ओषधियों में **गर्भम्**-गर्भरूप से रहते हैं। ओषधियों का हम सेवन करते हैं और उनसे रस-रुधिर आदि क्रम से इन रेतःकणों की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—हम प्रभु का ज्ञान की वाणियों व नम्रता से स्तवन करें। वे महान् विजेता प्रभु हमारे लिये इन ज्ञानवाणियों का उच्चारण करते हैं, हमें जीवन देते हैं और ओषधियों द्वारा हमें जीवनीशक्ति (रेतःकणों) को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वृक्ष व राक्षस' विनाश

वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महावधात्।
उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः॥ २॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु का स्तवन करते हैं, तो **वृक्षान् विहन्ति**=(व्रश्चते: वृक्ष:) काट देने योग्य रोग आदि को वे नष्ट करते हैं। **उत**=और **रक्षसः**=हृदयस्थ राक्षसी भावों को भी वे विनष्ट करते हैं। उस समय **महावधात्**=उस महान् वध को करनेवाले प्रभु से **विश्वं बिभाय**=सब हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाले रोग व आसुरभाव भयभीत हो उठते हैं। (२) **उत**=और **अनागाः**=निष्पाप व्यक्ति उस समय **वृष्ण्यावतः**=शक्तिशाली शत्रुओं को **ईषते**=नष्ट करनेवाला होता है **यत्**=जब कि **पर्जन्यः**=यह 'परो जेता'=महान् विजेता प्रभु **स्तनयन्**=गर्जना करते हुए, वेदवाणियों का उच्चारण करते हुए **दुष्कृतः हन्ति**=सब पापियों का विनाश कर देते हैं। प्रभु ज्ञान को देकर अज्ञानजन्य अपराधों को समाप्त कर देते हैं और इस प्रकार यह प्रभु का उपासक निष्पाप जीवनवाला बनकर शक्तिशाली शत्रुओं का भी शातन करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु स्मरण से रोग व राक्षसीभाव विनष्ट हो जाते हैं। यह उपासक शक्तिशाली शत्रुओं को भी शीर्ण करता है। प्रभु की ज्ञानवाणियाँ उसे ऐसा करने में समर्थ करती हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मेघों के प्रेरक' प्रभु

रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान्कृणुते वर्ष्याँ३ अह।
दूरात्सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं१ नभः॥ ३॥

(१) **इव**=जिस प्रकार **रथी**=रथ का स्वामी **कशया**=चाबुक से **अश्वान्**=घोड़ों को **अभिक्षिपन्**=चारों ओर प्रेरित करता है, इसी प्रकार वे **पर्जन्यः**=महान् विजेता प्रभु **अह**=निश्चय से **वर्ष्यान् दूतान्**=वृष्टि को करनेवाले मेघों के प्रेरक मरुतों को, वायुओं को **आविः कृणुते**=प्रकट करते हैं। (२) **यत्**=जब **पर्जन्यः**=वे परातृप्ति के जनक प्रभु **नभः**=आकाश को **वर्ष्यम्**=वृष्टि के लिये उद्यत **कृणुते**=करते हैं तो **दूरात्**=उस दूर देश से **सिंहस्य**=वर्षण के द्वारा दुर्भिक्ष के विनाशक मेघरूप सिंह के **स्तनथाः**=गर्जन **उदीरते**=उद्गत होते हैं। आकाश में बादल शेर के समान गर्जता है और वर्षण के द्वारा दुर्भिक्ष आदि का विनाश करनेवाला बनता है।

भावार्थ—जैसे रथी चाबुक से घोड़ों को प्रेरित करता है, उसी प्रकार प्रभु आकाश में वृष्टिवाहक वायुओं को प्रेरित करते हैं। जब कभी प्रभु आकाश को वृष्टि के अभिमुख करते हैं तो मेघरूप सिंहों की गर्जना सुन पड़ती है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'वृष्टि द्वारा उत्पन्न अन्न का सेवन' व सुख प्राप्ति

प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति॥ ४॥

(१) **पर्जन्यः**=परा तृप्ति के जनक प्रभु **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **रेतसा अवति**=उदक

के द्वारा प्रीणित करते हैं, तो उस समय **वाताः प्रवान्ति**-खूब वायुवें चलती हैं। **विद्युतः**-विद्युतें **पतयन्ति**=आकाश में उद्गत होती हैं। **ओषधीः**=ओषधियाँ **उज्जिहते**=उद्गत होती हैं। और **स्वः पिन्वते**=सर्वत्र सुख क्षरित होता है। (२) इस प्रकार मेघों की वर्षा होने पर **विश्वस्मै भुवनाय**-सब प्राणियों के लिये **इरा**-अन्न (food) **जायते**-उत्पन्न होता है। वस्तुतः यही वृष्टिजन्य अन्न सबका कल्याण करनेवाला होता है।

भावार्थ—वायुवें चलती हैं, बिजलियाँ चमकती है। उस समय ओषधियाँ उत्पन्न होकर सर्वत्र सुख क्षरित होता है। इस बादल के बरसने पर सबके लिये अन्न उत्पन्न होता है।

ऋषिः—**अत्रिः**॥ देवता—**पृथिवी**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु के अटल नियम

यस्य॑ व्र॒ते पृ॑थि॒वी नन्न॑मीति॒ यस्य॑ व्र॒ते श॒फव॒ज्जर्भु॑रीति।

यस्य॑ व्र॒त ओष॑धीर्वि॒श्वरू॑पाः॒ स नः॑ पर्जन्य॒ महि॒ शर्म॑ यच्छ॥ ५॥

(१) हे **पर्जन्य**-परातृप्ति के जनक (परां तृप्तिं जनयाते) अथवा महान् विजेता (परो जेता) प्रभो! आप हमारे लिये **महि शर्म**=महान् सुख को **यच्छ**=दीजिये। आप वे हैं, **यस्य व्रते**=जिनके नियमों में (नियमः पूर्वकं व्रतम्) **पृथिवी**-यह पृथिवी **नन्नमीति**=झुक जाती है, कुछ तिरछी-सी होकर गतिवाली होती है। आप वे हैं, **यस्य**=जिनके **व्रते**=नियमों में ही **शफवत्**=सब खुरोंवाले प्राणियों का **जर्भुरीति**=भरण होता है। (२) हे प्रभो! आप ये हैं, **यस्य**=जिनके **व्रते**-नियमों में **विश्वरूपाः**-सब भिन्न-भिन्न रूपोंवाली ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और प्राणियों का धारण करती हैं।

भावार्थ—प्रभु के नियमों ही पृथिवी कुछ झुकी-सी गतिवाली होती है। प्रभु के नियमों में ही सब प्राणियों का भरण होता है। प्रभु के नियमों में ही विविध ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं।

ऋषिः—**अत्रिः**॥ देवता—**पृथिवी**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

असुरः पिता

दि॒वो नो॑ वृ॒ष्टिं म॑रुतो ररीध्वं॒ प्र पि॑न्वत॒ वृष्णो॒ अश्व॑स्य॒ धाराः॑।

अ॒र्वाङे॒तेन॑ स्तनयि॒त्नुनेह्य॒पो नि॑षि॒ञ्चन्नसु॑रः॒ पि॒ता नः॑॥ ६॥

(१) हे **मरुतः**=वृष्टिवाहक वायुवो! आप **नः**=हमारे लिये **दिवः**=द्युलोक से **वृष्टिम्**=वृष्टि को **ररीध्वम्**=दो। **वृष्णः**=वृष्टि को करनेवाले **अश्वस्य**=अन्तरिक्ष में व्याप्त होनेवाले मेघ की **धाराः**=जलधाराओं को **प्रपिन्वत**=सींचो। (२) हे प्रभो! आप **एतेन**=इस **स्तनयित्नुना**=गर्जना करनेवाले मेघ से **अर्वाङ् इहि**=यहाँ नीचे पृथिवीलोक पर आइये। **अपः निषिञ्चन्**=जलों को सींचता हुआ **असुरः**-सर्वत्र प्राणशक्ति का संचार करनेवाला यह मेघ **नः पिता**=हमारा रक्षक है। हे प्रभो! आप ही इस मेघ के द्वारा वर्षण करके अन्नोत्पादन द्वारा हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु वायुवों व मेघों द्वारा वृष्टि की व्यवस्था करके अन्नोत्पादन द्वारा सब प्राणियों की रक्षा करते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः**॥ देवता—**पृथिवी**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वृष्टि से ओषधियों की उत्पत्ति

अ॒भि क्र॑न्द स्त॒नय॒ गर्भ॒मा धा॑ उद॒न्वता॒ परि॑ दीया॒ रथे॑न।

दृतिं॒ सु क॑र्ष॒ विषि॑तं॒ न्य॑ञ्चं स॒मा भ॑वन्तू॒द्वतो॑ निपा॒दाः॥ ७॥

(१) हे प्रभो! इस बादल के रूप में **अभिक्रन्द**=भूमि की ओर गर्जना करनेवाला हो। **स्तनय**=विद्युत् को तू शब्द करानेवाला हो। **गर्भं आधाः**=ओषधियों में तू गर्भ को स्थापित कर, सब ओषधियाँ खूब फलित हों। **उदन्वता रथेन**=इस जलवाले रथरूप मेघ से **परिदीया**=चारों ओर गतिवाले होइये। (२) इस **विषितम्**=विशेषरूप से बद्ध व स्यूत **दृतिम्**=चर्मपात्ररूप मेघ को **न्यञ्चम्**=निम्न गतिवाले को **सुकर्ष**=आकृष्ट करिये। मेघ मानो एक चर्मपात्र है, जो जल से परिपूर्ण है। इसे नीचे आकृष्ट करना ही इसका बरसाना है। प्रभु इसे बरसाते हैं और **उद्वतः**=उन्नत प्रदेश व **निपादाः**=निम्न प्रदेश सब **समाः भवन्तु**=समपृष्ठवाले हो जाते हैं। सर्वत्र पानी फैल जाने से निम्नोन्नत विभाग नहीं रह जाता। सब एक पृष्ठ प्रतीत होता है।

भावार्थ—बादल बरसता है और ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार सब प्रदेश जल परिपूर्ण होकर समान पृष्ठवाले प्रतीत होते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

महान् कोश का उदञ्चन

म॒हान्तं॒ कोश॒मुद॑चा॒ नि षि॑ञ्च॒ स्यन्द॑न्तां कु॒ल्या विषि॑ताः पु॒रस्ता॑त्।
घृ॒तेन॒ द्यावा॑पृथि॒वी व्यु॑न्धि सुप्रपा॒णं भ॑वत्व॒घ्न्याभ्यः॑ ॥ ८ ॥

(१) हे महान् विजेता (पर्जन्य) प्रभो! आप **महान्तं कोशम्**=इस मेघरूप महान् कोश को **उदचा**=उद्गत करिये आकाश में इस महान् जलकोश को स्थापित करिये। **निषिञ्च**=इसे यहाँ नीचे भूमि पर क्षरित करिये। आपकी इस व्यवस्था से **विषिताः**=सब बन्धनों से मुक्त हुई-हुई **कुल्याः**=ये नदियाँ **पुरस्तात्**=आगे-आगे **स्यन्दन्ताम्**=प्रवाहित होनेवाली हों। (२) इस व्यवस्था के द्वारा हे प्रभो! आप **घृतेन**=इस दीप्ति के कारणभूत जल से **द्यावापृथिवी व्युन्धि**=द्युलोक व पृथिवीलोक को आप क्लिन्न करिये। पृथिवी को यह महान् मेघकोश का जल सींचता ही है और सारे वायुमण्डल को भी गीला करनेवाला होता है। इस स्थिति में **अघ्न्याभ्यः**=इन न मारने योग्य गौवों के लिये **सुप्रपाणं भवतु**-उत्तम पीने योग्य जल-स्थानों का निर्माण **भवतु**=हो। गवादि पशुओं के लिये सर्वत्र मेघजल सुप्राप्त हो।

भावार्थ—वृष्टि हो जाती है, नदियाँ प्रवाहित होने लगती हैं और सर्वत्र पशुओं के लिये पानी सुलभ हो जाता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

निष्पापता व प्रसन्नता

यत्प॑र्जन्य॒ कनि॑क्रदत्स्त॒नय॒न् हंसि॑ दु॒ष्कृतः॑।
प्रती॒दं विश्वं॑ मोदते॒ यत्किं च॑ पृथि॒व्यामधि॑ ॥ ९ ॥

(१) हे **पर्जन्य**=महान् विजेतः प्रभो! **यत्**=जब आप **कनिक्रदत्**=हृदयस्थरूपे 'ऋग् यजु साम' रूप वाणियों का उच्चारण करते हैं। तो **स्तनयन्**=इन वेदवाणियों की गर्जना करते हुए **दुष्कृतः**=सब पापकारियों को **हंसि**=नष्ट करते हैं। वेदवाणियों की प्रेरणा उनके पापों को सुदूर प्रेरित करनेवाली हो जाती है। (२) उस समय पाप के नष्ट हो जाने पर **यत् किञ्च पृथिव्यां अधि**=जो इस पृथिवी पर चराचरात्मक जगत् है, **इदम्**=यह **विश्वम्**=सबका सब **प्रतिमोदते**=प्रतिदिन आनन्द का अनुभव करता है। निष्पापता में ही आनन्द है। पाप 'पातक' है, हृदय को गिरानेवाला है।

भावार्थ—प्रभु वेद ज्ञान के क्रन्दन से हमारे पापों को नष्ट करते हैं। उस समय यह सब चराचरात्मक जगत् प्रतिमोदित हो उठता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ओषधि भोजन से सुख तथा बुद्धि की प्राप्ति

अवर्षीर्वर्षमुदु षू गृभायाकर्धन्वान्यत्येतवा उ ।
अजीजन ओषधीर्भोजनाय कमुत प्रजाभ्योऽविदो मनीषाम्॥ १० ॥

(१) हे प्रभो! आपने **वर्षं अवर्षीः**-इस वृष्टि-जल का वर्षण किया है **उ**=और **सु**=अच्छी प्रकार **उद् गृभाय**=सब प्राणियों का उद्ग्रहण किया है। **धन्वानि**-निरुदक मरुस्थलों को भी **अति एतवा**-अतिशयेन गति के लिये **अकः उ**=निश्चय से किया है। (२) आपने **भोजनाय**=भोजन के लिये **ओषधीः**-ओषधियों को **अजीजनः**-उत्पन्न किया है। **उत**-और **प्रजाभ्यः**-सब प्रजाओं के लिये **कम्**-सुख को तथा **मनीषाम्**=बुद्धि को **अविदः**=प्राप्त कराया है।

भावार्थ—प्रभु मेघों द्वारा वृष्टि करके ओषधियों को उत्पन्न करते हैं और उन औषध भोजनों से मानस-सुख तथा बुद्धि का विकास करते हैं।

उत्तम बुद्धि को प्राप्त करनेवाला यह 'अत्रि' बनता है, काम-क्रोध-लोभ से दूर। यह ओषधि भोजन प्राप्त करानेवाली पृथिवी का काव्यमय स्तवन करता है कि—

८४. [चतुरशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पर्वत-खेदन

बळित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवी। प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि॥ १ ॥

(१) 'पृथिवी' शब्द इस विस्तारवाले अन्तरिक्ष का भी वाचक है। हे **पृथिवि**-अन्तरिक्ष देवते! तू **बट्**=सचमुच **इत्था**=इस प्रकार **पर्वतानाम्**=वाष्प पर्वों (तहों) से बने हुए इन मेघों के **खिद्रम्**-खेदन व भेदन को **बिभर्षि**-धारण करती है। अन्तरिक्ष में ही इन बादलों का निर्माण होता है। वहाँ से इनका भेदन होकर वृष्टि का सम्भव हुआ करता है। (२) हे **प्रवत्वति**=उत्कर्षवाली अन्तरिक्ष देवते! तू वह है **या**-जो, हे **महिनि**-महिमाशालिनि! **मह्ना**=अपनी महिमा से, इस वृष्टि की व्यवस्था से **भूमिम्**-इस प्राणियों के निवास स्थानभूत भूप्रदेश को **प्रजिनोषि**=प्रकर्षेण प्रीणित करती है। वृष्टि के होने से ही यहाँ सब प्राणियों के जीवन का सम्भव होता है।

भावार्थ—अन्तरिक्ष में बादलों का भेदन होकर वृष्टि से अन्नोत्पत्ति द्वारा इस भूमि पर प्राणियों का प्रीणन होता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पेरु-प्रासन

स्तोमासस्त्वा विचारिणि प्रति ष्टोभन्त्यक्तुभिः। प्र या वाजं न हेषन्तं पेरुमस्यस्यर्जुनि॥ २ ॥

(१) विविध पिण्डों व पक्षियों का संचरण स्थान होने से अन्तरिक्ष 'विचारिणी' कहलाता है। हे **विचारिणि**=विविध पिण्डों की संचरण स्थानभूत अन्तरिक्ष देवते! **स्तोमासः**=(स्तोतारः सा०) तेरे गुण-धर्मों का स्तवन करनेवाले लोग **अक्तुभिः**=(light, darkness) कभी प्रकाशों व कभी अन्धकारों के होने से **त्वा**=तुझे **प्रतिष्टोभन्ति**=प्रतिदिन स्तुत करते हैं। अन्तरिक्ष कभी तो

मेघों के अन्धकारवाला होता है और कभी मेघशून्य व प्रकाशमय प्रतीत होता है। (२) हे **अर्जुनि**=अपने अन्दर मेघों का अर्जन करनेवाली अन्तरिक्ष देवि! तू वह है **या**=जो **हेषन्तं वाजम् न**=शब्द करते हुए उच्छंखल अश्व के समान **पेरुम्**=इस पालक मेघ को **प्रास्यसि**=वृष्टिरूप में नीचे फेंकनेवाली होती है। 'अर्जुनि' शब्द का अर्थ सायण 'गमनशीले' यह करते हैं। इस अन्तरिक्ष में मेघ इधर-उधर घूम रहे हैं। इन मेघों को वह अन्तरिक्ष भिन्न-भिन्न स्थानों पर फेंकनेवाला, बरसानेवाला होता है।

भावार्थ—यह अन्तरिक्ष सब पिण्डों व मेघों का गति-स्थान बना हुआ है। यह अन्तरिक्ष ही मानो इन गर्जते हुए मेघों को उस-उस स्थान पर वृष्टि करता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वनस्पति सेवन व ओजस्विता

दृळ्हा चिद्या वनस्पतीन्क्ष्मया दर्धर्ष्योजसा। यत्ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो वर्षन्ति वृष्टयः॥ ३॥

(१) हे पृथिवि-अन्तरिक्ष देवते! तू वह है **या**=जो **दृढाचित् वनस्पतीन्**=इन अतिशयेन दृढ़ वनस्पतियों को **ओजसा**=ओजस्विता के हेतु से **क्ष्मया**=इस पृथिवी के द्वारा **दर्धर्षि**=अतिशयेन धारण करती है। वनस्पति पृथिवी में प्रतिष्ठित है। इनका पालन अन्तरिक्ष देवता वृष्टि के द्वारा करती है। इनका पालन इसलिए है कि इनके प्रयोग से प्रयोक्ता ओजस्विता को प्राप्त कर सकें। प्रभु ने यह सब व्यवस्था मनुष्यों को ओजस्वी बनाने के लिये की है। (२) **यत्**=जो **ते अभ्रस्य**=तेरे सम्बन्धी इस बादल की **वृष्टयः**=वृष्टियाँ **विद्युतः दिवः**=बिजलियों से दीप्त इस आकाश से **वर्षन्ति**=वृष्टि होती हैं तब इन वनस्पतियों का धारण होता है और मनुष्य ओजस्वी बनते हैं।

भावार्थ—अन्तरिक्ष वृष्टि के द्वारा इस पृथिवी में वनस्पतियों को उत्पन्न करता है। इनके प्रयोग से मनुष्य ओजस्विता का लाभ करते हैं।

अगले सूक्त में 'अत्रि' ऋषि 'वरुण' का उपासना करते हैं। उस 'वरुण' नामक प्रभु का जो पापों का निवारण करनेवाले हैं—

८५. [पञ्चाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सम्राट् वरुण श्रुत' प्रभु

प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रह्म प्रियं वरुणाय श्रुताय।
वि यो जघान शमितेव चर्मोपस्तिरे पृथिवीं सूर्याय॥ १॥

(१) हे उपासक! तू **सम्राजे**=सम्यग् दीप्यमान, **वरुणाय**=सब पापों के निवारक **श्रुताय**=प्रसिद्ध-सर्वज्ञ प्रभु के लिये **बृहत्**=खूब ही **प्र अर्चा**=पूजा कर। उस प्रभु की पूजा के लिये **गभीरं**=इस बह्वर्थोपेत, अर्थात् अत्यन्त गम्भीर **प्रियम्**=प्रीति के जनक **ब्रह्म**=वेद-मन्त्रों से किये जानेवाले स्तोत्रों का (प्रार्च=प्रोच्चारय सा०) उच्चारण कर। (२) **यः**=जो वरुण **सूर्याय उपस्तिरे**=सूर्य किरणों के विस्तार के लिये **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **विजघान**=फैलाते हैं। इस प्रकार फैलाते हैं, **इव**=जैसे कि **शमिता चर्म**=शान्तभाव से उपासना करनेवाला अपने आसन के लिये मृगचर्म को बिछाता है।

भावार्थ—प्रभु 'सम्राट् है, वरुण है, श्रुत हैं। हम मन्त्रों द्वारा खूब ही प्रभु का अर्चन करें। प्रभु सूर्य किरणों के विस्तार के लिये इस पृथिवीरूप आसन को बिछाते हैं। पृथ्वी सूर्य किरणों से

आच्छादित हो जाती है।'

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्या-क्या कहाँ-कहाँ?

वनेषु व्य१न्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्व१ग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ॥ २॥

(१) **वरुणः**=उस सब से वरण के योग्य, सब वरणीय वस्तुओंवाले प्रभु ने **वनेषु**=वनों में, खुले स्थानों में, घरों व घनी वस्तियों से दूर **अन्तरिक्षं विततान**=अन्तरिक्ष को विस्तृत किया है। घनी बस्तियों में आकाश फैला हुआ नहीं दिखता। खुले स्थानों में आकाश का विस्तार स्पष्ट हो जाता है। उस प्रभु ने **अर्वत्सु**=घोड़ों में **वाजम्**=शक्ति को तथा **उस्रियासु**=गौवों में **पयः**=दूध को स्थापित किया है। (२) ठीक इसी प्रकार उस वरुण के **हृत्सु**=मानव हृदयों में **क्रतुम्**=कर्म-संकल्प को रखा है। शक्ति के बिना जैसे घोड़ा घोड़ा नहीं, न दूध देनेवाली गौ गौ क्या? इसी प्रकार कर्म-संकल्प के बिना हृदय हृदय नहीं। उस प्रभु ने **अप्सु**=प्रजाओं के अन्दर **अग्निम्**=शक्ति की उष्णता को धारण किया है। **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **सूर्यं अदधात्**=ज्ञान सूर्य को स्थापित किया है और **अद्रौ**=उपासनामय हृदय में (adore worship) **सोमम्**=सोमशक्ति को व सौम्यता को स्थापित किया है। उपासनामय हृदय में ही सौम्यता का निवास होता है तथा शरीर में सोम के रक्षण का संभव होता है।

भावार्थ—जैसे प्रभु ने घोड़ों में शक्ति को व गौवों में दूध को स्थापित किया है, उसी प्रकार मानव हृदयों में कर्म संकल्प को स्थापित किया है। इस कर्म के लिये ही शक्ति की उष्णता, ज्ञानसूर्य का प्रकाश व सोमशक्ति की स्थापना हुई है। 'उत्साह, शक्ति व ज्ञान' पूर्वक हम सदा कर्म करनेवाले हों।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भूमि-क्लेदन

नीचीनबारं वरुणः कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम॥ ३॥

(१) **वरुणः**=जलों का स्वामी वरुण **कवन्धम्**=जल को **नीचीनबारम्**=नीचे निर्गमन बिलवाला **प्रससर्ज**=करता है। मेघ को विदीर्ण करके जल को अधोमुख करता हुआ **रोदसी**=द्यावापृथिवी को तथा **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को हितयुक्त करता है। लोकत्रय के हित के लिये प्रभु इस वृष्टि की व्यवस्था करते हैं। (२) **तेन**=इस वर्षण के द्वारा प्रभु **विश्वस्य भुवनस्य राजा**=सम्पूर्ण भुवन को दीप्त करनेवाले हैं। **न**=जैसे **वृष्टिः**=एक सेचन कार्य को करनेवाला व्यक्ति **यवम्**=गौ को सींचता है, इसी प्रकार वे प्रभु **भूम**=इस भूमि को **व्युनत्ति**=क्लिन्न करते हैं। इस क्लेदन से ही भूमि विविध अन्नों को जन्म देनेवाली बनती है।

भावार्थ—सब कष्टों का निवारण करनेवाले प्रभु वृष्टि के द्वारा भूमि को क्लिन्न करते हुए अन्नोत्पत्ति द्वारा सबका कल्याण करते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वरुणः

उनत्ति भूमिं पृथिवीमुत द्यां यदा दुग्धं वरुणो वष्ट्यादित्।
समभ्रेण वसत पर्वतासस्तविषीयन्तः श्रथयन्त वीराः॥ ४॥

(१) वह **वरुणः**=वरणीय प्रभु उस समय **भूमिम्**=इस पृथिवी को, **पृथिवीम्**=विस्तृत अन्तरिक्ष को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को **उनत्ति**=गीला करते हैं, जल की सीलवाला करते हैं, **यदा**=जब कि वे वरुण **दुग्धम्**=(दुह प्रपूरणे) जल के प्रपूरण को **वष्टि**=चाहते हैं। (२) **आत् इत्**=शीघ्र ही उस समय **पर्वतासः**=पर्वत **अभ्रेण**=इन मेघों से **संवसत**=अपने को आच्छादित करते हैं, पर्वत मेघरूप वस्त्रों से ढक जाते हैं और **तविषीयन्तः**=बल को चाहते हुए खूब बलवान् की तरह आचरण करते हुए **वीराः**=वृष्टि के विशेषरूप से (वि) प्रेरित करनेवाले (ईर) वायु **श्रथयन्त**=इन मेघों को ढीला करते हैं, वृष्ट्युन्मुख करते हैं। ये वायुवें ही 'वृष्टि को लानेवाली वायुवें' कहाती हैं।

भावार्थ—प्रभु जब मेघों द्वारा यहाँ जल के प्रपूरण की कामना करते हैं तो वे इस वर्षण द्वारा लोकत्रयी को क्लिन्न करते हैं। बादल पर्वतों को ढक लेते हैं और वायुवों से इधर-उधर प्रेरित होते हुए उस-उस स्थान पर बरसते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण

इमामू ष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्र वोचम्।
मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण॥ ५॥

(१) **आसुरस्य**=(असुरो मेघः) प्राणशक्ति का संचार करनेवाले मेघ के विदीर्ण करनेवाले **श्रुतस्य**=प्रसिद्ध **वरुणस्य**=सर्वज्ञ (प्रचेताः) प्रभु की **इमाम् ऊ महीं मायाम्**=इस ही महान् प्रज्ञा का **सु प्रवोचम्**=मैं स्तुतिरूप में प्रतिपादन करता हूँ। (२) **यः**=जो प्रभु **अन्तरिक्षे**=इस विशाल अन्तरिक्षलोक में **तस्थिवान्**=आस होकर स्थित हुए-हुए **मानेन इव**=मानो मापदण्ड से माप कर ही **सूर्येण**=सूर्य से **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **विममे**=बनाते हैं। इस सूर्य से ही अन्य लोकों का प्रभु ने मानपूर्वक निर्माण किया।

भावार्थ—सृष्टि में प्रत्येक पिण्ड बड़े नपे-तुले रूप में बना हुआ है। यह पिण्डों का मान प्रभु की महिमा का द्योतन कर रहा है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्या ही आश्चर्य है?

इमामू नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दधर्ष।
एकं यदुद्गा न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम्॥ ६॥

(१) **इमां उ**=इस ही **नु**=अब **कवितमस्य**=उस कान्तप्रज्ञ **देवस्य**=प्रकाशमय प्रभु की **महीं मायाम्**=महती माया को **नकिः आदधर्ष**=कोई भी हिंसित नहीं कर पाता। उस महान् प्रभु की, यह मन्त्र के उत्तरार्ध में वर्णित, माया ही अत्यन्त महान् है **यत्**=कि, (२) **एकं समुद्रम्**=इस एक समुद्र को **एनीः**=ये शुभ्रवर्णवाली गतिशील **आसिञ्चन्तीः**=चारों ओर से सींचती हुईं

अवनयः=नदियाँ **उद्ना**=उदक से **न पृणन्ति**=नहीं भर देती हैं। निरन्तर समुद्र में नदियाँ पड़ रही हैं, पर समुद्र उसी रूप में है। 'कभी यह भरकर ऊर्ध्वप्रवाहवाला हो जाये' ऐसी बात नहीं है। क्या ही विचित्र व्यवस्था है?

भावार्थ—चारों ओर से निरन्तर गतिवाली नदियों से भरा जाता हुआ भी यह समुद्र भर नहीं जाता। क्या ही विचित्र व्यवस्था है?

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**ब्राह्म्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

निष्पाप जीवन

अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा।
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्॥ ७॥

(१) हे **वरुण**-पाप-निवारक परमात्मन्! जैसे आप गतमन्त्र में वर्णित शब्दों में समुद्र को मर्यादा में रखते हैं, इसी प्रकार आप मुझे भी मर्यादित जीवनवाला बनाइये। **अर्यम्यम्**=(अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) दान देनेवाले के विषय में, **मित्र्यं वा**=अथवा स्नेह करनेवाले के विषय में **सखायं वा**-एक साथ ज्ञान प्राप्त करनेवाले सहाध्यायी के विषय में, **वेशं वा नित्यम्**=और सदा के पड़ोसी के विषय में, **अरणं वा**=या दूर के व्यक्ति के विषय में **यत्**=जो भी **आगः चकृम**= अपराध कर बैठें, हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! उस पाप को **सीम्**=निश्चय से **शिश्रथ**=ढीला करिये। (२) हम अपने स्वार्थ के लिये उल्लिखित व्यक्तियों के विषय में अपराध कर बैठते हैं। मन को काबू न रख सकने पर पाप हो जाता है। हम वरुण का स्मरण करें। ये वरुण हमें पापों से बचायेंगे।

भावार्थ—वरुण का स्मरण करते हुए हम विविध व्यक्तियों के विषय में हो जानेवाले पापों से अपने को बचा पायें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निष्पापता व वरुण-प्रियता

कितवासो यद्रिरिपुर्न दीवि यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म।
सर्वा ता वि ष्य शिथिरेव देवाधा ते स्याम वरुण प्रियासः॥ ८॥

(१) **कितवासः**=जुवारी व्यक्ति **न**=जैसे **दीवि**=देवन (जुए) कर्म में **यत् रिरिपुः**=जिस पाप का हमारे पर यों ही लेप कर देते हैं। अर्थात् जिस पाप को हमने किया तो नहीं, पर दूसरे द्वेषवश यों ही हमारे पर उसे थोप देते हैं। **वा**=अथवा **यत् घा सत्यम्**=जो निश्चय से सचमुच पाप हमारे से हो गया है। **यत् न विद्म**-जिस पाप को हम जानते नहीं, अर्थात् जो अनजाने में हो जाता है। हे **देव**=सब बुराइयों को कुचलने की कामनावाले प्रभो! आप **सर्वा ता**-उन सब पापों को **शिथिरा इव**-अत्यन्त शिथिल हुओं-हुओं की तरह **विष्य**-हमारे से पृथक् कर दीजिये। (२) हे **वरुण**=हमारे जीवनों को व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाले प्रभो! (पाशी) **अधा**=अब पापविमोचन के होने पर **ते**=आपके **प्रियासः स्याम**=हम प्रिय हों। निष्पाप जीवनवाले बनकर हम आपके प्रिय बनें।

भावार्थ—निष्पापता हमें प्रभु का प्रिय बनाये।

निष्पाप बनकर हम इन्द्राग्नी के, बल व प्रकाश के आराधक बनते हैं। सो **अत्रि**=त्रिविध पापों से काम-क्रोध-लोभ जन्य पापों से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति इन इन्द्राग्नी की आराधना करता हुआ

कहता है—

८६. [षडशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

दृढदुर्ग भेदन

इन्द्राग्नी यमवथ उभा वाजेषु मर्त्यम्। दृळ्हा चित्स प्र भेदति द्युम्ना वाणीरिव त्रितः ॥ १ ॥

(१) 'इन्द्र' बल का प्रतीक है तथा 'अग्नि' प्रकाश का। हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश की देवताओ! आप **उभा**=दोनों **वाजेषु**=इन जीवन-संग्रामों में **यं मर्त्यम्**=जिस मनुष्य को **अवथः**=रक्षित करते हो। **सः**=वह **दृळा चित्**=काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं के दृढ़ दुर्गों को भी **प्रभेदति**=विदीर्ण कर डालता है। शरीर में शक्ति व मस्तिष्क में ज्ञान के होने पर इस प्रकार बल व ज्ञान के समन्वय के होने पर काम-क्रोध लोभ नष्ट हो जाते हैं। (२) इन शत्रुदुर्गों का प्रभेदन यह इस प्रकार करता है **इव**=जैसे कि **त्रितः**=काम-क्रोध-लोभ से तैर जानेवाला व्यक्ति अथवा 'शरीर, मन, बुद्धि' तीनों का विस्तार करनेवाला यह व्यक्ति **द्युम्नाः वाणी**=ज्योतिर्मयी ज्ञानवाणियों को प्रभेदति=खुले हुए मर्मवाला करता है। इन ज्ञान-वाणियों के रहस्य को यह समझनेवाला बनाता है।

भावार्थ—ज्ञान व बल का समन्वय हमें काम-क्रोध-लोभ को जीतनेवाला तथा ज्ञानवाणियों के मर्म को समझनेवाला बनाता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

दुष्टरा-श्रवाय्या

या पृतनासु दुष्टरा या वाजेषु श्रवाय्या। या पञ्च चर्षणीरभीन्द्राग्नी ता हवामहे ॥ २ ॥

(१) **या**=जो इन्द्र और **अग्नि**=बल व प्रकाश के देवता **पृतनासु**=संग्रामों में **दुष्टरा**=शत्रुओं से अभिभूत होने योग्य नहीं और **या**=जो **वाजेषु**=बलों में **श्रवाय्या**=प्रशंसनीय हैं, **ता**=उन **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवों को **हवामहे**=हम पुकारते हैं। इनकी आराधना हमें संग्रामों में विजयी व प्रशंसनीय बलवाला बनाती है। (२) ये इन्द्र और अग्नि वे हैं **या**=जो **पञ्च**=पाँचों **चर्षणीः**=अभि (चर्षणि=seeing, moving) ज्ञानों व कर्मों के प्रति हमें प्रेरित करते हैं। इन इन्द्र और अग्नि की उपासना से पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी ठीक बनी रहती हैं और पाँचों कर्मेन्द्रियाँ भी सशक्त होती हैं।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि का आराधन हमें (१) संग्रामों में विजयी बनाता है, (२) प्रशस्त शक्तिवाला करता है तथा (३) ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को अपने व्यापारों में ठीक से प्रेरित रखता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अमवत् शवः

तयोरिदमवच्छवस्तिग्मा दिद्युन्मघोनोः। प्रति द्रुणा गभस्त्योर्गवां वृत्रघ्न एषते ॥ ३ ॥

(१) **तयोः इत्**=उन दोनों का ही, गतमन्त्र में वर्णित 'इन्द्र व अग्नि' का ही **शवः**=बल **अमवत्**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाला है। इन **मघोनोः**=शक्ति व ज्ञानरूप ऐश्वर्यवाले इन्द्र और अग्नि का ही **दिद्युत्**=वज्र **तिग्मा**=बड़ा तीक्ष्ण है। इनका वज्र शत्रुओं का विनाश करनेवाला है। शक्ति यदि रोगरूप शत्रुओं का विनाश करती है, तो ज्ञान मानस विकारों का अन्त करनेवाला होता है। (२) ये इन्द्र और अग्नि **गभस्त्योः**=बाहुओं में **द्रुणा**=(द्रुगतौ) गतिमयता, अर्थात् क्रियाशीलता

से **गवाम्**=इन इन्द्रियों को **वृत्रघ्ने**=आवरणभूत कामविकारों के विनाश के लिये **प्रति आ एषते**=प्रतिदिन सर्वथा प्राप्त होते हैं। वस्तुतः शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करके ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगे रहना ही वह उपाय है, जो हमें इन्द्रियों को विषयों से आक्रान्त होने से बचाता है। यही इन गौवों का वृत्र के आक्रमण से रक्षण है।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि का बल शत्रुओं का विनाश करता है। ये इन्द्र और अग्नि इन्द्रियों को विषयाक्रान्त नहीं होने देते।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

पती तुरस्य राधसः

ता वामेषे रथानामिन्द्राग्नी हवामहे। पती तुरस्य राधसो विद्वांसा गिर्वणस्तमा॥ ४॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**-बल व प्रकाश के देवो! **ता वाम्**=उन आप दोनों को **रथानां एषे**=शरीर-रथों के मार्ग पर प्रेरित करने के लिये **हवामहे**=पुकारते हैं। हमारे इस शरीर-रथ में इन्द्र और अग्नि की स्थिति के होने पर, शक्ति व ज्ञान के प्रकाश के होने पर जीवन-यात्रा सुन्दरता से पूर्ण होती है। हमारा यह शरीर-रथ न टूटता है, न भटकता है। इन्द्र इसे दृढ़ बनाता है और अग्नि इसे प्रकाश दिखाता है। (२) ये इन्द्र और अग्नि **तुरस्य**=शत्रुओं का संहार करनेवाले **राधसः**=ऐश्वर्य के **पती**=स्वामी हैं। अर्थात् ये हमें उस ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं, जो हमें विषयों में फँसानेवाला नहीं होता। ये इन्द्र और अग्नि **विद्वांसा**=ज्ञानी हैं, अपने कर्त्तव्यों को समझते हैं और **गिर्वणस्तमा**-अधिक-से-अधिक ज्ञान की वाणियों का सम्भजन करनेवाले हैं। इन्द्र व अग्नि से हमारा जीवन ज्ञान-प्रधान बनता है, हमारा सारा रिक्त समय स्वाध्याय के लिये अर्पित होता है।

भावार्थ—बल व प्रकाश के तत्त्व हमें उस ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं, जो हमें विषयों में नहीं फँसाता। इनके होने पर हमारा जीवन ज्ञान-प्रधान बना रहता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

अदभा-अर्हन्ता-अंशा इव

ता वृधन्तावनु द्यून्मर्ताय देवावदभा। अर्हन्ता चित्पुरो दधेऽशेव देवावर्वते॥ ५॥

(१) **ता**-वे दोनों **देवौ**=जीवन को दिव्यता प्राप्त करानेवाले इन्द्र और अग्नि—बल व प्रकाश के देव, **अनुद्यून्**=प्रतिदिन **वृधन्तौ**=वृद्धि को प्राप्त करते हुए **मर्ताय**=मनुष्य के लिये **अदभा**=न हिंसित होने देनेवाले हैं। इन्द्र यदि उसे रोगों से आक्रान्त नहीं होने देता तो अग्नि उसकी सब वासनाओं को भस्म कर देता है। (२) **अर्हन्ता चित्**=जो सचमुच पूजा के योग्य हैं उन इन्द्र और अग्नि को मैं **पुरः दधे**=सदा अपने सामने रखता हूँ। मेरे जीवन का लक्ष्य इन्द्र व अग्नि का आराधन होता है। ये **देवौ**-इन्द्र और अग्नि, बल व प्रकाश के देव **अर्वते**=(अर्व् to kill) शत्रुसंहार करनेवाले पुरुष के लिये **अंशौ इव**=दो कन्धों (shoulder) के समान हैं। जैसे कन्धे भार का वहन करते हैं, उसी प्रकार इसके जीवन के भार को इन्द्र और अग्नि वहन करनेवाले होते हैं। ज्ञानेन्द्रियों में 'अग्नि' देव काम करता है, तो कर्मेन्द्रियों में 'इन्द्र' देव। इस प्रकार इसकी जीवन-यात्रा बड़ी उत्तमता से पूर्ण होती है।

भावार्थ—बल व प्रकाश हमें हिंसित नहीं होने देते। ये पूजा के योग्य हैं। जीवन के भार का वहन करनेवाले हैं।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—विराट्पूर्वानुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

श्रवः, रयिं, इषम्

एवेन्द्राग्निभ्यामहावि हव्यं शूष्यं घृतं न पूतमद्रिभिः।
ता सूरिषु श्रवो बृहद्रयिं गृणत्सु दिधृतमिषं गृणत्सु दिधृतम् ॥ ६ ॥

(१) **एवा**=इस प्रकार **इन्द्राग्निभ्याम्**=इन्द्र व अग्नि तत्त्वों के हेतु से **हव्यं अहावि**=हव्य पदार्थ ही जठर की वैश्वानर अग्नि में आहुत किये जाते हैं। अर्थात् सात्त्विक पदार्थों के सेवन से हम बल व प्रकाश का वर्धन करनेवाले होते हैं। **अद्रिभिः**=(to adore) उपासकों से **घृतं न**=घृत के समान **शूष्यम्**=शत्रुशोषक बल में उत्तम **पूतम्**=पवित्र अन्न ही अपने में आहुत किया जाता है। घृत तथा 'शूष्य हव्य पदार्थों का सेवन' हमारे अन्दर बल व प्रकाश को बढ़ाता है। (२) **ता**=वे इन्द्र और अग्निः! आप **सूरिषु**=ज्ञानी पुरुषों में **श्रवः**=ज्ञान को धारण करें। **गृणत्सु**=स्तोताओं में **बृहद्रयिम्**=वृद्धि के कारणभूत ऐश्वर्य को **दिधृतम्**=धारण करें तथा इन **गृणत्सु**=स्तोताओं में **इषम्**=प्रेरणा को **दिधृतम्**=धारण करें। इन्द्र व अग्नि के विकास से हृदय की पवित्रता होकर, अन्तःस्थित प्रभु प्रेरणा के सुनने का सम्भव होता है।

भावार्थ—घृत तथा हव्य पदार्थों का सेवन हमारे में बल व प्रकाश का वर्धन करता है। ये बल व प्रकाश के देव हमारे जीवनों में ज्ञान, ऐश्वर्य व प्रेरणा को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान, ऐश्वर्य व प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति सदा मार्ग से चलनेवाला होने से 'एवया' कहलाता है और इस मार्ग पर चलने के लिये यह प्राणों की साधना करनेवाला व्यक्ति मरुत् (प्राण) ही कहलाता है। यह एवयामरुत् प्राणों के विषय में कहता है—

८७. [सप्ताशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—एवयामरुदात्रेयः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—अतिजगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु-स्मरण व प्राणायाम

प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवयामरुत्।
प्र शर्धाय प्रयज्यवे सुखादये तवसे भन्ददिष्टये धुनिव्रताय शवसे ॥ १ ॥

(१) हे **एवयामरुत्**=मार्ग पर चलनेवाले प्राणसाधक पुरुष! **वः मतयः**=तुम्हारी मननपूर्वक की गई स्तुतियाँ **गिरिजाः**=इस वेदवाणी में निष्पन्न हों और उस **महे**=महान् **मरुत्वते**=प्रशस्त प्राणोंवाले, साधकों को प्रशस्त प्राणशक्ति प्राप्त करानेवाले, **विष्णवे**=व्यापक प्रभु के लिये **प्रयन्तु**=प्रकर्षेण प्राप्त हों। वस्तुतः यह स्तवन ही हमें मार्गभ्रंश से बचाकर प्रशस्त प्राणशक्तिवाला बनाता है। (२) तुम्हारी ये स्तुतियाँ **शर्धाय**=मरुतों के बल के लिये **प्र**=प्राप्त हों। जो मरुतों का बल **प्रयज्यवे**=हमारे साथ उत्कृष्ट गुणों का मेल करनेवाला है। **सुखादये**=खूब ही शत्रुओं को खा जानेवाला है। **तवसे**=वृद्धि के लिये है, **भन्ददिष्टये**=स्तुतिरूप यज्ञोंवाला है, **धुनिव्रताय**=शत्रु-कम्पनरूप कर्मवाला है और **शवसे**=गतिशीलता का कारण है (शवतिर्गतिकर्मा) अथवा बल को देनेवाला है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें और प्राणसाधना में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**एवयामरुदात्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**स्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'शक्ति विकास' व 'ज्ञानदीप्ति'

प्र ये जा॒ता म॑हि॒ना ये च॒ नु स्व॒यं प्र वि॒द्मना॑ ब्रु॒वत॑ एव॒याम॑रुत्।
क्रत्वा॒ तद्वो॑ मरुतो॒ नाधृ॒षे शवो॑ दा॒ना म॒ह्ना तदे॑षा॒मधृ॑ष्टासो॒ नाद्र॑यः॥ २॥

(१) **एवयामरुत्**=मार्ग पर चलनेवाला प्राणसाधक पुरुष **ब्रुवते**=उन मरुतों (प्राणों) की स्तुति करता है, **ये**=जो मरुत् **महिना**=अपनी महिमा से **प्रजाताः**=प्रकृष्ट विकासवाले हैं, जिनके द्वारा शरीर में सब शक्तियों का विकास होता है ये **च**=और जो **स्वयम्**=अपने आप **विद्मना**=ज्ञान से **प्र** (जाताः)=प्रकृष्ट प्रादुर्भाव होते हैं। प्राणसाधना के द्वारा अशुद्धियों का क्षय होकर ज्ञानदीप्ति चरमसीमा पर पहुँचकर विवेकख्याति को सिद्ध करती है। (२) हे **मरुतः**=प्राणो! **वः तद् शवः**=आपका वह प्रसिद्ध बल **क्रत्वा**=यज्ञादि उत्तम कर्मों से युक्त हुआ-हुआ **न आधृषे**=किन्हीं भी शत्रुओं से धर्षणीय नहीं होता। **तत्**=सो **एषाम्**=इन मरुतों को **दाना**=शत्रुलवन (काटना) रूप कार्य से (दाप् लवने) तथा **मह्ना**=महिमा से **अद्रयः**=प्रभु के उपासक लोग **अधृष्टासः न**=अधर्षणीय वीरों के समान होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (१) सब शक्तियों का विकास होता है, (२) ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है, (३) अधर्षणीय बल की प्राप्ति होकर हम शत्रुओं से अधर्षणीय वीर बन पाते हैं।

ऋषिः—**एवयामरुदात्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सुशुक्वानः, सुभ्वः (ज्ञानदीप्त-स्वस्थ)

प्र ये दि॒वो बृ॑ह॒तः शृ॑ण्वि॒रे गि॒रा सु॒शुक्वा॑नः सु॒भ्व॑ एव॒याम॑रुत्।
न येषा॒मिरी॑ स॒धस्थ॒ ईष्ट॒ आँ अ॒ग्नयो॒ न स्वविद्यु॒तः प्र स्य॒न्द्रासो॒ धुनी॑नाम्॥ ३॥

(१) **ये**=जो मरुत **बृहतः दिवः**=वृद्धि के कारणभूत महान् ज्ञान को **गिरा धुनीनाम्**=उत्तम वाणियों के द्वारा **प्रशृण्विरे**=खूब विश्रुत (प्रसिद्ध) हैं। प्राणसाधना ही मनुष्य को सूक्ष्म बुद्धि बनाकर इन ज्ञान की वाणियों को समझने के योग्य बनाती है। ये व्यक्ति ही **सुशुक्वानः**=ज्ञान की उत्तम दीप्तिवाले होते हैं और **सुभ्वः**=(सुष्ठु भवन्तः) स्वस्थ होते हैं। **एवयामरुत्**=ये ही मार्ग पर चलनेवाले प्राणसाधक पुरुष हैं। (२) **येषाम्**=जिन प्राणों का **सधस्थे**=जीव व प्रभु के सह-स्थान हृदय में **इरी**=प्रेरिता **न ईष्टे**=हिंसित नहीं होता। वे प्राण **अग्नयः न**=अग्नियों के समान **स्वविद्युतः**=अपनी विशिष्ट दीप्तिवाले हैं और **धुनीनाम्**=(sounds) वाणियों के **प्रस्पन्द्रासः**=प्रकर्षेण प्रेरित करनेवाले हैं। प्राणसाधना के होने पर ज्ञान की वाणियों का खूब ही प्रकाश होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें 'ज्ञानदीप्त व स्वस्थ' बनाती है। इससे दीप्ति प्राप्त होती है और ज्ञान की वाणियों का रहस्य प्रकट हो जाता है।

ऋषिः—**एवयामरुदात्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

रेचक प्राणायाम व इन्द्रियों की निर्दोषता

स च॑क्रमे म॒हतो॒ निरु॑रुक्र॒मः स॑मा॒नस्मा॒त्सद॑स एव॒याम॑रुत्।
य॒दायु॑क्त त्मना॒ स्वादधि॒ ष्णुभि॒र्विष्प॑र्धसो॒ विम॑हसो॒ जिगा॑ति॒ शेवृ॑धो॒ नृभि॑ः॥ ४॥

(१) **सः**=वह **उरुक्रमः**=महान् पराक्रमवाला प्राणों का गण **महतः**=महान् **समानस्मात्**

सदसः=समान स्थान से, अर्थात् जीव और प्रभु के समानरूप से रहने योग्य हृदयप्रदेश से **निः चक्रमे**=बाहिर गतिवाला होता है। रेचक प्राणायाम के समय यह हृदय को छोड़कर बाहर फेंका जाता है। उस समय इस प्राणसाधना को करता हुआ यह **एवयामरुत्**=मार्ग पर चलनेवाला प्राणसाधक पुरुष **यदा**=जब **विष्पर्धसः**=जिनके साथ स्पर्धा (मुकाबिला) करनी बड़ी कठिन है, ऐसे **विमहसः**=विशिष्ट तेजवाले **शेवृधः**=सुख का वर्धन करनेवाले इन्द्रियाश्वों को **त्मना अयुक्त**=अपने साथ, अपने इस शरीर-रथ के साथ जोतता है। प्राणसाधना के द्वारा विशेषतः इस रेचक प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं। श्वास वायु बाहिर जाता हुआ दोषों को भी अपने साथ बाहिर ही ले जाता है। निर्मल इन्द्रियाँ शक्तिशाली व तेजस्वी बनती हैं। (२) इस समय यह एवयामरुत् **स्वात्**=अपने से, अपने इस शरीर से **ष्णुभिः नृभिः**=गतिशील आगे ले चलनेवाले इन प्राणों के द्वारा **अधिजिगाति**=ऊपर उठकर प्रभु की ओर चलता है। इन्द्रियाँ जब तक सदोष बनी रहती हैं, तब तक प्रभु की ओर जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्राणसाधना इन्हें निर्दोष करती है और हमें भौतिक सुखों के संग से दूर करके प्रभु-प्रवण करती है।

भावार्थ—रेचक प्राणायाम इन्द्रियों के दोषों को बाहिर फेंक देता है। इन इन्द्रियों के निर्दोष होने पर हमें ये प्राण प्रभु की ओर ले चलनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**एवयामरुदात्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

स्वरोचियः-स्थारश्मानः

स्वनो न वोऽमवान्रेजयद् वृषा त्वेषो ययिस्तविष एवयामरुत्।
येना सहन्त ऋञ्जत स्वरोचिषः स्थारश्मानो हिरण्ययाः स्वायुधास इष्मिणः ॥ ५ ॥

(१) हे मरुतो-प्राणो! **वः**=आपका रेचन व पूरण के समय होनेवाला **स्वनः**=शब्द **न रेजयत्**=मुझे कम्पित करनेवाला न हो। अर्थात् मैं इस प्राणसाधना में बहुत हिलता-जुलता ही न रहूँ। 'स्थिरसुखमासनम्' इस योगसूत्र के अनुसार स्थिरता से आसन पर आसीन रहूँ। यह आपका स्वनः **अमवान्**=प्रबल है, **वृषा**=शक्ति का सेचन करनेवाला है, **त्वेषः**=दीप्त है, **ययिः**=तुझे गतिशील बनानेवाला है, मेरे में स्फूर्ति व क्रियाशीलता को उत्पन्न करनेवाला है। **तविषः**=बल का वर्धक है। (२) प्राणों के इस प्राणसाधना में होनेवाले 'इं-स' इस अव्यक्त ध्वनिरूप **येन**=स्वन से जिस ही **एवयामरुत्**=मार्ग पर चलनेवाले प्राणसाधक पुरुष **सहन्तः**=शत्रुओं का अभिभव करते हुए **ऋञ्जत**=अपने जीवन को प्रसाधित व अलंकृत करते हैं। **स्वरोचिषः**=आत्मदीप्तिवाले बनते हैं, **स्थारश्मानः**=स्थिर ज्ञानरश्मियोंवाले होते हैं, **हिरण्ययाः**=ज्योतिर्मय जीवनवाले बनते हैं, **स्वायुधासः**=उत्तम 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप आयुधोंवाले होते हैं और **इष्मिणः**=प्रभु प्रेरणा को प्राप्त करके (इष् प्रेरणे) खूब गतिशील जीवनवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना में स्थिरता से प्रवृत्त हुए-हुए हम शत्रुओं का अभिभव करके ज्ञान-विज्ञान का वर्धन करते हुए जीवन को प्रशस्त 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' वाला बनायें।

ऋषिः—**एवयामरुदात्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वृद्धशवसः-शुशुक्वांसः

अपारो वो महिमा वृद्धशवसस्त्वेषं शवोऽवत्वेवयामरुत्।
स्थातारो हि प्रसितौ संदृशि स्थन ते न उरुष्यता निदः शुशुक्वांसो नाग्नयः ॥ ६ ॥

(१) हे मरुतो-प्राणो! **वः महिमा**=तुम्हारी महिमा **अपारः**=अति अधिक है, अनन्त है।

वृद्धशवसः=हे बढ़े हुए बलवाले प्राणो! आपका **त्वेषं शवः**=दीप्त बल **एवयामरुत्** (तं)=तुझ एवयामरुत् को, मार्ग पर चलनेवाले प्राणसाधक को **अवतु**=रक्षित करे। (२) हे प्राणो! आप **हि**=निश्चय से **प्रसितौ**=व्रतों के बन्धन में व परिणामतः **सन्दृशि**=प्रभु के सन्दर्शन में **स्थातारः स्थन**=स्थित होनेवाले हो। प्रभु का यह प्राणसाधक उपासक व्रतमय जीवनवाला व प्रभु का दर्शन करनेवाला बनता है। हे प्राणो! **ते**=वे आप **नः निदः उरुष्यत**=हमारा निन्दनीय कर्मों से रक्षण करो। आपकी साधना के द्वारा हम निन्दनीय कर्मों को करनेवाले न हों। और **अग्नयः न**=अग्नियों के समान **शुशुक्वांसः**=दीप्त जीवनवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से (१) बल बढ़ता है, (२) जीवन व्रती बनता है, (३) हम व्रतमय जीवनवाले होते हैं, (४) प्रभु दर्शन को प्राप्त करते हैं, (५) अग्नि के समान दीप्त व तेजस्वी होते हैं।

ऋषिः—**एवयामरुदात्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

निष्पाप दीर्घजीवन

ते रुद्रासः सुमखा अग्नयो यथा तुविद्युम्ना अवन्त्वेवयामरुत्।
दीर्घं पृथु पप्रथे सद्म पार्थिवं येषामज्मेष्वा महः शर्धांस्यद्भुतैनसाम्॥ ७॥

(१) **ते**=वे प्राण **रुद्रासः**=(रुत् द्र) सब रोगों का द्रावण करनेवाले हैं। **सुमखाः**=उत्तम यज्ञोंवाले हैं। प्राणसाधना से शरीर नीरोग बनता है और हमारी वृत्ति यज्ञों के करने की होती है। इस प्रकार नीरोग यज्ञशील बनकर हम **यथा अग्नयः**=अग्नियों के समान होते हैं। **तुविद्युम्नाः**=ये प्राण प्रभूत=ज्योतिवाले हैं। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञान वृद्धि होती है। ऐसे ये प्राण **एवयामरुत्** (तं)=मार्ग पर चलनेवाले इस प्राणसाधक को **अवन्तु**=रक्षित करें। (२) वे प्राण इस एवयामरुत् की रक्षा करें, **येषाम्**=जिनके **अज्मेषु**=गमनों में, रेचक व पूरक प्राणायामों में गति के होने पर यह **पार्थिवं सद्म**=पार्थिव शरीर **दीर्घम्**=दीर्घकाल तक **पृथु**=विस्तृत शक्तियोंवाला होता हुआ **पप्रथे**=विस्तृत होता है। इन **अद्भुतैनसाम्**=(अभूत पापानां) पापशून्य प्राणों के मार्गों में **महः शर्धांसि**=महान् बल **आ**=(गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं। प्राणसाधना से जीवन निष्पाप व शक्ति-सम्पन्न बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर हमारा जीवन 'नीरोग, यज्ञमय, प्रभूत-ज्योतिवाला, तेजस्वी' बनता है। हम निष्पाप दीर्घजीवन को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**एवयामरुदात्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**स्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

यज्ञमय निर्द्वेष जीवन

अद्वेषो नो मरुतो गातुमेतन श्रोता हवं जरितुरेवयामरुत्।
विष्णोर्महः समन्यवो युयोतन स्मद्रथ्यो३ न दंसनाप द्वेषांसि सनुतः॥ ८॥

(१) हे **नः मरुतः**=हमारे प्राणो! आप **अद्वेषः**=(अद्वेषसः) द्वेष शून्य होते हुए **गातुं एतन**=मार्ग पर चलो। प्राणसाधना हमें कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होने देती। हे प्राणो! **एवयामरुत्** (तः)=इस मार्ग पर चलनेवाले प्राणसाधक **जरितुः**=स्तोता की **हवं श्रोता**=पुकार को सुनो। आपकी साधना के द्वारा मैं सदा मार्ग पर चलता रहूँ। कभी भटकूँ नहीं। (२) हे **विष्णोः समन्यवः**=उस व्यापक प्रभु के यज्ञों से युक्त होते हुए आप **महः**=तेजस्विता को **युयोतन**=(यु मिश्रणे) हमारे साथ जोड़ो। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजाओं के साथ ही यज्ञों को भी उत्पन्न

किया। इन प्रभु के यज्ञों को ये प्राण ही हमारे साथ जोड़ते हैं। **स्मद्रथ्यः न**=जैसे (स्मत्=प्रशस्त) प्रशस्त रथी शत्रुओं को दूर करते हैं, उसी प्रकार **दंसना**=उत्तम कर्मों के द्वारा **द्वेषांसि**=द्वेषों को **सनुतः अप**=अन्तर्हित रूप में आप **अप** (युयोतन)=हमारे से दूर करो। द्वेष हमारे से सदा सुदूर छिपे रहें। हमारा झुकाव कभी भी द्वेष वृत्तियों की ओर न हो।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हमारा जीवन यज्ञमय व निर्द्वेष बने।

ऋषिः—**एवयामरुदात्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'यज्ञियवृत्ति' व 'पाप से दूर'

गन्ता नो यज्ञं यज्ञियाः सुशमि श्रोता हवमरक्ष एवयामरुत्।
ज्येष्ठासो न पर्वतासो व्योमनि यूयं तस्य प्रचेतसः स्यात दुर्धर्तवो निदः ॥ ९ ॥

(१) हे **नः**=हमारे प्राणो! आप **यज्ञियाः**=यज्ञरूप उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाले होते हुए **यज्ञं गन्ता**=यज्ञ के प्रति प्राप्त होनेवाले होवो। **अरक्षः**=(अरक्षसः) राक्षसीभावों से रहित होते हुए आप **सुशमि**=(शोभन कर्म यथा भवति तथा, सुकर्मत्वाय सा०) शोभनकर्मता के लिये **एवयामरुत् (तः) हवं श्रोता**=मुझ मार्ग पर चलनेवाले प्राणसाधक की पुकार को सुनो। मैं आपकी साधना के द्वारा सदा सुकर्मा बनूँ। (२) **व्योमनि**=आकाश में, हृदयान्तरिक्ष में **ज्येष्ठासः न पर्वतासः**=बढ़े हुए पर्वतों के समान आप होवो। आप से टकराकर वासना की वात्याएँ छिन्न-भिन्न हो जायें। **यूयम्**=तुम **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **स्यात**=होवो। आपके द्वारा हमारा ज्ञान बढ़े। **निदः दुर्धर्तवः**=निन्दनीय पापों के दुर्धर होवो। आपकी उपस्थिति में पाप हमारे जीवन में न आ सके।

भावार्थ—प्राणसाधना से यज्ञियवृत्ति बनती है और सब राक्षसीभाव विनष्ट हो जाते हैं। ये प्राण ज्ञानवर्धन के द्वारा हमें निन्द्य कर्मों से दूर रखते हैं।

॥ इति पञ्चमं मण्डलम् ॥